माध्यमिक
नागरिकशास्त्र
परिचय 1
बी पी एम
बसन्त लाल जैन
भारत प्रकाशन मन्दिर, मेरठ
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

माध्यमिक

नागरिकशास्त्र परिचय

भाग 1

(इण्टरमीडिएट नागरिकशास्त्र के प्रथम प्रश्न-पत्र के लिये)

माध्यमिक शिक्षा परिषद् उत्तर-प्रदेश द्वारा परिवर्तित पाठ्यक्रम (पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक का दायित्व सहित) पर आधारित पाठ्य पुस्तक

लेखक :

बसन्त लाल जैन
एम० ए०, बी० टी०
अवकाश प्राप्त प्रधानाचार्य
आचार्य नमिसागर जैन इण्टर कॉलिज, सरधना (मेरठ)
एवं

नीलम सेठी
एम० ए०

नवीनतम् पाठ्यक्रमानुसार संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

प्रकाशक :

भारत प्रकाशन मन्दिर, मेरठ
शिक्षा साहित्य के उच्च कोटि के प्रकाशक
142, विजय नगर, वैस्टर्न कचहरी रोड, मेरठ

मूल्य : रु० 45.00

प्रकाशक :
भारत प्रकाशन मन्दिर
142, विजयनगर
पश्चिमी कचहरी मार्ग, मेरठ।
☎ (0121) (O) 542123, 542637
(R) 562089, 562165

प्रश्न-पत्रों की नई प्रणाली के लिये

देखिये
परिशिष्ट 1

❁ प्रथम संस्करण : 1978
❁ द्वितीय संस्करण : 1980
❁ [illegible]ीय संस्करण : 1982
[illegible] संस्करण : 1984
[illegible]म् संस्करण : 1985
[illegible]ुनः मुद्रित : 1986
❁ षष्टम् संस्करण : 1987
❁ सप्तम् संस्करण : 1988
❁ अष्टम् संस्करण : 1989
❁ नवम् संस्करण : 1990
❁ दशम् संस्करण : 1991
❁ एकादश संस्करण : 1992
❁ द्वादश संस्करण : 1993
❁ त्रयोदश संस्करण : 1994
❁ चर्तुदश संस्करण : 1996

मूल्य : रु0 45.00

मुद्रक :-
मेरठ ऑफसेट प्रिन्टर्स,
मेरठ।

पाठ्यक्रम में परिवर्तन

(नागरिकशास्त्र प्रथम)

1. समुदाय— सीमित परिवार की अवधारणा
2. राज्य के कार्य— भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण (मनु व कौटिल्य)
3. पर्यावरण की सुरक्षा और नागरिक का दायित्व

माध्यमिक नागरिकशास्त्र परिचय (भाग 1) नामक :

यह पुस्तक : क्या और क्यों ?

(कृपया इसे अवश्य पढ़ें)

☐ पुस्तक का यह संशोधित संस्करण :

माध्यमिक नागरिकशास्त्र परिचय, भाग 1 नामक पुस्तक का संशोधित संस्करण अध्यापकों एवं छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। पुस्तक अध्यापकों एवं छात्रों में जितनी अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई, उसकी कल्पना तक नहीं थी। कई पाठकों ने लिखा है कि "आपकी पुस्तक में हर विषय को आधुनिक जीवन के उदाहरण देकर बहुत ही अच्छे व रुचिकर ढंग से समझाया गया है। पुस्तक प्रचलित सभी पुस्तकों से उत्तम है।" पुस्तक के इस संस्करण में और भी कई महत्वपूर्ण संशोधन किये गये हैं।

☐ देश की नई परिस्थितियों के सन्दर्भ में

सन् 1947 में हमारा देश स्वतन्त्र हुआ और हम स्वतन्त्र देश के नागरिक बने। यही नहीं, स्वतन्त्र देश के नागरिक के रूप में हमारी जिम्मेदारियाँ भी बढ़ीं। पक्का प्रश्न यह है कि आजादी के बाद के 46 वर्षों में क्या हमने नागरिक के रूप में अपनी जिम्मेदारियों को समझा ? और निभाया ? वास्तव में, यह जानते हुए भी कि कर्त्तव्य और अधिकार नागरिक जीवन की गाड़ी के दो पहिये हैं, हम कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर अधिकारों पर ही जोर देते रहे। फलस्वरूप, हमारे लोकतन्त्र के सामने समय-समय पर खतरा उपस्थित होता रहा है। इस स्थिति से बचने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि हर भारतीय सच्चा नागरिक बने।

☐ यह पुस्तक क्यों ?

हमारा देश आज सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों के जिस नये एवं कल्याणकारी दौर से गुजर रहा है उसके सन्दर्भ में नागरिकशास्त्र के लेखन, अध्यापन व अध्ययन में ऐसे नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जो हमारे छात्रों व युवकों में प्रारम्भ से ही सच्ची नागरिकता के भाव भर दे ताकि वे देश की परिस्थितियों को सही रूप से समझ सकें और एक सच्चे नागरिक के नाते उसमें अपना योगदान कर सकें।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के सन्दर्भ में ही इण्टरमीडिएट नागरिकशास्त्र के प्रथम प्रश्न-पत्र के लिये नवीन पाठ्यक्रमानुसार लिखी गयी "माध्यमिक नागरिकशास्त्र परिचय (भाग 1)" नामक यह पुस्तक अध्यापकों व विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। वैसे तो इस विषय पर बाजार में कई पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु उपर्युक्त दृष्टिकोण से लिखी होने के कारण यह पुस्तक अनूठी ही है।

☐ यह पुस्तक क्या है ?

पुस्तक ऐसी सरल व धारा प्रवाह भाषा में तथा ऐसी रुचिकर शैली में अनेक शीर्षकों व उपशीर्षकों के साथ लिखी गई है कि छात्र पढ़ने व समझने की दृष्टि से और गुरुजन अध्यापन की दृष्टि से इसे अत्यन्त उपयोगी पायेंगे।

पुस्तक की कुछ महत्वपूर्ण विशेषतायें निम्नलिखित हैं —

(1) 10 अंक के अनिवार्य वस्तुनिष्ठ प्रश्न के नये स्वरूप को परिशिष्ट 1 में समझाया गया है और प्रत्येक पाठ के अन्त में यथेष्ठ मात्रा में ऐसे अति लघु उत्तरीय व लघु उत्तरीय प्रश्न उत्तरों सहित दिये गये हैं।

(2) पुस्तक में प्राचीन तथ्यों को आधुनिक उदाहरणों से सम्बन्धित करके समझाया गया है। उदाहरणतः नागरिकशास्त्र की प्रकृति की मनुष्य की प्रकृति से तुलना, परिवार के शासन की देश के शासन से तुलना (अध्याय 6) तथा अन्य सामाजिक शास्त्र नागरिकशास्त्र के रिश्तेदार हैं। (अध्याय 3) आदि।

(3) देश की सरकार के तीनों अंगों की तुलना भगवान की सरकार के तीनों अंगों से करके नवीन दृष्टिकोण से यह समझाया गया है कि व्यवस्थापिका ब्रह्मा के समान है और कार्यपालिका विष्णु के समान तथा न्यायपालिका महेश के सदृश्य।

(4) पुस्तक में विभिन्न विषयों की व्याख्या समालोचना के साथ की गई है और ऐसा करते समय महत्वपूर्ण विद्वानों के उद्धरण (quotations) हिन्दी व अंग्रेजी में देकर विषय को सजीव बनाया गया है।

(5) प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ में सबसे ऊपर उस पाठ के शीर्षक से सम्बन्धित चुभती हुई [illegible]णियाँ दी गई हैं तथा "इस अध्याय में क्या है" ? शीर्षक के अन्तर्गत पाठ के विभिन्न [illegible] का परिचय दिया गया है।

(6) पुस्तक में नवीनतम जानकारी व प्रामाणिक आँकड़े दिये गये हैं।

(7) "गुट निरपेक्षता तथा संयुक्त राष्ट्र संघ" नामक 26वाँ नया अध्याय बढ़ाया गया है। अध्याय 6 में सीमित परिवार की अवधारणा तथा अध्याय 11 में भारतीय राजनीतिक विचारकों का दृष्टिकोण (मनु व कौटिल्य) बढ़ाया गया है।

(8) माध्यमिक शिक्षा परिषद उ0 प्र0 द्वारा संशोधित पाठ्यक्रम "पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक का दायित्व" नामक अध्याय बढ़ाया गया है।

इस प्रकार, पुस्तक को छात्रोपयोगी बनाने के लिये भरसक प्रयास किया गया है। प्रकाशक बन्धुओं ने पुस्तक-लेखन की प्रेरणा देने एवं पुस्तक के शीघ्र तथा उत्तम प्रकाशन के लिये जो भागीरथ प्रयास किये हैं उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

अन्त में, सहयोगी अध्यापक बन्धुओं व पाठकों से पुस्तक को और भी उपयोगी बनाने के लिए आने वाले सुझावों का हम हार्दिक स्वागत करेंगे।

बसन्त लाल जैन
नीलम सेठी

पाठ्यक्रम में नया परिवर्तन

इलाहाबाद बोर्ड ने इण्टर की 1995 की परीक्षा से नागरिक शास्त्र के प्रथम प्रश्न-पत्र के पाठ्यक्रम में निम्न विषय और बढ़ाया है—

"पर्यावरण की सुरक्षा तथा उसके प्रति नागरिक का दायित्व"

घर के शासन की देश के शासन से तुलना
(परिवार तथा केन्द्र सरकार)

	कौन	क्या है ?	स्थिति व कार्य
1.	माँ	माँ	घर (देश) की आवश्यकताओं के अनुसार आदेश देना, नीति निर्धारित करना, नियम बनाना, काम सौंपना व व्यवस्था करना।
2.	सन्तान	केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद्	माँ (संसद) के आदेशों व नीतियों का पालन करना।
3.	बड़ा बेटा या बड़ी बेटी	प्रधानमन्त्री	यह देखभाल करना कि सभी बेटे (मन्त्री) माँ (संसद) के आदेशों का पालन करें और कोई काम ऐसा न करें जो घर (देश) की प्रतिष्ठा गिराये। अपने सभी छोटे भाइयों (मन्त्रियों) को मुट्ठी में बाँधे रखना।
4.	बेटे-बेटी	अन्य मन्त्री	बड़े भाई या बहन के निरीक्षण में माँ (संसद) के आदेशों के अनुसार अपना-अपना काम करना, माँ के प्रति जवाबदेह।
5.	पिता	सर्वोच्च न्यायालय	माँ (संसद) और सन्तान (मन्त्रि-परिषद्) को गलत काम करने से रोकना, विवाद निपटाना तथा सभी को संरक्षण भी देना।
6.	बाबा	राष्ट्रपति	जो सदा बहू, बेटे व पोतों की इच्छानुसार चलता है। प्रायः कहता रहता है — हाँ बहू ! हाँ बेटा ! परन्तु कभी गलती पर टोकता भी है, मगर अन्दर-अन्दर डरते हुए कि कहीं बुढ़ापा ही न खराब हो जाये।

(देखिये अध्याय 6)

"माता और पिता बच्चे की दो प्रथम पुस्तकें हैं।" –चीनी कहावत

इलाहाबाद बोर्ड का नवीनतम् संशोधित पाठ्यक्रम
इण्टरमीडिएट नागरिकशास्त्र
(प्रथम प्रश्न-पत्र– नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त)

1. **नागरिकशास्त्र का अर्थ–** क्षेत्र, उपयोगिता, स्वरूप, उसकी अध्ययन-विधियाँ तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध।
2. **समुदायों** के प्रकार तथा उनका महत्व। सीमित परिवार की अवधारणा।
3. **नागरिकता–** अर्थ, नागरिकता प्राप्त करने की विधि, नागरिकता कैसे खोई जाती है, नागरिक के अधिकार तथा कर्त्तव्य, **पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक का दायित्व,** नागरिकता के मार्ग में बाधायें।
4. **राज्य–** परिभाषा, तत्व तथा उत्पत्ति के विविध सिद्धान्त।
5. **राज्य के कार्यों के सिद्धान्त–** व्यक्तिवाद, प्रत्ययवाद, समाजवाद, लोक-कल्याणकारी राज्य। भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण (मनु व कौटिल्य)।
6. सम्प्रभुता, विधि, अधिकार, स्वतन्त्रता तथा समानता।
7. **संविधान** तथा उसका वर्गीकरण
8. **सरकार के प्रकार–** अस्तु का वर्गीकरण तथा आधुनिक प्रणालियाँ। एकात्मक, संघात्मक, संसदात्मक, अध्यक्षात्मक सरकारें। शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त।
9. **कार्यपालिका–** विविध रूप तथा नियुक्ति की विधियाँ, व्यवस्थापिका से सम्बन्ध।
10. **व्यवस्थापिका–** एक सदनात्मक तथा द्विसदनात्मक, व्यवस्थापिका का संगठन तथा कार्य।
11. **न्यायपालिका–** नियुक्ति तथा कार्यविधि, आधुनिक न्यायपालिका का संगठन तथा महत्व।
12. जनमत, राजनीतिक दल, मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणालियाँ।
13. राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता तथा गुट-निरपेक्षता।

विषय-क्रम

पुस्तक के कुछ पाठों की झलकियाँ
(जिनसे पाठ रुचिकर बने हैं)

1. नागरिकशास्त्र के परिवारीयजन और रिश्तेदार भी हैं।
जानते हैं आप उन्हें ?
नहीं, तो पढ़िये— (अध्याय 3)

2. आज लोग स्वार्थ के कारण समाज की कद्र नहीं करते। किन्तु समाज जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारी कितनी-कितनी जरूरतों को पूरा करता है—
इसके लिये पढ़िये— (अध्याय 4)

3. यदि यही रहा क्रम बच्चों के उत्पादन का,
तो कुछ सवाल आगे आयेंगे, बड़े-बड़े।
सोने की किंचित जगह धरा पर मिले नहीं,
मजबूरन, हम तुम सब सोयेंगे, खड़े-खड़े।।
इस चेतावनी के साथ ही सीमित परिवार की अवधारणा पर प्रकाश डाल रहा है— (अध्याय 6)

4. नागरिक जीवन की गाड़ी के दोनों पहियों की जानकारी दे रहा है— (अध्याय 8)

5. राज्य का विरोध करने से पहले सौ बार सोचिये। राज्य तो हमारे लिये अनगिनत कार्य करता है।
इसकी जानकारी लीजिए— (अध्याय 13 से)

6. जनू, 1991 के चुनाव में आपने देखा कि जनमत की उपेक्षा करने वाली सरकार या शासक, चाहे वे कितने ही शक्तिशाली और सत्ता-लोलुप क्यों न हों, धराशायी हो जाते हैं।
इसी जनमत की चर्चा है— (अध्याय 22 में)

7. बरसाती मेंढ़कों की तरह से उत्पन्न होने वाले राजनीतिक दलों की भरमार प्रजातन्त्र को खोखला कर देती है।
कैसे ? इसके लिए पढ़िये— (अध्याय 23)

8. पर्यावरण के खतरों की जानकारी दे रहा है—

क्या कहा ?
आपको लघु उत्तरीय व अति लघु उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर कहीं नहीं मिलते ?
तो लीजिए—
इसका समाधान किया गया है—
(प्रत्येक अध्याय के अन्त में)

1

नागरिकशास्त्र का अर्थ, क्षेत्र तथा उपयोगिता
(Meaning, Scope and Importance of Civics)

"नागरिकशास्त्र के ज्ञान के बिना मनुष्य उस सिपाही के समान है जो अपने अस्त्र के प्रयोग से अनभिज्ञ है, और उस वकील की भाँति है जिसके पास मुकदमे की मिसल ही नहीं है और उस अध्यापक के सदृश है जो अध्यापन विधि ही नहीं जानता।"

—डॉ॰ राम

इस अध्याय में क्या है ?

(1) नागरिकशास्त्र का जन्म क्यों ?, (2) नागरिकशास्त्र का शाब्दिक तथा प्राचीन अर्थ, (3) नागरिकशास्त्र का आधुनिक अर्थ, (4) नागरिकशास्त्र की विभिन्न परिभाषायें तथा आलोचना, (5) कौन-सी परिभाषा सर्वश्रेष्ठ और क्यों ?, (6) नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अथवा विषय-सामग्री, (7) प्राचीन समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र, (8) वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र, (9) नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता तथा महत्व, (10) विद्यार्थियों के लिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्व, (11) भारतीयों के लिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन का महत्व, (12) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (13) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन में सर्वप्रथम यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र का जन्म क्यों और किन परिस्थितियों में हुआ ? नागरिकशास्त्र के जन्म की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त विवरण जानने के बाद इसके अर्थ तथा क्षेत्र आदि का अध्ययन करना सुगम होगा।

नागरिकशास्त्र का जन्म क्यों ? (Origin of Civics)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सभ्यता के इतिहास के प्रारम्भ से ही ननुष्य का समाज से सम्बन्ध रहा है। मनुष्य का समाज से सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि मछली का पानी से है। मछली जैसे पानी के बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार, मनुष्य समाज के बिना नहीं रह सकता। समाज की गोद में रहकर ही उसने सब कुछ सीखा है।

सभ्यता के प्रारम्भिक काल में मनुष्य का जीवन बहुत पिछड़ा तथा साधारण था। आखेट उसके जीवन का मुख्य व्यवसाय था। उसकी आवश्यकतायें बहुत सीमित थीं और उसका ज्ञान बहुत अल्प था।

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ, वैसे-वैसे मनुष्य का जीवन जटिल होता गया। उसके मन में नये-नये क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जागी। मनुष्य ने समाज में रहते हुए ही जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रगति की। उसने अपने चारों ओर के प्राकृतिक व मानवीय वातावरण का अध्ययन किया और उसके आधार पर अपने ज्ञान में वृद्धि की। उसके अध्ययन एवं खोजों के फलस्वरूप ही ज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न शास्त्रों का उदय अथवा जन्म हुआ।

उदाहरण के लिये; प्रकृति के अध्ययन से **भौतिकशास्त्र** एवं **रसायनशास्त्र** का उदय हुआ। पृथ्वी से निकलने वाले पदार्थों के अध्ययन ने **भू-गर्भशास्त्र** को जन्म दिया। मनुष्य ने जब पेड़-पौधों व जीव-जन्तुओं का गहन अध्ययन किया, तो उससे **जीवविज्ञान** का जन्म हुआ। मनुष्य के मस्तिष्क के बहुमुखी अध्ययन ने **मनोविज्ञान** को जन्म दिया। मनुष्य जैसे-जैसे प्राकृतिक वातावरण के सम्पर्क में आया, उसके अध्ययन ने **भूगोलशास्त्र** को जन्म दिया। विकास के अगले चरणों में जब

मनुष्य 'निन्यानवे के फेर' में पड़ा और उसे आर्थिक समस्याओं ने घेर लिया, तो उन आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिये मनुष्य ने जो ज्ञानार्जन किया उससे अर्थशास्त्र का जन्म हुआ।

इस प्रकार, मनुष्य का सामाजिक जीवन दिन-प्रतिदिन व्यस्त, जटिल तथा खोजपूर्ण होता गया। आगे चलकर सभ्यता के विकास तथा जनसंख्या की वृद्धि के कारण मनुष्य को अपने सामाजिक व राजनैतिक जीवन में भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। अतः मनुष्य ने अपनी सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं को हल करने तथा अपने सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिये ज्ञान का जो मन्थन किया उससे 'नागरिकशास्त्र' का जन्म हुआ।

इस प्रकार, नागरिकशास्त्र सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं के समाधान में मनुष्य का मार्गदर्शन करता है और बताता है कि हम सच्चे इन्सान बनकर कैसे अपने सामाजिक व राजनीतिक जीवन को सुखी बना सकते हैं।

नागरिकशास्त्र का शाब्दिक तथा प्राचीन अर्थ

नागरिकशास्त्र अंग्रेजी भाषा के **'सिविक्स'** (Civics) शब्द का पर्यायवाची शब्द है। अंग्रेजी भाषा के इस शब्द का जन्म लैटिन भाषा के **'सिविटास'** (Civitas) शब्द से हुआ है। **'सिविटास'** का अर्थ 'नगर' होता है। अतः प्राचीनकाल में नगर के निवासियों को **'नागरिक'** या **'सिविस'** (Civis) कहा जाता था।

उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार, **'सिविक्स'**, जिसका हिन्दी में पर्याय नागरिकशास्त्र है, वह शास्त्र है जिसका सम्बन्ध नगर में रहने वाले नागरिकों से होता है। प्राचीन यूनान और रोम में प्रत्येक नगर एक स्वतन्त्र राज्य होता था और 'नगर राज्य' के नागरिक ही उसके राजनीतिक और सामाजिक जीवन के केन्द्र हुआ करते थे। उस समय नगर-निवासी राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लिया करते थे।

वास्तव में उस समय 'नगर-राज्य' की जनता तीन श्रेणियों में विभाजित हुआ करती थी। प्रथम श्रेणी उन **'नागरिकों'** की थी जिन्हें सब प्रकार के राजनीतिक और सामाजिक अधिकार मिले हुए थे। दूसरी श्रेणी **'विदेशियों'** की थी जिन्हें केवल सामाजिक अधिकार प्राप्त थे, परन्तु नागरिक अधिकार नहीं मिले हुए थे, अर्थात् नगर-राज्य के शासन में उनका कोई हाथ नहीं होता था। तीसरी श्रेणी, 'गुलामों' की थी जिन्हें न सामाजिक अधिकार प्राप्त थे और न राजनीतिक अधिकार ही मिले हुए थे।

नागरिकशास्त्र का आधुनिक अर्थ

आज के युग में **'नगर राज्य'** नहीं रहे। 'नगर राज्यों' का स्थान अब बड़े राज्यों ने ले लिया है और राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत ग्रामों में रहने वालों को भी वही सामाजिक और राजनीतिक अधिकार मिले हुए हैं जोकि राज्य के बड़े नगर के निवासियों को प्राप्त हैं। इसलिये **'नागरिक'** शब्द की परिधि आज के युग में पर्याप्त व्यापक हो गयी है।

आज प्रत्येक वह व्यक्ति **'नागरिक'** कहलाता है जो किसी राज्य की सीमा में रहता हो तथा जिसे राज्य की ओर से कुछ राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के उपभोग की सुविधा मिली हो, भले ही वह नगर में रहता हो या ग्राम में। यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी जुड़ा होता है। यदि एक व्यक्ति को मत देने का अधिकार है, तो उसके साथ उसका यह कर्त्तव्य भी जुड़ा है कि वह अपना मत सबसे योग्य व्यक्ति को ही दे।

इस प्रकार, **'नागरिक'** से हमारा तात्पर्य राज्य की सीमा में रहने वाले, सामाजिक और नागरिक अधिकारों से विभूषित उस व्यक्ति से होता है जो प्राप्त अधिकारों से जुड़े हुए कतिपय कर्त्तव्यों का भी पालन करता हो। दूसरी ओर, **'शस्त्र'** शब्द का अर्थ है कि 'किसी विषय का

क्रमबद्ध ज्ञान'। इसलिये वर्तमान परिवेश में **"नागरिकशास्त्र ज्ञान की वह क्रमबद्ध शाखा है जो मनुष्यों के नागरिक और सामाजिक अधिकारों और उनसे सम्बन्धित आवश्यक कर्त्तव्यों का अध्ययन करती है।"**

नागरिकशास्त्र की कुछ परिभाषायें (Some Difinitions of Civics)

विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से नागरिकशास्त्र की परिभाषायें की हैं। कुछ लेखकों ने नागरिकशास्त्र के उद्देश्यों को सामने रखकर इसकी परिभाषा दी है तो कुछ ने इसके क्षेत्र को सामने रखा है। कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं–

(1) प्रो० पुन्ताम्बेकर के अनुसार, **"नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान तथा दर्शन है।"**
"Civics is the science and philosophy of citizenship."

(2) एक अन्य विद्वान के अनुसार– **"नागरिकशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक जीवन के झगड़ों को दूर करने की चेष्ट करता है।"**

"Civics is the science that seeks to remove conflicts in social life."

(3) ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में नागरिकशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–
"नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का विवेचन करने वाला शास्त्र ही नागरिकशास्त्र कहलाता है।"

"Civics is the theory of rights and duties of citizenship."

(4) एक अन्य लेखक के अनुसार– **"नागरिकशास्त्र वह विज्ञान है जो श्रेष्ठतम सम्भव सामाजिक जीवन की दशाओं का अध्ययन करता है।"**

"Civics is the science that studies the conditions of best possible social life."

(5) प्रो० वार्ड के अनुसार– **"नागरिकशास्त्र समाज का वह सर्वेक्षण है जिसका प्रयोग समाज-सेवा के कार्यों में किया जाता है।"**

"Civics is the application of social survey to social services."

(6) प्रो० अम्बादत्त पन्त के अनुसार– **"नागरिकशास्त्र वह शास्त्र है जो हमें हमारे अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराकर, सुखी एवं सफल सामाजिक जीवन की आवश्यक दशाओं की सृष्टि करता है।"**

(7) प्रो० बेनी प्रसाद के मतानुसार– **"सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से, मनुष्य को कुछ कर्त्तव्य सम्पन्न करने होते हैं और अन्य मनुष्यों के कुछ कर्त्तव्यों का आदर करना होता है। नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः इन्हीं से है।"**

"In the context of social relationship, there are many duties to be performed and correspondingly, many duties to be respected. It is with them that civics is mainly concerned."

आलोचना (Criticism)— उपर्युक्त परिभाषाओं में यद्यपि शाब्दिक दृष्टि से कुछ अन्तर है, किन्तु मूल रूप में वे यही मत प्रकट करती हैं कि नागरिकशास्त्र नागरिक के अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है और सामाजिक जीवन की समस्याओं का समाधान करके सुखी जीवन बिताने का मार्ग बताता है।

नागरिकशास्त्र की ये परिभाषायें पूर्ण नहीं हैं और केवल आंशिक दृष्टि से ही ठीक कही जा सकती हैं। इनमें नागरिकशास्त्र के व्यापक क्षेत्र को दृष्टिगत नहीं रखा गया है, क्योंकि अधिकारों और कर्त्तव्यों की विवेचना तो नागरिकशास्त्र के व्यापक क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण अंगमात्र है। अतः उपर्युक्त परिभाषायें अपूर्ण तथा अस्पष्ट हैं।

(8) एफ० जी० गोल्ड के अनुसार– "नागरिकशास्त्र उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों एवं भावनाओं का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई पुरुष या स्त्री अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सके और राजनीतिक समुदाय की सदस्यता के लाभों को प्राप्त कर सके।"

"Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which a man or a woman may fulfil the duties and receive the benefits of membership of a political community."

आलोचना– गोल्ड की परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत एवं उचित प्रतीत होती है क्योंकि इसमें कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के साथ-साथ नागरिक जीवन की संस्थाओं, आदतों व भावनाओं का भी अध्ययन किया गया है। फिर भी, यह परिभाषा संकुचित ही कही जायेगी, क्योंकि इसमें नागरिक जीवन के सभी पहलुओं का समावेश नहीं है।

(9) डॉ० ई० एम० ह्वाइट के शब्दों में, "नागरिकशास्त्र मानवीय ज्ञान की वह शाखा है जो नागरिक से सम्बन्धित सभी (अर्थात् सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक) विषयों का अध्ययन करती है और साथ ही नागरिकता के भूत, वर्तमान, भविष्य तथा स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं की विवेचना करती है।"

"Civics is that more or less useful branch of human knowledge which deals with everything (e. g. social, intellectual, economical, political and even religious aspects) relating to a citizen, past, present and future, local, national and human."

कौन-सी परिभाषा सर्वश्रेष्ठ और क्यों ?

ऊपर नागरिकशास्त्र की जो प्रमुख परिभाषायें दी गई हैं, उनमें पहली 8 परिभाषायें भले ही कभी किसी विशेष दृष्टिकोण से ठीक मानी जाती रही हों, किन्तु वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का विकास तथा विस्तार इतनी तेजी से हो रहा है कि सम्पूर्ण विश्व ही आज नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बन गया है। अतः आधुनिक दृष्टिकोण से पहली 8 परिभाषायें संकुचित तथा अपूर्ण हैं और वे विषय के किसी एक या कुछ अंगों पर ही प्रकाश डालती हैं।

इसके विपरीत, ऊपर दी गई नागरिकशास्त्र की अन्तिम (अर्थात् डॉ० ह्वाइट की परिभाषा) विस्तृत एवं पूर्ण है और नागरिकशास्त्र के आधुनिक स्वरूप को सही रूप में प्रस्तुत करती है।

कारण यह है कि डाक, तार, रेडियो, टेलीफोन और संचार के साधनों के आविष्कार तथा यातायात के शीघ्रगामी साधनों के विकास के कारण आज के युग में यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि आज सारा संसार ही एक नगर बन गया है। आज संसार के एक कोने में जो घटना घटित होती है उसका प्रभाव तुरन्त ही विश्व के दूसरे कोने में पड़ता है। नगर-राज्यों की तरह विशाल साम्राज्य भी अतीत का स्वप्न बनते जा रहे हैं और विश्व-सरकार की स्थापना का युग संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संगठनों की स्थापना से साकार होता जा रहा है, जिसके कारण आज के मनुष्य का सामाजिक जीवन नगर एवं राज्यों की सीमा को लाँघ कर सम्पूर्ण भूमण्डल तक फैल गया है। अतः आधुनिक दृष्टिकोण से डॉ० ह्वाइट की परिभाषा ही अन्य सभी परिभषाओं से श्रेष्ठ, विस्तृत एवं पूर्ण है।

किन्तु इसके बावजूद, हम नागरिक शास्त्र को किसी एक निश्चित परिभाषा की परिधि में नहीं बाँध सकते, क्योंकि नागरिकशास्त्र एक विकासशील विषय है और विज्ञान तथा सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ इसका विकास भी अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा है। अतः नागरिकशास्त्र के विकास के साथ-साथ इसकी परिभाषा में परिवर्तन होना सम्भव है।

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अथवा विषय-सामग्री
(Scope and Subject-matter of Civics)

नागरिकशास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि उसका क्षेत्र क्या है ? यदि नागरिकशास्त्र के क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही हमने इसका अध्ययन किया, तो हो सकता है कि हम अपने लक्ष्य से भटक जायें और शास्त्र के किसी महत्वपूर्ण भाग की उपेक्षा कर दें।

'क्षेत्र' शब्द का शाब्दिक अर्थ है– "परिधि या सीमा, दायरा या घेरा"। **नागरिकशास्त्र के क्षेत्र से आशय यही है कि इस शास्त्र के अध्ययन की सीमा क्या है ?** इसके अन्तर्गत किन-किन बातों का अध्ययन किया जाता है ? **अर्थात् इसकी विषय-सामग्री क्या है ?** नागरिकशास्त्र के क्षेत्र अथवा उसकी विषय-सामग्री का ज्ञान प्राप्त किये बिना इसका सही तथा पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सकता।

वास्तव में प्रत्येक शास्त्र का एक निश्चित क्षेत्र अथवा सीमा होती है जिसके अन्तर्गत रहकर हम उस शास्त्र का अध्ययन करते हैं उदाहरण के लिये; अर्थशास्त्र का क्षेत्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों तक, रसायनशास्त्र का पदार्थों के रासायनिक गुणों तक, गणित का अंकों तक और जीवविज्ञान का क्षेत्र पेड़-पौधों व अन्य जीव-जन्तुओं के जीवन के अध्ययन तक सीमित होता है। **इसी प्रकार, नागरिकशास्त्र का भी अपना एक निश्चित क्षेत्र है,** किन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसके क्षेत्र का बराबर विस्तार होता जा रहा है।

सुविधापूर्वक अध्ययन करने की दृष्टि से नागरिकशास्त्र के क्षेत्र को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(अ) प्राचीन समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र।

(ब) वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र।

(अ) प्राचीन समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

प्राचीन समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त सीमित तथा संकुचित था। उस समय राज्य की परिधि नगर की सीमाओं तक ही मानी जाती थी और मनुष्य का सामाजिक जीवन 'नगर-राज्य' की चार दीवारी तक ही सीमित रहता था। अतः प्राचीनकाल में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र मनुष्य के नगर सम्बन्धी सामाजिक जीवन तक ही सीमित रहता था।

उदाहरण के लिये, वर्तमान समय में किसी नगर की नगरपालिका नगर के निवासियों के जीवन से सम्बन्धित जो कार्य करती है अथवा जिन समस्याओं को हल करती है, केवल वहीं तक प्राचीनकाल में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र सीमित था। उस समय नागरिकशास्त्र में प्रदेश, राष्ट्र और विश्व के मानव जीवन का अध्ययन नहीं किया जाता था।

(ब) वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

आजकल मनुष्य का सामाजिक जीवन नगर की सीमाओं तक ही सीमित नहीं है। डाक, तार, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन तथा यातायात के शीघ्रगामी साधनों के कारण **आज सम्पूर्ण संसार ही एक नगर-सदृश बन गया है।** कुछ ही घण्टों में हम अमेरिका व ब्रिटेन पहुँच सकते हैं। टेलीफोन और बेतार के तार द्वारा हम संसार के किसी भी कोने में स्थित मुनष्य से किसी भी क्षण बात कर सकते हैं। आज के लोकतन्त्रीय युग में मनुष्य के हाथ में केवल नगर की नहीं, अपितु प्रदेश, सम्पूर्ण राष्ट्र तथा विश्व के शासन-प्रबन्ध की शक्ति आ गई है। अतः आज नागरिकशास्त्र का क्षेत्र नगर तक ही सीमित न रहकर राष्ट्र तथा सम्पूर्ण विश्व के मानवजीवन के अध्ययन तक विस्तृत हो गया है।

अतः वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र के क्षेत्र अथवा इसकी विषय-सामग्री का विस्तार निम्नलिखित बातों तक हो गया है–

(1) परिवार, पड़ोस, गाँव व नगर के मानव-जीवन का अध्ययन– नागरिकशास्त्र हमें बताता है कि परिवार नागरिकता की प्रथम पाठशाला है। परिवार नागरिक गुणों का ऐसा कारखाना है जहाँ बच्चे को सच्चे मानव का रूप दिया जाता है । परिवार के पश्चात् नागरिकशास्त्र हमें एक अच्छा पड़ौसी बनाना सिखाता है और बताता है कि परिवारों से निर्मित गाँव व नगर के जीवन को सुखी बनाने में हम क्या योग दे सकते हैं ? इसीलिये डॉ० बेनी प्रसाद ने कहा है कि, **"नागरिकशास्त्र विशेष रूप से पड़ौस के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। वह पड़ोस की समस्याओं, मनुष्य के कर्त्तव्यों और सामाजिक जीवन का विवेचन करता है।"**

(2) नागरिक के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन– नागरिकशास्त्र हमें नागरिक के व्यक्तिगत जीवन एवं चरित्र का अध्ययन कराता है और उसके व्यक्तिगत एवं नागरिक जीवन को सुखी बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। नागरिकशास्त्र में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि सुखी नागरिक जीवन के मार्ग में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आती हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाता है।

(3) समाज का अध्ययन– नागरिकशास्त्र बताता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना न वह जीवित रह सकता है और न अपना विकास कर सकता है। अतः नागरिकशास्त्र में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों तथा समाज के प्रति उसके कर्त्तव्यों का विवेचन किया जाता है।

(4) नागरिकता का अध्ययन– नागरिक और नागरिकता नागरिकशास्त्र के अध्ययन के मुख्य विषय हैं। नागरिक किसे कहते हैं ? नागरिकता का क्या अर्थ है ? नागरिकता का निश्चय कैसे होता है ? नागरिकता कैसे प्राप्त होती है तथा कैसे खोई जाती है ? आदर्श नागरिक के कौन-कौन से गुण होते हैं ? आदर्श नागरिकता के मार्ग में कौन-कौन सी बाधायें आती हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाता है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान नागरिकशास्त्र करता है।

(5) अधिकारों और कर्त्तव्यों का अध्ययन– यदि किसी देश के निवासी अधिकारों के लिये ही चिल्लाते रहें और कर्त्तव्यों के पालन के प्रति उपेक्षा बरतें, तो इससे न तो देश की लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था सफल हो सकती है और न नागरिकों का जीवन सुखी बन सकता है। यदि हम चाहते हैं कि सरकार से हमें कुछ सुविधायें अधिकार के रूप में प्राप्त हों तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम कानून के पालन में तथा देश के विकास में सरकार को पूरा सहयोग दें।

नागरिकशास्त्र इस सम्बन्ध में हमारा पूरा मार्गदर्शन करता है। यह जहाँ यह बताता है कि हमारे राजनैतिक व सामाजिक अधिकार क्या हैं ? वहाँ यह भी बताता है कि परिवार, पड़ौस, गाँव, नगर, राज्य, देश तथा विश्व के प्रति हमारे क्या कर्त्तव्य हैं ? और यह भी, कि कर्त्तव्य और अधिकार सुखी नागरिक जीवन की गाड़ी के दो पहिये हैं।

(6) संस्थाओं और समुदायों का अध्ययन– मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थक, सांस्कृतिक व धार्मिक संस्थाओं का निर्माण करता है। ये संस्थायें, संघ अथवा समुदाय स्थानीय भी होते हैं और राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय भी। नागरिक जीवन के विकास में ये संस्थायें बड़ी सहायक होती हैं। नागरिकशास्त्र में इन सभी समुदायों एवं संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है।

(7) राज्य और सरकार का अध्ययन– राज्य और सरकार भी नागरिकशास्त्र के अध्ययन का मुख्य अंग है। राज्य के संगठन तथा सरकार की नीति व कार्यों का नागरिकों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः राज्य क्या है ? उसके कार्य क्या होते हैं ? राज्य का संगठन कितने

प्रकार का होता है ? सरकार किसे कहते हैं ? उसके भेद तथा अंग कौन-कौन से होते हैं ? इन सब बातों का अध्ययन नागरिकशास्त्र में किया जाता है।

नागरिकशास्त्र ही हमें बताता है कि अपने देश में धर्मनिरपेक्ष व समाजवादी राज्य तथा लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना की गई है और वह जनकल्याण के लिये कितने-कितने महान् कार्य कर रही है।

वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

1. परिवार, पड़ोस, गाँव व नगर के मानव-जीवन का अध्ययन
2. नागरिक के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन
3. समाज का अध्ययन
4. नागरिकता का अध्ययन
5. अधिकारों व कर्त्तव्यों का अध्ययन
6. संस्थाओं व समुदायों का अध्ययन
7. राज्य और सरकार का अध्ययन
8. संविधान का अध्ययन
9. राजनीतिक दलों व सिद्धान्तों का अध्ययन
10. वर्तमान व भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन
11. भावी सामाजिक जीवन के आदर्श का अध्ययन
12. अन्तर्राष्ट्रीय व विश्व-प्रेम का अध्ययन।

(8) संविधान का अध्ययन– संविधान उन नियमों का समूह होता है जिनके द्वारा सरकार की रूपरेखा तथा नागरिकों के कर्त्तव्यों व अधिकारों का निर्धारण होता है। बिना संविधान के राज्य, राज्य नहीं रहता बल्कि अराजकता का साम्राज्य बन जाता है। नागरिकशास्त्र में हम विभिन्न प्रकार के संविधानों तथा उनके गुण-दोषों का अध्ययन करते हैं।

नागरिकशास्त्र से ही हमें पता चलता है कि हमारे महान् नेताओं ने विश्व के सभी अच्छे संविधानों का अध्ययन कर 1950 में देश के लिये एक लोकतन्त्रात्मक संघीय संविधान की रचना की और देश के विकास एवं जनता के सामूहिक कल्याण के लिये बाद में उसमें कौन-कौन से महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं।

(9) राजनीतिक दलों व सिद्धान्तों का अध्ययन– नागरिकशास्त्र में हम यह अध्ययन करते हैं कि लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था में विरोधी दलों का होना आवश्यक होता है। किन्तु यदि राजनीतिक दल दलीय स्वार्थों के कारण जनता को गुमराह करने लगें, तो उन पर देशहित में नियन्त्रण लगाना भी अनिवार्य हो जाता है। नागरिकशास्त्र ही हमें समाजवाद, साम्यवाद व अन्य राजनैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान कराता है।

(10) वर्तमान व भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन– नागरिकशास्त्र में केवल वर्तमान के सामाजिक जीवन, सामाजिक संस्थाओं, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों व पद्धतियों का ही अध्ययन नहीं किया जाता, बल्कि यह भी बताया जाता है कि प्राचीन काल में इनका क्या रूप था और प्राचीन नागरिक जीवन के निर्माण में मनुष्य को किन-किन सफलताओं व विफलताओं से दो-चार होना पड़ा था।

(11) भावी सामाजिक जीवन के आदर्श का अध्ययन– नागरिकशास्त्र हमें यह भी बताता है कि वर्तमान और भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठाकर भविष्य के लिये सुखी नागरिक जीवन का निर्माण हम किस प्रकार करें ? नागरिकशास्त्र इस बात पर विचार करता है कि भावी समाज का आदर्श स्वरूप क्या हो ? इस प्रकार नागरिकशास्त्र एक व्यावहारिक शास्त्र है। इसीलिये प्रो० वार्ड ने कहा है कि, "नागरिकशास्त्र समाज का वह सर्वेक्षण है जिसका प्रयोग समाज सेवा के लिये किया जाता है।"

***"Civics is the application of social survey to social services."* —Prof. Ward**

(12) अन्तर्राष्ट्रीयता व विश्व-प्रेम का अध्ययन– वैज्ञानिक प्रगति के वर्तमान युग में सम्पूर्ण

विश्व ही एक नगर सदृश बन गया है और मनुष्य के सामाजिक जीवन का क्षेत्र समस्त भूमण्डल तक विस्तृत हो गया है। अतः नागरिकशास्त्र हमें केवल परिवार, ग्राम, राज्य या सरकार का ही अध्ययन नहीं कराता, बल्कि यह भी बताता है कि विश्व-प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने वाली संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) जैसे संस्थाओं का अध्ययन भी नागरिकशास्त्र का प्रमुख विषय है।

निष्कर्ष– इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। यही नहीं, मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसके क्षेत्र का और भी विस्तार होता जा रहा है। इस स्थिति में ए० जी० गोल्ड का यह कथन ठीक ही है कि, **"नागरिकशास्त्र का क्षेत्र सभ्यता और नागरिकता के विकास तक फैला हुआ है।"**

"Civics is Co-extensive with civilization and citizenship." **—F. G. Gould**

डॉ० ई० एम० व्हाइट ने लिखा है, **"मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन इन शास्त्रों के अन्तर्गत आ जाता है। मनुष्य ने प्राचीन काल से अब तक विभिन्न क्षेत्रों में जो उन्नति की है वह तथा उसकी सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान व विज्ञान सभी इस शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।"**

अन्त में, हम नागरिकशास्त्र के वर्तमान क्षेत्र की तुलना एक वृक्ष से कर सकते हैं जो समय की गति तथा सभ्यता की प्रगति के साथ ही निरन्तर बढ़ रहा है।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता तथा महत्व
(Importance and Utility of the Study of Civics)

नागरिकशास्त्र यद्यपि अन्य सामाजिक शास्त्रों की तुलना में नया-नया तथा आयु में छोटा है, किन्तु वर्तमान युग में इसके अध्ययन की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। नागरिकशास्त्र का उद्देश्य एक अच्छे सुखी एवं आदर्श समाज का निर्माण करना है। हमारा सामाजिक जीवन उस समय तक आदर्श एवं सुखी नहीं बन सकता, जब तक कि सामाजिक जीवन का निर्माण नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों की दृढ़ नींव पर आधारित न हो।

प्रो० पैट्रिक गैड्स ने नागरिकशास्त्र की उपयोगिता के सम्बन्ध में लिखा है कि **"नागरिकशास्त्र यद्यपि आयु में सबसे छोटा और विज्ञान की नवीनतम शाखा है, किन्तु ज्ञान के विशाल तथा सतत विकासशील वृक्ष की उस छोटी सी कली के समान है जो अन्य सभी कलियों (ज्ञान की शाखाओं) से अधिक फलदायक सिद्ध हो सकती है।"**

नागरिकशास्त्र के भावी महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ई० एम० व्हाइट ने लिखा है कि, **"एक विषय के रूप में नागरिकशास्त्र यद्यपि अभी निर्माण की अवस्था में है, किन्तु फिर भी यह ज्ञान की एक ऐसी शाखा है जो भावी शिक्षा में बहुत उपयोगी तथा महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।"**

वैसे भी, आज का युग लोकतान्त्रिक भावनाओं के विकास का युग है। लोकतान्त्रिक शासन की सफलता भी इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिकों को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान हो तथा सरकारों के संगठन, कार्य-प्रणाली एवं संचालन की बारीकियों की उन्हें अच्छी जानकारी हो। इस प्रकार, अन्य सामाजिक शास्त्रों की तुलना में नागरिकशास्त्र का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है।

नागरिकशास्त्र की उपयोगिता के सम्बन्ध में डॉ० राम एवं शर्मा ने तो यहाँ तक कहा है कि, **"नागरिकशास्त्र के ज्ञान के बिना मनुष्य उस सिपाही के समान है जो अपने अस्त्र के प्रयोग से अनभिज्ञ है, उस वकील की भाँति है जिसके पास मुकदमे की मिसल ही नहीं है और उस अध्यापक के सदृश है जो अध्यापन-विधि ही नहीं जानता।"**

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता तथा उसके महत्व का अध्ययन हम संक्षेप में निम्नलिखित शीर्षकों में करेंगे–

(1) आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण– मानव का ध्येय उत्तरोत्तर विकास करना है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य में सामाजिक भावना का विकास होता है तथा उसमें अपने संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक हित की दृष्टि से सोचने और कार्य करने की क्षमता का उदय होता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र एक स्वस्थ समाज की स्थापना करता है जैसा कि ग्रीन ने लिखा है कि, **'सामाजिक हित ही वास्तविक हित है।'**

(2) सद्गुणों का विकास– नागरिकशास्त्र मनुष्य में देशभक्ति तथा विश्वबन्धुत्व की भावना भरता है और सब प्रकार की संकीर्णता को दूर करता है। इसके अध्ययन से सहानुभूति, सेवा, त्याग, वलिदान, सहनशीलता, ईमानदारी तथा प्रेम का विकास होता है और मनुष्य अच्छा नागरिक वनता है।

(3) स्वतन्त्रता, समानता तथा कानून का ज्ञान– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य को सच्ची स्वतन्त्रता के स्वरूप तथा समानता के वास्तविक अर्थ को समझने में सहायता मिलती है। इसके अध्ययन द्वारा स्वतन्त्रता एवं समानता के पारस्परिक सम्बन्ध तथा स्वतन्त्रता कायम रखने में कानून किस प्रकार सहायक हो सकते हैं, यह जाना जा सकता है।

(4) अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान– आज हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों की माँग करता है। अधिक से अधिक अधिकारों की माँग के लिये वह आन्दोलनों तथा हिंसा आदि का भी सहारा लेने लगता है। दूसरी ओर समाज तथा देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों की ओर से उसने आँखें मीच रखी हैं।

नागरिकशास्त्र हमें इस दुःखद स्थिति से बाहर निकालता है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन से हमें पता चलता है कि वास्तव में अधिकार क्या है ? जो मेरा कर्त्तव्य है वह आपका अधिकार है। आपको अधिकार तभी मिल सकता है जबकि मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करूँ। इसी प्रकार आपका कर्त्तव्य मेरा अधिकार है। यदि आप कर्त्तव्य-पालन करेंगे, तभी मुझे मेरा अधिकार प्राप्त होगा। **कर्त्तव्य और अधिकार गाड़ी के दो पहिये हैं।** दोनों के सहयोग से ही आदर्श नागरिकता की गाड़ी चल सकती है। **कर्त्तव्य यदि बीज है तो अधिकार फल है।** नागरिकशास्त्र हमें बताता है कि यदि हम अपने कर्त्तव्यों को पूरा करें तो हमें अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जायेंगे।

(5) विभिन्न संघों एवं समुदायों का ज्ञान– हमारा सामाजिक जीवन वास्तव में अनेकों संस्थाओं, समुदायों और संगठनों का ताना-बाना है। इन्हीं के मध्य में मनुष्य की सारी आवश्यकतायें पूरी होती हैं और उसका समस्त जीवन व्यतीत होता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को इन समुदायों के गठन, उद्देश्य और कार्य-प्रणालो का समुचित ज्ञान होना चाहिये। नागरिकशास्त्र न केवल हमें इन समुदायों का ज्ञान कराता है, वरन् इन समुदायों के प्रति हमारे कर्त्तव्यों में विरोधाभास होने पर उसे दूर करने में भी हमारा मार्ग-दर्शन करता है।

(6) राज्य की प्रकृति एवं स्वरूप का ज्ञान– नागरिकशास्त्र में हम राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य एवं उसके कार्यों का भी अध्ययन करते हैं। समाज व्यक्ति को जो अधिकार प्रदान करता है उन्हें मान्यता और संरक्षण राज्य की शक्ति से ही प्राप्त होता है। राज्य न केवल अधिकारों को ही सुरक्षा प्रदान करता है, बल्कि वह कर्त्तव्य का पालन करने के लिये भी नागरिकों को विवश करता है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन से राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की उचित जानकारी प्राप्त होती है।

(7) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान– नागरिकशास्त्र का अध्ययन हमें राष्ट्र की विविध समस्याओं का ज्ञान कराता है और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए सद्भावनापूर्ण प्रयास

करने का मार्ग प्रशस्त करता है। राष्ट्रों में पारस्परिक सद्भाव, एक-दूसरे की अखण्डता एवं सार्वभौमिकता की रक्षा तथा पारस्परिक समस्याओं का शान्तिपूर्ण वार्ता से निराकरण का मार्ग नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों पर अमल करने से सरल बनता है।

(8) झगड़ों एवं विवादों की समाप्ति– नागरिकशास्त्र हमें यह सिखाता है कि एक गलती को दूसरी गलती करके दूर नहीं किया जा सकता। एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर तथा उनमें समन्वय का मार्ग निकाल कर ही व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय झगड़ों और विवादों को हल किया जा सकता है। नागरिकशास्त्र विविधता में एकता तथा सामाजिक कल्याण के लिये व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने पर बल देता है जिससे संघर्ष और विवादों की समाप्ति होकर सुखी नागरिक जीवन की प्राप्ति होती है।

(9) आदर्श नागरिकता का पाठ– नागरिकशास्त्र का उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है। यह बताता है कि अपने पड़ोसी, समाज तथा देश के प्रति हमें कैसा व्यवहार करना चाहिये। हमें अपने मताधिकार का प्रयोग कैसे करना चाहिये। देश के हित के विरुद्ध हमें कोई कार्य नहीं करना चाहिये। रिश्वत, भ्रष्टाचार, बेईमानी तथा कानूनों के उल्लंघन से हमें दूर रहना चाहिये। इस प्रकार उत्तम नागरिक गुणों की शिक्षा देकर यह शास्त्र हमें आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाता है। प्रो० पुन्ताम्बेकर ने ठीक ही लिखा है कि **"नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।"**

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता तथा महत्व

1. आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण
2. सद्गुणों का विकास
3. स्वतन्त्रता, समानता तथा कानून का ज्ञान
4. अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान
5. विभिन्न संघों व समुदायों का ज्ञान
6. राज्य की प्रकृति एवं स्वरूप का ज्ञान
7. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान
8. झगड़ों एवं विवादों की समाप्ति
9. आदर्श नागरिकता का पाठ
10. सरकार का ज्ञान
11. स्थानीय संस्थाओं के महत्व एवं कार्य-प्रणाली का ज्ञान
12. राजनीतिक दलों का ज्ञान
13. संविधान का ज्ञान
14. स्वस्थ जनमत के निर्माण में सहायक
15. विभिन्न प्रकार के वादों का ज्ञान
16. प्रजातन्त्र शासन की सफलता में सहायक।

(10) सरकार का ज्ञान– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से हमें सरकारों के संगठन, उद्देश्य और कार्य-प्रणाली का परिचय प्राप्त होता है। हम यह भी जान जाते हैं कि सरकार के त्रिविध अंगों के क्या कार्य हैं और उनमें कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। यह जानकारी आज के युग में होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना शासन के दोषों को दूर नहीं किया जा सकता और न देश के शासन को सही दिशा में उन्मुख किया जा सकता है।

(11) स्थानीय संस्थाओं के महत्व एवं कार्य-प्रणाली का ज्ञान– प्रजातन्त्रीय शासन में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को प्रजातन्त्र का मेरुदण्ड कहा गया है। नगरपालिका, ग्राम-पंचायत, क्षेत्र-समितियों और जिला-परिषदों के माध्यम से लोग प्रशासन के कार्य की शिक्षा नीचे के स्तर पर प्राप्त करते हैं। इनका एक महत्व यह भी है कि इनमें जनता को शासनतन्त्र के निकट रहकर उसमें भाग लेने और उसका संचालन करने का प्रत्यक्ष अवसर मिलता है। नागरिकशास्त्र हमें इन सभी स्थानीय संस्थाओं का ज्ञान कराता है।

(12) राजनीतिक दलों का ज्ञान– दल-व्यवस्था प्रजातन्त्र का आवश्यक अंग है। दल ही सरकार का निर्माण करते हैं। वे ही उस पर नियन्त्रण रखते हैं तथा जनता और सरकार के बीच

कड़ी का काम करके लोकतन्त्र को मूर्त एवं साकार बनाते हैं। नागरिकशास्त्र का अध्ययन हमें स्वस्थ दल प्रणाली के निर्माण और विकास तथा दलगत प्रणाली के दोषों से परिचित कराता है। इस जानकारी का लाभ हमें आदर्श राजनीतिक दल के निर्माण में सहायक होता है।

(13) संविधान का ज्ञान– नागरिकशास्त्र में हम विभिन्न प्रकार के संविधानों का अध्ययन करते हैं। उन संविधानों के गुण-दोषों का भी हमें परिचय मिलता है। हम यह समझ सकते हैं कि विशेष परिस्थितियों में किस प्रकार का संविधान हमारे लिये अपनाना उचित होगा और जन-कल्याण की दृष्टि से उसमें कब और क्या परिवर्तन करने वांछनीय होंगे। संविधान के ज्ञान से मनुष्य में सुरक्षा एवं निर्भयता की भावना का जन्म होता है।

(14) स्वस्थ जनमत के निर्माण में सहायक– प्रजातन्त्र शासन में जनमत का बड़ा महत्व है। सरकार सदा जनमत से प्रभावित होती है। नागरिकशास्त्र स्वस्थ जनमत का निर्माण करता है। नागरिकशास्त्र का अध्ययन करके नागरिक अपने बहुमूल्य मत (वोट) का दुरुपयोग करते हैं, जिससे अच्छे लोग निर्वाचित होकर शासन में पहुँचते हैं। इससे लोकप्रिय सरकार का निर्माण होता है। इस प्रकार, नागरिकशास्त्र स्वस्थ व जागरूक जनमत के निर्माण में सहायक होता है।

(15) विभिन्न प्रकार के वादों का ज्ञान– नागरिकशास्त्र में पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, व्यक्तिवाद, फासिस्टवाद आदि विभिन्न प्रकार के राजनीतिक व आर्थिक विचारों व वादों का अध्ययन किया जाता है। इसमें हम यह जान सकते हैं कि हमारे देश की परिस्थितियों के लिये कौन-सा वाद या विचारधारा उपयुक्त है। इस स्थिति में हम ऐसे राजनीतिक दल को समर्थन दे सकते हैं जो उस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करके देश में तदनुसार ही शासन चलाये।

(16) प्रजातन्त्र शासन की सफलता में सहायक– प्रजातन्त्र शासन का मूल सिद्धांत है, **'यथा प्रजा तथा राजा'** अर्थात् जैसी प्रजा होगी वैसी सरकार होगी। प्रजा जिस विचारधारा की होगी, उसी विचारधारा का शासक वर्ग होगा। प्रजातंत्र की सफलता के लिये ऐसे नागरिकों की आवश्यकता होती है जो सूझ-बूझ और विवेक से काम लें तथा अपने कर्त्तव्यों के प्रति सदा जागरूक रहें। नागरिकशास्त्र ऐसे नागरिकों का निर्माण कर प्रजातन्त्र शासन की सफलता में सहायक होता है।

उपर्युक्त विवरण से वर्तमान युग में नागरिकशास्त्र के महत्व का आभास मिलता है। नागरिकशास्त्र का अध्ययन देश की भावी प्रगति का आधार होता है। आज के युग में विज्ञान की प्रगति के चरणों को विनाश की ओर बढ़ने से रोकने की सामर्थ्य यदि किसी शास्त्र में है, तो वह नागरिकशास्त्र ही है। आज देश में भ्रष्टाचार मिटाने की तथा नवयुवकों में देश-प्रेम व राष्ट्रीय भावना भरने की क्षमता यदि किसी शास्त्र में है, तो वह नागरिकशास्त्र ही है। नागरिकशास्त्र का अध्ययन सुखी व समृद्ध सामाजिक जीवन का आधार है।

विद्यार्थियों के लिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्व

अंग्रेजी कवि विलियम वुड्सवर्थ ने लिखा है कि 'बालक मनुष्य का पिता है।' अर्थात् **Child is the father of man.** इसका अर्थ यही है कि आज के बालक ही कल को राष्ट्र के कर्णधार होंगे।

नागरिकशास्त्र का अध्ययन विद्यार्थियों के वर्तमान तथा भावी जीवन के निर्माण के लिये अत्यन्त आवश्यक है, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है–

(1) नागरिक गुणों का विकास– विद्यालयों की बैंचों को सुशोभित करने वाले आज के विद्यार्थियों में से ही कल के अनेकों नेहरू, पटेल, लालबहादुर शास्त्री पैदा होंगे, जो देश के प्रशासन की बागडोर सम्भालेंगे। डॉक्टर हो या वकील, इन्जीनियर हो या प्रोफेसर, इन पदों पर अपने कर्त्तव्यों का पालन वही विद्यार्थी सफलतापूर्वक कर सकते हैं, जिनमें छात्र-जीवन से ही नागरिकता के गुण कूट-कूट कर भरे जायें।

इसी बात कों दृष्टिगत रखकर एक अंग्रेज विद्वान ने कहा है कि "समाज के भावी शासक विद्यालयों की बैंचों पर बैठे हुए हैं।" (The future rulers of society are sitting on school benches.)।

(2) राजनीतिक शिक्षा– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से विद्यार्थियों को देश के शासन, सरकार, चुनाव, मताधिकार आदि का ज्ञान होता है। इससे उनमें राज्य के कार्यों में भाग लेने व मताधिकार का सही प्रयोग करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

(3) चरित्र का निर्माण– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से छात्रों में त्याग, परोपकार, सहिष्णुता, ईमानदारी, कर्त्तव्य-परायणता आदि गुणों का विकास होता है तथा उन्हें देश की शासन-व्यवस्था का ज्ञान होता है। इससे उनका नैतिक तथा राष्ट्रीय चरित्र उँचा उठता है।

(4) समाज सेवा की भावना– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से विद्यार्थी को पता चलता है कि परिवार, मौहल्ले, गाँव, नगर व समाज के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं ? इससे उसमें समाज-सेवा की भावना पैदा होती है तथा वह बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, छुआछूत व साम्प्रदायिकता जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने में जुट जाता है।

(5) अनुशासनप्रियता– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से अनेक सामाजिक व नागरिक गुणों के आने के कारण विद्यार्थी का जीवन अनुशासनप्रिय बनता है। अतः विद्यार्थियों को नागरिकशास्त्र अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाना चाहिये।

(6) उत्तरदायित्व की भावना– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से विद्यार्थियों को अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। जिससे उनमें उत्तरदायित्व की भावना आती है और वे देश की समस्याओं को सही रूप में समझते हैं।

(7) ज्ञान की वृद्धि– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से विद्यार्थी को ग्राम पंचायत, नगरपालिका, सरकार आदि की प्रत्यक्ष जांनकारी मिलती है जिससे उसके व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि होती है और विद्यार्थी जीवन में ही उसमें अच्छे नागरिक के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं।

भारतीयों के लिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन का महत्व

भारतीयों के लिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता निम्न कारणों से है–

(1) परतन्त्रता के बाद स्वतन्त्रता– भारतवासियों ने लम्बी परतन्त्रता के बाद 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त की है। लम्बी परतन्त्रता के संस्कारों के कारण अभी भी हमारे देश में अशिक्षा, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, स्वार्थपरता, अस्पृष्यता जैसे दोष विद्यमान हैं। नागरिकशास्त्र के अध्ययन से भारतीयों में इन दोषों को दूर करने की क्षमता पैदा होगी।

(2) स्वतन्त्रता की रक्षा– नागरिकशास्त्र के अध्ययन से भारतीय अपने अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों को भी समझेंगे तथा उनमें देश प्रेम की भावना पैदा होगी। फलस्वरूप, वे अपने देश की रक्षा करने में समर्थ होंगे।

(3) लोकतन्त्र की सफलता– हमने अपने देश में लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना की है। लोकतन्त्र की सफलता में नागरिकशास्त्र का बड़ा हाथ होता है। लोकतन्त्र की सफलता ईमानदार, कर्त्तव्य-परायण, परिश्रमी, देश-भक्त तथा जागरूक नागरिकों पर निर्भर करती है और नागरिकशास्त्र का अध्ययन हमें इन गुणों से सम्पन्न करता है।

(4) सामाजिक बुराइयों का निराकरण– आज हम बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, रूढ़िवादिता, परदा-प्रथा, जातिवाद, साम्प्रदायिकता तथा छुआछूत आदि सामाजिक बुराइयों के कारण संसार में हास्य के पात्र बने हुए हैं। इन बुराइयों को दूर कर देश को प्रगति के मार्ग पर ले जाने के लिये भारतीयों को नागरिकशास्त्र के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

(5) राष्ट्रीय एकता के लिये– भारत में विभिन्न धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों तथा विभिन्न भाषायें बोलने वाले लोग निवास करते हैं। इन सबमें मेल-जोल, प्रेम तथा राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा करने के लिये नागरिकशास्त्र का अध्ययन बड़ा उपयोगी है।

जिस प्रकार एक सैनिक के लिये अस्त्र-शस्त्र का प्रशिक्षण तथा वकील व जज के लिये कानून का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार, संसार के सबसे बड़े प्रजातन्त्रीय देश भारत के हर निवासी के लिये नागरिकशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। इसके ज्ञान के बिना न हम उन्नति कर सकते हैं, न हमारा देश।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

(1) "नागरिकशास्त्र नागरिकता का शास्त्र है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। इस शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ हैं ? (1971, 73)

[संकेत– इस प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर में नागरिकशास्त्र का अर्थ और परिभाषाओं का विवेचन करना है।]

(2) नागरिकशास्त्र के अर्थ तथा क्षेत्र-विस्तार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। (1972)

(3) नागरिकशास्त्र के अर्थ तथा स्वरूप की व्याख्या कीजिये। (1975)

(4) नागरिकशास्त्र की प्रकृति तथा उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए। (1976, 91)

(5) नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं ? इस कथन को स्पष्ट कीजिये कि "नागरिकशास्त्र सामाजिक सर्वेक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।" (1978)

[संकेत– प्रो० गेड्स के इस कथन की व्याख्या में भी नागरिकशास्त्र की परिभाषाओं का ही विवेचन करना है।]

(6) नागरिकशास्त्र की परिभाषा कीजिये तथा राजनीतिशास्त्र और इतिहास से इसका सम्बन्ध बताइये। (1980)

(7) नागरिकशास्त्र क्या है ? उसका अध्ययन किस तरह व्यक्ति को श्रेष्ठ नागरिक बनाने में सहायक है ? (1982)

[संकेत– इस प्रश्न के द्वितीय भाग में नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता का ही विवेचन करना है।]

(8) नागरिकशास्त्र की परिभाषा कीजिये और इसके अध्ययन का महत्व बताइये। (1984)

(9) नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र समझाइये। (1985)

(10) नागरिकशास्त्र की प्रकृति तथा उसकी उपयोगिता की व्याख्या कीजिये। इसके अध्ययन की क्या विधियाँ हैं ? (1986)

(11) नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं ? इसके क्षेत्र की विवेचना कीजिये। (1988, 90)

(12) नागरिकशास्त्र के अर्थ तथा क्षेत्र पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। (1991)

(13) नागरिकशास्त्र किसे कहते हैं ? इसका विषय-क्षेत्र क्या है ? (1993)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— नागरिकशास्त्र की सर्वोत्तम परिभाषा कौन-सी है और क्यों ?

उत्तर– नागरिकशास्त्र की सभी परिभाषाओं में डॉ० ह्वाइट की अग्रलिखित परिभाषा सर्वश्रेष्ठ है–

"नागरिकशास्त्र नागरिकों से सम्बन्धित सभी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक विषयों का अध्ययन करता है और नागरिकता के भूत, वर्तमान, भविष्य तथा स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं की विवेचना करता है।"

वर्तमान समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। अतः इस कसौटी की दृष्टि से केवल डॉ० ह्वाइट की परिभाषा ही विस्तृत एवं पूर्ण है, जबकि अन्य परिभाषाएँ संकुचित, अपूर्ण तथा एकांगी हैं।

प्रश्न 2— नागरिकशास्त्र की एक अच्छी परिभाषा अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर– नागरिकशास्त्र वह विद्या है जो काल और दूरी की चिन्ता किये बिना एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य का अध्ययन करती है, हमें कर्त्तव्यों व अधिकारों का ज्ञान कराती है और सुखी सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक दशाओं की व्यवस्था करती है।

प्रश्न 3— नागरिकशास्त्र का क्षेत्र क्या है ?

या

प्राचीन समय की तुलना में वर्तमान में नागरिकशास्त्र के क्षेत्र में जो अन्तर आया है, उसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– प्राचीन समय में नागरिकशास्त्र का क्षेत्र केवल नगर के मनुष्यों के सामाजिक जीवन के अध्ययन तक ही सीमित था किन्तु वर्तमान समय में इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। आजकल इसमें मानव के स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक और सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। भूतकाल व वर्तमान काल के सामाजिक जीवन का अध्ययन तथा भविष्य के आदर्श नागरिक जीवन की कल्पना की जाती है।

प्रश्न 4— नागरिकशास्त्र का शाब्दिक तथा प्राचीन अर्थ बताइये।

या

'नागरिकशास्त्र' शब्द की संक्षेप में व्युत्पत्ति समझाइये।

उत्तर– नागरिकशास्त्र अंग्रेजी भाषा के 'सिविक्स' (Civics) शब्द का पर्यायवाची शब्द है। अंग्रेजी भाषा के इस शब्द का जन्म लैटिन भाषा के 'सिविटास' (Civitas) शब्द से हुआ है। "सिविटास" का अर्थ 'नगर' होता है। अतः प्राचीन काल में नगर के निवासियों को "नागरिक" या 'सिविस' (Civis) कहा जाता था।

प्रश्न 5— नागरिकशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य क्या है ?

उत्तर– नागरिकशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना तथा देश की सामाजिक, राजनीतिक व मानवीय समस्याओं का हल निकालना है। इसका उद्देश्य देशवासियों को उनके नागरिक, पारिवारिक व सामाजिक कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान कराना भी है।

प्रश्न 6— विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– नागरिकशास्त्र के अध्ययन के छात्रों के जीवन के आदर्श नागरिक के गुणों का समावेश होगा। उन्हें कर्त्तव्यों व अधिकारों का ज्ञान होगा। उनमें उत्तरदायित्व की भावना आयेगी। देश की समस्याओं को वे सही रूप में देख व समझ सकेंगे तथा राजनैतिक व सामाजिक जीवन को दूषित करने वाली प्रवृत्तियों से बचे रहेंगे। उन्हें देश की राजनीति व शासन का सही ज्ञान होगा तथा वे चरित्रवान व देशभक्त नागरिक बनेंगे।

प्रश्न 7— भारतीयों के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– सैंकड़ों वर्षों की गुलामी के बाद सन् 1947 में हमारा देश आजाद हुआ किन्तु आजादी के 45 वर्ष पश्चात् भी हम भारतीयों में अभी कर्त्तव्यपालन की भावना की कमी है। हमारे समाज में दहेज-प्रथा, छुआ-छूत, साम्प्रदायिकता, गरीबी, रिश्वतखोरी व चोरबाजारी आदि अनेक बुराइयाँ पायी जाती हैं।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन से भारतीयों में देश-प्रेम और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होगी तथा वे उपर्युक्त बुराइयों से बचेंगे।

कुछ अन्य लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 8— नागरिकशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र सम्बन्धी किन्हीं चार विषयों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 9— नागरिकशास्त्र मनुष्य में किन-किन सद्गुणों का विकास करता है ?

प्रश्न 10— लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है ?

प्रश्न 11— नागरिकशास्त्र के महत्व को प्रकट करने वाले चार कारण बताइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— नागरिकशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा किस लेखक की है ?

उत्तर– डॉ० ई० एम० ह्वाइट की।

प्रश्न 2— नागरिकशास्त्र के एक प्रमुख भारतीय और एक प्रमुख विदेशी विद्वान् का नाम बताइये।

उत्तर– भारतीय विद्वान–डॉ० बेनीप्रसाद।
विदेशी विद्वान–डॉ० ई० एम० ह्वाइट।

प्रश्न 3– नागरिकशास्त्र के अध्ययन की एक उपयोगिता बताइये।

उत्तर– नागरिकशास्त्र हमें आदर्श नागरिक बनने की शिक्षा देता है।

प्रश्न 4— नागरिकरशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। इसके अतिरिक्त दो अन्य सामाजिक शास्त्रों के नाम बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) अर्थशास्त्र (ii) समाजशास्त्र।

प्रश्न 5— नागरिकशास्त्र के अध्ययन के दो प्रमुख लाभ बताइये। **(1988)**

उत्तर– (i) अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान। (ii) राज्य तथा सरकार का ज्ञान।

प्रश्न 6— उन चार सामाजिक बुराइयों के नाम बताइये जिन्हें दूर करने में नागरिकशास्त्र सहायक होता है।

उत्तर– ये हैं– (i) साम्प्रदायिकता, (ii) दहेज प्रथा, (iii) छुआछूत, (iv) जातिवाद।

प्रश्न 7— "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।" यह परिभाषा किस लेखक की है ?

उत्तर– प्रो० पुन्ताम्बेकर की।

प्रश्न 8— नागरिकशास्त्र की एक परिभाषा लिखिये। **(1987, 90, 91, 93)**

उत्तर– नागरिकशास्त्र वह शास्त्र है जो हमें हमारे अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराकर, सुखी एवं सफल सामाजिक जीवन की आवश्यक दशाओं की सृष्टि करता है।

प्रश्न 9— 'सिविस' का अर्थ बताइये। **(1988)**

उत्तर– लेटिन भाषा के शब्द 'सिविस' का अर्थ है– नागरिक।

□□

2 नागरिकशास्त्र की प्रकृति तथा अध्ययन पद्धतियाँ (Nature of Civics and Methods of Study)

"नागरिकशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों इन मायनों में है, क्योंकि यह मानवीय दशाओं की खोज करता है और फिर अपने खोज के परिणामों को मानव-कल्याण की वृद्धि में लगाने का प्रयत्न करता है।"

–डॉ० बेनी प्रसाद

इस अध्याय में क्या है ?

(1) नागरिकशास्त्र की प्रकृति या स्वरूप का अध्ययन क्यों ?, (2) नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला या दोनों ?, (3) विज्ञान क्या है ?, (4) नागरिकशास्त्र विज्ञान कहने पर आपत्तियाँ, (5) विज्ञान के प्रकार, (6) नागरिकशास्त्र विज्ञान है, (7) कला क्या है ? (8) नागरिकशास्त्र कला भी है, (9) नागरिकशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों है, (10) नागरिकशास्त्र के अध्ययन की पद्धतियाँ या रीतियाँ, (11) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (12) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

नागरिकशास्त्र की प्रकृति, स्वरूप या स्वभाव (Nature of Civics)

नागरिकशास्त्र की प्रकृति का अध्ययन क्यों ?— किसी भी नये व्यक्ति से जब हम प्रथम बार मिलते हैं अथवा किसी भी नये व्यक्ति से जब हम मित्रता करना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम उसके स्वभाव, प्रकृति या आदतों का पता लगाना चाहते हैं, ताकि उसके स्वभाव या प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करके उसके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकें। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति **स्वार्थी प्रकृति** का है, तो हमें उससे दोस्ती बनाये रखने में पग-पग पर सतर्क रहना होगा। यदि **व्यक्ति क्रोधी प्रकृति** का है, तो हम शान्त एवं उत्तेजना रहित व्यवहार करके ही मित्रता को जारी रख सकते हैं और यदि वह व्यक्ति **सज्जन प्रकृति** का है, तो हम निश्चित होकर उससे मित्रता को जारी रख सकते हैं और स्वयं भी लाभ उठा सकते हैं तथा उसको भी लाभान्वित कर सकते हैं।

यह व्यक्तिगत जीवन की कहानी हो सकती है, किन्तु आज जब हम नागरिकशास्त्र जैसे एक नये विषय का अध्ययन करने चले हैं, तो हमें इसी व्यक्तिगत कहानी को यहाँ भी लागू करना होगा। अर्थात् नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिये आगे बढ़ने से पूर्व यह देखना होगा कि इस नये विषय की प्रकृति या स्वभाव कैसा है ? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? अन्य शब्दों में, **नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला ? यह विज्ञान-प्रकृति का शास्त्र है या कला-प्रकृति का? इसका अध्ययन विज्ञान के रूप में किया जाये या कला के रूप में ? इसकी परख हम विज्ञान की कसौटी पर कस कर करें या कला की कसौटी पर ?** यह ज्ञात होने पर हम इसके अध्ययन में उन अध्ययन-पद्धतियों (Methods of Study) का प्रयोग कर सकते हैं जो विज्ञान तथा कला के अध्ययन के लिये पृथक्-पृथक् प्रयुक्त की जाती हैं और तभी हमारा नागरिकशास्त्र का अध्ययन सही तथा पूर्ण हो सकता है।

दूसरा कारण– अभी विगत अध्ययन में हमने नागरिकशास्त्र के क्षेत्र का अध्ययन किया। इस सम्बन्ध में **प्रो० जे० एन० कीन्स** ने लिखा है कि– **"किसी शास्त्र के क्षेत्र (Scope) से तात्पर्य है उसकी विषय-सामग्री, उसके स्वभाव तथा अन्य शास्त्रों से उसके सम्बन्ध का विवरण।"** इस

सन्दर्भ में नागरिकशास्त्र के क्षेत्र का पूर्ण एवं विस्तृत अध्ययन तभी हो सकता है, जबकि उसमें निम्न दो बातों का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाए– **(1) नागरिकशास्त्र का स्वभाव या प्रकृति (Nature) क्या है अर्थात् नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला ? और (2) उसका अन्य सामाजिक शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है ?**

अतः इस अध्याय में इसी बात का अध्ययन करेंगे कि नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला ?

नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों
(Is Civics a Science or an Art or Both ?)

नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला– इस बात का पता लगाने के लिये यह आवश्यक है कि पहले यह देखा जाये कि विज्ञान किसे कहते हैं और कला का क्या अर्थ है ? फिर नागरिकशास्त्र को विज्ञान और कला की कसौटियों पर कसा जाए और तब देखा जाए कि वह किस-किस कसौटी पर खरा उतरता है ?

विज्ञान क्या है ?

विज्ञान शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, वि + ज्ञान, जिसका अर्थ है विशेष प्रकार का ज्ञान। गार्नर के अनुसार, **"विज्ञान किसी विषय के उस क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं जो विषेष प्रकार के परीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण और प्रयोग द्वारा प्राप्त हुआ हो।"** *"Science is the knowledge relating to a particular subject acquired by a systematic observation, experience or study which have been coordinated, systematized and classified."*

विज्ञान विशेष प्रकार के परीक्षण और प्रयोग से कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और वर्तमान स्थिति का अध्ययन करके कुछ नियमों का निर्माण करता है।

कार्ल पियर्सन के शब्दों में, **"विज्ञान की एकमात्र पहचान उसकी अध्ययनपद्धति से होती है, न कि उसकी अध्ययन-सामग्री से।"** *("The entity of Science consists alone in its methods, not in its material.")*

नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहने पर आपत्तियाँ

नागरिकशास्त्र विज्ञान है या नहीं– इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। कई विद्वान ऐसे हैं जो नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहने पर आपत्ति उठाते हैं। इस सम्बन्ध मे उनके द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ निम्न प्रकार हैं–

(1) अटल नियमों का अभाव– नागरिकशास्त्र के नियम विज्ञान के नियमों की भाँति अटल और निश्चित (exact) नहीं होते। उदाहरण के लिये; गणित शास्त्र के अनुसार, दो और दो हर स्थिति में चार ही होते हैं। भौतिक विज्ञान के गुरुत्वाकर्षण नियम (Law of Gravitation) के अनुसार, ऊपर फेंका गया पदार्थ सदा नीचे की ओर ही गिरता है । ये नियम हर समय, स्थान तथा स्थिति में अटल तथा अपरिवर्तनशील होते हैं।

किन्तु नागरिकशास्त्र के नियम सर्वदा अटल नहीं होते। उदाहरण के लिये; लोकतन्त्र को शासन की सर्वोत्तम प्रणाली माना जाता है, किन्तु लोकतन्त्र एक देश में सफल होता है, तो दूसरे देश में असफल हो जाता है।

लास्की यदि एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थक हैं तो प्रसिद्ध विद्वान **सिजविक** एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोधी हैं। अतः स्पष्ट है कि नागरिकशास्त्र के कुछ नियम परिवर्तनशील हैं।

(2) कार्य और कारण के बीच निश्चित सम्बन्ध का अभाव– विज्ञान के, विशेष रूप से

भौतिक एवं रसायन विज्ञान के अध्ययन में कार्य व कारण के बीच एक निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है तथा किसी भी घटना के कारण को ज्ञात करना सरल होता है। किन्तु नागरिकशास्त्र में ऐसा करना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये; इस बात का निश्चित कारण नहीं बताया जा सकता कि भारत में लोकतन्त्र क्यों सफल हुआ ? पाकिस्तान में यह सफल क्यों नहीं हुआ ? मतदाता क्या सोचकर अपना मत देते हैं ? आदि।

नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहने पर आपत्तियाँ

1. अटल नियमों का अभाव
2. कार्य और कारण के बीच निश्चित सम्बन्ध का अभाव
3. प्रयोग करना सरल नहीं
4. नागरिकशास्त्र का अध्ययन व्यक्तिपरक है।

(3) प्रयोग करना सरल नहीं– विज्ञान के अध्ययन में प्रयोगशाला में बैठकर यन्त्रों की सहायता से इच्छानुसार प्रयोग किये जा सकते हैं और निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। किन्तु नागरिकशास्त्र में ऐसा करना सम्भव नहीं है। एक तो इस कारण क्योंकि नागरिकशास्त्र का अध्ययन प्रयोगशाला में नहीं किया जाता; दूसरे, यदि समाज को प्रयोगशाला मानकर मानव पर प्रयोग किया जाये, तो केवल शासक ही ऐसा कर सकता है।

(4) नागरिकशास्त्र का अध्ययन व्यक्तिपरक है– विज्ञान का अध्ययन वस्तुपरक (Objective) होता है अर्थात् उसमें निर्जीव वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है, जबकि नागरिकशास्त्र का अध्ययन व्यक्तिपरक (Subjective) होता है, जिसमें ऐसे जीवित मानव का अध्ययन किया जाता है जिसके विचार, भावनायें तथा बाह्य दशायें बदलती रहती हैं। अतः नागरिकशास्त्र में विज्ञान की तरह सही निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं होता।

उपर्युक्त कारणों के आधार पर कुछ विद्वान नागरिकशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते।

किन्तु ऊपर का दृष्टिकोण एकपक्षीय तथा संकुचित है और विज्ञान की संकुचित परिभाषा पर आधारित है। नागरिकशास्त्र को विज्ञान की कसौटी पर कसने के लिये हमें विज्ञान के सभी रूपों पर विचार करना होगा और उस स्थिति में हम नागरिकशास्त्र को विज्ञान की कसौटी पर खरा पायेंगे।

विज्ञान के प्रकार (Kinds of Science)

विज्ञान दो प्रकार के होते हैं–

(1) निश्चित विज्ञान (Exact Science)— जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और गणित। इन विज्ञानों के नियम सदा सत्य तथा अटल होते हैं। उदाहरणतः भौतिक विज्ञान का नियम है कि प्रत्येक वस्तु गर्मी पाकर फैलती है और सर्दी पाकर सिकुड़ती है। रसायन विज्ञान का नियम है कि निश्चित तापमान व दबाव में यदि दो भाग हाइड्रोजन तथा एक भाग ऑक्सीजन को मिलाया जाये, तो जल बन जाता है। इस प्रकार इन विज्ञानों के नियम हर परिस्थिति तथा स्थान पर समान रूप से लागू होते हैं।

(2) अनिश्चित विज्ञान– जैसे ऋतु विज्ञान। ऐसे विज्ञानों के नियम सदा ही अस्थायी तथा अटल नहीं होते। समय तथा परिस्थितियों के अनुसार वे बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिये; मौसम की भविष्यवाणियाँ सत्य भी होती हैं और नहीं भी।

नागरिकशास्त्र विज्ञान है (Civics is a Science)

ऊपर दी हुई विज्ञान की कसौटी पर यदि नागरिकशास्त्र को कसा जाये, तो अग्रलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं–

(1) नागरिकशास्त्र अंशतः एक निश्चित विज्ञान है– नागरिकशास्त्र के कुछ नियम सदा

सत्य और अटल होते हैं जैसे "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" यह नियम प्रत्येक देश तथा प्रत्येक समय में स्थिर तथा सत्य माना जाता है। किन्तु नागरिकशास्त्र के सभी नियम भौतिक विज्ञान व रसायन विज्ञान के नियमों के समान सर्वदा सत्य और अटल नहीं होते। अतः नागरिकशास्त्र अंशतः ही एक निश्चित विज्ञान है।

नागरिकशास्त्र विज्ञान है

1. नागरिकशास्त्र अंशतः एक निश्चित विज्ञान है
2. नागरिकशास्त्र एक अनिश्चित विज्ञान है
3. अध्ययन विधि की दृष्टि से यह विज्ञान है
4. कार्य-कारण में सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव
5. प्रयोग भी सम्भव।

(2) नागरिकशास्त्र एक अनिश्चित विज्ञान है– नागरिकशास्त्र के नियम चूँकि सदा और प्रत्येक परिस्थिति में सत्य तथा अटल नहीं होते, अतः यह ऋतु विज्ञान जैसे विज्ञानों के समान एक अनिश्चित विज्ञान है। उदाहरण के लिये; नागरिकशास्त्र का नियम है कि– **"परिवार नागरिक गुणों की सर्वोच्च पाठशाला है।"** यह नियम अधिकांश परिवारों के मामलों में सत्य है। किन्तु आज ऐसे अनेक परिवार मिल जायेंगे, जिनके कुसंस्कारों के कारण वच्चों के चरित्र बिगड़ जाते हैं। उस स्थिति में परिवार सर्वोच्च पाठशाला कहाँ रहता है ?

(3) अध्ययन विधि की दृष्टि से नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है– वास्तव में विज्ञान की असली कसौटी उसके अटल व स्थिर नियम नहीं हैं, अपितु उसकी अध्ययन विधि है। नागरिकशास्त्र का अध्ययन एक विज्ञान के समान ही विशिष्ट क्रमबद्ध विधि से किया जाता है। मानव-जीवन के तथ्यों का परीक्षण, विश्लेषण व वर्गीकरण किया जाता है और उनका प्रयोग भी किया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि अन्य विज्ञानों के प्रयोग प्रयोगशालाओं में होते हैं, किन्तु नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला सम्पूर्ण मानव-समाज है।

(4) कार्य व कारण में सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव– प्रत्येक वस्तु की भिन्नता के कारण यद्यपि नागरिकशास्त्र में भौतिक विज्ञान की भाँति तो कार्य-कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन से निकाले गये सामान्य निष्कर्षों के आधार पर कुछ मात्रा में ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव है।

उदाहरण के लिये; लगभग 2500 वर्ष पूर्व अरस्तू ने कहा था कि, **"मनुष्य अपनें स्वभाव और आवश्यकताओं के कारण समाज में रहता है।"** समाज में रहने का यह कारण तब भी था, अब भी विद्यमान है और भविष्य में भी रहेगा। अतः नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहना तर्कसंगत है।

(5) प्रयोग भी सम्भव– यह कहना उचित नहीं है कि विज्ञान की भाँति नागरिकशास्त्र के अध्ययन में प्रयोगशाला में प्रयोग नहीं हो सकते हैं। वास्तव में विज्ञान की प्रयोगशाला एक कमरे में सीमित होती है, किन्तु नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला सम्पूर्ण मानव समाज तक विस्तृत है और यह सत्य है कि उस विस्तृत प्रयोगशाला में प्रयोग होते हैं।

गिलक्राइस्ट ने भी कहा है– **"भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र में जो प्रयोग विधि है, यह यद्यपि नगारिकशास्त्र में पूरी तरह लागू नहीं हो सकती किन्तु फिर भी नागरिकशास्त्र में अपने विशिष्ट प्रकार के प्रयोगों के लिये काफी गुंजाइश है।"**

उदाहरण के लिये; चौथे आम चुनाव के बाद भारत के विभिन्न राज्यों में विभिन्न दलों की मिली-जुली सरकारों का प्रयोग किया गया था, जोकि असफल रहा। छठे आम चुनाव के बाद केन्द्र में भी जनता सरकार में विभिन्न दलों के घटकवाद ने जो रंग दिखाया, उससे भी यह स्पष्ट हुआ कि मिली-जुली सरकारों का प्रयोग सफल नहीं होता।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नागरिशास्त्र एक विज्ञान है, क्योंकि इसका अध्ययन क्रमबद्ध रूप में वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाता है। किन्तु नागरिकशास्त्र भौतिक व रसायन विज्ञानों के समान पूर्ण विज्ञान तो नहीं है हाँ, एक अनिश्चित श्रेणी का तथा सामाजिक विज्ञानों की श्रेणी का विज्ञान अवश्य है।

कला क्या है ? (What is Art ?)

"किसी भी ज्ञान को प्राप्त करके उसे वास्तविक जीवन में प्रयोग करना ही कला है।" ***(Art is the application of knowledge to real life)*** **। उदाहरण के लिये;** विभिन्न रंगों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना विज्ञान है और उन रंगों के प्रयोग से एक सुन्दर चित्र बना देना कला है। अन्य शब्दों में, कला उस कौशल या गुण को कहते हैं जिसके द्वारा चीजों को सुन्दर रूप दिया जाता रहा है। **जीवन में अच्छी वस्तु को प्राप्त करना और बुरी का त्याग करना ही कला का उद्देश्य है।**

नागरिकशास्त्र कला भी है (Civics is an Art)

नागरिकशास्त्र कला की उपर्युक्त कसौटी पर खरा उतरता है। नागरिकशास्त्र आदर्श नागरिक जीवन के नियमों का ज्ञान ही नहीं कराता, अपितु व्यावहारिक जीवन में उनके पालन पर भी जोर देता है। अतः यह कला भी है। जैसा कि पेट्रिक गेड्स ने लिखा है कि, **"नागरिकशास्त्र का उद्देश्य केवल सामाजिक संस्थाओं व उनके विकास का ज्ञान कराना ही नहीं है अपितु यह मानव को समाज के प्रति एक सक्रिय निष्ठा के लिये भी प्रोत्साहित करता है।"**

"The aim of Civics is not only to give knowledge of the institutions of Society and their growth, but also to inspire an active devotion to the community."

नागरिकशास्त्र कला है, इसकी पुष्टि निम्न आधारों पर की जा सकती है–

(1) आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निर्माण– सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देना कला का प्रमुख लक्षण है। नागरिकशास्त्र जहाँ भूतकाल तथा वर्तमान के नागरिक जीवन का अध्ययन कर कुछ सिद्धान्तों का निर्माण करता है, वहाँ भावी नागरिक जीवन को सुखी बनाने तथा आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने की शिक्षा तथा प्रेरणा भी देता है।

(2) व्यक्ति का मार्गदर्शन– नागरिकशास्त्र नागरिक को अधिकारों व कर्त्तव्यों का ज्ञान ही नहीं कराता, अपितु इस सम्बन्ध में भी उनका मार्गदर्शन करता है कि वह अधिकारों का सही उपयोग कैसे करें और विभिन्न कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन किस प्रकार करें। नागरिकशास्त्र इस सम्बन्ध में कर्त्तव्यों का 'उचित-क्रम निर्धारण' करके नागरिक का पथ प्रदर्शन करता है।

नागरिकशास्त्र कला भी है

1. आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निर्माण
2. व्यक्ति का मार्ग-दर्शन
3. मानव-कल्याण का साधन
4. श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण।

(3) मानव-कल्याण का साधन– नागरिकशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य सुखी नागरिक जीवन तथा मानव-कल्याण के लिए समुचित वातावरण पैदा करना तथा आवश्यक साधन जुटाना है। यही नहीं, नागरिकशास्त्र, उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये नागरिकों को समुचित प्रेरणा भी देता है।

(4) श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण– नागरिकशास्त्र आदर्श व श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करने वाली कला है। नागरिकशास्त्र अनेक सामाजिक बुराइयों को दूर करके गुणवान नागरिक बनने के लिये प्रोत्साहित करता है।

इस प्रकार, नागरिकशास्त्र में कला की सभी विशेषतायें पायी जाती हैं। अतः निःसन्देह नागरिकशास्त्र एक प्रगतिशील कला है।

नागरिकशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों है
(Civics is both, a Scince and an Art)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि **नागरिकशास्त्र केवल विज्ञान या कला नहीं है, अपितु विज्ञान तथा कला दोनों है।** नागरिकशास्त्र का अध्ययन क्रमबद्ध रीति एवं वैज्ञानिक पद्धति से किया जाता है और इसकी अध्ययन-विधि भी मानवीय प्रयोगों पर आधारित है। **अतः यह विज्ञान है।** यद्यपि इसके सभी नियम भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान व गणित जैसे विज्ञानों के समान स्थिर नहीं होते, तथापि इसके अनेक नियम ऐसे हैं जो सर्वमान्य तथा सर्वव्यापक हैं। नागरिकशास्त्र एक आधुनिक विषय है। अतः भविष्य में विकसित होने पर यह आशा की जाती है कि यह पूर्ण विज्ञान की पंक्ति में भी खड़ा हो सकेगा।

विज्ञान होने के साथ-साथ चूँकि नागरिकशास्त्र अपने ज्ञान को क्रियात्मक रूप देता है तथा अपने नियमों को व्यवहार में लाने पर जोर देता है, अतः यह कला भी है। एक अच्छे नागरिक के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि वह नागरिक के कर्त्तव्यों को जानता हो, बल्कि उन पर ठीक प्रकार से अमल भी करता हो। नागरिकशास्त्र कला के रूप में व्यक्ति को इस बात की प्रेरणा देता है कि वह नागरिकता के नियमों का पालन करे।

संक्षेप में, नागरिकशास्त्र अपने सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से तो विज्ञान है और अपने व्यावहारिक स्वरूप की दृष्टि से कला है।

इस सम्बन्ध में, डॉ० बेनी प्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि, **"नागरिकशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों इन मायनों में है, क्योंकि यह मानवीय दशाओं की खोज करता है और अपने खोज के परिणामों को मानव-कल्याण की वृद्धि में लगाने का प्रयत्न करता है।"**

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की पद्धतियाँ या रीतियाँ
(Methods of the Study of Civics)

किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने की कोई-न-कोई रीति या पद्धति होती हे। उस रीति या विधि के अनुसार अध्ययन करने से ही हम उस शास्त्र का समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधियों का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

नागरिकशास्त्र चूँकि विज्ञान भी है और कला भी, अतः इसके अध्ययन में **वैज्ञानिक एवं कलात्मक** दोनों ही प्रकार की रीतियों का प्रयोग किया जाता है। ये रीतियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) अवलोकन अथवा पर्यवेक्षण रीति (Observation Method)— इस रीति से तात्पर्य है कि कुछ स्थितियों व दशाओं का अवलोकन करने के पश्चात् उससे कुछ परिणाम निकाला जाये। नागरिकशास्त्र के अध्ययन में इस रीति का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। इस रीति के द्वारा हम **व्यक्ति एवं उसकी सामाजिक दशाओं का सूक्ष्म अवलोकन** करते हैं और देखते हैं कि व्यक्ति किन-किन सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं से सम्बन्धित है, उनसे व्यक्ति को क्या-क्या लाभ होता है अथवा वे संस्थायें या प्रचलित सामाजिक नियम व्यक्ति के विकास में कहाँ तक सहायक सिद्ध हुए हैं, इत्यादि बातों का अवलोकन कर हम **कुछ तथ्यों का संग्रह करते हैं और तत्पश्चात् कुछ निष्कर्ष या परिणाम निकालते हैं।**

उदाहरण के लिये— मनुष्य के पारिवारिक जीवन का सूक्ष्म अवलोकन करने के पश्चात् ही यह परिणाम निकाला गया है कि— **"परिवार नागरिक जीवन की सर्वोच्च पाठशाला है।"** यह एक वैज्ञानिक रीति है।

(2) प्रयोगात्मक रीति (Experimental Method— प्रयोगात्मक रीति वैज्ञानिक अध्ययन की वह रीति है जिसमें वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में प्रयोग करके परिणाम निकालते हैं। भौतिकशास्त्र

एवं रसायनशास्त्र जैसे विज्ञानों में इसी रीति का प्रयोग किया जाता है। नागरिकशास्त्र में हम इस प्रकार के प्रयोग तो नहीं कर सकते, क्योंकि वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक जिन पदार्थों पर प्रयोग करते हैं, वे जड़ तथा अचेतन होते हैं और उन पदार्थों पर उनका पूर्ण नियन्त्रण होता है। किन्तु नागरिकशास्त्र का अध्ययन-विषय मनुष्य है जो जड़ नहीं बल्कि चेतन है। अतः समाज के भीतर मनुष्य के शरीर, मन तथा विचारों को पूर्णतया नियन्त्रित रखना सम्भव नहीं है। इसी कारण अन्य विज्ञानों की तरह प्रयोगशाला के अन्तर्गत मनुष्यों का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ

1. अवलोकन अथवा पर्यवेक्षण रीति
2. प्रयोगात्मक रीति
3. ऐतिहासिक रीति
4. तुलनात्मक रीति
5. दार्शनिक रीति
6. वैधानिक पद्धति।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि नागरिकशास्त्र में हम प्रयोग पद्धति अपना ही नहीं सकते। वास्तव में मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन ही एक प्रयोगशाला है और व्यक्ति के सामाजिक जीवन में हम नये-नये कानून तथा नये-नये सामाजिक नियमों को लागू करके बराबर प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिये; भारत में हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में तलाक का कोई स्थान नहीं था, किन्तु हिन्दू कोड बिल द्वारा अब सामाजिक जीवन में इसका प्रयोग हो रहा है। रूस में साम्यवाद का प्रयोग हुआ किन्तु वह असफल रहा। चीन में नये किस्म के साम्यवाद का प्रयोग हो रहा है। आचार्य विनोबा भावे ने लोगों का हृदय-परिवर्तन करके उनसे भूमि दान लेकर समाज में सम्पत्ति के समान वितरण का प्रयोग किया। इसी प्रकार, नागरिकशास्त्र के अध्ययन में प्रयोगात्मक रीति का प्रयोग किया जाता है।

(3) ऐतिहासिक रीति (Historical Method)— जब हम ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किसी विषय का अध्ययन करते हैं, तो उसे अध्ययन की ऐतिहासिक रीति कहा जाता है। नागरिकशास्त्र में मनुष्य, समाज और संस्थाओं का अध्ययन करते समय हमें ऐतिहासिक तथ्यों का सहारा लेना होता है। हम प्राचीन काल के मनुष्य, उनके सामाजिक जीवन तथा उनके द्वारा बनाई गयी संस्थाओं का अध्ययन इतिहास के द्वारा ही करते हैं। जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार-प्रथा व विवाह-प्रथा आदि रीतियों एवं संस्थाओं की उत्पत्ति एवं उनके विकास का ज्ञान हमें इतिहास से ही होता है। इस अध्ययन द्वारा हम प्राचीन काल की भूलों से बचकर अच्छे एवं सुखी सामाजिक जीवन का निर्माण कर सकते हैं।

किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन हमें बड़े ही निष्पक्ष भाव से करना चाहिये, यह मानकर नहीं कि भूतकाल की प्रत्येक बात सही है अथवा प्रत्येक बात गलत है। वस्तुतः हमें नवीन परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए भूतकाल के ऐतिहासिक तथ्यों एवं अनुभवों से लाभ उठाकर सुखी सामाजिक जीवन का निर्माण करना चाहिये।

(4) तुलनात्मक रीति (Comparative Method)— अवलोकन रीति द्वारा हमें वर्तमान समय के सामाजिक जीवन का और ऐतिहासिक रीति द्वारा विभिन्न देशों के भूतकाल के सामाजिक जीवन एवं नागरिक आचरण का ज्ञान होता है। तुलनात्मक रीति द्वारा हम उस वर्तमान एवं भूतकालीन ज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं और अच्छे परिणाम निकाल सकते हैं। नागरिकशास्त्र चूँकि एक कला है, अतः कला होने के नाते यह किसी भी विषय के गुण-दोष का विवेचन करके हमें गुणों को अपनाने की प्रेरणा देता है।

इस प्रकार तुलनात्मक रीति द्वारा हम विभिन्न समयों के सामाजिक जीवन एवं नियमों की तुलना करके लाभकारी सामाजिक संगठनों, नियमों तथा प्रथाओं को अपने वर्तमान नागरिक जीवन में लागू कर सकते हैं। उदाहरण के लिये; किसी देश में संघात्मक शासन लागू होना चाहिये या

एकात्मक ? किसी देश में साम्यवाद या समाजवाद लागू करना कहाँ तक लाभकारी या हानिकारक हो सकता है ? प्राचीनकाल से अब तक विवाह प्रथा और तलाक प्रथा में क्या-क्या गुण-दोष रहे हैं ? इत्यादि समस्याओं का सही एवं उपयोगी समाधान हम तुलनात्मक रीति द्वारा नागरिकशास्त्र का अध्ययन करके ही प्राप्त कर सकते हैं।

नागरिकशास्त्र चूँकि एक कला भी है, अतः तुलनात्मक रीति का अध्ययन हमें विभिन्न समस्याओं के गुण-दोष विवेचन की शक्ति देता है और गुणों को अपना कर नागरिक जीवन को सुखी बनाने की प्रेरणा देता है।

(5) दार्शनिक रीति (Philosophical Method)— दार्शनिक रीति को अध्ययन की आदर्शवादी रीति कहा जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा नागरिकशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष को दृष्टि में नहीं रखा जाता, बल्कि उसकी सैद्धान्तिक विवेचना की जाती है और कल्पनाओं एवं तर्कों के आधार पर आदर्शों का निर्माण किया जाता है। इस रीति द्वारा हम आदर्श नागरिक जीवन की कल्पना करते हैं। विचार एवं मनन की दृष्टि से अध्ययन की इस रीति का काफी महत्व है। प्लेटो तथा रूसो आदि लेखकों ने इस पद्धति का उपयोग किया था।

(6) वैधानिक पद्धति (Constitutional Method)— विलोबी द्वारा प्रतिपादित यह पद्धति राज्य को एक वैधानिक इकाई या व्यक्ति मानती है जिसका कार्य कानून बनाना और उन्हें लागू करना है। परन्तु इस प्रणाली का दोष यह है कि इसमें राज्य को केवल एक वैधानिक व्यक्ति माना गया है और उन सामाजिक शक्तियों को भुला दिया गया है जो कानून व मानवीय सम्बन्धों के आधार के रूप में कार्य करती हैं।

निष्कर्ष– अध्ययन की उपर्युक्त रीतियों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नागरिकशास्त्र के अध्ययन में किसी एक रीति से काम नहीं चल सकता। विषय के किसी एक भाग के अध्ययन में यदि किसी एक रीति से काम लेना होगा, तो दूसरे भाग के अध्ययन में अन्य रीति से। इस प्रकार नागरिकशास्त्र के विद्यार्थियों को नागरिकशास्त्र के अध्ययन में समय-समय पर उपर्युक्त रीतियों में से सभी का आश्रय लेना होता है।

पद्धतियों की सफलता के लिए आवश्यक गुण

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपर्युक्त पद्धतियों के प्रयोग को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इन पद्धतियों के प्रयोगकर्त्ता में निम्नलिखित गुण हों—

(1) उसे सभी पद्धतियों का प्रयोग निष्पक्ष भाव से करना चाहिए।
(2) किसी भी घटना को तटस्थ भाव से अध्ययन कर निष्कर्ष निकालना चाहिए।
(3) उसे व्यापाक दृष्टिकोण से तथ्यों पर विचार करना चाहिए।
(4) उसे तार्किक, परिश्रमी एवं आत्म-विश्वास से युक्त होना चाहिए।
(5) उसे किसी भी पद्धति के प्रति पूर्वाग्रह नहीं रखना चाहिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला ? व्याख्या कीजिये। **(1966)**

(2) नागरिकशास्त्र की परिभाषा दीजिये और इसकी अध्ययन पद्धतियाँ बताइये। **(1974)**

(3) नागरिकशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों का वर्णन कीजिये। **(1994, 92)**

(4) नागरिकशास्त्र के स्वरूप तथा उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिये। **(1976)**

(5) "नागरिकशास्त्र कला और विज्ञान दोनों है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। **(1977, 81, 90)**

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— नागरिकशास्त्र को विज्ञान मानने के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

उत्तर– नागरिकशास्त्र को विज्ञान मानने से सम्बन्धित दो तर्क या कारण इस प्रकार हैं–

(i) क्रमबद्ध रीति से अध्ययन– नागरिकशास्त्र का अध्ययन एक विज्ञान के समान ही क्रमबद्ध रीति से किया जाता है। इसमें मानव-जीवन के तथ्यों का परीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण करके उनका प्रयोग भी किया जाता है।

(ii) कार्य और कारण में सम्बन्ध– नागरिकशास्त्र में भौतिक विज्ञान की भाँति कार्य-कारण के बीच तो सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी, विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन से सामान्य निष्कर्ष निकालकर ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, अरस्तू का यह कथन कि **"मनुष्य अपने स्वभाव और आवश्यकताओं के कारण समाज में रहता है।"**

प्रश्न 2— नागरिकशास्त्र को विज्ञान न मानने के पक्ष में दो तर्क या कारण दीजिए।

या

नागरिकशास्त्र के नियम विज्ञान के नियमों के समान अटल नहीं होते।

उत्तर– नागरिकशास्त्र को विज्ञान न मानने से सम्बन्धित दो तर्क इस प्रकार हैं–

(i) अटल नियमों का अभाव– नागरिकशास्त्र के नियम विज्ञान के नियमों के समान निश्चित और अटल नहीं होते हैं। जैसे गणितशास्त्र के अनुसार दो और दो हर स्थिति में चार होते हैं। किन्तु नागकिरशास्त्र का एक नियम है कि "लोकतन्त्र शासन की सर्वोत्तम प्रणाली है।" मगर लोकतन्त्र एक देश में सफल और दूसरे देश में असफल हो जाता है।

(ii) प्रयोग करना सरल नहीं– विज्ञान का अध्ययन प्रयोगशाला में यन्त्रों की सहायता से किया जाता है किन्तु नागरिकशास्त्र में मानव-व्यवहार का अध्ययन प्रयोगशाला में नहीं हो सकता।

प्रश्न 3— नागरिकशास्त्र के कला होने के पक्ष में दो तर्क दीजिए।

या

"क्या नागरिकशास्त्र कला है ?" स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – निम्न तर्कों के आधार पर नागरिकशास्त्र को कला कहा जाता है–

(i) मानव-कल्याण का साधन– नागरिकशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य सुखी नागरिक जीवन तथा मानव कल्याण के लिए समुचित वातावरण पैदा करना व आवश्यक साधन जुटाना है। इस उद्देश्य के लिये वह नागरिकों को प्रेरित भी करता है।

(ii) श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण– नागरिकशास्त्र श्रेष्ठ व आदर्श नागरिकों का निर्माण करने वाली कला है। नागरिकशास्त्र अनेक सामाजिक बुराइयों को दूर करके गुणवान नागरिक बनने के लिए प्रोत्साहित करता है।

प्रश्न 4— नागरिकशास्त्र के अध्ययन की अवलोकन या परीक्षण रीति क्या है ?

उत्तर– इस रीति के द्वारा हम व्यक्ति तथा उसकी सामाजिक दशाओं का सूक्ष्म अवलोकन करते हैं और तथ्यों का संग्रह करके कुछ निष्कर्ष या परिणाम निकालते हैं। उदाहरण के लिए, मनुष्य के पारिवारिक जीवन का सूक्ष्म अवलोकन करने के पश्चात् ही यह परिणाम निकाला गया कि "परिवार नागरिक जीवन की सर्वोच्च पाठशाला है।" यह एक वैज्ञानिक रीति है।

अन्य लघु प्रश्न

प्रश्न 5— नागरिकशास्त्र के अध्ययन की कौन-कौन सी पद्धतियाँ हैं ?

प्रश्न 6— "नागरिकशास्त्र एक अनिश्चित विज्ञान है।" समझाइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— अध्ययन विधि की दृष्टि से नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है तो फिर नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला कौन-सी है ?

उत्तर— सम्पूर्ण मानव समाज।

प्रश्न 2— नागरिकशास्त्र के अध्ययन की दो रीतियाँ या विधियाँ बताइये।

(1987, 88, 90, 93)

उत्तर— ये हैं— (i) अवलोकन रीति, (ii) प्रयोगात्मक रीति।

प्रश्न 3— नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला ? या दोनों।

उत्तर— नागरिकशास्त्र विज्ञान भी है और कला भी।

प्रश्न 4— नागरिकशास्त्र के नियमों तथा भौतिक विज्ञान जैसे अन्य विज्ञानों के नियमों का एक अन्तर बताइये।

उत्तर— नागरिकशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञान व रसायन विज्ञान के नियमों के समान सर्वदा सत्य एवं अटल नहीं होते।

□□

3

नागरिकशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध
(Relation of Civics with Other Social Sciences)

"मानवशास्त्र यदि वृक्ष है, तो सभी सामाजिक शास्त्र उसकी विभिन्न शाखायें हैं।" —बसन्त लाल जैन

"सभी सामाजिक शास्त्र नागरिकशास्त्र के पारिवारीय-जन एवं रिश्तेदार हैं। अतः नागरिकशास्त्र का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है।" —नीलम सेठी

इस अध्याय में क्या है ?

(1) अन्य सामाजिक शास्त्रों से नागरिकशास्त्र के सम्बन्ध का अध्ययन क्यों ?, (2) नागरिकशास्त्र के रिश्तेदार, (3) नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र का सम्बन्ध, (4) नागरिकशास्त्र और इतिहास, (5) नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र, (6) नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र, (7) नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र, (8) नागरिकशास्त्र और कानूनशास्त्र, (9) नागरिकशास्त्र और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र, (10) नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान, (11) नागरिकशास्त्र और भूगोल, (12) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (13) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

अन्य सामाजिक शास्त्रों से नागरिकशास्त्र के सम्बन्ध का अध्ययन क्यों ?

अपने लड़के यां लड़की की शादी के सम्बन्ध का नया नाता जोड़ते समय प्रायः लोग यह देखा करते हैं कि जिस व्यक्ति या परिवार से हम नया नाता जोड़ रहे हैं उसके परिवार में कितने लोग हैं ? उसके परिवारीयज़न तथा रिश्तेदार कौन-कौन हैं ? **उसके रिश्तेदारों की क्या हैसियत** है तथा उन रिश्तेदारों से उस व्यक्ति या परिवार के कैसे सम्बन्ध हैं ? इन बातों की जानकारी प्राप्त करके हम उस नये व्यक्ति या परिवार की स्थिति तथा हैसियत का पता लगा लेते हैं या यह कहिए कि उस व्यक्ति की स्थिति का, जिससे कि हम सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं, हमें पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

यह कसौटी हमें नागरिकशास्त्र के सम्बन्ध में भी अपनानी होगी। आज जब हम एक नये विषय नागरिकशास्त्र का व्यापक अध्ययन करने तथा उस नये विषय से अपने ज्ञान का सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं, तो हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम देखें कि नागरिकशास्त्र के परिवारीयजन तथा रिश्तेदार कौन-कौन से हैं तथा उनसे नागरिकशास्त्र के सम्बन्ध कैसे हैं ? इससे हमें नागरिकशास्त्र के महत्व तथा उसकी सही स्थिति व हैसियत का ज्ञान होगा।

नागरिकशास्त्र के रिश्तेदार– हम जानते हैं कि नागरिकशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि अन्य सामाजिक शास्त्र हैं। सामाजिक शास्त्र होने के नाते ये सभी शास्त्र नागरिकशास्त्र के परिवारीयजन तथा रिश्तेदार हैं।

अन्य सभी सामाजिक शास्त्र मानव-जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन करते हैं। उदाहरणतः **अर्थशास्त्र** मानव-जीवन के आर्थिक पहलू का, **राजनीतिशास्त्र** मानव-जीवन के राजनीतिक पहलू का और **धर्मशास्त्र** मानव-जीवन के धार्मिक पहलू का अध्ययन करता है। दूसरी ओर **नागरिकशास्त्र** एक नागरिक के रूप में मानव-जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन करता है। अतः सामाजिक शास्त्र होने के नाते नागरिकशास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

डॉ० व्हाइट ने कहा है– **"चूँकि नागरिकशास्त्र नागरिकों के जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है अतः यह सम्बन्धों का शास्त्र है। यह अन्य सभी विषयों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहता है।"**

इस सम्बन्ध में एलफ्रेड डि ग्रेजिया ने कहा है कि–

"नागरिकशास्त्र सामाजिक शास्त्र के रूप में एक ऐसे झगड़ालू परिवार का सदस्य है जिसका प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्यों की पोशाकों को पहनने की आदत रखता है।"

"Civics, as social science is member of a rather quarrelsome family, each one of its members has a habit of wearing of the other's dresses."

—Alfred De Grazia

इस स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि हम नागरिकशास्त्र को पूर्णतया समझने के लिये अन्य सामाजिक शास्त्रों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें और देखें कि नागरिकशास्त्र का अपने अन्य सगे-बान्धवों (सामाजिक शास्त्रों) के साथ पृथक्-पृथक् किस प्रकार का सम्बन्ध है ?

नागरिकशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध

अन्य सामाजिक शास्त्रों से नागरिकशास्त्र के सम्बन्धों का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों में पृथक्-पृथक् करेंगे–

(1) नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र
(Civics and Sociology)

नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं तो अध्ययन में दोनों एक-दूसरे की सहायता करते हैं जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है–

(1) दोनों का अध्ययन-विषय समाज– नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत नागरिकों की सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और समाजशास्त्र में मानव समाज की उत्पत्ति, उसकी सभ्यता, संस्कृति और संगठन के विकास का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार ये दोनों ही शास्त्र चूँकि समाज का ही अध्ययन करते हैं अतः ये परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

जैसा कि ए० जे० शा ने कहा है कि **"समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक शक्तियों का वर्णन है। नागरिकशास्त्र उस वर्णन का लाभ उठाता है तथा सामाजिक समस्याओं का सामना करने के लिये उन्हें व्यवहार में लाता है।"**

(2) माँ-पुत्र का सम्बन्ध– क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से समाजशास्त्र व नागरिकशास्त्र के बीच वृक्ष-शाखा का तथा माँ-पुत्र जैसा सम्बन्ध है। नागरिकशास्त्र मानव के नागरिक-जीवन का अध्ययन करता है और समाजशास्त्र मानव के सम्पूर्ण विकास का अध्ययन करता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है और नागरिकशास्त्र का क्षेत्र सीमित है। परन्तु समाजशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र चूँकि दोनों ही शास्त्र समाज का अध्ययन करते हैं, अतः **दोनों के बीच माँ और पुत्र का सम्बन्ध है।**

(3) समाजशास्त्र नागरिकशास्त्र का आधार– समाजशास्त्र प्राचीनकाल से अब तक के समाज के विभिनन अंगों के क्रमिक विकास का अध्ययन करता है। जैसा कि डॉ० बेनी प्रसाद ने कहा है, **"समाजशास्त्र में सामाजिक विकास का उल्लेख होता है तथा सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्वों का अध्ययन किया जाता है।"**

("Sociology deals with social development in general and analyses the ground–work of social life.")

नागरिकशास्त्र का उद्देश्य चूँकि आदर्श नागरिक का निर्माण करना है, अतः नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र के अध्ययन एवं सहयोग से आदर्श समाज की रूपरेखा का निर्धारण कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि समाजशास्त्र का अध्ययन किये बिना नागरिकशास्त्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता। **समाजशास्त्र एक आधार के रूप में नागरिकशास्त्र को पोषण-सामग्री प्रदान करता है।**

जैसा कि प्रो० गिडिंग्स ने लिखा है **"जो व्यक्ति समाजशास्त्र के सिद्धान्तों से अपरिचित हो उसके द्वारा नागरिकशास्त्र का अध्ययन करना ऐसा ही है जैसा कि न्यूटन के गतिविज्ञान के सिद्धान्तों से अपरिचित व्यक्ति द्वारा खगोल विज्ञान (Astronomy) का अध्ययन करना।"**

नागरिकशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

1. नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र
2. नागरिकशास्त्र और इतिहास
3. नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र
4. नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र
5. नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र
6. नागरिकशास्त्र और कानूनशास्त्र
7. नागरिकशास्त्र और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र
8. नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान
9. नागरिकशास्त्र और भूगोल।

(4) नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र का सहायक– नागरिकशास्त्र भी समाजशास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति में उसकी सहायता करता है। समाजशास्त्र का उद्देश्य है, समाज की कुरीतियों को दूर कर स्वस्थ व सुखी समाज का निर्माण करना। नागरिकशास्त्र श्रेष्ठ एवं कर्त्तव्यपरायण नागरिकों का निर्माण कर इस उद्देश्य की पूर्ति में समाजशास्त्र की सहायता करता है।

नागरिकशास्त्र व समाजशास्त्र में अन्तर– घनिष्ठ सम्बन्धों के बावजूद इन दोनों शास्त्रों में कई अन्तर हैं–

(i) नागरिकशास्त्र मनुष्य के केवल नागरिक जीवन का अध्ययन करता है। किन्तु समाजशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है। समाजशास्त्र मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन करता है। **(ii)** नागरिकशास्त्र एक आदर्शात्मक शास्त्र है। किन्तु समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक शास्त्र है।

(2) नागरिकशास्त्र और इतिहास
(Civics and Hisotry)

नागरिकशास्त्र और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों में करेंगे–

(1) इतिहास, नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शक– इतिहास में हम बीते हुए युग में मानव के उत्थान-पतन तथा प्राचीन घटनाओं का अध्ययन करते हैं। इतिहास से हमें प्राचीनकाल के सामाजिक जीवन, सामाजिक संस्थाओं तथा आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इतिहास से हमें पता चलता है कि प्राचीन युग में मनुष्य ने सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में किस-किस प्रकार प्रयास किया, उसे किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उन कठिनाइयों को किस प्रकार हल किया गया। इन सबका ज्ञान वर्तमान के नागरिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में बड़ा सहायक होता है। इस प्रकार **इतिहास नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शन करता है।**

उदाहरण के लिये, इतिहास से हमें पता चलता है कि प्राचीनकाल में युद्ध हुए थे और उनका परिणाम मानव-जीवन के लिये विनाशकारी हुआ था। अतः नागरिकशास्त्र हमें शिक्षा देता है कि मानव-समाज को युद्ध से बचना चाहिये। इसी प्रकार इतिहास हमें बताता है कि अमुक सामाजिक संस्थाओं से प्राचीनकाल में मनुष्य का कोई हित नहीं हुआ। अतः नागरिकशास्त्र कहता है कि आज उन संस्थाओं की स्थापना करना बेकार है।

(2) इतिहास, नागरिकशास्त्र का आधार– यदि हमें नागरिकशास्त्र के आधार की तलाश करनी हो तो उसके लिये हमें इतिहास के पास ही जाना होगा। इतिहास से हमें अनुभवरूपी जो सामग्री प्राप्त होती है उससे हम वर्तमान आदर्श नागरिक जीवन के भवन का निर्माण करते हैं। इतिहास यदि एक विशाल वृक्ष है तो नागरिकशास्त्र उसका फल है। इसलिये एक लेखक सीले ने कहा है कि–

History without Civics has no fruit.
And Civics without History has no root.

अर्थात् नागरिकशास्त्र के बिना इतिहास का कोई फल नहीं है और इतिहास के बिना नागरिकशास्त्र का कोई आधार या मूल नहीं है।

(3) नागरिकशास्त्र द्वारा भावी इतिहास का निर्माण– इतिहास नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है। नागरिकशास्त्र प्राचीन इतिहास की सामग्री से अपने वर्तमान आदर्श सिद्धान्तों का निर्माण करता है और नागरिकशास्त्र के द्वारा उन आदर्श सिद्धान्तों को जब मनुष्य के नागरिक जीवन में लागू किया जाता है, तो उससे फिर आने वाले युग के इतिहास का निर्माण होता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र और इतिहास घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

इस सम्वन्ध में लॉर्ड एक्टन ने कहा कि– **"नागरिकशास्त्र इतिहास की धारा में उसी प्रकार संचित है जिस प्रकार नदी की रेत में सोने के कण।"**

"The Science of Civics is the one science that is developed by the stream of History like the grains of gold in the sands of a river."
—Lord Acton.

इस प्रकार, इतिहास तथा नागरिकशास्त्र न केवल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरके हैं। दोनों का जीवन ही एक-दूसरे पर निर्भर है। इसलिये डॉ० बर्गेस ने कहा है कि **"यदि नागरिकशास्त्र व इतिहास को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया जाये, तो दोनों मृत नहीं तो पंगु तो अवश्य ही हो जायेंगे।"**

इतिहास व नागरिकशास्त्र में अन्तर– घनिष्ठ सम्बन्धों के बावजूद इतिहास व नागरिकशास्त्र में निम्न अन्तर हैं–

(1) क्षेत्र का अन्तर– नागरिकशास्त्र की अपेक्षा इतिहास का क्षेत्र व्यापक है। नागरिकशास्त्र में मनुष्य के केवल नागरिक जीवन व नागरिक संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है किन्तु इतिहास में मनुष्य के भूतकालीन जीवन के नागरिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाता है।

(2) उद्देश्य का अन्तर– इतिहास में केवल समकालीन घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन रहता है। इतिहास भविष्य के बारे में मौन रहता है। किंतु नागरिकशास्त्र नागरिक जीवन की विगत व वर्तमान स्थिति के साथ भी भावी नागरिक जीवन की कल्पना भी करता है।

(3) इतिहास एक वर्णनात्मक विज्ञान है किन्तु नागरिकशास्त्र विचारात्मक एवं अवलोकनात्मक विज्ञान है।

(3) नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र
(Civics and Economics)

ये दोनों शास्त्र भी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्वन्धित हैं। इनके सम्वन्धों का विवरण निम्न प्रकार है–

(1) दोनों का उद्देश्य समान– अर्थशास्त्र भी एक सामाजिक शास्त्र है। इसके अन्तर्गत हम समाज में रहने वाले मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं, अर्थात् धन कमाने और उसे व्यय करने से

सम्बन्धित सभी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। यह शास्त्र हमें धन की उत्पत्ति, धन के उपभोग, धन के विनिमय, धन के वितरण तथा राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध में जानकारी देता है। अर्थशास्त्र बताता है कि मनुष्य किस-किस प्रकार से अपनी आवश्यकताओं को पूरी कर सकता है और आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनकर किस प्रकार सुखी सामाजिक जीवन का निर्माण कर सकता है।

दूसरी ओर, नागरिकशास्त्र का उद्देश्य भी नागरिकों के सामाजिक जीवन को सुखी व समृद्ध बनाना है। इस प्रकार, **दोनों ही शास्त्रों का उद्देश्य मानव तथा समाज का कल्याण करना है।** यद्यपि दोनों शास्त्रों के क्षेत्र अलग-अलग हैं। **किन्तु उद्देश्यों में समानता होने के कारण दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं।**

(2) अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र का सहायक– नागरिकशास्त्र अर्थशास्त्र के सहयोग से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हो सकता है। जब तक मनुष्य तथा समाज आर्थिक दृष्टि से समृद्ध नहीं होगा तब तक सुखी नागरिक जीवन का निर्माण नहीं किया जा सकता। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े, निर्धन एवं भूखे व्यक्ति से हम उच्च नागरिक आदर्शों को अपनाने की आशा नहीं कर सकते। इस प्रकार अर्थशास्त्र नागरिकशास्त्र के उद्देश्य की पूर्ति करता है।

(3) नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र का सहायक– नागरिकशास्त्र भी अर्थशास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होता है। मनुष्य धन की उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय तथा वितरण से सम्बन्धित सभी आर्थिक क्रियायें तभी ठीक प्रकार सम्पन्न कर सकता है जबकि समाज में शान्ति, संगठन, सहयोग एवं सुव्यवस्था हो। उसके नागरिक ईमानदार, कर्त्तव्य-परायण और परिश्रमी हों। ऐसे नागरिकों के अभाव में आर्थिक उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनायें भी असफल हो जाती हैं। नागरिकशास्त्र ऐसे ही ईमानदार, देशभक्त, कर्त्तव्यपरायण और परिश्रमी नागरिकों का निर्माण करता है जो समाज को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने में सहायता पहुँचाते हैं। **इस प्रकार नागरिकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र दोनों एक-दूसरे के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता करते हैं और घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।**

इसीलिये प्रो० मिहिर सेन ने कहा है कि **"अर्थशास्त्र कला के रूप में नागरिकशास्त्र पर और नागरिकशास्त्र कला के रूप में अर्थशास्त्र पर निर्भर है। ये दोनों ही शास्त्र एक-दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं।"**

नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र में अन्तर– इन दोनों शास्त्रों में निम्न अन्तर भी हैं–

(i) नागरिकशास्त्र में मनुष्य के नागरिक जीवन का अध्ययन किया जाता है किन्तु अर्थशास्त्र में मनुष्य के आर्थिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। (ii) नागरिकशास्त्र नागरिक व सामाजिक जीवन की समस्याओं का समाधान करता है किन्तु अर्थशास्त्र धन के उपभोग, उत्पादन, विनिमय व वितरण की समस्याओं का समाधान करता है।

(4) नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र
(Civics and Religion)

कुछ लोग कहते हैं कि नागरिकशास्त्र का धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। दोनों के बीच परस्पर महत्वपूर्ण सम्बन्ध है, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है–

(1) दोनों का समान उद्देश्य– नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र में निकट का सम्बन्ध है। धर्मशास्त्र वह शास्त्र है जो मनुष्य को ईश्वरीय मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है और वह इस लोक तथा परलोक को सुधारने का मार्ग बताता है। धर्म के कारण ही मनुष्य में चरित्र-निर्माण, सत्य, दया, सहानुभूति, परोपकार, दान तथा कर्त्तव्य-पालन के संस्कार उत्पन्न होते हैं। अच्छे

नागरिक बनने के लिये इन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। यही नहीं धर्म के भय के कारण ही मनुष्य चोरी, हत्या, क्रोध, लोभ, अहंकार तथा व्यभिचार आदि पापों से दूर रहता है। इस प्रकार दोनों ही शास्त्रों का उद्देश्य एक समान है अर्थात् अच्छे, चरित्रवान व कर्त्तव्य-परायण मनुष्यों (नागरिकों) का निर्माण करना।

(2) धर्मशास्त्र नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शक– कुछ कहते हैं कि धर्म का नागरिकशास्त्र से कोई सम्वन्ध नहीं है। ऐसा कहना सही नहीं है। **बिना धर्मशास्त्र के नागरिकशास्त्र बिना ब्रेक वाली मोटर है।** धर्म ही नागरिकों को गलत कार्य करने से रोकता है। आज भी हमारे देश के नेताओं में जो पद-लोलुपता एवं गुटवन्दी उत्पन्न हो गयी है, समाज में जो स्वार्थपरता और बेईमानी घुस गयी है, विद्यार्थियों में जो अनुशासनहीनता आ गयी है उसका एक प्रमुख कारण यह है कि धर्म को हमने नागरिक-जीवन से विल्कुल काटकर रख दिया है, विभिन्न चारित्रिक गुण प्रदान करने वाली धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा को कूड़े के ढेर पर उठा कर फेंक दिया है।

धर्म ने ही हमें **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** जैसे उच्च नागरिक जीवन का आदर्श प्रदान किया है। धर्म के विभिन्न गुणों से युक्त व्यक्ति ही आदर्श एवं श्रेष्ठ नागरिक बन सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।"

अर्थात् हे मनुष्य ! कर्म पर तेरा अधिकार है, तू फल की चिन्ता मत कर। किन्तु इस धार्मिक आदर्श को भुलाकर हमारे देश के नागरिक फल (अधिकारों) के लिये तो चिल्लाते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं, किन्तु अपने कर्म (कर्त्तव्य) की ओर ध्यान नहीं देते। इस दिशा में **धर्मशास्त्र, नागरिकशास्त्र का मार्ग-दर्शन करता है।**

(3) नागरिकशास्त्र, धर्मशास्त्र का सहायक– इसके विपरीत, कभी-कभी धर्म के नाम पर जब लोगों में घृणा, वैमनस्य तथा साम्प्रदायिकता की भावनायें घर कर जाती हैं तो नागरिकशास्त्र आगे बढ़कर आता है और अपने पंचशील, सहिष्णुता, प्रेम, सहयोग और सच्ची नागरिकता के प्रचार से धर्म के असली रूप को लोगों के समक्ष रखता है। भारत तो एक धर्म-प्रधान देश है। अतः यहाँ धर्मशास्त्र और नागरिकशास्त्र में अटूट सम्बन्ध है।

(5) नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

(Civics and Politics)

ये दोनों शास्त्र तो परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि कई विद्यार्थी इन दोनों विषयों को एक ही मान लेते हैं। वस्तुतः दोनों एक ही हैं किन्तु दोनों में यदि अन्तर है, तो **साँपनाथ और नागनाथ जैसा।** दोनों के सम्वन्धों का विवरण निम्न प्रकार है–

(1) उत्पत्ति की समानता– नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में तो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि अनेक विद्वानों ने इन दोनों शास्त्रों को पृथक्-पृथक् न मानकर एक ही शास्त्र माना है। शब्दों की उत्पत्ति की दृष्टि से प्राचीन समय में भी इन्हें एक ही शास्त्र माना जाता था।

इसलिये डॉ० बेनी प्रसाद ने कहा है कि **"नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में विषय-वस्तु का अन्तर नहीं है। जो अन्तर है केवल उच्चारण और बल का है।"**

"The difference between Civics & Politics is one of accent and emphasis rather than of subject-matter."

(2) क्षेत्र समान, केवल विस्तार में अन्तर– राजनीतिशास्त्र में हम मनुष्य का अध्ययन केवल राज्य का सदस्य होने के नाते करते हैं, किन्तु नागरिकशास्त्र में हम मनुष्य का अध्ययन दूसरी सामाजिक संस्थाओं एवं सभाओं का सदस्य होने के नाते भी करते हैं। राजनीतिशास्त्र में इन संस्थाओं का अध्ययन नहीं किया जाता। इस दृष्टि से कार्यरूप में समान होते हुए भी राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र संकुचित है और नागरिकशास्त्र का व्यापक।

(3) दोनों एक-दूसरे के पूरक– राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है। यह शास्त्र हमें राज्य की उत्पत्ति, विकास एवं उसके संगठन के विषय में बताता है। राज्य का मनुष्य के सामाजिक जीवन में बड़ा महत्व है। यदि राज्य तथा सरकार देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखते हैं, तभी नागरिकों का सामाजिक जीवन सुखी हो सकता है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिये राज्य का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। अधिकार और कर्त्तव्य सुखी नागरिक-जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। **राजनीतिशास्त्र अधिकारों पर विशेष जोर देता है, तो नागरिकशास्त्र नागरिक-कर्त्तव्यों पर विशेष जोर डालता है।** इस प्रकार विना इन दोनों शास्त्रों के सहयोग के सुखी नागरिक-जीवन का आदर्श प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः **दोनों ही शास्त्र एक दूसरे के पूरक** हैं तथा दोनों में लंगोटिया मित्रों जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसीलिये प्रो० मिहिर सेन ने राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्धों को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि **"राज्य नागरिकों से बनता है और नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं। राज्य के अध्ययन के लिये हमें नागरिकों का अध्ययन करना होगा और नागरिकता का अर्थ जानने के लिये हमें राज्य का अर्थ जानना होगा।"**

नागरिकशास्त्र व राजनीतिशास्त्र में अन्तर– (i) राजनीतिशास्त्र अधिकारों पर विशेष जोर देता है किन्तु नागरिकशास्त्र नागरिक-कर्त्तव्यों पर विशेष जोर डालता है।

(ii) राजनीतिशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन केवल राज्य का सदस्य होने के नाते करते हैं किन्तु नागरिकशास्त्र में हम मनुष्य का अध्ययन दूसरी संस्थाओं का सदस्य हाने के नाते भी करते हैं।

(iii) राजनीतिशास्त्र केवल वर्णनात्मक है किन्तु नागरिकशास्त्र में व्यावहारिक पहलू को अधिक महत्व दिया जाता है।

(6) नागरिकशास्त्र और कानूनशास्त्र
(Civics and Law)

ये दोनों शास्त्र भी परस्पर सम्बन्धित हैं और एक दूसरे को घनिष्ठ रूप से प्रभावित करते हैं, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है–

(1) कानूनशास्त्र का नागरिकशास्त्र पर प्रभाव– कानून राज्य या सरकार की आज्ञाओं को कहते हैं। कानूनशास्त्र में हम कानूनों के निर्माण, उनके स्वरूप तथा प्रकारों का अध्ययन करते हैं। हमारे नागरिक एवं सामाजिक जीवन को सुखी बनाने में कानूनों का बड़ा हाथ है। कानून नागरिकों का मार्ग-दर्शन करते हैं। वे उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कराते हैं। कानून जहाँ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा में सहायता करते हैं, वहाँ वे नागरिकों को कर्त्तव्य-पथ पर भी अग्रसर करते हैं। इस प्रकार कानूनों का नागरिक-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(2) नागरिकशास्त्र का कानूनशास्त्र पर प्रभाव– नागरिकशास्त्र भी कानूनशास्त्र को प्रभावित करता है। नागरिकशास्त्र का उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है। आदर्श नागरिक ही देश के आदर्श नेता बन सकते हैं और अच्छे कानूनों का निर्माण कर सकते हैं। नागरिकशास्त्र हमें इस बात की प्रेरणा देता है कि हम अच्छे और बुरे कानूनों की पहचान करें और अच्छे कानूनों का पालन एवं समर्थन करें तथा देश व समाज के विरोधी तथा पक्षपात से भरे हुए बुरे कानूनों का विरोध करें। देश की परिस्थितियों के अनुसार के अनुसार ही नये-नये कानून बनते हैं और पुराने कानूनों में संशोधन किया जाता है। दास-प्रथा का अन्त, मजदूरों की दशाओं में सुधार तथा छुआ-छूत की समाप्ति के कानून इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार नागरिकशास्त्र और कानूनशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट है।

(7) नागरिकशास्त्र और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र
(Civics and Ethics)

आचारशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र दोनों ही परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। आचारशास्त्र नैतिकता का शास्त्र है। यह मनुष्य के आचरण के लिये उच्च आदर्श का निर्माण करता है। इस शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आचारण एवं उसकी नैतिक उन्नति से है। यह शास्त्र हमें अच्छे-बुरे, सही-गलत तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कराता है। यह शास्त्र मनुष्य को सत्यता एवं ईमानदारी से आचरण करने तथा उच्च नैतिक जीवन बिताने की प्रेरणा देता है।

नागरिकशास्त्र का लक्ष्य भी उत्तम नागरिक उत्पन्न करना है। किन्तु उत्तम नागरिक होने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य का आचरण उत्तम हो और उसका जीवन उच्च नैतिक मान्यताओं से पूर्ण हो। आचारशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र सदाचरण सम्बन्धी जिन आदर्श एवं उच्च नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण करता है, नागरिकशास्त्र उनको नागरिक के व्यावहारिक जीवन में अपनाने की प्रेरणा देता है। **इस प्रकार,आचारशास्त्र और नागरिकशास्त्र में निकट का सम्बन्ध है। अन्तर केवल इतना है कि एक का रूप सैद्धान्तिक है तथा दूसरे का व्यावहारिक।**

इसलिये प्रो० पुन्ताम्बेकर ने कहा है कि **"आचारशास्त्र यदि दर्शन (Philosophy) है तो नागरिकशास्त्र आदर्श जीवन का आचरण है।"**

"If Ethics is Philosophy, Civics is the Practice of good life."

—Prof. Puntambekar

इसीलिये महात्मा गाँधी ने कहा था कि **"जो बात नैतिक दृष्टि से अनुचित है, उसे नागरिक जीवन में अपनाया ही नहीं जा सकता।"**

(8) नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान
(Civics and Psychology)

नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोविज्ञान में मनुष्य के मन और मस्तिष्क का अध्ययन किया जाता है। यह मनुष्य की भावनाओं, स्वभाव, आन्तरिक वेदनाओं, उत्तेजनाओं एवं उसकी मन सम्बन्धी आदतों का अध्ययन कराता है। यह शास्त्र बताता है कि मनुष्य का मस्तिष्क एकांत में तथा समाज के बीच किस-किस प्रकार कार्य करता है। मनोविज्ञान के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है कि मनुष्य के मन से सम्बन्धित किन-किन बातों का अच्छा या बुरा प्रभाव मनुष्य तथा उसके सामाजिक जीवन पर पड़ता है।

इन सब बातों से हमें अच्छे नागरिक बनने में तथा नागरिक जीवन को सुखी बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिये, मनोविज्ञान हमें बताता है कि हम बच्चों एवं छात्रों के साथ कैसा व्यवहार करें कि वे उत्तम नागरिक बन सकें, मजदूरों के साथ कैसा व्यवहार करें कि वे आन्दोलनकारी रुख न अपनायें। इस प्रकार; मनोविज्ञान अथवा मानसिकशास्त्र का ज्ञान नागरिकशास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होता है और नागरिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण योग प्रदान करता है। अतः दोनों का सम्बन्ध निर्विवाद है।

बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि **"वर्तमान में मानवीय क्रियाओं की गुत्थियों को सुलझाने में मनोवैज्ञानिक संकेतों का प्रयोग एक प्रथा सी बन गयी है।"**

(9) नागरिकशास्त्र और भूगोल
(Civics and Geography)

भूगोल के अन्तर्गत हम देश की प्राकृतिक भू-रचना, जलवायु, कृषि उपज, वन सम्पत्ति, खनिजों आदि का अध्ययन करते हैं। **यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का अध्ययन किये बिना सुखी नागरिक-जीवन की स्थापना नहीं की जा सकती।**

पश्चिम में अरस्तू ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आधुनिक युग में मौन्टेस्क्यू, रूसो आदि विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त को विशेष महत्व दिया।

मौन्टेस्क्यू का कहना था कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता ठंडे देशों के लिए स्वाभाविक होती है और दासता गर्म देशों के लिए।"

रूसो का मत था कि "गर्म जलवायु में निरंकुश तन्त्र, ठण्डी जलवायु में बर्बरता और सम जलवायु में अच्छी शासन प्रणाली फलती-फूलती है।" इस प्रकार भूगोल के अध्ययन से नागरिकशास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति में बड़ी सहायता मिलती है।

स्पष्ट है कि नागरिकशास्त्र का भूगोल से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

(1) नागरिकशास्त्र का इतिहास, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से क्या सम्बन्ध है ? (1967)

(2) नागरिकशास्त्र का महत्व समझाइये तथा राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र से उसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। (1973)

(3) नागरिकशास्त्र का इतिहास तथा अर्थशास्त्र से क्या सम्बन्ध है ?

(4) नागरिकशास्त्र के स्वरूप एवं उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिये। राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र से उसका क्या सम्बन्ध है ? (1976)

(5) टिप्पणी लिखिये–

(i) नागरिकशास्त्र व इतिहास के बीच सम्बन्ध। (1966)

(ii) नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य सम्बन्ध। (1970, 78)

(iii) राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र के मध्य सम्बन्ध। (1979)

(6) नागरिकशास्त्र का अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है ? (1979, 92)

(7) राजनीतिशास्त्र तथा इतिहास से नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध बताइये।

(8) नागरिकशास्त्र के इतिहास एवं समाजशास्त्र से सम्बन्धों का विवेचन कीजिये। (1983, 90)

(9) इतिहास, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के साथ नागरिकशास्त्र के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। (1987)

(10) नागरिकशास्त्र का राजनीतिशास्त्र, भूगोल एवं अर्थशास्त्र के साथ सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। (1989)

(11) नागरिकशास्त्र का इतिहास व नीतिशास्त्र से सम्बन्ध बताइये। (1991)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– "इतिहास नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शक व आधार है।" कैसे ?

या

इतिहास व नागरिकशास्त्र के बीच क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– (i) इतिहास नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शक है क्योंकि इतिहास से हमें बीते हुए युग के मानव के उत्थान-पतन तथा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हमें वर्तमान नागरिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में मदद मिलती है।

(ii) इतिहास नागरिकशास्त्र का आधार इसलिए है क्योंकि इतिहास से हमें अनुभव रूपी जो सामग्री प्राप्त होती है उससे हम वर्तमान नागरिक जीवन के भवन का निर्माण करते हैं। इतिहास यदि मानव जीवन रूपी वृक्ष की जड़ है तो नागरिकशास्त्र उसका फल है।

प्रश्न 2– "नागरिकशास्त्र व अर्थशास्त्र के क्षेत्र पृथक हैं, किन्तु उद्देश्य समान हैं।" समझाइये।

अथवा

नागरिकशास्त्र व अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्ध को उदाहरण देकर समझाइये।

उत्तर– अर्थशास्त्र का क्षेत्र मनुष्य के आर्थिक जीवन के अध्ययन तक सीमित है किन्तु नागरिकशास्त्र मानव जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन करता है।

क्षेत्र भिन्न होते हुए भी इन दोनों शास्त्रों के उद्देश्य समान हैं। अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन कर उसे आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाकर सुखी सामाजिक जीवन का निर्माण करना है। दूसरी ओर नागरिकशास्त्र का उद्देश्य भी नागरिकों के सामाजिक जीवन को सुखी व समृद्ध बनाना है। अतः क्षेत्र अलग होते हुए भी उद्देश्यों में समानता होने के कारण दोनों शास्त्र परस्पर सम्बन्धित हैं।

प्रश्न 3– कानूनशास्त्र व नागरिकशास्त्र के बीच क्या सम्बन्ध है ?

या

कानूनशास्त्र का नागरिकशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर– काननूशास्त्र में कानूनों के निर्माण, स्वरूप तथा प्रकारों का अध्ययन करते हैं। हमारे नागरिक जीवन को सुखी बनाने में कानूनों का बड़ा हाथ है। कानून नागरिकों का कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कराते हैं, उनके अधिकारों की रक्षा करते हैं।

प्रश्न 4– नागरिकशास्त्र व समाजशास्त्र में दो अन्तर बताइये।

उत्तर– (i) नागरिकशास्त्र मानव-जीवन के नागरिक पक्ष का अध्ययन करता है। किन्तु समाजशास्त्र मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन सम्बन्धी पहलुओं का अध्ययन करता है।

(ii) नागरिकशास्त्र एक आदर्शात्मक शास्त्र है किन्तु समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक शास्त्र है।

अन्य लघु प्रश्न

प्रश्न 5– नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में सम्बन्ध बताइये।

प्रश्न 6– नागरिकशास्त्र व नीतिशास्त्र में दो अन्तर बताइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है)

प्रश्न 1– नागरिकशास्त्र के अलावा अन्य दो सामाजिक शास्त्रों के नाम बताइये।

उत्तर– ये हैं– (1) अर्थशास्त्र, (2) इतिहास।

प्रश्न 2– इतिहास व नागरिकशास्त्र में कौन जड़ है और कौन फल ?

उत्तर– इतिहास जड़ है और नागरिकशास्त्र फल है।

प्रश्न 3– नागरिकशास्त्र व अर्थशास्त्र में एक समानता व एक अन्तर बताइये।

उत्तर– इन दोनों का उद्देश्य एक समान है किन्तु क्षेत्र अलग-अलग हैं।

प्रश्न 4– नीतिशास्त्र व नागरिकशास्त्र में कौन शास्त्र सैद्धान्तिक है और कौन व्यावहारिक है ?

उत्तर– नीतिशास्त्र सैद्धान्तिक है और नागरिकशास्त्र व्यावहारिक।

□□

4

व्यक्ति और समाज
(Individual and Society)

"मानव जाति का अस्तित्व बनाये रखने के लिये समाज अनिवार्य है। यदि मनुष्य इकट्ठे नहीं रहते तो उनका जीवन अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।" —डॉ० बेनी प्रसाद

"मनुष्य पशुओं की भाँति केवल अपने लिये ही जीवित नहीं रहते, बल्कि वे अपने लिये तथा अन्य मनुष्यों के लिये जीवित रहते हैं।" —पुन्ताम्बेकर

इस अध्याय में क्या हैं ?

(1) समाज का अर्थ, (2) समाज के आवश्यक तत्व, (3) समाज की आवश्यकता एवं लाभ या मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, (4) मनुष्य समाज के लिये स्वाभाविक है, (5) जीवनरक्षा तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज आवश्यक है, (6) समाज मनुष्य की उन्नति के लिये आवश्यक है, (7) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध—आलोचनात्मक विवेचन, (8) समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्त, (9) समाज के विकास का क्रम, (10) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (11) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

मनुष्य इस सृष्टि की योग्यतम तथा सर्वश्रेष्ठ रचना है जो अपनी बुद्धि, विचार-शक्ति तथा आत्म-चेतना के कारण धीरे-धीरे अपने भीतर सुप्त मानवीय गुणों को विकसित करके अपने चारों ओर के वातावरण को प्रभावित और परिवर्तित करने में सफल होता है। ऐसा वह इस कारण कर सकता है क्योंकि वह एकाकी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। उसके जीवन की सभी आवश्यकतायें समाज में रहकर ही पूरी होती हैं। वह अपना सम्पूर्ण जीवन समाज में रहकर ही विताता है और अपना पूर्ण विकास कर सकता है। **वह अपने जन्म के साथ ही स्वयं को समाज में पाता है। समाज में रहकर ही वह पलता है, बढ़ता है और अन्त में जब मरता है, तो समाज के लोग ही उसे श्मशान घाट तक छोड़कर अन्तिम विदा देते हैं।**

समाज का अर्थ (Meaning of Society)

वस्तुतः समाज शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसका प्रयोग हम कई प्रकार से करते हैं। साधारण बातचीत में श्रमिकों के समूह को हम **श्रमिक समाज,** व्यापारियों के समूह को **व्यापारी समाज,** तथा इसी प्रकार किसानों के समूह को **कृषक समाज** कहते हैं। कुछ संस्थाओं के नाम के साथ भी समाज शब्द जुड़ा रहता है जो अलग-अलग संस्थाओं के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों का परिचायक है, जैसे **आर्य समाज** एक धार्मिक तथा सुधारवादी संगठन है, और **भारत सेवक समाज** एक सामाजिक संस्था है। पर वास्तव में **"समाज व्यक्तियों के ऐसे समूह को कहते हैं जिसका एक सामान्य उद्देश्य हो, जिनमें एक संगठन हो तथा जो मिल-जुलकर रहते हुए शान्तिपूर्ण जीवनयापन करते हों।"** जानवरों के समूह को समाज नहीं कहा जाता और न ही मनुष्यों की भीड़ को हम समाज कह सकते हैं, क्योंकि इनमें न तो कोई सामान्य उद्देश्य होता है और न ही उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कोई संगठन होता है।

समाज की कुछ परिभाषायें (Some Definitions of Society)

समाज की कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

(1) भारतीय शास्त्रकार के मत में—**"समम् अजन्ति जनाः यस्मिन् सः समाजः।" जहाँ सब लोग मिलकर एक गति से तथा एक चाल से चलें वह समाज है।**

(2) डॉ० जेन्क्स के अनुसार– **"मनुष्यों की मैत्रीपूर्ण अथवा शान्तिपूर्ण दशा का नाम समाज है।"**

"The term society means harmonious or at least peaceful relationship.

—Dr. Janks

(3) राइट के मतानुसार– **"समाज का अर्थ व्यक्तियों का समूह नहीं है। समूह में रहने वाले व्यक्तियों के आपस में जो सम्बन्ध हैं उन सम्बन्धों के संगठित समूह को हम समाज कहते हैं।"**

"It is not the group of people. It is the system of relationship that exists between individuals of the group."

(4) प्रो० मैकाइवर के शब्दों में **"समाज के अन्तर्गत वे सभी सम्बन्ध आ जाते हैं जो मनुष्य तथा अन्य सामाजिक प्राणी एक-दूसरे के साथ स्थापित करते हैं।"**

"Society includes every kind and degree of relationship entered into by men and other social creature with one another."

(5) गिडिंग्स के अनुसार, **"समाज स्वयं एक संघ है, संगठन और मनुष्य के औपचारिक सम्बन्धों का योग है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित होते हैं।"**

(6) उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के प्रकाश में, **"समाज मनुष्यों का ऐसा समूह है जो एकता, सहायता व सहयोग की भावना पर आधारित है, जिसका उद्देश्य शान्तिमय जीवन की व्यवस्था को बनाये रखना है तथा सभी मानवीय सम्बन्धों और मानवीय संस्थाओं को अपने में समेट लेता है।"**

समाज के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Society)

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाज के लिये निम्नांकित तत्वों का होना आवश्यक है–

(1) मनुष्यों का विशाल समूह– समाज व्यक्तियों के विशाल समूह से बनता है। थोड़े से व्यक्तियों के समूह से तो समुदाय का निर्माण होता है, समाज का नहीं।

(2) निश्चित उद्देश्य– मनुष्यों के समाज को समाज कहने के लिये यह आवश्यक है कि उस समूह का कोई निश्चित एवं समान उद्देश्य हो। यदि ऐसा नहीं है, तो उस समूह को भीड़ कहेंगे, समाज नहीं।

(3) संगठन– निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील जन-समूह संगठित होना चाहिये। यदि वह संगठित नहीं है, तो समाज नहीं कहा जा सकता।

(4) शान्तिपूर्ण जीवन-यापन की इच्छा– विशाल जन-समूह के लिये यह आवश्यक है कि उसके मनुष्यों में शान्तिपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण तरीके से जीवन-व्यतीत करने की स्वाभाविक इच्छा हो। यदि ऐसा नहीं है, तो उस जन-समूह को समाज नहीं कहा जा सकता।

समाज के आवश्यक तत्व या लक्षण

1. मनुष्यों का विशाल समूह
2. निश्चित उद्देश्य
3. संगठन
4. शान्तिपूर्ण जीवन-यापन की इच्छा
5. पारस्परिक निर्भरता
6. मानवीय संस्थाओं का होना।

(5) पारस्परिक निर्भरता– पारस्परिक निर्भरता समाज का आवश्यक तत्व है। पारस्परिक निर्भरता के आधार पर ही समाज का विकास हुआ है। व्यक्ति अपने भोजन, सुरक्षा, विकास तथा सभी कार्यों के लिये एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

(6) मानवीय संस्थाओं का होना– समाज न केवल सामाजिक सम्बन्धों का, अपितु मानवीय संस्थाओं का भी योग है। परिवार, विवाह, संघ, स्कूल, समुदाय आदि सभी संस्थायें समाज के अन्तर्गत आ जाती हैं और समाज के निर्माण में योग देती हैं। क्योंकि व्यक्ति अपनी विभिन्न

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों के सहयोग से जिन विविध संस्थाओं को जन्म देता है, उन सभी संस्थाओं के योग से समाज का निर्माण होता है।

समाज की आवश्यकता एवं लाभ
अथवा
मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है
(Man is a Social Animal)

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यूनान के प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने कहा था कि, **"मनुष्य अपने स्वभाव और आवश्यकता के कारण एक सामाजिक प्राणी है, समाज से बाहर रहने वाला व्यक्ति या तो देवता है या पशु।"**

"Man is, by nature and necessity, a social animal. He, who is unable to live in Society, must be either beast or God."

—Aristotle

यह कथन आज भी पूर्णतया सत्य है। इस कथन का आशय यही है कि मनुष्य के लिये समाज सदा आवश्यक रहा है और रहेगा, वह समाज से पृथक् रहकर अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

मनुष्य समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता है। समाज में ही उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, समाज में ही वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और समाज में रहते हुए जब उसकी इहलीला समाप्त हो जाती है, तब उसकी अन्त्येष्टि के लिये भी समाज की ही आवश्यकता होती है। **"योगी, संन्यासी भी पारिवारिक, सामाजिक एवं सांसारिक बन्धनों का त्याग करते हैं, सामाजिक जीवन का नहीं।"**

मनुष्य की सोई हुई शक्तियों के विकास के लिये समाज आवश्यक है, उसके बिना उसका विकास असम्भव है। किसी बच्चे को यदि जन्म होते ही समाज से पृथक् कर दिया जाये, तो उसका विकास तो क्या, जीवित रहना भी सम्भव नहीं है। प्राचीन युग से आज तक मनुष्य ने जितनी भी उन्नति की है, जितने भी शास्त्रों एवं विज्ञानों का विकास किया है, सब समाज में रहकर ही। समाज के बिना तो मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। एकाकी जीवन तो मनुष्य के लिये दण्ड के समान है। आशय यह है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य का प्रत्येक कार्य समाज में रहकर और समाज के सहयोग से ही पूर्ण होता है।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि **समाज किस प्रकार मनुष्य के लिये स्वाभाविक है तथा किन-किन कारणों से मनुष्य को समाज की आवश्यकता है।**

(क) समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है
(Society is Natural for Men)

मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तो समाज को चाहता ही है, कुछ मनोवैज्ञानिकों का यह कहना है कि जन्म से ही मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह समाज में रहना चाहता है। इस स्वभाव का कारण उसकी कुछ **मूल प्रवृत्तियाँ** हैं। मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य **की जन्म-जात क्रियायें हैं,** जिनका प्रयोग वह स्वभावतः ही करना चाहता है। दाम्पत्य-प्रेम, वात्सल्य (बच्चों से प्रेम), दया, सहानुभूति, आत्म-प्रदर्शन, प्रेम, घृणा आदि ऐसी ही मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों का प्रयोग एवं प्रकटीकरण समाज में रहकर ही हो सकता है। एक मनोवैज्ञानिक के अनुसार मनुष्य को सामाजिक प्राणी होने में निम्नलिखित छः मूल प्रवृत्तियों का हाथ रहता है। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक हो गया है।

(1) शिशु-प्राप्ति एवं रक्षा की भावना– पुरुष एवं स्त्री में शिशु की प्राप्ति एवं उसकी रक्षा की तीव्र प्रवृत्ति पाई जाती है। माता में तो इस प्रवृत्ति की अधिकता मिलती है। शिशु की रक्षा

के लिये उसे स्वभावतः ही समाज के सहारे की आवश्यकता होती है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्यों में केवल अपने बच्चों की ही नहीं, अपितु अन्य प्राणियों की रक्षा की भावना का भी उदय होता है। इस प्रवृत्ति से सामाजिक प्रेम की भावना उत्पन्न होती है। अपने बच्चों की रक्षा के लिये माता-पिता अनेक कष्ट सहते हैं जिससे उनमें त्याग की भावना का उदय होता है। यह प्रवृत्ति ही मनुष्य को दयालु बनाती है। इस प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये ही मनुष्य अपने पारिवारिक जीवन का निर्माण करता है और समाज का आश्रय ढूँढता है।

(क) समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक है

1. शिशु-प्राप्ति एवं रक्षा की भावना
2. आत्म-प्रदर्शन की भावना
3. समूह में रहने की भावना
4. काम भावना
5. स्वाभाविक अनुभूतियाँ
6. सहानुभूति और सहयोग।

(2) आत्म-प्रदर्शन की भावना– मनुष्य में स्वभाव से ही आत्म-प्रदर्शन तथा दिखाने की प्रवृत्ति पाई जाती है जिसे वह समाज में रहकर ही सन्तुष्ट कर सकता है। मनुष्य में यह स्वाभाविक भावना होती है कि उसके वस्त्रों, आभूषणों, उसके धन, उसके पौरुष तथा शृंगार आदि की लोग प्रशंसा करें। इस प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य ऐसे कार्य करता है जिनकी लोग प्रशंसा करें और वह ऐसे कार्यों से बचता है जिनसे लोग घृणा करते हैं। मनुष्य में यह प्रवृत्ति जन्मजात होती है और इसकी सन्तुष्टि के लिये वह स्वभावतः ही समाज में रहना चाहता है।

(3) समूह में रहने की भावना– मनुष्य की तीसरी जन्मजात प्रवृत्ति समूह में रहने की भावना है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सदा मनुष्यों के बीच में रहना चाहता है। यदि कोई मनुष्य कभी किसी जंगल में भटक जाये, तो उसकी आँखें किसी मनुष्य का खोजने को बेचैन हो जाती हैं और यदि उसे कोई मनुष्य मिल जाता है, तो उसे भारी सुख का अनुभव होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण विवाहों, मेलों, दंगलों तथा सामाजिक व धर्मिक उत्सवों पर भारी संख्या में लोग एकत्र होते हैं। इस प्रवृत्ति से मनुष्य में सामाजिक भावना का उदय होता है।

(4) काम-भावना– प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड के अनुसार, **"काम प्रवृत्ति समाज का आधार है।"** इस जन्मजात प्रवृत्ति के कारण ही वह समाज में रहना चाहता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही स्त्री तथा पुरुष में एक-दूसरे के प्रति प्रेम व आकर्षण बना रहता है।

फ्रायड ने लिखा है कि, **"यह काम प्रवृत्ति ही है जो मनुष्यों को साथ रहने की प्रेरणा देती है और उन्हें परस्पर प्रेमपाश में बाँध देती है।"**

(5) स्वाभाविक अनुभूतियाँ– मनुष्य अपने आप में सिमटा नहीं रहना चाहता। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करे तथा अपनी अनुभूतियों को दूसरों को सुनाये तथा दूसरों की अनुभूतियों को स्वयं सुने। डॉ० बेनी प्रसाद कहते हैं कि, **"यदि समाज न होता, तो स्नेह, घृणा, ईर्ष्या, प्रतिकार, प्रतिस्पर्धा और अन्य भावनाओं का जन्म ही न होता और तब न गाँव ही होते और न नगर ही, न राजनीतिक व आर्थिक कार्यक्रम होते और न कला अथवा साहित्य की उन्नति का अवसर ही मिलता।"**

(6) सहानुभूति और सहयोग– मनुष्य का हृदय दया, सहानुभूति, सहयोग एवं करुणा का आगार है जिनके कारण असहाय, विकलांग, कोमल और बेसहारा व्यक्ति पोषित और संरक्षित होते हैं। मनुष्य अच्छे कर्म करके बुराइयों से बचता है। पुन्ताम्बेंकर ने ठीक ही कहा है कि, **"मनुष्य पशुओं की भाँति केवल अपने लिये ही जीवित नहीं रहते, बल्कि वे अपने लिये तथा अन्य मनुष्यों के लिये भी जीवित रहते हैं।"**

"Amongst men it is not a living to themselves alone like animlas but it is a living with others for self as well as for others."

—Puntambekar

इसलिये एक कवि ने मनुष्यों का आह्वान करते हुए कहा है कि–

अपने लिये सभी जीते हैं, सबके लिये जिओ।
जग के लिये हलाहल को भी, अमृत तुल्य पिओ।।

(ख) जीवन-रक्षा तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज आवश्यक है (Society is essential for Necessities)

मनुष्य सामाजिक सहयोग के विना जीवित नहीं रह सकता। निम्नलिखित कारणों से उसे अपेन जीवन की रक्षा के लिये समाज की आवश्यकता होती है–

(1) बाल्यावस्था में रक्षा– बाल्यावस्था में पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों को समाज की अधिक आवश्यकता होती है। पशुओं के बच्चे तो पाँच-छः दिन में ही दौड़ने फिरने योग्य हो जाते हैं। उनकी देखभाल की भी अधिक आवश्यकता नही होती है। किन्तु मनुष्य के बच्चे की जन्म के समय तथा उसके बाद भी वर्षों तक भारी देखभाल की आवश्यकता होती है, अन्यथा उसका जीवित रहना असम्भव हो जाये। बच्चे के जीवन की सभी प्रारम्भिक आवश्यकतायें समाज के द्वारा ही पूरी हो पाती हैं। यदि समाज न हो, तो बच्चे का पालन-पोषण एवं संरक्षण असम्भव है। मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि, **"मनुष्य समाज में जन्म लेता है और समाज की आवश्यकता उसमें जन्म लेती है।"**

(2) भोजन की आवश्यकता– भोजन जीवन का आधार है। लेकिन भोजन भी अकेले प्राप्त नहीं किया जा सकता उनके लिये दूसरों से सहयोग लेना पड़ता है और अपना सहयोग देना पड़ता है। अन्न, साग-भाजी, घी, तेल, मिर्च-मसाले, फल आदि के बनाने और प्राप्त करने में किसान, व्यापारी, दुकानदार, चक्कीवाला, आदि अनेकों के हाथ लगे होते हैं। स्पष्ट है कि समाज के सहयोग से ही उसकी भोजन की आवश्यकता पूरी होती है यहाँ तक कि सामाजिक बन्धनों का त्याग करने वाले साधु-संन्यासी भी समाज से ही भोजन प्राप्त करते हैं।

(ख) जीवन-रक्षा तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज आवश्यक है

1. बाल्यावस्था में रक्षा
2. भोजन की आवश्यकता
3. कपड़ा व मकान की आवश्यकता
4. पशुओं से रक्षा
5. प्राकृतिक प्रकोपों से रक्षा
6. स्वास्थ्य रक्षा।

(3) कपड़ा और मकान की आवश्यकता– जो वस्त्र मनुष्य पहनता है उसके लिये किसान खेत में रुई उपजाता है, जुलाहा उससे कपड़ा बुनता है, भेड़ें पालकर ऊन बनाई जाती है, उनसे वस्त्र उत्पादन के लिये कारखानेदार मिल बनाता है जिसमें श्रमिक सूत तैयार करके वस्त्रों का निर्माण करते हैं। वे रेल या ट्रकों द्वारा बाजारों में पहुँचाते हैं, जहाँ व्यापारी उन्हें बेचता है और दर्जी वस्त्र सीता है। इसी तरह मकान के लिए मजदूर मिट्टी की ईट पकाते हैं, मिस्त्री उससे मकान चिनते हैं जिसमें लोहा, लकड़ी, सीमेंट, अलग-अलग व्यक्तियों के सहयोग से वनकर लगा होता है। जीवन के लिये आज इतनी चीजों की जरूरत है जो मनुष्य एक-साथ अकेला नहीं बना सकता। समाज के कारण ही उसे ये वस्तुयें उपलब्ध हैं।

(4) पशुओं से रक्षा– शारीरिक वल से मनुष्य पशुओं से निर्बल है। उसके शरीर की रचना भी पशुओं की अपेक्षा ऐसी है जिससे वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उसके दाँत, उसके नाखून, उसके पंजे रक्षा में सहायता नहीं पहुँचाते। उसे पानी में मगर-घड़ियाल का डर, पृथ्वी पर शेर, चीते आदि का भय, पंख नहीं जो उड़कर अपने प्राण बचा ले। केवल एक बुद्धि उसके पास अवश्य है। उस बुद्धि के आधार पर ही उसने संगठित समाज बनाया और समाज में रहकर अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार किये और पशुओं पर अपना आतंक जमाया। समाज के सहयोग तथा संगठित रूप से ही यह सब सम्भव हो सका।

(5) प्राकृतिक प्रकोपों से रक्षा– मनुष्य का शरीर वड़ा कोमल हैं। वह अधिक समय तक पानी में नहीं रह सकता, धूप में नहीं रह सकता, वर्षा में नहीं रह सकता, कड़ी ठण्ड से उसे निमोनिया हो जाता है। इन सब प्राकृतिक परिस्थितियों से वचने के लिये उसे मकान तथा अन्य वैज्ञानिक सुविधाओं (जैसे– विजली, पंखे, हीटर, छाता आदि) की आवश्यकता होती है जिनके विना उसकी जीवन-रक्षा असम्भव है और ये सब वस्तुयें उसे समाज के सहयोग से ही प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार अकाल, बाढ़, छूत की बीमारी जैसे प्राकृतिक प्रकोपों से अपने जीवन की रक्षा हेतु भी उसे समाज के सहारे की आवश्यकता होती है।

(6) स्वास्थ्य रक्षा– आज का युग भंयकर दुर्घटनाओं, विनाशकारी चोटों तथा नये-नये रोगों का युग है जिनसे वचने के लिये उसे समाज की आवश्यकता होती है। आज हजारों डॉक्टर मनुष्य के रोगों के उपचार में लगे हैं। लाखों व्यक्ति औषधियों के अनुसंधान तथा निर्माण में लगे हैं। जिनके कारण आज मनुष्य को चोटों तथा रोगों के उचार की सरल सुविधायें प्राप्त हैं। स्पष्ट है कि समाज से प्राप्त इन सुविधाओं के अभाव में मनुष्य का स्वास्थ्य एवं जीवन भारी संकट में पड़ जाता है।

(ग) समाज मनुष्य की उन्नति के लिये आवश्यक है
(Society is essential for progress of man)

मनुष्य स्वभाव से ही समाज को चाहता है तथा उसको अपने जीवन की रक्षा के लिये समाज की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य अपनी हर प्रकार की अर्थात् शारीरिक, मानसिक व वैज्ञानिक उन्नति भी केवल समाज में रहकर ही कर सकता है, उससे वाहर रहकर नहीं। समाज मनुष्य की उन्नति के लिये निम्नलिखित कारणों से आवश्यक है–

(1) व्यक्तित्व का विकास– समाज में रहकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। डॉ0 बेनी प्रसाद कहते हैं, **"मनुष्य समाज में रहकर ही विकसित होता है और मनुष्य बना रह सकता है।"**

वच्चा परिवार से मानवीय गुणों को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये शिक्षण संस्थाओं में अध्ययन करता है, जहाँ युगों से संचित ज्ञान के भण्डार से वह अपनी क्षमता के अनुसार ज्ञान ग्रहण करता है। समाज, राज्य, आदि संस्थायें तथा समुदाय उसके व्यक्तित्व की जीवन-धारा को प्रभावित करती हैं।

(ग) समाज मनुष्य की उन्नति के लिये आवश्यक है

1. व्यक्तित्व का विकास
2. शक्ति का विकास
3. आवश्यकताओं की पूर्ति
4. ज्ञान के भण्डार में वृद्धि
5. सांस्कृतिक उन्नति
6. सभ्यता की प्रगति
7. आर्थिक विकास
8. मनोरंजन की सुविधा
9. शान्ति व सुव्यवस्था
10. भाषा का विकास।

(2) शक्ति का विकास– मनुष्य को जन्मकाल से ही प्रकृति द्वारा दी हुई अनेक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य की इन शक्तियों का विकास केवल तभी होता है, जबकि उसे अवसर प्राप्त होते हैं और ये अवसर उसे समाज में अन्य मनुष्यों के साथ रहने से ही मिलते हैं। उदाहरण के लिए, मनुष्यों में बचपन से ही बोलने की शक्ति होती है। यदि किसी बच्चे को मनुष्य के सम्पर्क से दूर समाज से बाहर रखा जाये, तो निश्चय ही उसकी बोलने की शक्ति नष्ट हो जायेगी। इसी प्रकार मनुष्य की अन्य छिपी हुई शक्तियों का विकास भी समाज में रहकर ही होता है।

इसीलिये गिल एवं वेलेन्टाइन ने कहा है कि, **"मनुष्य अपने उच्चतम शक्तियों का विकास और प्रदर्शन अपने साथियों के साथ रहकर तथा उनकी सेवा करके ही कर सकता है।"**

"An individual can only devleop and express the highest powers by associating with and serving his fellowmen."

(3) आवश्यकताओं की पूर्ति– प्राचीन काल में जबकि मनुष्य की आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं, तब भी उसे समाज के सहारे की आवश्यकता थी। परन्तु वर्तमान युग में जबकि मनुष्य की आवश्यकतायें असीमित हैं, समाज के सक्रिय सहयोग के बिना उनकी पूर्ति असम्भव है। रोगावस्था में डॉक्टर व औषधि, वस्त्र तथा भोजन, विभिन्न प्रकार की आधुनिक वस्तुयें, कृषि के लिये यन्त्र, चढ़ने को साइकिल, यात्रा के लिये मोटर तथा रेल आदि जीवन की सभी आवश्यकतायें एवं सुविधायें मनुष्य को समाज में रहकर तथा समाज के सहयोग से ही प्राप्त होती हैं।

(4) ज्ञान के भण्डार में वृद्धि– मनुष्य ने अनेक शास्त्रों की रचना की है, अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, अनेक नई-नई प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किया है किन्तु यह सब उसने समाज में रहकर ही किया है। प्राचीन युग से अब तक सैंकड़ों पीढ़ियों के मनुष्यों ने मानव ज्ञान के कोष में जो वृद्धि की है, उस कोष को हजारों वर्ष से सुरक्षित रखने का कार्य समाज ने किया है। यदि समाज न होता तो प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान-कोष उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता। शताब्दियों से समाज के कारण ही मनुष्य ने मानव-ज्ञान के भण्डार में वृद्धि की है और समाज ने ही युगों से ज्ञान-भण्डार के प्रहरी की भाँति उसका रक्षण किया है।

(5) सांस्कृतिक उन्नति– आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये जब मनुष्य का काव्य, नाटक, संगीत, साहित्य और कला का सहारा लेता है तो उसके जीवन के इस पक्ष को संस्कृति कहते हैं। समाज संस्कृति का संग्रहालय है। वह सांस्कृतिक क्रियाकलापों का सदैव पोषण करता रहा है। प्राचीनकाल के राजघराने संगीत, नृत्य और चित्रकला के पोषक रहे हैं। ये परम्परागत और वंशानुगत रूप से निरन्तर विकसित और पल्लवित होती रही हैं। यदि समाज न होता तो हमारी सांस्कृतिक विरासत समाप्त हो गई होती।

(6) सभ्यता की प्रगति– मनुष्य की अपने प्राकृतिक वातावरण और पर्यावरण पर विजय और सुख-सुविधाओं की वृद्धि ही सभ्यता कहलाती है। आज के वैज्ञानिक आविष्कार सभ्यता के प्रचारक हैं। सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक उन्नति से है। यदि व्यक्ति समाज से अलग रहता, तो जीवन को अधिक सुखी, निरोग एवं चिरायु बनाने की मनुष्य की सभी कोशिशें ताल-मेल के अभाव में न केवल असफल हो ही जातीं, वरन् अगली पीढ़ियों को उनका लाभ भी न मिलता। संचार के आधुनिक साधनों ने सहयोग का एक ऐसा अवसर उपस्थित कर दिया है जिससे आज सभी देशों के लोग एक परिवार के सदस्य की भाँति जीवन को और समुन्नत बनाने में लगे हुए हैं। आज संसार के एक भाग में होने वाली घटना सारे संसार को प्रभावित और आन्दोलित करती है। समाज में रहकर ही मनुष्य को रोजगार मिलता है तथा उसकी उन्नति होती है।

(7) आर्थिक विकास– प्राचीनकाल से अब तक मनुष्य ने आर्थिक क्षेत्र में जो उन्नति की है, वह उसके सामाजिक जीवन तथा सामूहिक प्रयत्नों का ही प्रतिफल है। आज का युग तो आर्थिक युग कहलता है। समाज के सहयोग के बिना आर्थिक विकास की दिशा में एक कदम आगे बढ़ना भी असम्भव है। आज बड़े पैमाने का उत्पादन, कारखानों का निर्माण, बैंकों की सुविधायें, यातायात तथा संचार के साधन, मुद्रा से प्राप्त असंख्य सुविधायें, बड़ी-बड़ी सिंचाई योजनायें, बड़े पैमाने का विश्वव्यापी व्यापार– सब समाज के अस्तित्व के कारण ही सम्भव है।

(8) मनोरंजन की सुविधा– मनुष्य जब निरन्तर कार्य से थक जाता है तो उसे कुछ विश्राम और मनोरंजन की आवश्यकता होती है। मनोरंजन भी मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन। मनोरंजन की अनेक सुविधायें तथा संस्थायें, जैसे– खेल-कूद, सिनेमा, सर्कस, नाटक, क्लब, रेडियो, टी० वी० आदि साधन भी उसे समाज के कारण ही उपलब्ध होते हैं।

(9) शान्ति व सुव्यवस्था– समाज में रहने के कारण ही मनुष्य अपना राजनीतिक संगठन बनाता है। राज्य तथा सरकार का निर्माण करता है। राज्य कानून बनाता है। जिससे मनुष्य को संरक्षण प्राप्त होता है और देश में शान्ति व सुव्यवस्था बनी रहती है। यदि उसे राज्य द्वारा कानूनी संरक्षण प्राप्त न हो तो अशान्ति और कुव्यवस्था के कारण न तो वह जीवित रह सकता है और न अपना विकास ही कर सकता है।

(10) भाषा का विकास– भाषा अनुकरण से आती है और अनुकरण समाज से ही सम्भव है। मनुष्य भाषा का प्रयोग केवल जन-समुदाय में ही सीखता है जिससे कि आत्माभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

हम देखते नहीं क्या ? **तीन वर्ष का छोटा-सा बालक, जो कहीं शिक्षा प्राप्त नहीं करता, परिवार के मनुष्यों का अनुकरण करके ही किस प्रकार पूरे के पूरे वाक्य बोलने लगता है और कितना भाषा-ज्ञान प्राप्त कर लेता है।**

एफ0 मुलरलियर ने ठीक कहा है, **"भाषा समाज की उपज है।"**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त हर क्षण मनुष्य को समाज की आवश्यकता होती है। समाज में रहकर ही वह हर प्रकार की उन्नति कर सकता है। समाज उसके लिये स्वाभाविक एवं आवश्यक है। समाज से बाहर रहकर तो वह जंगली पशु बन जायेगा। अतः अरस्तू का यह कथन पूर्णतः सत्य है **कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।"**

इसलिये डॉ0 बेनी प्रसाद ने कहा है कि **"मनुष्य जाति का अस्तित्व बनाये रखने के लिये समाज अनिवार्य है। यदि मनुष्य इकट्ठे नहीं रहते तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।"**

"Society is thus indispensable to the continuation of the human race. If men did not live together, they would soon cease to live at all."

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध
(Relation between Individual and Society)

ऊपर हमने देखा है कि समाज जिस प्रकार मनुष्य के लिये अनिवार्य तथा आवश्यक है। जन्म से लेकर मृत्यु तक हर पग पर मनुष्य को समाज की आवश्यकता होती है। समाज के बिना मनुष्य का अस्तित्व असम्भव है। इस स्थिति में एक प्रश्न यह उठता है कि **व्यक्ति और समाज के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिये ? समाज में व्यक्ति का क्या स्थान है ? क्या व्यक्ति समाज से बड़ा है अथवा समाज व्यक्ति से ऊपर है ? समाज व्यक्ति के लिये है ? या व्यक्ति समाज के लिये ? समाज साध्य (end) है या साधन (means)।**

वस्तुतः **विद्वान् इस बात पर एक मत नहीं हैं कि समाज और व्यक्ति के बीच में क्या सम्बन्ध होना चाहिये।** कुछ विद्वानों के अनुसार, समाज और व्यक्ति एक-दूसरे के विरोधी हैं, जबकि विद्वानों का एक दूसरा वर्ग समाज और व्यक्ति में गहरे सम्बन्धों का होना स्वीकार करता है। इसमें भी कुछ लोग व्यक्ति को प्रधान और समाज को गौण मानते हैं, जबकि दूसरे लोग **समाज को प्रधानता प्रदान करके व्यक्ति को गौण मानते हैं।** राजनीतिशास्त्र के विद्वान इसी विचार-विभिन्नता के कारण व्यक्तिवादी और समाजवादी खेमों में बँट गये हैं, जिसका विवरण इस प्रकार है–

[1] समाजवादी सिद्धान्त (व्यक्ति समाज के लिये है)

इस मत के विचारकों का कहना है कि समाज व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीनकाल से आज तक समाज की गोद में रहकर ही व्यक्ति ने हर प्रकार की उन्नति की है और सुख-सुविधायें प्राप्त की हैं। यदि समाज न होता, तो व्यक्ति का भी कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता। इस मत के समर्थक समाज को व्यक्ति से ऊँचा मानते हैं। उनका कहना है कि **समाज लक्ष्य है और व्यक्ति**

उस लक्ष्य-पूर्ति का साधन। इनके मतानुसार, व्यक्ति को समाज की भलाई तथा प्रतिष्ठा के लिए ही जीना चाहिये, स्वयं के लिए नहीं। व्यक्ति पर समाज का महान् ऋण है और उस ऋण को चुकाने के लिए व्यक्ति हर समय कटिबद्ध रहना चाहिये। समाज के लिये उसे अपने व्यक्तिगत हितों का त्याग कर देना चाहिये। व्यक्ति का धर्म है कि वह समाज की भलाई के लिये हर प्रकार की कठिनाई का प्रसन्नता से सामना करे।

इस दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति पूर्णतया समाज के अधीन हो जाता है। समाज के सामने उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व या व्यक्तित्व नहीं है। इस विचारधारा के अनुसार, व्यक्ति को समाज के सम्मुख एक हीन दशा में डाल दिया गया है। अतः **कुछ अन्य विचारकों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है।**

[2] व्यक्तिवादी सिद्धान्त (समाज व्यक्ति के लिए है)

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक व्यक्ति को प्रधानता देते हैं और समाज को गौण मानते हैं। **प्रोफेसर नन कहते हैं, "व्यक्ति के द्वारा ही संसार का अच्छे से अच्छा कार्य होता है।"** वह व्यक्ति को साध्य मानता है और समाज को साधन। इनके अनुसार समाज एक कृत्रिम संस्था है, न कि स्वाभाविक, जिनका निर्माण मनुष्यों के द्वारा किया गया है। समाज तभी तक कायम रह सकता है, जब तक कि वह व्यक्तियों के उद्देश्यों की पूर्ति करा सकने में समर्थ है। यदि समाज से व्यक्ति की भलाई होना सम्भव नहीं है, तो समाज को नष्ट किया जा सकता है। समाज को व्यक्ति के कार्यों में वहीं तक हस्तक्षेप करना चाहिये जहाँ तक कि सुरक्षा का प्रश्न है। समाज और उसकी सभी संस्थाओं का उद्देश्य व्यक्ति का हित है। इनकी उपादेयता तभी तक है, जब तक कि इनसे व्यक्ति की उन्नति होती हो। ऐसा नहीं होता तो समाज अनावश्यक और व्यर्थ है।

इस विचारधारा का तो यह अर्थ है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए सब कुछ कर सकता है और समाज की उपेक्षा कर सकता है। दूसरों की सहायता या सेवा करना उसके लिये जरूरी नहीं है। **अतः इस विचारधारा को भी ज्यों का त्यों नहीं माना जा सकता।**

[3] व्यक्ति और समाज का सच्चा सम्बन्ध
(व्यक्ति और समाज़ एक-दूसरे के पूरक हैं)

ऊपर जिन दो विचारधाराओं का वर्णन किया गया है, उनमें सत्य का अंश तो अवश्य है, परन्तु वे दोनों ही एकपक्षीय तथा अपूर्ण हैं। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति तथा समाज दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं और न ही उनमें परस्पर कोई टकराव है बल्कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही एक-दूसरे पर आधारित हैं। समाज़ व्यक्तियों से मिलकर बनता है और व्यक्ति समाज के अंग हैं।

इसीलिए मैकाइवर ने लिखा है कि **"कोई भी वास्तव में न तो पूर्णतः व्यक्तिवादी हो सकता है और न पूर्णतः समाजवादी, क्योंकि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और एक-दूसरे पर निर्भर हैं।"**

"The relationship between individual and society is not one sided, both are essential for the comprehension of either."

एक दो उदाहरणों के द्वारा, हम इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं। समाज यदि एक मशीन है तो व्यक्ति उसके विभिन्न पुर्जे। जिस प्रकार विभिन्न पुर्जों को मिलाकर मशीन बनती है, उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों को मिलाकर समाज का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार पुर्जों से अलग मशीन का कोई अस्तित्व नहीं और न वह कार्य ही कर सकती है, उसी प्रकार व्यक्तियों से अलग समाज का कोई अस्तित्व नहीं। दूसरी ओर, मशीन से अलग होकर पुर्जा कार्य नहीं करता और वह अस्तित्वहीन हो जाता है, उसी प्रकार समाज से अलग होकर व्यक्ति भी अस्तित्वहीन हो जाता है।

एक अन्य उदाहरण लें, जिस प्रकार आँख, नाक, हाथ-पैर, पेट, सिर, आदि विभिन्न अंगों को मिलाकर शरीर की रचना हुई है, उसी प्रकार व्यक्तियों को मिलाकर समाज की रचना। जिस तरह शरीर से पृथक् होकर शरीर का कोई भी अंग बेकार हो जाता है उसी तरह समाज से पृथक् होकर व्यक्ति भी एक कटे अंग की भाँति हो जाता है। दूसरी ओर, इन अंगों के बिना शरीर का अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार व्यक्तियों के बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे के सहारे जीवित हैं, कोई भी स्वयं में पूर्ण नहीं है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही साध्य (end) हैं और दोनों ही साधन (means)। व्यक्ति समाज से पूर्ण बनता है और समाज व्यक्ति से। व्यक्ति का धर्म यह है कि वह समाज के हित के लिये त्याग करे और समाज का धर्म है कि वह व्यक्ति के विकास के लिये समुचित वातावरण तैयार करे।

इसलिये समाज और व्यक्ति, दोनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, दोनों में से न किसी का महत्व कम है और न अधिक, दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर है। एक प्राण है और दूसरा शरीर, दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते। इनका सम्बन्ध वही है जो वृक्ष और शाखाओं का होता है। व्यक्ति समाज के लिये है और समाज व्यक्तियों के लिये। समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व और उन्नति असम्भव है और व्यक्ति के विना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। दोनों एक-दूसरे की उन्नति के लिए साधक हैं, बाधक नहीं।

समाज की उत्पत्ति तथा विकास

या

समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(Theories of the Origin of Society)

व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद यह जानना भी आवश्यक है कि समाज की उत्पत्ति कब हुई, क्यों हुई और कैसे हुई ? विभिन्न लेखकों ने समाज की उत्पत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

(1) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (Divine Theory)— यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य तथा समाज दोनों का ही निर्माण ईश्वर ने किया है। यह समाज की उत्पत्ति का सबसे पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मानव-समाज तथा उसके विभिन्न रूपों का निर्माण ईश्वर ने किया है और ईश्वरीय शक्ति ही सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण करती है। मनुष्य को समाज की रचना में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि स्वरूप है, वही चाहे तो कुछ-परिवर्तन कर सकता है।

परन्तु यह धारणा सही नहीं है। अत्यन्त प्राचीन युग में, जबकि लोग रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वासी थे, तब भले ही इस मान्यता का कुछ महत्व रहा हो, परन्तु आज के प्रतिक्रियावादी एवं वैज्ञानिक युग में यह सिद्धान्त बिल्कुल अमान्य है। यह सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी है। इसके पीछे न तो कोई तथ्य है और न तर्क।

(2) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)— यह सिद्धान्त समाज को मनुष्य के लिये स्वाभाविक नहीं मानता, बल्कि यह मानता है कि झगड़ों व कष्टों से बचने के लिये उसने आपस में समझौता करके समाज की रचना की है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हॉब्स तथा रूसो आदि हैं। इनके अनुसार, समाज की रचना से पूर्व मनुष्य 'प्राकृतिक अवस्था' में रहता था। उस अवस्था में प्राकृतिक नियम ही लागू होते थे। मनुष्य इच्छानुसार कुछ भी करने को स्वतन्त्र था। एक प्रकार से यह 'प्राकृतिक अवस्था' अराजकता की अवस्था थी जोकि बड़ी

कष्टदायक तथा अशान्तिपूर्ण थी। आगे चलकर इस अवस्था में जब अधिक झगड़े तथा विवाद उत्पन्न हो गये तथा जीवन असहनीय हो गया, तब मनुष्य ने परस्पर समझौता करके समाज की रचना की।

किन्तु यह सिद्धान्त इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इतिहास में ऐसी प्राकृतिक अवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसमें मनुष्य पहले एकाकी रहा हो और फिर समझौते द्वारा उसने समाज की रचना की हो। वास्तविकता यह है कि मनुष्य जन्म और स्वभाव, दोनों से ही सामाजिक है।

समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्त

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
2. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
3. शक्ति का सिद्धान्त
4. पैतृक या मातृक सिद्धान्त
5. ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त।

(3) शक्ति का सिद्धान्त (Force Theory)— इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार समाज का निर्माण शक्ति के द्वारा हुआ। चूँकि मनुष्य में दूसरों पर अपना प्रभाव एवं प्रभुत्व स्थापित करने की एक निहित भावना होती है, अतः शक्तिशाली मनुष्यों ने निर्बलों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उन्हें अपना दास बनाया और समाज की रचना की।

परन्तु यह सिद्धान्त न तो तर्क की दृष्टि से ही ठीक लगता है और न इतिहास में ही इसका कोई प्रमाण मिलता है। पहले दास-प्रथा अवश्य थी, परन्तु उससे पूर्व भी समाज का अस्तित्व था।

(4) पैतृक या मातृक सिद्धन्त (Matriarchal or Patriarchal Theory)— पुरुष तथा स्त्री में दाम्पत्य-प्रेम तथा काम-भावना की मूलप्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिये पुरुष तथा स्त्री में एक साथ रहने की इच्छा उत्पन्न हुई। सहवास के कारण उनमें परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। बाद में सन्तान होने पर वह भी स्वभावतः उनके साथ रहने लगी। इस प्रकार माता-पिता तथा बच्चों को मिलाकर कुटुम्ब का निर्माण हुआ। आगे चलकर कुटुम्ब बहुत बड़ा हो गया, तो वह छोटे-छोटे कुटुम्बों में विभक्त हो गया। बाद में इन्हीं की वृद्धि से गोत्र व कबीलों का निर्माण हुआ, फिर उन्होंने संयुक्त होकर एक समाज का रूप धारण कर लिया। इस सिद्धान्त में सत्य का काफी अंश विद्यमान है।

(5) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory)— यह सिद्धान्त इस बात को नहीं मानता कि समाज की उत्पत्ति किसी विशेष समय में हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जन्म से ही सामाजिक प्राणी है। जन्म से ही उसका सम्बन्ध समाज से हो जाता है। समाज उतना ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही समाज की उत्पत्ति हुई और साथ-साथ ही इन दोनों का विकास हुआ। जैसे-जैसे मुनष्य सभ्य होता गया, साथ-साथ समाज का भी विकास होता गया। वर्तमान काल में समाज की उत्पत्ति का यही सिद्धान्त सबसे उपयुक्त माना जाता है।

इस दृष्टि से तो यह प्रश्न ही आवश्यक है कि समाज की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसके विपरीत यह पूछा जाना चाहिये कि समाज का विकास किस प्रकार तथा किस क्रम से हुआ ? अतः अब हम समाज के विकास के क्रम का अध्ययन करेंगे।

समाज के विकास का क्रम (Evolution of Society)

प्राचीन युग से अब तक के समाज के क्रमिक विकास पर यदि हम विचार करें, तो सामाजिक विकास के इतिहास को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) आखेट अवस्था– समाज का सबसे प्रारम्भिक रूप आखेट अवस्था का था। इस युग में लोग छोटे-छोटे समूहों में अलग-अलग रहते थे और शिकार करके तथा जंगली फल एकत्र करके अपना पेट भरते थे। इस युग में कुटुम्बों का भी निर्माण हो गया था। इस युग में मानव-समाज

बहुत पिछड़ा हुआ था। सामाजिक संगठन नाममात्र का था। लोगों का सारा समय शिकार करने में बीतता था। इन लोगों के जीवन में सभ्यता, संस्कृति, कला जैसी कोई चीज नहीं थी। समुदाय की सभी स्त्रियाँ उस समुदाय के सभी पुरुषों की पत्नियाँ हुआ करती थीं। यह युग हजारों वर्ष तक रहा। इस युग में आगे चलकर लोगों को इस बात का ज्ञान हुआ कि पशुओं को मारने के बजाय उन्हें पालकर भी भोजन प्राप्त किया जा सकता है। इस ज्ञान के साथ ही मानव-समाज ने पशु-पालन अवस्था में प्रवेश किया।

समाज के विकास का क्रम

1. आखेट अवस्था
2. पशु-पालन अवस्था
3. कृषि अवस्था
4. औद्योगिक अवस्था।

(2) पशु-पालन अवस्था– इस युग में मनुष्य ने पशुओं को मारने के स्थान पर पालना शुरू किया। वे पशु मुख्यतः दूध देने वाले तथा बोझा ढोने वाले होते थे। इस युग के सामाजिक जीवन में कई परिवर्तन हुए। पशुओं को पालने के कारण उसे नये-नये चरागाहों की आवश्यकता होने लगी जिससे उनका जीवन भ्रमणशील हो गया। मनुष्य अपने पशुओं की देखभाल तथा रक्षा करने के लिये बड़े-बड़े समुदायों में रहने लगे। उनमें लड़ाई-झगड़े भी कम होने लगे। गृहस्थ जीवन में विवाह-प्रथा का आरम्भ हुआ। इसी युग में दास-प्रथा का भी आरम्भ हुआ। इस युग में उसी व्यक्ति या परिवार को धनी तथा सम्पन्न माना जाता था जिसके पास अधिक पशु होते थे। इस प्रकार, इस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी उदय हुआ।

(3) कृषि अवस्था– मानव-समाज के विकास की यह तीसरी सीढ़ी थी। जनसंख्या तथा आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण केवल पशुओं से उसका पेट भरना असम्भव हो गया। उसने यह भी देखा कि पशु जमीन पर उगने वाली घास-फूस को खाकर कैसे स्वस्थ रहते हैं। इस विचार से उसने स्वयं भी धरती पर अपने लिये घास, पत्तीं आदि उगाने का प्रयत्न किया। यही कृषि युग का आरम्भ था।

इस युग के साथ ही मनुष्य का भ्रमणशील जीवन समाप्त हो गया। उसने झोंपड़े बनाकर रहना शुरू किया और धरती पर खेती करनी शुरू की। सुविधा तथा सुरक्षा की दृष्टि से बहुत-से कुटुम्ब एक साथ रहने लगे, जिसके कारण गाँवों की स्थापना हुई। इन गाँवों को लोग अपनी मातृभूमि अथवा जन्मभूमि मानने लगे और उसकी रक्षा की भावना का उनमें उदय हुआ। कृषि-अवस्था में कार्य की अधिकता के कारण सहयोग की भावना और बढ़ी। इस युग में एक प्रकार से समाज की नवीन रचना हुई। अब भूमि को भी व्यक्तिगत सम्पत्ति माना जाने लगा।

इस युग में खेती के साथ ही साथ घरेलू उद्योग-धन्धों का भी जन्म हुआ और लोग बढ़ई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि का कार्य करने लगे। इस युग में वर्ण-व्यवस्था का उदय हुआ, ग्राम्य शासन तथा राज्य शासन की स्थापना हुई। पड़ौसी की भावना पैदा हुई जोकि आगे चलकर सामाजिकता की भावना का आधार बन गई। इस काल में सभ्यता का काफी विकास हुआ। कला, संस्कृति आदि के क्षेत्र में उन्नति हुई। इस युग में यद्यपि लोग परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में रूढ़िवादी विचार रखते थे, किन्तु फिर भी इस युग को मानव-समाज की प्रगति और विकास का युग कहा जा सकता है।

(4) वर्तमान औद्योगिक अवस्था– कृषि अवस्था में मनुष्य के पास जीवनयापन के साधनों की प्रचुरता रही। साथ ही उसे अवकाश का समय भी मिला जिसके कारण उसे नये-नये क्षेत्रों में खोज का अवसर मिला। इस युग का आरम्भ 18वीं शताब्दी से हुआ। इस युग में विज्ञान के क्षेत्र में नई-नई खोजें हुईं, मशीनों का आविष्कार हुआ, जिसके कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा और बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना हुई। विज्ञान के आविष्कारों के बल पर मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की। बिजली, भाप, रेल, मोटर, जहाज, रेडियो, डाक, तार, जलयान जैसे आविष्कार हुए, जिससे सम्पूर्ण संसार सिमट कर परिवार जैसा हो गया।

इस युग में राजनीतिक जीवन में भी परिवर्तन हुआ। बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हुई।

देश-प्रेम की भावना उत्पन्न हुई। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रतियोगिता का आरम्भ हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का भी जन्म हुआ। औद्योगिक क्षेत्र में मालिकों व मजदूरों का संघर्ष आरम्भ हुआ जिसके कारण साम्यवाद का जन्म हुआ। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी का भी आरम्भ हुआ। स्वतन्त्रता, समानता तथा वन्धुत्व की भावना का उदय हुआ।

विज्ञान के आविष्कारों ने धार्मिक और सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन कर दिया। लोगों का दृष्टिकोण अब व्यापक हो गया और छुआछूत का प्रभाव समाप्त हो गया। मनोरंजन तथा चिकित्सा के साधनों में वृद्धि हुई। धार्मिक कट्टरता भी धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। साहित्य व कला के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। **इस प्रकार, इस युग में मनुष्य सामाजिक विकास तथा सभ्यता के चरम शिखर पर पहुँच गया।**

इस युग में ज्ञान तथा विज्ञान के क्षेत्र में इतनी उन्नति होने पर भी आज समाज में चारों ओर कलह, स्वार्थ, वेईमानी, धोखाधड़ी तथा अशान्ति का साम्राज्य है। दो विश्वयुद्ध हो चुके हैं, तीसरा प्रलयंकारी विश्वयुद्ध कगार पर खड़ा है। इसका कारण यदि कोई है तो यह कि मानव ने सब क्षेत्रों में तो उन्नति की **परन्तु मानवता के क्षेत्र में वह पिछड़ा रहा। आज चन्द्रमा पर पहुँचकर वह देवता तो बनना चाहता है, परन्तु मानव ने स्वयं मानव बनने की कोशिश नहीं की।** धर्म के सद्गुणों को उसने अपने व्यावहारिक जीवन से काट कर रख दिया। यही कारण है कि मानव आज अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप सुखी सामाजिक जीवन का निर्माण न कर सका। यदि इस दिशा में मनुष्य न चेता तो जिस विज्ञान ने उसे सामाजिक विकास की चोटी पर पहुँचाया है, वही उसे कहीं फिर आखेट युग में न पहुँचा दे।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) समाज का क्या अर्थ है ?
(2) सामाजिक जीवन से मनुष्य को क्या-क्या लाभ हैं ?
(3) व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
(4) समाज की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।
(5) समाज की परिभाषा कीजिये। इसे स्वाभाविक क्यों कहा जाता है ? **(1979)**
(6) "मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है"– इस कथन को स्पष्ट कीजिये। **(1979, 82, 84, 88, 90)**

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— समाज की परिभाषा कीजिये।

उत्तर– मनुष्य के सब प्रकार के सम्बन्धों व उसकी सब प्रकार की संस्थाओं के समूह का नाम ही समाज है। मनुष्य ने उसे शान्तिमय जीवन की व्यवस्था बनाये रखने तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये वनाया है। अन्य शब्दों में, "समाज व्यक्तियों के ऐसे समूह को कहते हैं जिसका एक सामान्य उद्देश्य हो और जिसमें संगठन हो।" जानवरों के समाज को समाज नहीं कहा जा सकता और न मनुष्यों की भीड़ को ही हम समाज कह सकते हैं क्योंकि इनका न तो कोई सामान्य उद्देश्य होता है और न उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संगठन ही होता है।

प्रश्न 2–समाज की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– मनुष्य की स्वाभाविक व दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, ज्ञान की प्राप्ति और जीवन की रक्षा के लिये तथा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति के लिये समाज आवश्यक है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास तथा सभ्यता की प्रगति के लिये भी समाज आवश्यक है। मनुष्य की प्रेम, वात्सल्य और परोपकार आदि प्रवृत्तियों की तुष्टि समाज में रहकर ही होती है। शिशु जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त समाज में रहकर ही विकसित होता है। प्राकृतिक प्रकोपों से रक्षा के लिये भी मनुष्य को समाज की आवश्यकता होती है।

प्रश्न 3– समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्त कौन-कौन से हैं ?

उत्तर– समाज की उत्पत्ति व विकास के चार प्रमुख सिद्धान्त हैं– **(i) दैवी सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार, समाज का निर्माण ईश्वर ने किया है। **(ii) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार, समाज ईश्वरकृत न होकर मनुष्यों द्वारा बनया हुआ है। **(iii) पैतृक और मातृक सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार, समाज परिवार का विकसित रूप है। **(iv) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य के स्वभाव और आवश्यकताओं के कारण धीरे-धीरे समाज का जन्म तथा विकास हुआ है।

प्रश्न 4– समाज के विकास को कितने युगों में बाँटा जा सकता है ?

उत्तर– सामाजिक विकास की अवस्था को चार युगों में बाँटा जा सकता है– (i) आखेट युग, (ii) पशुपालन या चरागाह युग, (iii) कृषि युग और (iv) औद्योगिक युग।

प्रश्न 5– किन कारणों से मनुष्य सामाजिक प्राणी है ?

उत्तर– निम्नलिखित कारणों से मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है–

(i) मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण सामाजिक है।

(ii) मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक है।

(iii) मनुष्य अपनी रक्षा व उन्नति के लिये समाज में रहता है।

प्रश्न 6– समाज और व्यक्ति में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– समाज और व्यक्ति दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर है। व्यक्ति समाज में जन्म लेता है और समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है। व्यक्ति समाज के लिये है और समाज व्यक्ति के लिये। समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व व उन्नति असम्भव है और व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।

अन्य लघु प्रश्न

प्रश्न 7– समाज की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का क्या सिद्धान्त है ? संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 8– आखेट युग में मानव जीवन किस प्रकार का था ? संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 9– समाज की उत्पत्ति का ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त क्या है ? संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 10– व्यक्ति को समाज में होने वाले चार प्रमुख लाभों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 11– मनुष्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज में रहता है। ऐसी चार प्रमुख आवश्यकताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 12– 'समाज और व्यक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं।' इस कथन की पुष्टि संक्षेप में कीजिए।

प्रश्न 13– समाज के विकास का औद्योगिक युग क्या है ? संक्षेप में लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– समाज की उत्पत्ति के किन्हीं दो सिद्धान्तों के नाम बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) दैवी-सिद्धान्त, (ii) विकासवादी सिद्धान्त।

प्रश्न 2– समाज की उत्पत्ति का सर्वमान्य सिद्धान्त कौन-सा है ?

उत्तर– ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त।

प्रश्न 3– समाज अपने विकास के क्रम में वर्तमान में कौन से युग से गुजर रहा है ?

उत्तर– औद्योगिक युग से।

प्रश्न 4– 'समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक है।' इसके दो कारणों का नामोल्लेख कीजिये।

उत्तर– ये हैं– (i) शिशु प्राप्ति एवं रक्षा की भावना,
(ii) समूह में रहने की भावना।

प्रश्न 5– मनुष्य को समाज से होने वाले दो लाभ बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) जीवन की रक्षा, (ii) आवश्यकताओं की पूर्ति।

प्रश्न 6– "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" यह कथन सर्वप्रथम किस विद्वान् ने कहा था ?

उत्तर– अरस्तू ने।

□□

5

समुदाय अथवा संघ
(Associations)

"वह संगठित समूह समुदाय कहलाता है जिसका निर्माण समान हित या हितों की पूर्ति के लिये किया जाता है।"
—मैकाइवर

"प्रत्येक समाज में उसकी आवश्यकताओं के अनुसार समुदाय होते हैं।" —प्रो० लॉस्की

इस अध्याय में क्या है ?

(1) समुदाय या संघ का अर्थ, (2) समुदाय की कुछ प्रमुख परिभाषायें, (3) समुदाय के तत्व या लक्षण, (4) समुदाय का निर्माण, (5) समाज और समुदाय में अन्तर, (6) समुदायों के प्रकार या वर्गीकरण, (7) अवधि की दृष्टि से, सदस्यता की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से, सत्ता या अधिकार की दृष्टि से और उद्देश्य की दृष्टि से समुदायों के भेद, (8) वैज्ञानिक दृष्टि से समुदायों का सर्वश्रेष्ठ वर्गीकरण, (9) प्राकृतिक तथा कृत्रिम समुदाय, (10) विभिन्न समुदायों के प्रति कर्त्तव्य तथा कर्त्तव्यों में टकराव, (11) समुदायों का महत्व व उपयोगिता, (12) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (13) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

समुदाय या संघ का अर्थ (Meaning of Association)

समाज में रहकर मनुष्य अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये उसे अनेक संगठन बनाने पड़ते हैं। व्यक्ति की जिस समय जैसी आवश्यकता होती है, वह उसी प्रकार के संगठन का सदस्य बन जाता है। मनुष्य स्वयं अपने में पूर्ण नहीं है। दूसरों के साथ उद्देश्यपूर्ण सहयोग से ही वह अपने को पूर्णता तक ले जाने का प्रयास करता है। एक समय में जो मनुष्य जितने अधिक संगठनों का सदस्य होता है, वह उतना ही सभ्य माना जाता है क्योंकि उन संगठनों के माध्यम से वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने की स्थिति में होता है।

संघ अथवा समुदाय अंग्रेजी भाष के शब्द Association का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका अर्थ है, 'एक साथ काम करने वाले व्यक्तियों का समूह।'

इस प्रकार, "व्यक्तियों के उस संगठन को समुदाय या संघ कहते हैं जो किसी निश्चित उद्देश्य और लक्ष्य की पूर्ति के लिये बनाया जाता है।"

अन्य शब्दों में, "जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अपनी समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मिल-जुल कर कार्य करते हैं और अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिये नियमित प्रयास करते हैं, तो ऐसे संगठन को समुदाय कहा जाता है।" उद्देश्यहीन जन-समूह को समुदाय नहीं कहा जा सकता, उसे तो भीड़ या झुंड के नाम से सम्बोन्धित किया जायेगा। व्यक्तियों से मिलकर समुदाय बनते हैं और समुदायों से मिलकर बनता है समाज।

समुदाय की कुछ प्रमुख परिभाषायें (Some Definitions)

विद्वानों ने समुदाय की अनेक परिभाषायें की हैं। कुछ मुख्य परिभाषायें निम्न प्रकार हैं—

(1) ई० एस० बोगार्डस के शब्दों में— "मनुष्यों के द्वारा किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये साथ-साथ कार्य करने को समुदाय कहते हैं।"

"Association is working together of people to achieve some purpose."

यह परिभाषा उपयुक्त तथा ठीक है।

(2) प्रो० गिडिंग्स के अनुसार– "सामाजिक जीवन की उस संगठित व्यवस्था को समुदाय कहते हैं जिससे सामाजिक विधान की शिक्षा दी जाती है।"

"Association represents the structural or organised side of life or as we call it the social constitution."

यह परिभाषा दोषपूर्ण है, क्योंकि इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि समुदाय का निर्माण क्यों किया जाता है।

(3) मैकाइवर के मत में– "वह संगठित समूह, जिसका निर्माण समान हित या हितों की पूर्ति के लिये किया जाता है, समुदाय कहलाता है।"

"An association is a group organised for the pursuit of an interest or a group of interests in common."

यह परिभषा ठीक तथा सारपूर्ण है।

(4) जी० डी० एच० कोल के शब्दों में– "समुदाय व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो निश्चित नियमों के अनुसार सहयोग द्वारा समान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कार्य करता है।"

(5) इलियास अहमद के विचार में– "समुदाय सामाजिक जीवन का वह संगठन है जो एक या इससे अधिक समान हितों की पूर्ति के लिये निश्चित रूप से स्थापित किया जाता है।"

"An association is an organisation of social life definitely established for the pursuit of one or more common interest."

(6) जिन्सबर्ग के शब्दों में– "समुदाय एक-दूसरे से सम्बन्धित उन सामाजिक व्यक्तियों का समूह है जो किसी विशिष्ट उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एक सामाजिक संगठन बना लेते हैं।"

"Association denotes a group of social-being related to one another who have instituted in a common organisation for the achievement of some specific end or ends."

उपर्युक्त अन्तिम तीनों परिभाषायें पूर्ण तथा सारगर्भित हैं तथा समुदाय की सभी विशेषताओं को स्पष्ट करती हैं।

समुदाय के तत्व या लक्षण या विशेषतायें
(Elements of Association)

उपयुर्क्त परिभाषाओं के प्रकाश में संघ या समुदाय के निम्नलिखित तत्व स्पष्ट होते हैं–

(1) व्यक्तियों का समूह– संघ मनुष्यों का समूह है। कोई व्यक्ति अकेला संघ नहीं बना सकता। निर्जीव व्यक्तियों या पशुओं के समूह को भी संघ नहीं कहा जा सकता।

(2) निश्चित और समान उद्देश्य– हर समुदाय या संघ एक निश्चित उद्देश्य के लिये बनाया जाता है। संघ के सभी सदस्यों का उन उद्देश्यों की पूर्ति में समान हित होता है। जो व्यक्ति संघ के उद्देश्य को नहीं मानता, वह उसका सदस्य नहीं बनता और उसे, यदि वह समुदाय का सदस्य है, तो सदस्यता का त्याग करना होता है।

(3) सहयोग की भावना– समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अनेक व्यक्ति परस्पर सहयोग करते हैं। इसी सहयोग का परिणाम संघ की स्थापना है। जब तक सदस्यों का यह सहयोग बना रहता है, संघ फलता-फूलता है लेकिन जब सदस्यों में समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सहयोग से काम करने का उत्साह नहीं रहता, तो संघ या समुदाय छिन्न-भिन्न हो जाता है।

(4) **संगठन**– समुदाय का एक संगठन होना आवश्यक होता है। संगठन के अभाव में समुदाय अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता। संगठन के आधार पर ही समुदाय के पदाधिकारी तथा सदस्य कार्य करते हैं।

समुदाय के तत्व या लक्षण
1. व्यक्तियों का समूह
2. निश्चित और समान उद्देश्य
3. सहयोग की भावना
4. संगठन
5. नियम
6. स्वाभाविक नियम-पालन
7. स्वभाव
8. सदस्यता ऐच्छिक।

(5) **नियम**– प्रत्येक समुदाय के कुछ नियम होते हैं। ये नियम लिखित भी हो सकते हैं अथवा अलिखित भी। लिखित होने पर सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट के अधीन उनका पंजीकरण भी हो सकता है। संगठन इन नियमों के अनुसार ही कार्य करता है।

(6) **स्वाभाविक नियम-पालन**– समुदाय अपने उद्देश्यों को पूरा कर सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि सदस्य स्वाभाविक रूप से समुदाय के नियमों का पालन करें, अन्यथा समुदाय अधिक समय तक नहीं बना रह सकता।

(7) **स्वभाव**– समुदाय की प्रकृति अस्थायी होती है। समुदाय जब अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लेता है, तो उसे भंग या समाप्त कर दिया जाता है। कुछ समुदाय स्थायी भी होते हैं, जैसे परिवार।

(8) **सदस्यता ऐच्छिक**– व्यक्तियों के लिये समुदाय की सदस्यता अनिवार्य न होकर एच्छिक होती है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी समुदाय का सदस्य बन सकता है अथवा उसकी सदस्यता का त्याग कर सकता। व्यक्ति एक साथ एक से अधिक समुदायों का सदस्य भी बन सकता है।

समुदायों का निर्माण व विकास

प्राचीनकाल में मनुष्य की आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं, अतः उनके अनुसार उसने थोड़े ही समुदायों का निर्माण किया। ज्यों-ज्यों वह सभ्य होता गया तथा उसकी आवश्यकतायें बढ़ती गईं, त्यों-त्यों ऐसे समुदायों की संख्या भी बढ़ती गई। प्राचीन समय से अब तक मनुष्य ने ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की है।

उदाहरण के लिये; काम-भावना, दाम्पत्य-प्रेम, सन्तान-प्राप्ति की इच्छा जैसी कुछ मूल प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिये उसने कुटुम्ब का निर्माण किया। आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने आर्थिक समुदायों का निर्माण किया; जैसे श्रमिक संघ, वाणिज्य संघ, कर्मचारी संघ आदि। राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये उसने राजनैतिक समुदाय बनाये; जैसे कांग्रेस, भारतीय जनता पाटी व साम्यवादी दल। मनोरंजन की आवश्यकता कीं पूर्ति के लिये क्लब, अखाड़े, क्रीड़ागृह आदि बनाये। धार्मिक विचारों की सन्तुष्टि के लिये अनेक धार्मिक संघ बनाये; जैसे आर्य समाज, धर्म सेवा संघ, दि० जैन महासमिति आदि। इसी प्रकार मनुष्य की आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ ही समुदायों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

समाज और समुदाय में अन्तर
(Difference between Society and Association)

समाज समुदाय का व्यापक रूप है। समाज एक बहुत बड़ा संगठन है और उस संगठन का एक लघु रूप समुदाय है। लेकिन कभी-कभी समाज और संघ को एक ही समझ लिया जाता है। हम व्यापारी वर्ग को व्यापारी समाज कहते हैं, पर वास्तव में हमारा तात्पर्य व्यापारियों के

समुदाय से होता है जो कि वृहद् समाज का एक अंग मात्र ही है। समाज और समुदाय में निम्नलिखित अन्तर हैं–

समाज	समुदाय
(1) लक्ष्य के अनुसार– समाज का उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का सर्वतोन्मुखी विकास होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करना समाज का उद्देश्य होता है, न केवल किसी विशेष क्षेत्र या पहलू की उन्नति। अतः समाज का लक्ष्य व्यापक और सामान्य है।	(1) समुदाय का लक्ष्य सीमित होता है। समुदाय जीवन के किसी एक क्षेत्र को चुनकर उसी क्षेत्र को चुनकर उसी क्षेत्र से सम्बन्धित पहलू को उन्नत बनाने को अपना लक्ष्य निश्चित करता है। अतः समुदाय का लक्ष्य सीमित और विशेष है।
(2) आकार के अनुसार– समाज के अन्तर्गत समस्त मानव समूह आ जाता है। समाज का आकार समुदाय के आकार से विशाल होता है।	(2) समुदाय के अन्तर्गत कुछ ही लोग सदस्य होते हैं। समुदाय आकार में समाज का एक लघु रूप है।
(3) सदस्यता व स्वरूप के अनुसार– समाज की सदस्यता अनिवार्य होती है। मनुष्य जन्म से ही समाज का सदस्य होता है और जीवन-पर्यन्त यह सदस्यता बनी रहती है।	(3) राज्य या कुटुम्ब अथवा परिवार को छोड़कर यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी समुदाय का सदस्य बने या न बने। इस प्रकार समुदायों की सदस्यता वैकल्पिक है।
(4) जीवन काल में अन्तर– समाज अनादि काल से चला आ रहा है जब से कि मनुष्य है। इसका अस्तित्व मानव जाति के अस्तित्व-पर्यन्त कायम रहेगा।	(4) समुदाय बनते व बिगड़ते रहते हैं। कुछ समुदाय तो बहुत ही अल्पकालिक होते हैं, कुछ अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं, पर वे भी शश्वत नहीं कहे जा सकते। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के बाद समुदाय समाप्त हो जाता है।
(5) नियमो का भेद– समाज में अनेक प्रकार के नियम, उपनियम तथा अनुशासन हैं।	(5) समुदाय में ही एक प्रकार के नियम या अनुशासन होते हैं।
(6) प्रकृति का भेद– समाज एक स्वाभाविक संगठन है।	(6) समुदाय एक कृत्रिम संगठन होता है।
(7) साध्य और साधन– समाज स्वयं में एक साध्य है। एक सुखी, उन्नत एवं विकसित समाज मनुष्य का सर्वोपरि लक्ष्य है।	(7) समुदाय एक साधन है जो समाज को सुखी, उन्नत एवं विकसित करने के लिये आवश्यक है।

समुदाय के प्रकार या वर्गीकरण
(Classification of Association)

समुदायों का वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है। चूँकि मनुष्य की आवश्यकतायें विभिन्न प्रकार की होती हैं, अतः वह उनकी पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के समुदायों का निर्माण करता है। मनुष्य की आवश्यकतायें असीमित हैं, अतः समुदायों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं है। समुदायों का विभाजन किसी एक आधार को लेकर नहीं किया जा सकता। विद्वानों ने उद्देश्य कार्य आकार तथा अधिकार आदि की दृष्टियों से समुदायों को अग्रलिखित विभिन्न वर्गों में बाँटा है–

(1) अवधि की दृष्टि से

अवधि की दृष्टि से समुदाय को निम्नलिखितं दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) स्थायी समुदाय– स्थायी समुदाय उन समुदायों को कहते हैं जिनकी उपयोगिता सदा बनी रहती है। ये समुदाय कभी समाप्त नहीं होते हैं। मनुष्य को जीवन भर इनकी आवश्यकता होती है। ये समुदाय स्वाभाविक होते हैं। उदाहरण के लिये परिवार, शिक्षण संस्थायें तथा राज्य आदि।

(2) अस्थायी समुदाय– ये समुदाय ऐसे समुदाय होते हैं जिनकी स्थापना विशेष परिस्थितियों में विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये की जाती है और उस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् ये स्वयं समाप्त हो जाते हैं; जैसे बाढ़ पीड़ित सहायता समिति; अकाल सहायता समिति, स्वागत समिति आदि।

समुदायों का वर्गीकरण

1. अवधि की दृष्टि से
2. सदस्यता की दृष्टि से
3. क्षेत्र की दृष्टि से
4. सत्ता या अधिकार की दृष्टि से
5. उद्देश्य की दृष्टि से
6. वैज्ञानिक दृष्टि से।

(2) सदस्यता की दृष्टि से

सदस्यता की दृष्टि से भी समुदायों को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) अनिवार्य संघ या समुदाय– अनिवार्य संघ वे होते हैं जिनका मनुष्य जन्म लेते ही सदस्य बन जाता है। इनका सदस्य मनुष्य अपनी इच्छा से नहीं बनता। अपने को बनाये रखने की भावना के कारण उसे इन संघों की सदस्यता अपनानी पड़ती है। वह इन संघों में ही पैदा होता है, क्योंकि वे मनुष्य की ऐसी आवश्यकतओं की पूर्ति करते हैं जिनके बिना जीवन सम्भव नहीं है। जीवन-पर्यन्त मनुष्य इन समुदायों का सदस्य बना रहता है। **इन समुदायों को प्राकृतिक समुदाय भी कहते हैं। राज्य और परिवार ऐसे ही समुदाय हैं।**

(2) ऐच्छिक संघ या समुदाय– ये मनुष्य द्वारा निर्मित समुदाय है, जिनका सदस्य बनना या सदस्यता समाप्त कर देना मानव की इच्छा पर निर्भर है। ये समुदाय मनुष्य के जीवन के लिये हितकर तो अवश्य होते हैं पर इनकी उपयोगिता बहुत अधिक नहीं होती। मानव इनका सदस्य न बनकर भी जीवित रह सकता है। यह दूसरी बात है कि इनका सदस्य न बनकर मनुष्य सर्वांगीण उन्नति न कर सके। **ऐसे समुदाय को कृत्रिम या मनुष्यकृत समुदाय भी कहते हैं।** स्कूल, कालेज, मनोरंजन संघ, व्यावसायिक संघ आदि ऐसे ही समुदाय हैं।

(3) क्षेत्र की दृष्टि से

क्षेत्र की दृष्टि से समुदायों की चार श्रेणियाँ की जा सकती हैं–

(1) स्थानीय समुदाय– वे समुदाय जिनका कार्य-क्षेत्र किसी स्थान विशेष तक सीमित रहता है, स्थानीय समुदाय कहलाते हैं; जैसे– नगर विकास संघ, नगरपालिका, नगर सुधार समिति, गौशाला सभा आदि।

(2) प्रादेशिक समुदाय– ऐसे संगठन जो कि प्रादेशिक हितों की पूर्ति के लिये बनाये जाते हैं और जिनका कार्य-क्षेत्र पूरा प्रदेश होता है, प्रादेशिक समुदाय कहलाते हैं; जैसे उत्तर-प्रदेश माध्यमिक शिक्षक संघ, प्रान्तीय सेवा दल आदि।

(3) राष्ट्रीय समुदाय– राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने वाले समुदायों को, जिनका कार्य-क्षेत्र राष्ट्रव्यापी होता है, राष्ट्रीय समुदाय कहा जाता है; जैसे– भारत सेवक समाज, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि-सभा, अखिल भारतीय नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, आदि।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय– ऐसे समुदाय जिनका कार्य-क्षेत्र विश्वव्यापी हितों से सम्बन्धित

होता है, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय कहलाते हैं; जैसे– संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।

(4) सत्ता या अधिकार की दृष्टि से

सत्ता या अधिकार की दृष्टि से समुदाय तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं–

(1) प्रभुसत्ता सम्पन्न समुदाय– ये वे समुदाय हैं जो किसी की अधीनता में नहीं होते, जिन्हें नियम बनाने का अधिकार होता है और जिनकी आज्ञा का पालन समुदाय के सभी सदस्य अनिवार्यतः करते हैं। इस समुदाय की इच्छा और आदेश ही कानून हैं और समुदाय के सदस्य चाहें या न चाहें उन्हें समुदाय का आदेश पालन करना ही पड़ता है। यह समुदाय अपने आन्तरिक और बाह्य मामलों में सर्वशक्तिमान और कारागार तक का दण्ड देकर अपने आदेशों का पालन कराने में सक्षम है। केवल राज्य ही ऐसा समुदाय है।

(2) अर्ध प्रभुसत्ता सम्पन्न समुदाय– ये समुदाय राज्य के अधीन होते हुए भी अपने सदस्यों पर सीमित अधिकार रखते हैं तथा उन्हें अपने नियमों को मानने के लिये बाध्य कर सकते हैं। इनको कुछ क्षेत्रों में शासन द्वारा सीमित अधिकार प्रदान किये जाते हैं। ऐसे समुदाय हैं– स्वशासन की विविध इकाइयाँ; जैसे– पंचायत, नगरपालिकायें, महानगरपालिकाएँ तथा जिला परिषदें। अपने सदस्यों को, जो इनकी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, ये निष्कासन या आर्थिक दण्ड दे सकते हैं। किन्हीं मामलों में छोटी अवधि की कारावास की सजा भी दी जा सकती है।

(3) प्रभुसत्ताविहीन समुदाय– ये ऐसे समुदाय हैं जो किसी शक्ति का प्रयोग नहीं करते तथा अपने नियमों के सम्मान के लिये केवल अपने सदस्यों की स्वेच्छा पर निर्भर करते हैं। इनकी शक्ति केवल नैतिक भावना पर ही आधारित होती है। यदि इनके सदस्य समुदाय की इच्छा या भावना से सहमत नहीं हैं तो केवल उन सदस्यों को समुदाय की सदस्यता से निष्कासित किया जा सकता है। इससे बचने के लिये सदस्य स्वयं ही सदस्यता का त्याग कर देते हैं। अन्य किसी प्रकार का दण्ड देने का अधिकार इन समुदायों को प्राप्त नहीं है। राजनीतिक दल, सांस्कृतिक समुदाय तथा क्लब आदि इस प्रकार के समुदाय कहे जा सकते हैं।

(5) उद्देश्य की दृष्टि से

मैकाइवर तथा जी० डी० एच० कोल जैसे आधुनिक विद्वानों ने समुदायों के वर्गीकरण का सर्वोत्तम आधार उद्देश्य या कार्य को माना है। व्यक्ति के अलग-अलग स्वार्थ, हित्त और उद्देश्य होते हैं। कोई व्यक्ति किसी संघ का सदस्य तभी बनता है, जबकि संघ उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो। इस वर्गीकरण में यही दोष है कि संघों की असंख्य संख्या के कारण उनकी पूर्ण सूची नहीं बनाई जा सकती। फिर भी उद्देश्यों के आधार पर कुछ प्रमुख समुदाय निम्न हैं–

(1) धार्मिक समुदाय, (2) सांस्कृतिक समुदाय, (3) परोपकारी समुदाय, (4) सुधारवादी समुदाय, (5) आर्थिक समुदाय, (6) मनोरंजन के समुदाय, (7) राजनीतिक समुदाय, (8) वैज्ञानिक समुदाय आदि।

इन समुदायों का वर्णन अगले वर्गीकरण में किया गया है।

(6) वैज्ञानिक दृष्टि से

वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया समुदायों का विभाजन सर्वोत्तम विभाजन है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समुदायों को दो वर्गों में बाँटा गया है–

(क) स्वांभाविक या प्राकृतिक समुदाय, (ख) कृत्रिम या मनुष्यकृत समुदाय।

(क) स्वाभाविक या प्राकृतिक समुदाय

स्वाभाविक या प्राकृतिक समुदाय उन समुदायों को कहते हैं जिनका सदस्य मनुष्य जन्म

लेने के साथ ही वन जाता है। ये मनुष्य के लिये अनिवार्य तथा स्वाभाविक होते हैं। इन समुदायों के विना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ये समुदाय उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मनुष्य। इन समुदायों की श्रेणी में निम्न समुदाय आते हैं–

(1) कुटुम्ब– स्वाभाविक समुदायों में कुटुम्ब को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। कुटुम्ब मनुष्य के सामाजिक जीवन का सबसे पहला संगठित रूप है। सबसे छोटा प्राकृतिक समुदाय होने के बावजूद इसका महत्व सबसे अधिक है। कुटुम्ब के अन्दर माता-पिता, उनके वच्चे तथा अन्य परिवारीय जन सम्मिलित होते हैं। अगले अध्याय में इसका विस्तार से वर्णन किया जायेगा।

स्वाभाविक या प्राकृतिक समुदाय

1. कुटुम्ब या परिवार
2. कुल या गोत्र
3. जाति
4. ग्राम
5. राज्य।

(2) कुल व गोत्र– कई कुटुम्बों को मिलाकर गोत्र या कुल का निर्माण होता है। गोत्र तथा कुल के सदस्यों में रक्त का सम्बन्ध होता है। गोत्र तथा कुल के सदस्यों में समान रक्त होने के क़ारण पारस्परिक प्रेम तथा सहानुभूति होती है। इनके रीति-रिवाज भी एक से होते हैं।

(3) जाति– समय बीतने पर जव एक कुल के लोग दूसरे कुल या गोत्र के लोगों के साथ विवाह-शादी का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं तथा एक से ही कार्य व व्यवसाय करने लगते हैं, तो जाति का निर्माण होता है। जाति भी एक स्वाभाविक समुदाय है। प्राचीनकाल में इसका निर्माण कार्य-विभाजन के आधार पर किया गया.थां जिसे हिन्दुओं में वर्ण-व्यवस्था के नाम से पुकारा जाता था। इस वर्ण-व्यवस्था ने ही बाद में जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। आजकल जाति का निश्चय व्यवसाय से नहीं, जन्म से माना जाने लगा है। फलतः जाति-प्रथा में संकुचित भावना ने घर कर लिया है। छुआछूत की भावना तीव्र हो गयी है। किन्तु आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति के कारण जाति के बन्धन ढीले होते जा रहे हैं।

(4) ग्राम– गाँव भी एक स्वाभाविक समुदाय है। पंशुपालन युग के अन्तिम भाग में जव मनुष्य ने कृषि करना शुरू किया तब उसने अपना भ्रमणशील जीवन समाप्त किया और कृषि-भूमि के निकट ही झोंपड़े बनाकर रहना आरम्भ कर दिया। एक कुल अथवा विभिन्न कुलों के लोग अपना संगठन बनाकर जिस स्थान पर रहने लगे, वही उनका गाँव बन गया।

कालान्तर में वहाँ की जनसंख्या बढ़ने लगी और भिन्न-भिन्न कुल, गोत्र तथा जाति के होते हुये भी गाँव में रहने वालों का संगठन बन गया। वे अपनी सामूहिक समस्याओं को मिल-जुलकर हल करने लगे। कृषकों के अतिरिक्त गाँवों में कुटीर उद्योग पनपने लगे। वे एक-दूसरे पर निर्भर रहकर सहयोग करने लगे। इस प्रकार ग्राम प्राकृतिक एवं स्वाभाविक समुदाय बन गये।

(5) राज्य– ग्रामों को मिलाकर राज्य का निर्माण होता है। हमारे देश को भी गाँवों का देश कहा जाता है। सभ्यता तथा विज्ञान की उन्नति के साथ जब विभिन्न ग्रामों के लोग परस्पर सम्पर्क में आने लगे, एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे तब शान्ति व्यवस्था एवं सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने अनेक गाँवों का संगठन करके एक बड़े समुदाय का निर्माण किया, जिसे राज्य कहा जाता है।

राज्य सबसे बड़ा तथा पूर्ण सत्तासम्पन्न समुदाय है जिसके नियन्त्रण में अन्य सब समुदाय कार्य करते हैं। राज्य के अपने कुछ नियम होते हैं जिनका पालन प्रत्येक मनुष्य, ग्राम तथा समुदाय को अनिवार्य रूप से करना होता है। नियमों का पालन न करने पर राज्य किसी भी मनुष्य या अधीनस्थ समुदाय को दण्ड दे सकता है। राज्य अपने निवासियों की रक्षा तथा उनके लिये न्याय व सुविधाओं की व्यवस्था करता है। राज्य प्राकृतिक समुदाय है। प्रत्येक निवासी जन्म लेते ही उसका अनिवार्य सदस्य बन जाता है। राज्य सबसे महत्वपूर्ण तथा बड़ा स्वाभाविक समुदाय है, अतः इसका वर्णन आगे चलकर एक पृथक् अध्याय में किया जाएगा।

(ख) कृत्रिम या मनुष्यकृत समुदाय

कृत्रिम अथवा मनुष्यकृत समुदाय उन समुदायों को कहते हैं, जिनका निर्माण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये करता है। इनका सदस्य होना या न होना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। ये ऐच्छिक समुदाय भी कहलाते हैं। विभिन्न आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों के अनुसार ऐसे कृत्रिम समुदायों की संख्या भी असीमित होती है। ऐसे समुदायों की एक सूची बनाना सम्भव नहीं है। ये समुदाय पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे कुछ प्रमुख समुदायों का वर्णन आगे किया जाता है–

(1) धार्मिक समुदाय– प्राचीन काल से ही लोग अपने-अपने ढंग से ईश्वर की आराधना तथा धर्म का पलान करते आये है। मानव-जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आज धर्म के नाम पर कुछ मनुष्य भले ही अत्याचार, संकीर्णता या साम्प्रदायिकता का पोषण करते हों, परन्तु प्राचीनकाल में धर्म के विषय में वैसी ही खोजें हुई हैं जैसे कि आज विज्ञान के क्षेत्र में हुई हैं। भारत इस क्षेत्र में विश्व का धर्म-गुरु रहा है। उसने विश्व को **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** का पाठ पढ़ाया है।

अतः अपनी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तथा धार्मिक स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये उसने अनेक संघों एवं समुदायों का निर्माण किया है। उदाहरण के लिये; सनातन धर्म, सेवा संघ, आर्य समाज, क्रिश्चियन सोसायटी आदि।

कृत्रिम समुदाय या मनुष्यकृत समुदाय
1. धार्मिक समुदाय
2. सांस्कृतिक समुदाय
3. परोपकारी समुदाय
4. सुधारवादी समुदाय
5. आर्थिक समुदाय
6. मनोरंजन के समुदाय
7. राजनीतिक समुदाय
8. वैज्ञानिक समुदाय।

(2) सांस्कृतिक समुदाय– अपनी संस्कृति की उन्नति के लिये मनुष्य जिन समुदायों का निर्माण करता है उन्हें सांस्कृतिक समुदाय कहा जाता है। संस्कृति के अन्दर भाषा, विचार, पारिवारिक जीवन, शिक्षा, दर्शन, कलायें, साहित्य आदि सम्मिलित हैं। इनकी उन्नति के लिये मनुष्य अनेक सांस्कृतिक समुदायों को निर्माण करता है। इन समुदायों में हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, स्कूल, विश्वविद्यालय, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पुस्तकालय, साहित्यिक संस्थाओं तथा अध्ययन केन्द्रों के नाम ले सकते हैं। ये समुदाय शिक्षा व ज्ञान का प्रचार करते हैं। ये सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों क्षेत्रों में स्थापित किये जाते हैं।

(3) परोपकारी समुदाय– पीड़ितों, निर्बलों, दुःखी, संकटग्रस्त तथा साधनहीन व्यक्तियों की सहायता के लिये जिन समुदायों की रचना की जाती है, उन्हें परोपकारी समुदाय कहा जाता है। ऐसे समुदायों में कार्य करके व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तथा उसकी आत्मा सन्तुष्ट होती है। विधवाश्रम, अनाथालय, सेवा समितियाँ, अकाल पीड़ित सहायता समिति, बाढ़ पीड़ित सहायता समिति, औषधालय आदि इसी प्रकार के समुदायों की श्रेणी में आते हैं।

(4) सुधारवादी समुदाय– समाज़ में अनेक बुराइयाँ तथा कुरीतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिन्हें दूर करने के लिये अनेक सुधारवादी समुदायों का निर्माण किया जाता है। ऐसे समुदायों का निर्माण सामान्यतः वे व्यक्ति करते हैं जिनमें समाज सेवा तथा समाज सुधार की भावना एवं लगन होती है। उदहारण के लिये; हरिजन सेवक संघ, छुआछूत विरोधी समिति, दहेज विरोधी समिति, परिवार नियोजन विभाग, बाल विवाह निरोधक समिति ऐसे ही समुदाय हैं।

(5) आर्थिक समुदाय– आर्थिक समुदाय उन समुदायों को कहते हैं जो अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करते हैं। आर्थिक समुदायों का क्षेत्र उनके उद्देश्यों एवं सदस्यों पर निर्भर होता है। श्रमिक संघ, चेम्बर ऑफ कॉमर्स, शिक्षक संघ, कर्मचारी संघ, सहकारी समितियाँ, वाणिज्य संघ ऐसे ही समुदायों के उदाहरण हैं।

ऐसे समुदायों का संचालन यदि योग्य व्यक्तियों द्वारा राजनीति तथा गुटबन्दी से दूर रहते हुए किया जाता है, तो इससे समाज को वड़ा लाभ पहुँचता है। आर्थिक समुदाय स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भी होते हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक' ऐसा ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समुदाय है।

(6) मनोरंजन के समुदाय– कठिन शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम करने के बाद मनुष्य को विश्राम एवं मनोरंजन की आवश्यकता होती है। स्वास्थ्य के लिये मनोरंजन भी उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन। अतः अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य मनोविनोद के अनेक समुदायों की स्थापना करता है। उदाहरण के लिये, क्लब, सिनेमाघर, नाटक संघ, सरकस, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि ऐसे ही समुदायों की श्रेणी में आ जाते हैं। इन समुदायों में रहकर मनुष्य अपनी चिन्ताओं को भूलकर आनन्द की प्राप्ति करता है।

परन्तु कुछ मनोरंजन की संस्थायें ऐसी होती हैं जो मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाती हैं; जैसे मद्यपानगृह, जुआघर। आवश्यकता इस बात की है कि एसे पतित समुदायों को जड़मूल से नष्ट कर दिया जाये।

(7) राजनीतिक समुदाय– राजनीतिक समुदायों में दो प्रकार के समुदाय सम्मिलित किये जा सकते हैं– एक तो राज्य और दूसरे राजनीतिक दल। राज्य सबसे बड़ा तथा स्वाभाविक राजनीतिक समुदाय है। इसको सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है; जिसके नियमों का सभी निवासियों तथा अधीनस्थ समुदायों को अनिवार्य रूप से पालन करना होता है। राज्य के बिना समाज का जीवन नहीं चल सकता। यह प्राकृतिक समुदाय देश में शान्ति, सुरक्षा व सुव्यवस्था की स्थापना करता है।

इसके अतिरिक्त कृत्रिम या मनुष्यकृत समुदायों में राजनीतिक दल आते हैं, जैसे कांग्रेस, भारतीय जनता पाटी, कम्युनिस्ट पार्टी आदि। इन समुदायों का निर्माण मनुष्य अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये करता है, किन्तु इन दलों का निर्माण धार्मिक व साम्प्रदायिक आधार पर न होकर राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिये। **इनका उद्देश्य सरकारी पद की प्राप्ति नहीं, अपितु जन-सेवा व लोक-कल्याण होना चाहिये।**

(8) वैज्ञानिक समुदाय– ऐसे समुदाय, जो वैज्ञानिक सत्य की खोज और प्रसार करने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं, वैज्ञानिक समुदाय कहलाते हैं। ये समुदाय भी स्थानीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बनाये जा सकते हैं। विज्ञान परिषद्, रसायनवर्धिनी सभा, भौतिक विज्ञान अनुसन्धान प्रयोगशाला, केन्द्रीय डेरी रिसर्च संस्थान, केन्द्रीय भवन निर्माण संस्थान आदि ऐसे ही समुदाय हैं।

विभिन्न समुदायों के प्रति कर्त्तव्य तथा कर्त्तव्यों में टकराव

मनुष्य के सामाजिक जीवन में विभिन्न प्रकार के संघों एवं समुदायों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। इनमें कुछ समुदायों से तो मनुष्य का जीवन भर अटूट सम्बन्ध रहता है; जैसे परिवार, ग्राम तथा राज्य। अन्य प्रकार के समुदायों में वह अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार सम्मिलित होता है, ये सभी संघ व्यक्ति के बहुमुखी विकास में सहायक होते हैं और उसके सामाजिक जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा समृद्धशाली बनाते हैं।

जब ये समुदाय मानव-जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, तो मनुष्य के भी उनके प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं। उदाहरण के लिये; प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह जिन समुदायों का सदस्य है उनके नियमों का हृदय से पालन करे, उनके कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग ले और इस बात का बराबर ध्यान रखे कि उसके किसी कार्य से समुदाय के अन्य सदस्यों को हानि न पहुँचे।

टकराव की स्थिति में

मनुष्य अनेक समुदायों का सदस्य होता है और उसे विभिन्न समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन करने होते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि उसके द्वारा एक समुदाय के प्रति कर्त्तव्य-पालन करने से अन्य समुदायों के प्रति कर्त्तव्यों के पालन में बाधा पड़ती है या उससे अन्य समुदायों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। परिणामस्वरूप, विभिन्न समुदायों के प्रति कर्त्तव्यों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता है।

इस स्थिति में नागरिकों का विशेष कर्त्तव्य हो जाता है। ऐसी दशा में उसे यह देखना चाहिये कि समाज तथा देश की भलाई किस समुदाय के प्रति कर्त्तव्य का पालन करने में है। **उदाहरण के लिये,** यदि देश पर शत्रु ने आक्रमण किया है, तो नागरिक का कर्त्तव्य है कि ऐसी दशा में कुटुम्व का मोह छोड़कर सेना में भर्ती हो जाये अर्थात् राज्य के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये कुटुम्व के लोभ को छोड़ दे। **इस प्रकार व्यक्ति को चाहिए कि कर्त्तव्यों के टकराव की स्थिति में वह बड़े हित के लिये छोटे हित का त्याग कर दे और सामूहिक हित के लिये व्यक्तिगत हित का त्याग कर दे।** वास्तव में सच्चा नागरिक वही है जो विभिन्न समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्यों में उचित समन्वय स्थापित कर सके।

समुदायों का महत्व, उपयोगिता व आवश्यकता
(Importance and Utility of Associations)

समुदायों के वर्गीकरण के अध्ययन से उनकी उपयोगिता की स्पष्ट झलक मिलती है। आज मनुष्य की आवश्यकतायें इतनी अधिक वढ़ गई हैं, समाज की रचना इतनी जटिल तथा सामाजिक जीवन इतना संघर्षपूर्ण हो गया है कि समुदायों के विना मानव न तो अपनी तथा न अपने हितों की रक्षा कर सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास। समुदायों के बल पर ही आज संसार विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति कर रहा है और विश्व से शोषण का अन्त होता जा रहा है। **इस प्रकार समुदायों से मानव को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है–**

(1) मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि– मनुष्य में कुछ जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं; जैसे दाम्पत्य-प्रेम, दया, आत्म-प्रदर्शन की भावना आदि। इन प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिये मनुष्य अनेक स्वाभाविक समुदायों का सदस्य बनता है; जैसे कुटुम्ब आदि। साथ ही वह कुछ कृत्रिम समुदायों का निर्माण करता है।

(2) समुदायों से व्यक्तित्व का विकास होता है– यद्यपि वच्चों का पालन-पोषण परिवार में होता है, पर उसके व्यक्तित्व के अनेक पहलू होते हैं; जैसे आर्थिक, नैतिक, मानसिक, मनोरंजन-सम्बन्धी तथा शारीरिक। इनके विकास के लिये वह अनेक समुदायों का सदस्य बनता है। किसी एक समुदाय का सदस्य बनकर वह सभी पहलुओं की उन्नति नहीं कर सकता। आर्थिक समुदाय जीवन के धन सम्बन्धी पहलू की, सांस्कृतिक समुदाय मानसिक पहलू की तथा धार्मिक समुदाय आध्यात्मिक पहलू की उन्नति करते हैं।

(3) समुदाय मनुष्यों की आवश्यकताओं की संतुष्टि करते हैं– मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता, उसे लालन-पालन के लिये परिवार की, शिक्षा के लिये स्कूल-कॉलिजों की और आर्थिक सुरक्षा के लिये राज्य की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जीवन की आवश्यकतायें समुदायों द्वारा ही पूरी की जाती हैं।

(4) समुदाय नागरिक गुणों का विकास करते हैं– संघों की सदस्यता से मनुष्य में अनुशासन की भावना आती है और वह अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के विषय में जागरूक बनता है। प्रत्येक संघ के अपने नियम और कानून होते हैं जिनका पालन करना संघ के सदस्यों के लिये आवश्यक होता है। इससे सदस्य अनुशासित रहते हैं तथा उन्हें संघ के प्रति अपने कर्त्तव्यों का वोध रहता है और अधिकारों की प्राप्ति के लिये वे सजग रहते हैं।

समुदाय की उपयोगिता व महत्व

1. मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि
2. समुदायों से व्यक्तित्व का विकास
3. समुदाय मनुष्यों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं
4. समुदाय नागरिक गुणों का विकास करते हैं
5. समुदाय मानवीय गुणों का विकास करते हैं
6. समुदाय श्रम-विभाजन करके अधिकाधिक सफलता प्रदान करते हैं
7. समुदाय सुरक्षा का साधान हैं
8. अधिकारों की रक्षा होती है
9. समुदायों से जनमत का निर्माण होता है
10. समुदाय सहयोग की भावना का विकास करते हैं
11. समुदाय आदर्शों को स्थायित्व प्रदान करते हैं
12. समुदाय विचारों को दृढता प्रदान करते हैं
13. समुदायों के द्वारा सफलता की सम्भावना अधिक निश्चित होती है
14. समुदाय ढाल भी तलवार भी।

(5) समुदाय मानवीय गुणों का विकास करते हैं– समुदायों का सदस्य वनने पर मनुष्य दूसरों के साथ मिलकर काम करने की आदत को अपनाता है जिससे उसमें त्याग, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता, निःस्वार्थ भावना, सहानुभूति एवं सहयोग के भाव जागृत और विकसित होते हैं। मनुष्य अपने जीवन में इन गुणों का उपयोग करता है और सुखमय जीवन की ओर बढ़ता जाता है।

(6) समुदाय श्रम-विभाजन करके अधिकाधिक सफलता प्रदान करते हैं– समुदाय के भीतर काम का इस तरह परस्पर बँटवारा होता है कि समन्वित रूप से पूरे समुदाय का हित साधन हो; जैसे परिवार में कोई खेती करता है, कोई मुकदमा इत्यादि देखता है, कोई पशुओं की देखभाल करता है तथा परिवार की स्त्रियाँ घर का कामकाज देखकर पूरे परिवार का हित-चिन्तन्न करती हैं। इस प्रकार, समुदाय के श्रम-विभाजन के सिद्धान्त से कोई भी काम आसानी और अधिक कुशलता से हो जाता है। जव मनुष्य अलग कार्य करते हैं, तो वहुत-सा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। समुदायों में शक्ति का अपव्यय नहीं होता।

(7) समुदाय सुरक्षा का साधन– समुदायों के द्वारा प्राचीन काल में जंगली जानवरों और प्राकृतिक प्रकोपों से मनुष्य अपनी रक्षा करता था। आज सभ्य युग में भी ऐसी समस्यायें पायी जाती हैं जिनका सामना अकेला मनुष्य नहीं कर सकता। केवल समुदाय बनाकर ही वह उन्हें दूर कर सकता है। एक शक्तिशाली पूँजीपति या मिल मालिक से शोषित किये जाने पर अकेला श्रमिक अपनी रक्षा कर सकने में नितान्त असहाय है। पर, वही मज़दूर जब किसी श्रमिक संगठन का सदस्य बन जाता है तो उसकी आवाज में हजारों समान रूप से शोषित मजदूरों की ललकार होती है जिससे उसकी माँगें मिल मालिकों द्वारा सहज ही में मनवाई जा सकती हैं।

चोरों, डकैतों और समाज के विघटनकारी तत्वों से कोई अकेला व्यक्ति आज भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता। लेकिन जब भी ग्रामीण स्वयं को ग्राम सुरक्षादल के रूप में गठित कर लेते हैं, वे अपनी जान-माल की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। संघ ऐसा समुदाय है जिसकी शक्ति के सहारे सभी को सुरक्षा तथा शांतिपूर्वक जीवन-यापन की सुलभता प्राप्त होती है। इस तरह संध, निर्वल वर्गों की सवल, शक्ति-सम्पन्न तथा प्रभावशाली व्यक्तियों से रक्षा करते हैं।

(8) अधिकारों की रक्षा होती है– मनुष्य अकेले रहकर अपने अधिकारों व हितों की रक्षा करने मे समर्थ नहीं हो सकता। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये वह विभिन्न प्रकार के संघों व समुदायों का निर्माण करता है और संगठन करके सामूहित रूप से अपनी माँगों तथा अधिकारों को मनवाता है। शोषण से वचने के लिये भी मनुष्य को समुदायों की आवश्यकता होती है। मजदूर संघ, अध्यापक संध, रेल कर्मचारी संघ, व्यापार व वाणिज्य संघ, उपभोक्ता समितियाँ ऐसे ही समुदायों के उदाहरण हैं।

(9) समुदायों से जनमत का निर्माण होता है– समुदाय के सदस्य संगठित होते हैं और किसी समुदाय की सदस्यता जितनी व्यापक होती है उतनी ही आसानी से वे किसी विषय पर ऐसा प्रचार-कार्य करते हैं जिससे समुदाय की विचारधारा का प्रभाव हो सके। समुदाय के सदस्य एवं अधिकारीगण किसी विषय पर अपनी सर्वमान्य विचारधारा को भाषण, वाद-विवाद एवं प्रसार करके अपना मत स्थापित करने में सफल होते हैं राजनीतिक दल इसी तरह अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार समुदाय जनमत के निर्माण में सहायक है।

(10) समुदाय सहयोग की भावना का विकास करते हैं– विभिन्न मतों के लोग विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये समुदाय बनाते हैं और अपने मतभेदों को भूलकर उस सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं। इस प्रकार समुदायों में मनुष्य सहयोगपूर्ण वातावरण से साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति तथा सभ्यता का विकास करते हैं। उनके निष्कर्ष एवं निर्णय सर्व-सम्मति से तथा सामान्य इच्छा के आधार पर किये जाते हैं। इस तरह, समुदाय सहयोगपूर्ण वातावरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

(11) समुदाय आदर्शों को स्थायित्व प्रदान करते हैं– व्यक्तियों के आदर्श तथा प्रतिभा प्रायः उसके जीवन के साथ ही समाप्त हो जाती है। लेकिन यदि कोई समुदाय किन्हीं आदर्शों को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता हैं, तो वे स्थायित्व प्राप्त कर सकते हैं। व्यक्ति मर जाते हैं, पर समुदाय जीवित रहते हैं। नए सदस्य पुराने मरे हुए सदस्यों का स्थान लेकर समुदाय के आदर्शों को निष्ठा के साथ बनाये रखते हैं। इस प्रकार कई पीढ़ियों का सहयोग और परिश्रम समुदाय के माध्यम से शाश्वत रूप धारण कर लेता है।

(12) समुदाय विचारों को दृढ़ता प्रदान करते हैं– एक अकेले मनुष्य का विचार अस्थिर, अपरिपक्व एवं दोषपर्णू हो सकता है, पर जब किसी समुदाय के बहुत-से सदस्य भली प्रकार सोचे गये निर्णय लेते हैं, तो वे अधिक उचित एवं दृढ़ होते हैं। इस प्रकार, समुदाय विचारों को दृढ़ बनाते हैं

(13) समुदायों के द्वारा सफलता की सम्भावना अधिक निश्चित होती है– एक व्यक्ति का श्रम कभी-कभी गलत दिशा में लगकर व्यर्थ हो जाता है, पर कई व्यक्ति जब मिलकर कोई कार्य करते हैं, तो कार्य अधिक होता है और समय कम नष्ट होता है जिसमें सफलता की सम्भावना अधिक निश्चित हो जाती है। अनेक व्यक्ति मिल-जुलकर बड़े-वड़े बाँध, विशाल कारखाने तथा सहकारिता के आधार पर बड़े पैमाने पर खेती की योजनायें चला रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति को अपने बहुमुखी विकास के लिए पग-पग पर समुदायों की आवश्यकता होती है। कहा जा सकता है कि समुदाय समाजिक जीवन की आधारशिला हैं।

(14) समुदाय ढाल भी, तलवार भी– समुदायों के विभिन्न प्रकारों व उनकी उपयोगिता के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समुदाय व्यक्ति के लिए ढाल भी हैं और तलवार भी। उदाहरण के लिए, राज्य एक अनिवार्य समुदाय है जो आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं से जब व्यक्ति की रक्षा करता है तो 'ढाल' होता है किन्तु कानून का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को जब राज्य दण्डित करता है तो 'तलवार' होता है।

परिवार जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति की ढाल के समान रक्षा करता है किन्तु सुधारवादी समुदाय जब छुआछूत, दहेज, बालविवाह व अन्य सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं तो लगता है मानो वे सामाजिक कुरीतियों पर तलवार चला रहे हैं।

स्पष्ट है कि विभिन्न समुदाय एक परिस्थिति में व्यक्ति को ढाल के समान सुरक्षा प्रदान करते हैं तो अन्य परिस्थिति में वे बुराइयों का उन्मूलन करने के लिए तलवार के समान कार्य करते हैं। अतः किसी विद्वान् का यह कथन सत्य ही है कि **"समुदाय आधुनिक समाज में व्यक्ति की ढाल तथा तलवार दोनों हो गये हैं।"**

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

1. प्राकृतिक समुदायों से आप क्या समझते हैं ? राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिये। **(1970)**

2. टिप्पणी लिखिये—

(i) प्राकृतिक समुदाय। **(1966)**

(ii) सांस्कृतिक समुदाय। **(1963)**

(iii) वैकल्पिक संघ या समुदाय। **(1977)**

(iv) समुदायों के प्रकार। **(1984)**

3. समुदायों का निर्माण क्यों होता है ? उनका वर्गीकरण किन आधारों पर होता है ? **(1979)**

4. समुदाय से आप क्या समझते हैं ? राज्य तथा अन्य समुदायो में क्या अन्तर है ? **(1975, 80)**

5. समुदायों से आप क्या समझते हैं / समुदायों का वर्गीकरण किन आधारों पर किया जाता है ? सोदाहरण बताइये। **(1972, 81)**

6. समुदायों का क्या अर्थ है ? इनका वर्गीकरण कीजिये। व्यक्ति के जीवन में इनका क्या महत्व है ? **(1984)**

7. "व्यक्ति के सफल जीवन हेतु समुदाय अनिवार्य है।" इस कथन के प्रकाश में समुदायों की उपयोगिता पर प्रकाश डालिये। **(1988)**

8. विभिन्न प्रकार के समुदायों तथा उनके महत्व का वर्णन कीजिए। **(1991)**

9. "समुदाय आधुनिक समाज में व्यक्ति की ढाल तथा तलवार दोनों हो गये हैं।" इस कथन के सन्दर्भ में समुदायों के महत्व तथा कार्यों का परीक्षण कीजिए। **(1992)**

[संकेत— इस प्रश्न के उत्तर में समुदाय के सभी कार्य व उनका महत्व बिन्दुवार (pointwise) नहीं लिखना है बल्कि विभिन्न समुदायों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए यह बताना है कि एक परिस्थिति में कोई समुदाय व्यक्ति की रक्षा ढाल के समान करता है तो अन्य परिस्थिति में बुराइयों के उन्मूलन के लिए कोई समुदाय तलवार बन जाता है। उदाहरण के लिये देखिए— समुदाय की उपयोगिता का शीर्षक नं0 14]

10. समुदाय की परिभाषा लिखिए। इसकी आवश्यकता व उपयोगिता पर प्रकाश डालिये। **(1993)**

11. समुदाय क्या है ? इसके विभिन्न रूपों का विवेचन कीजिये। **(1994)**

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— समुदाय किसे कहते हैं ?

उत्तर— व्यक्तियों के उस संगठित समूह को समुदाय या संघ कहते हैं जो कुछ निश्चित लक्ष्यों एवं समान हितों की पूर्ति के लिये बनाया जाता है और समुदाय के सदस्य उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिये सहयोग से काम करते हैं। अन्य शब्दों में, "जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अपनी समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मिल-जुलकर काम करते हैं और अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिये नियमित प्रयास करते हैं तो ऐसे संगठन को समुदाय कहा जाता है।"

प्रश्न 2— प्राकृतिक समुदाय कौन-कौन से हैं ? **(1991)**

उत्तर– प्राकृतिक समुदाय निम्नलिखित हैं–

(i) परिवार, (ii) कुल, (iii) गोत्र, (iv) जाति और (v) राज्य।

प्रश्न 3— समुदायों का वर्गीकरण किन आधारों पर हो सकता है ?

उत्तर– समुदायों का वर्गीकरण 5 आधारों पर किया जाता है–

(i) सदस्यता के आधार पर अनिवार्य तथा ऐच्छिक, (ii) अधिकार या सत्ता के आधार पर प्रभुसत्ता विहीन, (iii) अवधि के आधार पर स्थायी व अस्थायी, (iv) क्षेत्र के आधार पर स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय, (v) उद्देश्य के आधार पर धार्मिक, आर्थिक व परोपकारी।

प्रश्न 4— राज्य और समुदाय में क्या अन्तर है ?

उत्तर– राज्य सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न प्राकृतिक समुदाय है। अन्य सभी समुदायों को राज्य के अधीन होकर कार्य करना होता है। राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है, किन्तु परिवार के अलावा अन्य समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक होती है।

राज्य एक स्थायी संगठन है किन्तु समुदाय बनते और बिगड़ते रहते हैं। राज्य अनेक ऐसे कार्य करता है जो अन्य समुदाय नहीं कर सकते।

प्रश्न 5— समाज और समुदाय में क्या अन्तर है ? चार कारण दीजिये।

उत्तर– (i) समाज स्थायी है, समुदाय अस्थायी होते हैं। (ii) समाज के अन्तर्गत सैंकड़ों समुदाय बन सकते हैं। (iii) समाज की सदस्यता अनिवार्य होती है, परिवार व राज्य को छोड़कर अन्य समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। (iv) समाज का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है, परन्तु परिवार व राज्य को छोड़कर अन्य समुदाय किसी विषेष लक्ष्य की पूर्ति के लिये बनाये जाते हैं।

प्रश्न 6— ऐच्छिक या मनुष्यकृत या कृत्रिम समुदाय कौन-कौन से हैं ?

उत्तर– ये हैं– (i) धार्मिक समुदाय, (ii) सांस्कृतिक समुदाय, (iii) परोपकारी समुदाय, (iv) आर्थिक समुदाय, (v) मनरोंजन के समुदाय, (vi) राजनीतिक समुदाय, (vii) वैज्ञानिक समुदाय।

प्रश्न 7— अनिवार्य या प्राकृतिक समुदाय क्या है ?

उत्तर– अनिवार्य सा प्राकृतिक समुदाय वे होते हैं जिनका सदस्य मनुष्य जन्म लेने के साथ ही बन जाता है। इन समुदायों के विना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य जीवन भर इनका सदस्य वना रहता है। परिवार तथा राज्य ऐसे ही समुदाय है। ये समुदाय उतने ही प्रचलित हैं, जितना मुनष्य।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— मनुष्य को समुदायों से होने वाले दो लाभ बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि, (ii) आवश्यकताओं की पूर्ति।

प्रश्न 2— सदस्यता की दृष्टि से समुदाय के कौन-से दो भेद किये जा सकते हैं।

उत्तर– (i) अनिवार्य समुदाय या संघ, (ii) ऐच्छिक समुदाय।

प्रश्न 3— दो प्राकृतिक व दो कृत्रिम समुदायों के नाम बताओ।

उत्तर– प्राकृतिक समुदाय– (i) परिवार, (ii) राज्य।
कृत्रिम समुदाय– (i) आर्थिक समुदाय, (ii) राजनीतिक समुदाय।

प्रश्न 4— अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के दो उदाहरण दो। **(1991)**

उत्तर– ये हैं– (i) संयुक्त राष्ट्र संघ, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास बैंक।

प्रश्न 5– राजनैतिक समुदाय के दो उदाहरण दो।

उत्तर– ये हैं– (i) कांग्रेस (इ) (ii) भारतीय जनता पार्टी।

प्रश्न 6— सबसे शक्तिशाली समुदाय किसे माना जाता है ?

उत्तर– राज्य को।

प्रश्न 7— प्रभुसत्ता सम्पन्न समुदाय का एक उदाहरण दो।

उत्तर– राज्य।

प्रश्न 8— आर्थिक समुदाय के दो उदाहरण दो। **(1985, 90)**

उत्तर– ये हैं– (i) मजदूर संघ, (ii) शिक्षक संघ।

प्रश्न 9— समुदाय के दो तत्व बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) व्यक्तियों का समूह, (ii) निश्चित उद्देश्य।

प्रश्न 10— मनुष्य समुदाय क्यों बनाते हैं ? दो कारण बताइये।

उत्तर– (i) सुरक्षा के लिये, (ii) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये।

प्रश्न 11— सांस्कृतिक समुदाय के दो उदाहरण दीजिये।

उत्तर– (i) शिक्षण संस्था, (ii) पुस्तकालय।

□□

6

परिवार या कुटुम्ब तथा सीमित परिवार की अवधारणा (Family and Concept of Planned Family)

"बालक नागरिकता का प्रथम पाठ माता के प्यार और पिता के दुलार से सीखता है। मुझे 60 अच्छी व सुशिक्षित मातायें दीजिये, मैं आपको एक अच्छा राष्ट्र दूँगा।" —मैजिनी

"सच्चाई तो यह है कि आज हमारे परिवार, परिवार न रह कर सन्तानोत्पत्ति के कारखाने बन गये हैं।" —बसन्त लाल जैन

इस अध्याय में क्या है ?

(1) परिवार का जन्म क्यों और कैसे ? (2) परिवार का अर्थ तथा परिभाषायें, (3) परिवार के लक्षण, (4) परिवार के प्रकार, (5) संयुक्त परिवार के गुण तथा दोष, (6) परिवार के कार्य, (7) परिवार का महत्व तथा उपयोगिता, (8) परिवार नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला है, (9) परिवार की सरकार तथा देश की सरकार की तुलना, (10) आदर्श परिवार के गुण अथवा सुखी पारिवारिक जीवन की दशायें, (11) सीमित परिवार की अवधारणा, साधन व लाभ, (12) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (13) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

परिवार का जन्म क्यों और कैसे ? (Origin of Family)

मनुष्य में कुछ जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें दाम्पत्य-प्रेम, काम-भावना तथा सन्तान-प्रेम की प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं। अपनी जंगली अवस्था के प्रारम्भ से ही मनुष्य अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिये स्त्री को अपने साथ रखता था। धीरे-धीरे स्त्री के प्रति प्रेम बढ़ जाने के कारण वह स्थायी रूप से उसके साथ निवास करने लगा। उनके मिलने के परिणामस्वरूप कालान्तर में उनके सन्तान की उत्पत्ति हुई। माता-पिता में अपनी सन्तान के प्रति प्रेम एवं उसके रक्षण की भी स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति पाई जाती है जिसके कारण वे कष्ट उठाकर भी अपने बच्चों का पालन-पोषण करने लगे, जिससे सन्तान में भी उनके प्रति श्रद्धा व आदरभाव उत्पन्न हो गया।

इस प्रकार माता-पिता तथा बच्चे परस्पर प्रेम के सूत्र में बंध गये। पति-पत्नी परस्पर दाम्पत्य-प्रेम में बंधे। माता-पिता अपने बच्चों के प्रति वात्सल्य व सन्तान-प्रेम के धागे में बंधे और बच्चे माता-पिता के प्रति श्रद्धा व आदर के सूत्र में बंधे। इस पारस्परिक प्रेम के कारण इन लोगों ने साथ रहना शुरू कर दिया। ये एक-दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित होते हुए एक-दूसरे की शारीरिक, मानसिक और भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने लगे। पति-पत्नी तथा उनके बच्चों का यह समूह ही परिवार या कुटुम्ब कहलाने लगा।

परिवार का अर्थ तथा परिभाषायें (Meaning and Definitions of Family)

परिवार या कुटुम्ब (Family) सबसे पहला, सबसे छोटा, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण संगठन है, जिसमें मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकतायें पूरी होती हैं। परिवार एक स्वाभाविक समुदाय है। व्यक्ति जब जन्म लेता है, तो इस संसार में अपनी आँख सर्वप्रथम परिवार की गोद में ही खोलता है।

अतः हम परिवार का अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं कि "परिवार व्यक्तियों का एक ऐसा स्वाभाविक समूह है जिसमें व्यक्ति दाम्पत्य-प्रेम तथा वात्सल्य-प्रेम के बन्धन में बंधकर एक साथ

रहते तथा कार्य करते हैं।" कभी-कभी परिवार में माता-पिता, चाचा-चाची, दादा-दादी तथा भाई-भतीजे आदि भी सम्मिलित होते हैं।

परिवार की महत्वपूर्ण परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) मैकाइवर के शब्दों में– "परिवार यौन सम्बन्धों पर आधारति एक समुदाय है जो काफी निश्चित और स्थायी होता है और जिसमें सन्तानोत्पत्ति और उनके लालन-पालन की गुन्जाइश होती है।"

"The Family is a group defined by sex realtionship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children."

(2) अरस्तू के अनुसार– "मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये प्रकृति द्वारा स्थायी समुदाय को परिवार कहते हैं।"

"The family is the association established by nature for the supply of mens' every day wants."

(3) मेरिल के मत में– "परिवार माता-पिता और बच्चों की एक स्थायी समिति है जिसका प्राथमिक कार्य बालक का समाजीकरण और सदस्यों की सन्तुष्टि करना है।"

(4) सुमनर व केलर के अनुसार– "यह मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग है जो जीवन-यापन तथा मानव-जाति को स्थिर रखने के लिये सहकारिता के आधार पर चलने का प्रयत्न करता है।"

(5) डी० ए० मजूमदार के मत में– "परिवार एक ही छत के नीचे निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो अपने मूल अथवा रक्त सम्बन्धी बन्धन में आबद्ध होता है तथा एक ऐसी सामान्य चेतना से पूर्ण होता है जिसका आधार स्थान, हित और पारस्परिक कृतज्ञता तथा अन्योन्याश्रितता है।"

(6) बर्गेस के शब्दों में– "परिवार एक छोटा-सा सामाजिक समुदाय है जो सामान्यतः पिता, माता तथा बच्चों से मिलकर बनता है, जिसमें प्रेम और उत्तरदायित्व का न्यायोचित विभाजन होता है और जिसमें बच्चों को आत्मनियन्त्रित एवं सामाजिक प्रेरणा-प्राप्त व्यक्ति बनने की शिक्षा प्रदान की जाती है।"

परिवार के लक्षण या तत्व
(Characteristics of Family)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर परिवार के तत्व या लक्षण निम्न प्रकार हैं–

(1) वैवाहिक सम्बन्ध– सभी जीवों में यौन सम्बन्धों की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन सम्बन्धों की सन्तुष्टि को व्यवस्थित व नियमित रूप देने के लिये ही पुरुष व नारी में विवाह-सम्बन्ध स्थापित होता है और वे दोनों एक-दूसरे की ओर आकर्षित रहते हैं। अतः विवाह-सम्बन्ध परिवार का प्रथम लक्षण है।

(2) रक्त सम्बन्ध– माता-पिता व बच्चों का सम्बन्ध रक्त का होता है। माता के गर्भ में बच्चे का निर्माण माता के रक्त से होता है। जन्म के बाद वह माँ का दूध पीता है। इन रक्त-सम्बन्धों के कारण परिवार के सदस्य एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं। **"इस महानु रक्त-सम्बन्ध के कारण ही परस्पर मनमुटाव रखने वाले दो भाई भी संकटकाल में एक हो जाते हैं।"**

(3) वंश का नाम– परिवार के साथ वंश का नाम भी सम्बद्ध होता है। वंश का नाम भी माँ-बाप तथा दादा-दादी के नाम पर होता है। वंश के कारण ही दो परिवारों के सदस्यों में भेद किया जाता है। परिवार के सदस्यों के पृथक्-पृथक् नाम तथा पृथक्-पृथक् सम्बन्ध (चाचा-चाची,

भाई-बहन आदि) होते हैं। इनसे परिवार-विशेष की पहचान होती है।

(4) निवास– निवास परिवार का अन्य महत्वपूर्ण लक्षण है। परिवार के सदस्य अपनी सुरक्षा तथा जीवन की अन्य सुविधाओं के लिये एक निश्चित स्थान पर रहते हैं। इनसे उनका जीवन व्यवस्थित रहता है। कुछ परिवार किसी एक जगह को अपना निवास न बनाकर चलती-फिरती गाड़ी को अपना निवास बनाते हैं; जैसे राजस्थान के बंजारे तथा दुदलिये।

(5) आर्थिक प्रबन्ध– परिवार के सदस्य अपनी कमाई को मुखिया को सौंप देते हैं, जो परिवार के सदस्यों की सभी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार परिवार एक आर्थिक इकाई के रूप में संगठित रहता है।

परिवार के तत्व या लक्षण
1. वैवाहिक सम्बन्ध
2. रक्त सम्बन्ध
3. वंश का नाम
4. निवास
5. आर्थिक प्रबन्ध
6. सार्वभौमिकता
7. प्रेम।

(6) सार्वभौमिकता– परिवार एक सार्वभौमिक या विश्वव्यापी प्राकृतिक समुदाय है। इसका अस्तित्व विश्व के प्रत्येक भाग में प्रत्येक युग में पाया जाता रहा है। परिवार का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना स्वयं मनुष्य का।

(7) प्रेम– दाम्पत्य-प्रेम, सन्तान-प्रेम (वात्सल्य) तथा श्रद्धा परिवार के संगठित होने के मुख्य आधार है। प्रेम तथा आदर के सम्बन्धों के कारण ही परिवार का जीवन सुखी बनता है और परिवार में साक्षात् स्वर्ग उतर आता है।

परिवार के प्रकार
(Kinds of Family)

परिवार कई प्रकार के होते हैं। उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है–
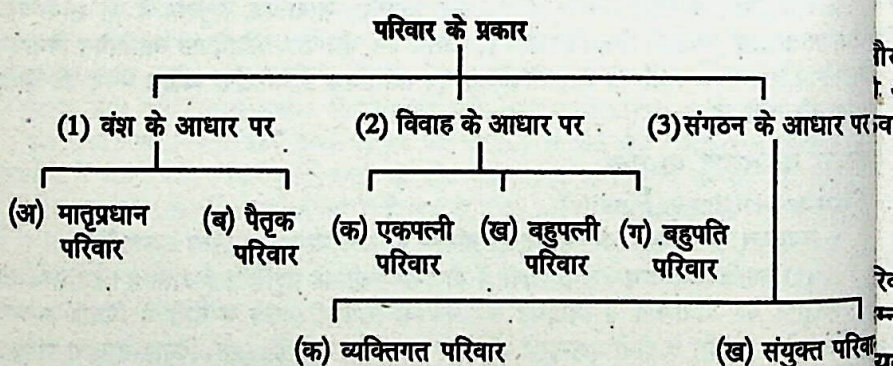
(1) वंश के आधार पर

वंश के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं–

(अ) मातृप्रधान परिवार– मातृप्रधान परिवार में माता की प्रधानता रहती है। माता गृहस्वामिनी होती है तथा उसी से वंश गिना जाता है। बच्चों पर माता का ही अधिकार रहता है। इस प्रकार के परिवार आदिम युग में अधिक पाये जाते थे। उस समय मानव समाज आखेट अवस्था में रहता था। विवाह की कोई निश्चित पद्धति नहीं थी। एक स्त्री कई पुरुषों के साथ रहती थी। बच्चों के पिता का कोई निश्चित पता नहीं रहता था। फलतः माता के परिचय से बच्चे जाने जाते थे।

(ब) पितृप्रधान परिवार– पितृप्रधान परिवार में पिता ही परिवार का प्रधान या स्वामी माना जाता है। परिवार के अन्य सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वंश परम्परा पिता के अनुसार चलती है। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। इस प्रणाली में नारियाँ अधीन अवस्था में रहती हैं। विश्व की अधिकांश जातियों में पैतृक परिवार की प्रणाली ही प्रचलित है।

(2) विवाह के आधार पर

विवाह-पद्धति के आधारपर परिवार तीन प्रकार के कहे गये हैं–

(क) एक पत्नी परिवार– परिवार में पति एक ही पत्नी रखता है। आज-कल ऐसे परिवार को सर्वोत्तम माना जाता है।

(ख) बहुपत्नी परिवार– एक मनुष्य एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता है। मुसलमान धर्म में भी बहुपत्नी प्रथा को धार्मिक मान्यता दी गई है। हिन्दुओं में भी कुछ समय पूर्व बहुपत्नी प्रथा पर रोक नहीं थी।

(ग) बहुपति परिवार– ऐसे परिवार में एक स्त्री के कई पति होते हैं। सब की सन्तान एक ही परिवार का अंग होती है। इस प्रकार की प्रथा का जन्म गरीबी और स्त्रियों की कमी के कारण प्रारम्भ हुआ होगा। अब यह प्रथा प्रायः समाप्त हो चली है। किन्तु देहरादून जिले के जौनसार बावर क्षेत्र में ही यह प्रथा शेष रह गई है।

(3) संगठन के आधार पर

आकार या संगठन के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं–

(क) व्यक्तिगत परिवार– व्यक्तिगत परिवार के अन्तर्गत पति-पत्नी और उनके बच्चे शामिल रहते हैं। यह एक छोटे आकार का परिवार होता है। इसमें बाबा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई का कोई स्थान नहीं होता। बड़े होकर बच्चे भी अपना अलग परिवार बसा लेते हैं।

(ख) संयुक्त परिवार– इस परिवार में एक साथ कई पीढ़ियों के व्यक्ति रहते हैं। पति-पत्नी और उनके बच्चों के अतिरिक्त बाबा-दादी, चाचा-चाची और ताऊ-ताई तथा उनकी सन्तान एक ही आवास में तथा सामान्य चौके की व्यवस्था के अन्तर्गत जीवनयापन करते हैं। यह प्रथा अब केवल चीन और भारत में ही पाई जाती है।

संयुक्त परिवार प्रथा के गुण-दोष
(Merits and Demerits of Joint Family System)

संयुक्त परिवार की प्रथा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है और उसका स्थान व्यक्तिगत परिवार ले रहे हैं। संयुक्त परिवार प्रथा कई गुणों से युक्त प्रणाली है। **संयुक्त परिवार के गुण निम्नलिखित हैं–**

संयुक्त परिवार प्रथा के गुण (Merits)

संयुक्त परिवार प्रथा के गुण निम्नलिखित हैं–

(1) सम्मानजनक एवं प्रभावशाली– इसमें सदस्यों की संख्या अधिक रहती है और वे एक इकाई के रूप में सहयोग और संगठित जीवन व्यतीत करते हैं। उनके पारस्परिक संगठन के कारण परिवार की धाक होती है और समाज के अन्य व्यक्ति परिवार के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते [illegible]र परिवार का सम्मान करते हैं।

(2) उत्तम जीवन व्यतीत करने की सम्भावनायें अधिक– इनमें सब सदस्यों की कमाई का एकीकरण होकर वह अधिक हो जाती है, जिसके फलस्वरूप सदस्य उत्तम जीवन व्यतीत करते हैं। इससे समाज में उन्हें अधिक गौरव और आदर प्राप्त होता है।

(3) उन्नति के समान और अधिक अवसर– संयुक्त परिवार प्रथा में सभी सदस्यों को उन्नति का समान अवसर मिलता है। कुटुम्ब की सम्पत्ति सम्पूर्ण कुटुम्ब के हितों की वृद्धि में व्यय की जाती है। परिवार में जो व्यक्ति अधिक धन कमाते हैं, उनकी कमाई से परिवार के ऐसे सदस्यों को भी लाभ होता है जो तुलनात्मक दृष्टि से कम कमाते हैं।

(4) असहायों का सहायक तथा आपातकाल में सुरक्षा देने वाला– परिवार में जब कोई व्यक्ति असाध्य रूप से बीमार, अपंग या वृद्ध हो जाता है और काम करने लायक नहीं रहता या कोई स्त्री विधवा हो जाती है, तो कुटुम्ब के अन्य सदस्य उसकी सहायता करने को तत्पर रहते हैं। आकस्मिक आपत्तियों का निवारण सभी के सहयोग और सहानुभूति से आसानी से हो जाता है।

(5) नैतिक स्तर ऊँचा– संयुक्त परिवार मानव में प्रेम, सहानुभूति, तयाग और सेवा की भावना जागृत करता है और मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊँचा उठकर समाज सेवा के आदर्श की ओर बढ़ता है।

(6) मनोरंजन का उत्तम साधन– परिवार के छोटे बच्चों की तोतली बोली, बूढो की डांट तथा सदस्यों का हास-परिहास स्वस्थ मनोरंजन का स्रोत है।

संयुक्त परिवार प्रथा के गुण

1. सम्मानजनक एवं प्रभावशाली
2. उत्तम जीवन व्यतीत करने की अधिक सम्भावना
3. उन्नति के समान और अधिक अवसर
4. असहायों का सहायक तथा आपातकाल में सुरक्षा देने वाला
5. ऊँचा नैतिक स्तर प्रदान करने वाला
6. मनोरंजन का उत्तम साधन
7. रीति-रिवाजों और धार्मिक भावनाओं का संरक्षक
8. ज्ञानार्जन व सांस्कृतिक उत्थान में सहायक।

(7) रीति-रिवाजों और धार्मिक भावनाओं का संरक्षक– संयुक्त परिवार कई पीढ़ियों से चले आ रहे रीति-रिवाजों, परम्पराओं और धार्मिक भावनाओं की रक्षा करता है। परिवार के वृद्ध जवानों और बच्चों को इनका पालन करने की निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं

(8) ज्ञानार्जन व सांस्कृतिक उत्थान में सहायक– संयुक्त परिवार-प्रथा में परिवार के सदस्यों में श्रम का बँटवारा हो जाता है। इस कारण अवकाश के क्षण अधिक मिलते हैं। इस कारण देशाटन, समाज-सेवा, ज्ञानार्जन और सांस्कृतिक उत्थान के अधिक अवसर संयुक्त परिवार में प्राप्त होते हैं।

संयुक्त परिवार प्रथा के दोष (Demerits)

संयुक्त परिवार प्रथा के दोष निम्नलिखित हैं–

(1) कलह का केन्द्र– संयुक्त परिवार-प्रथा में परिवार कलह का केन्द्र बन जाता है। कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या अधिक होती है। उनमें विशेषकर स्त्रियों में तेरे-मेरे की भावना उत्पन्न हो जाने से छोटी-छोटी बातों पर झगड़े होते हैं और परिवार का वातावरण अशान्त हो जाता है।

(2) आर्थिक संकट– संयुक्त परिवार-प्रथा में सब अपनी जिम्मेदारी का अनुभव नहीं करते। कुछ सदस्य जब यह देखते हैं कि अन्य व्यक्तियों की कमाई से उन्हें आसानी से रोटी-कपड़ा मिल रहा है, तो वे आलसी और निकम्मे हो जाते हैं। काम-धन्धा कर सकने योग्य होने पर भी काम नहीं करते। इस अकर्मण्यता का परिणाम यह होता है कि कुटुम्ब में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है।

(3) योग्य व परिश्रमी व्यक्तियों का उत्साह मन्द– संयुक्त परिवार-प्रथा में साहसी और योग्य व्यक्तियों का उत्साह शीघ्र मन्द पड़ जाता है। जब वे ये देखते हैं कि अधिक परिश्रम करने पर भी उन्हें परिवार के अकर्मण्य और निकम्मे सदस्यों के बराबर ही आर्थिक लाभ मिलता

जबकि दूसरों को यह लाभ बिना कुछ करे प्राप्त होता है, तो साहसी, परिश्रमी और योग्य व्यक्तियों की भी अधिक परिश्रम करने में रुचि नहीं रहती। परिणामस्वरूप, परिवार का जीवन-स्तर धीरे-धीरे गिरना प्रारम्भ हो जाता है।

(4) संयुक्त परिवार में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास होता है– संयुक्त परिवार में परिवार के प्रधान का कठोर नियन्त्रण रहता है, जिसके कारण परिवार के सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है। उसे परिवार के नियमों को मानना पड़ता है और उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है।

संयुक्त परिवार प्रथा के दोष

1. कलह का केन्द्र
2. आर्थिक संकट
3. योग्य व परिश्रमी व्यक्तियों का उत्साह मन्द
4. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास और व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध
5. परिवार नियोजन का विरोधी
6. घर के प्रधान पर अधिक भार
7. स्त्रियों की हीन दशा का द्योतक।

(5) परिवार नियोजन का विरोधी– संयुक्त परिवार, परिवार-नियोजन का विरोधी है। प्रत्येक सदस्य यह सोचता है कि उसके बच्चों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व सब पर है। अतः अधिक सन्तान पैदा करने का दुष्परिणाम कोई नहीं सोचता।

(6) संयुक्त परिवार में परिवार के मुखिया पर अधिक भार होता है– संयुक्त परिवार में घर के मुखिया की योग्यता और प्रतिभा पर ही परिवार की उन्नति या अवनति निर्भर करती है। परिवार की चिन्ताओं और अधिक परिश्रम से वह पिसा रहता है। परिवार के सभी सदस्यों की सुख-सुविधा एवं परिवार की प्रतिष्ठा के लिये उसे दिन-रात कार्य करना पड़ता है।

(7) स्त्रियों की हीन दशा– संयुक्त परिवार में प्रायः नव-वधुओं की दशा शोचनीय होती है। परिवार का सारा काम उन्हीं पर डाल दिया जाता है। दिन भर परिश्रम करने पर भी उन्हें सास, ननद, और जेठानियों के कटु वचन तथा व्यंग्य सुनने पड़ते हैं। उनके पति भी उन्हें परिवार के मुखिया के कठोर अनुशासन के कारण श्रम से राहत नहीं दिला सकते।

परिवार के कार्य
(Functions of the Family)

परिवार सामाजिक जीवन का सबसे छोटा, किन्तु महत्वपूर्ण समुदाय है। परिवार को अनेक ऐसे कार्य सम्पन्न करने होते हैं जो व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र सभी के लिये अत्यन्त आवश्यक तथा लाभदायक होते हैं। इनके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं–

(1) विवाह सम्बन्ध की स्थापना– पुरुष तथा स्त्री दोनों में ही यौन सम्बन्धों की जन्मजात मूल-प्रवृत्ति पाई जाती है। पुरुष तथा स्त्री दोनों ही परिवार के रूप में एक साथ रहकर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके यौन सम्बन्धों की पूर्ति करते हैं।

(2) सन्तान की उत्पत्ति– कामवासना के साथ ही साथ पुरुष तथा स्त्री दोनों में ही सन्तान प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा पाई जाती है। प्रायः देखा जाता है कि जिन पति-पत्नी के सन्तान जल्दी नहीं होती, वे उसकी प्राप्ति के लिये बड़े दुःखी तथा बेचैन रहते हैं। पति-पत्नी के बीच यौन-सम्बन्धों की स्थापना के फलस्वरूप उनको परिवार में सन्तान की प्राप्ति होती है। सन्तान उत्पन्न होने पर परिवार में बड़ी खुशियाँ मनाई जाती हैं।

(3) बच्चों का पालन-पोषण– परिवार का अन्य महत्वपूर्ण कार्य बच्चों का पालन-पोषण करना होता है। माता-पिता में अपने शिशुओं के पालन एवं संरक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है, जिसके कारण ही वे परिवार में रहकर अनेक कष्ट उठाकर व दिन-रात जागकर अपनी सन्तान का पालन-पोषण करते हैं। माता का सन्तान-प्रेम तथा सन्तान के लिये उसका त्याग शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

परिवार के कार्य

1. विवाह सम्बन्ध की स्थापना
2. सन्तान की उत्पत्ति
3. बच्चों का पालन-पोषण
4. मकान की व्यवस्था
5. भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था
6. आर्थिक कार्य
7. मनोवैज्ञानिक कार्य
8. सांस्कृतिक कार्य
9. शिक्षा सम्बन्धी कार्य
10. मनोरंजनात्मक कार्य
11. धार्मिक कार्य
12. सामाजिक कार्य
13. परोपकार के कार्य
14. नागरिक कार्य।

(4) मकान की व्यवस्था– प्रत्येक परिवार को एक मकान की व्यवस्था करनी होती है, जहाँ कि उसके सदस्य सुख, शान्ति और सुरक्षा के साथ रह सकें। सर्दी, गर्मी, वर्षा तथा धूप से बचने के लिये प्रत्येक परिवार अपने लिये मकान की व्यवस्था करता है, चाहे वह निजी हो अथवा किराये का।

(5) भोजन व वस्त्र आदि की व्यवस्था– प्रत्येक परिवार का कर्त्तव्य है कि वह अपने सदस्यों के भोजन व वस्त्र आदि की व्यवस्था करे। यह कार्य पति-पत्नी के बीच बँटा होता है। पति खाद्य व वस्त्र सम्बन्धी सामग्री एकत्र करता है। पत्नी भोजन बनाकर तथा कपड़े सींकर उनकी उपयोगिता बढ़ाती है।

(6) आर्थिक कार्य– परिवार एक मौलिक आर्थिक इकाई है। उसे हम सहकारी समुदाय का एक लघु रूप भी कह सकते हैं। परिवार में पुत्र पिता के व्यवसाय को बिना किसी विशेष प्रशिक्षण और परिश्रम के सीख लेता है। इस प्रकार पारिवारिक ज्ञान और औद्योगिक कौशल पीढ़-दर-पीढ़ी बना रहता है। परिवार में हर व्यक्ति कमाता है और सभी लोग मिल-जुलकर सम्पूर्ण आय का उपभोग करते हैं। परिवार आपातकाल का बीमा है।

(7) मनोवैज्ञानिक कार्य– परिवार बालक का मानसिक विकास भी करता है। संकेत, अनुकरण और सहानुभूति द्वारा परिवार में बच्चा बोलना और आचरण करना सीखता है। परिवार के वातावरण के अनुसार ही बच्चे का मानसिक विकास होता है।

(8) सांस्कृतिक कार्य– बच्चा बचपन में परिवार के माध्यम से ही अपने चारों ओर के वातावरण के रीति-रिवाज, आचार-विचार, गुण-अवगुणों से परिचित होता है। परिवार में ललित कलाओं का जो पोषण परिवार में प्रौढ़ सदस्य करते हैं, बच्चा उन्हें बिना किसी परिश्रम के अपना लेता है।

(9) शिक्षा सम्बन्धी कार्य– किसी विद्वान् ने कहा है कि, **"बच्चा अपना प्रथम पाठ माता के चुम्बन और पिता के दुलार से सीखता है।"** बच्चे के कोमल मस्तिष्क पर घर की बूढ़ी दादी व नानी द्वारा सुनाई गई वीरता, बलिदान, देशभक्ति की कहानियों की अमिट छाप पड़ जाती है और इन गुणों को बालक बचपन से ही पवित्र आदर्शों की भाँति अपना लेता है। परिवार में बच्चे बड़ों का आदर तथा छोटों को प्यार करना सहज रूप से ही सीख लेते हैं।

जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके चरित्र का निर्माण परिवार में ही हुआ था। शिवाजी, महात्मा गाँधी, पं० नेहरू, अब्राहम लिंकन आदि महापुरुषों की सच्ची शिक्षा परिवार में हुई थी। अब्राहम लिंकन ने इस सम्बन्ध में कहा था कि, **"मैं जो कुछ भी हूँ या जो कुछ मैं बनने की आशा करता हूँ, उसके लिये मैं अपनी देवी स्वरूपा माँ का ऋणी हूँ।"**

एक प्रसिद्ध चीनी कहावत के अनुसार, **"माता और पिता बच्चे की प्रथम दो पुस्तकें हैं।"**

(10) मनोरंजनात्मक कार्य– दिन भर कार्य करके परिवार के बड़े सदस्य जब घर लौटते हैं तो बच्चों की किलकारी, तोतली वाणी तथा जीवन-संगिनी की स्नेहपूर्ण सेवा उनकी सारी थकावट और चिन्ताओं को दूर कर देती है। इस विशुद्ध मनोरंजन के सामने संसार के अन्य सभी

आनन्द तुच्छ हैं। इस प्रकार परिवार एक आदर्श विश्राम-स्थल भी है।

(11) धार्मिक कार्य– परिवार में होने वाले धार्मिक कार्य-कलाप में बच्चा प्रारम्भ से ही भाग लेता है। इससे धर्म के प्रति बच्चे की आस्था और विश्वास दृढ़ होते हैं। सदाचार, पवित्रता, सद्व्यवहार, करुणा तथा सहानुभूति की शिक्षा उसे परिवार में ही मिलती है। अपने परिवार की धार्मिक मान्यताओं को बच्चा न केवल कायम रखता है, वरन् धर्म में उनकी रुचि भले-बुरे, पाप-पुण्य में अन्तर करना सिखाती है।

(12) सामाजिक कार्य– समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे में परिवार से ही प्रारम्भ होती है। परिवार सामाजिक नियन्त्रण का भी एक प्रमुख साधन है। आचार-विचार, संयम, सहयोग, त्याग और प्रेम के अंकुर परिवार में ही प्रस्फुटित और विकसित होते हैं। बच्चा परिवार के सदस्यों के सुख में सुख तथा उनके दुःख में दुःख का अनुभव करता है। उसे परिवार के ऐसे व्यक्तियों के प्रति, जो कि कार्य नहीं कर सकते, सहज सहानुभूति हो जाती है। परिवार के बड़े-बूढ़ों के नियन्त्रण में बच्चा अपनी वाणी, आचरण और विचारों पर नियन्त्रण रखता है।

(13) परोपकार के कार्य– परिवार के लोग स्वयं अपने सदस्यों की तो सहायता व रक्षा करते ही हैं, वे समाज के अनेक पीड़ितों, संकटग्रस्तों व दुखियों की सहायता व सेवा के अनेक कार्य परोपकार की भावना से करते हैं; जैसे भिखारी को भिक्षा देना, अनाथों की सहायता करना, छात्रवृत्ति देना, दान देना, प्यासों के लिये प्याऊ लगवाना, अकाल व बाढ़ पीड़ितों की सहायता करना आदि।

(14) नागरिक कार्य– परिवार के सदस्य एक-दूसरे के स्वभाव और आदतों को सहन करते हुए अपने-अपने कार्य करते हैं। विरोध, मतभेद और मामूली झगड़े होने पर भी वे एक-साथ रहते हैं। वे सब मिलकर एक-साथ इस प्रकार कार्य करते हैं कि पूरे परिवार की हित-वृद्धि हो। इस प्रकार **"परिवार समाज का एक पॉकेट संस्करण ही कहा जा सकता है।"**

परिवार का महत्व तथा उपयोगिता
(Importance and Utility of the Family)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिवार या कुटुम्ब सबसे छोटा, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक समुदाय है। संसार में जन्म लेते ही बच्चा सर्वप्रथम अपने को परिवार के अन्दर माता-पिता की गोद में पाता है, परिवार के अन्दर ही वह पलता है, अनेक प्रकार की शिक्षा पाता है, अपनी अनेक मूल-प्रवृत्तियों की तुष्टि करता है और परिवार में ही उसके जीवन का अन्त हो जाता है। **परिवार में रह कर बालक पर जो अच्छे संस्कार पड़ जाते हैं उन्हीं से उसका जीवन बनता है।** इस प्रकार मानव के जीवन में परिवार का भारी महत्व है। अनेक विद्वानों ने तो परिवार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए इसे **"नागरिक तथा सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला" (First school of civil and social life)** कहा है।

(क) परिवार नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला है

बोगार्ड्स के अनुसार– **"परिवार प्रथम मानव-पाठशाला है। बच्चे की शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण काल परिवार में ही बीतता है।"**

मेजिनी के शब्दों में– **"प्रत्येक बालक नागरिकता का सर्वोत्तम पाठ माँ के प्यार और पिता के दुलार से सीखता है।"**

"The child learns the first lesson of citizenship between the kiss of the mother

and caress of the father."

अब्राहम लिंकन का कहना था कि– **"मैं जो कुछ हूँ या बनने की आशा करता हूँ उसके लिये मैं अपनी देवी स्वरूपा माँ का ऋणी हूँ।"**

"Whatever I am an whatever I hope to be, I owe my angel mother."

एक लेखक के अनुसार– **"परिवार ऐसा कारखाना है, जहाँ एक बच्चे का वास्तविक मनुष्य में बदल दिया जाता है।"**

एक विद्वान् ने– **"परिवार को व्यक्ति के सामाजिक गुणों का पालना"** कहा है।

एक लेखक के अनुसार– **"कुटुम्ब मानवीय समुदाय की मूल इकाई है।"**

अब हम उन शिक्षाओं एवं गुणों पर विचार करते हैं जो एक बालक परिवार में रहकर प्राप्त करता है–

(1) प्रेम की शिक्षा– बच्चे को कुटुम्ब में सबसे पहली शिक्षा प्रेम व स्नेह की मिलती है। वह देखता है कि उसके माता-पिता कितने प्रेम से रहते हैं तथा अपने बच्चों से कितना प्रेम करते हैं। इससे उसके अन्दर प्रेम के संस्कार उत्पन्न होते हैं। यही प्रेम आगे चलकर पड़ौसी-प्रेम, समाज-प्रेम तथा देश-प्रेम में परिणित हो जाता है। इससे उसके अन्दर भाई-चारे की भावना उत्पन्न होती है।

(2) निःस्वार्थ सेवा व त्याग की शिक्षा– परिवार में रहकर बच्चा देखता है कि माता-पिता किस निःस्वार्थ भाव से अपनी सन्तान का पालन करते हैं। परिवार पर संकट आने पर किस प्रकार उसके सब सदस्य सब कुछ त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। इसी के कारण वह भी समय आने पर अपने माता-पिता की सेवा करता है तथा परिवार, समाज तथा देश पर संकट आने की स्थिति में अपना सब कुछ त्याग करने को तैयार हो जाता है।

(3) परस्पर सहयोग की शिक्षा– बच्चे को कुटुम्ब से परस्पर सहयोग से कार्य करने की भी शिक्षा मिलती है। स्त्री व पुरुष मिलकर कुटुम्ब के कार्यों को बाँट लेते हैं। पुरुष का मुख्य कार्यक्षेत्र बाहर होता है और स्त्री का कार्यक्षेत्र घर पर ही होता है। कन्यायें घर में अपनी माता के कार्यों में हाथ बँटाती हैं, तो लड़का पिता के व्यवसाय में उसके साथ सहयोग से कार्य करता है। आगे चलकर इसी सहयोग की भावना का क्षेत्र जब विस्तृत हो जाता है, तो वह अपने पड़ोसियों तथा देशवासियों के साथ ही सहयोग से काम करने लगता है।

(4) आज्ञा-पालन की शिक्षा– घर में बच्चा अपने माता-पिता तथा अन्य बुजुर्गों की आज्ञा मानता है तथा घर के नियमों का पालन करता है। कवि दिनकर जी ने ठीक ही कहा है कि भारत में बच्चे के लिये– **"माता की वाणी रामायण और पिता क वचन वेद हैं।"**

इसी संस्कार के द्वारा वह आगे चलकर स्कूल में गुरुजनों की तथा बड़े होने पर राज्य की आज्ञा तथा उसके नियमों व कानूनों का पालन करने लगता है। इस प्रकार परिवार के सुसंस्कार के कारण ही वह आज्ञापालक तथा देशभक्त नागरिक बनता है।

काम्टे ने लिखा है कि, **"जहाँ तक आज्ञापालन व शासन का सम्बन्ध है, परिवार सदैव सामाजिक जीवन की शिक्षा की शाश्वत पाठशाला बना रहेगा।"**

"Family life will ever remain the external school of social life as regards both obedience and government."

Compte

(5) सहनशीलता का पाठ– परिवार में भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्वभाव तथा आदतों के व्यक्ति एक साथ रहते हैं परिवार का कोई सदस्य तेज होता है, तो कोई सीधा। कोई परिश्रमी है, तो

कोई अनपढ़। कोई उपद्रवी होता है, तो कोई शान्त प्रकृति का। किन्तु सभी परस्पर शान्ति व प्रेम के साथ रहते हैं। इससे बच्चा सहनशीलता का पाठ सीखता है जो उसे आगे चलकर एक शान्तिप्रिय एवं सहिष्णु नागरिक बनाता है।

(6) कर्त्तव्य-पालन का पाठ– बच्चा देखता है कि परिवार के सब सदस्य एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य का पालन करते हैं। पति पत्नी के प्रति, पत्नी पति के प्रति, माँ-बाप बच्चे के प्रति, बच्चे माँ-बाप के प्रति तथा भाई-बहन आदि सब अपना-अपना कर्त्तव्य पूरा करते हैं। इससे बच्चे में कर्त्तव्य पालन का सुसंस्कार पनपता है और बड़ा होकर वह विभिन्न समुदायों, राज्य तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

इसीलिये ब्रिम्बल ने लिखा है कि **"नागरिक-कर्त्तव्यों की शुरुआत पारिवारिक जीवन में होती है। परिवार में कर्त्तव्यों का पालन करना नागरिक के लिये उसके ग्राम, नगर व राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करने की सर्वोत्तम तैयारी है।"**

(7) शिष्टाचार व सद्व्यवहार की शिक्षा– माता-पिता अपने बच्चे को सिखाते हैं कि परिवार के अन्य सदस्यों, अतिथियों, मित्रों, गुरुओं तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ उन्हें किस प्रकार शिष्टता, नम्रता व आदर के साथ व्यवहार करना है। इस शिक्षा से बालक में सद्गुण आते हैं और वह एक सभ्य तथा शिष्ट नागरिक बनता है।

परिवार का महत्व तथा उपयोगिता

(क) परिवार नागरिक-जीवन की प्रथम पाठशाला

1. प्रेम की शिक्षा
2. सेवा व त्याग की शिक्षा
3. परस्पर सहयोग की शिक्षा
4. आज्ञा-पालन की शिक्षा
5. सहनशीलता का पाठ
6. कर्त्तव्य-पालन का पाठ
7. शिष्टाचार व सद्व्यवहार की शिक्षा
8. धार्मिक व सांस्कृतिक शिक्षा
9. व्यावसायिक शिक्षा
10. सहानुभूति
11. परिश्रम
12. सामंजस्य।

(ख) परिवार के अन्य लाभ

13. आवश्यकताओं की पूर्ति
14. व्यक्तित्व का निर्माण
15. राजनीतिक दृष्टि से परिवार का महत्व।

(8) धार्मिक व सांस्कृतिक शिक्षा– बच्चे पर धार्मिक संस्कार भी परिवार में ही पड़ते हैं। बच्चा माता-पिता के अनुकरण करके ही ईश्वर आदि की आराधना करता है और परिवार के धार्मिक कार्यों में भाग लेता है, जिससे अन्दर धार्मिक सद्गुण आते हैं तथा उसके चरित्र का निर्माण होता है। अपने सांस्कृतिक रीति-रिवाजों का ज्ञान व अपनी मातृ-भाषा को बोलने व समझने की प्रारम्भिक शिक्षा भी उसे परिवार में ही मिलती है। यह शिक्षा उसके भावी जीवन का आधार होती है।

(9) व्यावसायिक शिक्षा– प्रत्येक परिवार का कोई-न-कोई व्यवसाय होता है। अनेक परिवारों में तो परम्परागत व्यवसाय ही चलता है; जैसे बढ़ई, कुम्हार, सुनार, चर्मकार तथा खेती आदि का व्यवसाय। ऐसे परिवारों के बच्चे बचपन से ही उक्त व्यवसाय को सीख जाते हैं और बड़े होकर कुशल व्यवसायी बनते हैं।

(10) सहानुभूति– सहानुभूति अर्थात् दूसरों के दुःख से द्रवित हो उठना एक सामाजिक गुण है जो कि मनुष्य को पशु-श्रेणी से ऊपर उठाता है। माता-पिता के निश्छल अथवा स्वार्थरहित स्नेह की जो पवित्र अनुभूति बच्चे को परिवार में होती है, उसी के कारण वह बड़ा होकर दूसरों के दुःख और कष्ट को अपना निजी दुःख और कष्ट मानता है। इसी गुण के कारण मानव सृष्टि का सर्वोन्नत, सबसे पावन और सर्वोत्कृष्ट रूप बन गया है।

बेवरिज ने लिखा है कि **"परिवार की सीमाओं में रहकर बच्चा सहयोग, सहानुभूति तथा परस्पर प्रेम की भावना का पाठ पढ़ता है।"**

(11) परिश्रम– जो व्यक्ति काम से घबराता है, वह कभी अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। परिश्रम आर्दश नागरिकता का आधार है। बच्चा परिवार में सभी लोगों को परिश्रम करते हुए देखता है। वह यह भी देखता है कि परिवार के बड़े लोग उसे भी पढ़ने-लिखने के लिये टोकते हैं। इस प्रकार परिवार से ही बच्चे में परिश्रम के अंकुर फूटते हैं।

(12) सामंजस्य– अपने स्वार्थ को अपने साथियों के स्वार्थ के साथ जोड देने में ही नागरिकता का सार है। मनुष्य यदि केवल अपनी सुख-सुविधा का ही ध्यान रखे और दूसरों की भावनाओं, आवश्यकताओं और सुविधाओं के प्रति उदासीन हो जाये, तो सामाजिक जीवन नही चल सकता। अपने स्वार्थ को औरों के स्वार्थ के साथ जोड़ देने का पाठ भी व्यक्ति परिवार से ही सीखता है। परिवार के सभी सदस्य अपने संकुचित हितों को परिवार के हित के लिये छोड़ देते हैं। यही भावना बालक भी अनुकरण और अनुभूति से ग्रहण कर लेता है।

डॉ० बेनीप्रसाद कहते हैं, **"कुटुम्ब व्यक्ति को उसके स्वयं के संकुचित क्षेत्र से भक्ति, सच्चाई और सहयोग के व्यापक क्षेत्र में ले जाता है, जहाँ वह जन-साधारण की भलाई के लिये संगठन और कार्य करना सीखता है।"**

(ख) परिवार के अन्य लाभ

(13) आवश्यकताओं की पूर्ति– व्यक्ति की अनेक जन्मजात मूल प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं की तुष्टि का प्रारम्भिक स्थल परिवार ही है। इसके कारण ही मानव सुखी व शान्त जीवन व्यतीत करता है।

(14) व्यक्तित्व का निर्माण– बच्चे के व्यक्तित्व एवं चरित्र का बहुमुखी विकास परिवार के वातावरण में ही होता है। कुटुम्व में पड़ी हुई आदतें, रुचि, स्वभाव व संस्कार उसके भावी जीवन के अभिन्न वन जाते हैं। सारांश यही है कि बच्चे के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास परिवार में होता है।

(15) राजनीतिक दृष्टि से परिवार का महत्व– वास्तव में परिवार एक छोटे आकार का राज्य ही है। राज्य के सभी तत्व मूल रूप में कुटुम्ब में पाये जाते हैं। परिवार के सदस्य उसकी जनसंख्या है, घर निश्चित भू-भाग है, माता-पिता सरकार है, पिता की आज्ञा न्यायपालिका के समान सर्वोपरि है, और आज्ञापालन प्रत्येक सदस्य के लिये परिवार में भी अनिवार्य होता है।

राज्य के समान ही परिवार में भी कार्य का विभाजन होता है। राज्य के समान परिवार के भी नियम होते हैं। जिनका उल्लंघन करने पर पिटाई होती है। राज्य के समान परिवार के आय-व्यय का हिसाब (बजट) बनाया जाता है। इस प्रकार परिवार राज्य का ही लघु रुप होता है। परिवार में रहकर बालक को सच्ची नागरिकता का प्रशिक्षण मिलता है और वह एक आदर्श व जागरूक नागरिक बन जाता है।

संक्षेप में, परिवार छोटे आकार का राज्य है तथा सरकार का लघु रूप है। **"परिवार में इसके विभिन्न सदस्य परिवारीय सरकार के विभिन्न अंगों के रूप में कार्य करते हैं, जैसा कि अग्रलिखित विवरण से स्पष्ट है–**

घर के शासन की देश के शासन से तुलना
(परिवार तथा केन्द्र सरकार)

	कौन ?	क्या ?	स्थिति व कार्य
1	माँ	संसद	घर (देश) की आवश्यकताओं के अनुसार आदेश देना, नीति निर्धारित करना, नियम बनाना, काम सौंपना व व्यवस्था करना।
2	सन्तान	केन्द्रीय-मन्त्रि परिषद्	माँ (संसद) के आदेशों व नीतियों का पालन करना।
3	बड़ा बेटा या बड़ी बेटी	प्रधानमन्त्री	यह देखभाल करना कि सभी बेटे (मन्त्री) माँ (संसद) के आदेशों का पालन करें और कोई काम ऐसा न करें जो घर (देश) की प्रतिष्ठा गिराये। अपने सभी छोटे भाइयों (मन्त्रियों) को मुट्ठी में बाँधे रखना।
4	बेटे-बेटी	अन्य मन्त्री	बड़े भाई के निरीक्षण में माँ (संसद) के आदेशों के अनुसार अपना-अपना काम करना, माँ के प्रति जवाब-देह रहना।
5	पिता	सर्वोच्च न्यायालय	माँ (संसद) और सन्तान (मन्त्रिपरिषद्) को गलत काम करने से रोकना, विवाद निपटाना तथा सभी को संरक्षण भी देना।
6	बाबा	राष्ट्रपति	जो सदा बहू, बेटे व पोतों की इच्छानुसार चलता है। प्रायः कहता रहता है— हाँ बहू! हाँ बेटा! परन्तु कभी गलती पर टोकता भी है, मगर अन्दर-अन्दर डरते हुए, कि कहीं बुढ़ापा ही न खराब हो जाए।

उपर्युक्त विवरण से परिवार का महत्व स्पष्ट है। अतः परिवार को नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला कहना पूर्णतया उचित है।

आदर्श परिवार के गुण
अथवा
सुखी पारिवारिक जवीन की दशायें व शर्तें
(Conditions for a Happy Family Life)

मनुष्य के अस्तित्व एवं उसके व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिये परिवार आवश्यक एवं अनिवार्य है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य का जीवन परिवार में ही व्यतीत होता है। व्यक्ति और परिवार का सम्बन्ध बड़ा गहरा तथा अटूट है। आज के बच्चे परिवार के कारखाने में ढलकर ही देश के सफल तथा असफल नागरिक बनेंगे। परिवार की सफलता पर ही अनेक समुदायों की सफलता निर्भर होती है। राज्य तथा समाज की उन्नति का आधार परिवार ही है। जब हर दृष्टि से मानव-जीवन में परिवार की इतनी उपयोगिता है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य के पारिवारिक जीवन को सुखी व सफल बनाने वाले तत्वों पर विचार कर लिया जाए। ये तत्व निम्न प्रकार हैं—

(1) अच्छा मकान— सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि परिवार के पास उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप एक अच्छा मकान हो, जिससे कि उसके सदस्य स्वस्थ व शान्त वातावरण में रहकर अपना विकास कर सकें। प्रायः देखा जाता है कि जिन परिवारों के पास अच्छा मकान नहीं होता,

उसके सदस्य अस्वस्थ तथा अनेक रोगों से ग्रस्त रहते हैं, जिसके कारण परिवार के काफी धन का अपव्यय होता है। इस कार्य की पूर्ति में परिवार को राज्य का सहयोग प्राप्त होना चाहिये।

(2) सुदृढ़ आर्थिक स्थिति– पारिवारिक जीवन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि परिवार आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो। निर्धन परिवार में व्यक्ति का विकास न होकर उसमें अनेक दुर्गुणों का समावेश हो जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि परिवार के सभी योग्य सदस्य परिश्रम से कार्य करें और परिवार की आय में वृद्धि करें। इसके साथ ही उन्हें अपने खर्चों पर भी पर्याप्त नियन्त्रण रखना चाहिये, अन्यथा आय अधिक होने पर भी उनके पास धन का अभाव बना रहेगा।

पारिवारिक जीवन को सुखी व सफल बनाने वाले तत्व

1. अच्छा मकान
2. सुदृढ़ आर्थिक स्थिति
3. उचित शिक्षा
4. प्रेम, सहानुभूति न सहनशीलता
5. शिष्टाचार व सद्व्यवहार
6. मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा
7. छोटा आकार– परिवार नियोजन
8. बच्चों की समुचित देख-भाल
9. सहयोग व सहकार्य
10. उत्तम स्वास्थ्य
11. कर्त्तव्य पालन की भावना।

(3) उचित शिक्षा– यह देखा जाता है कि जिस परिवार में माता-पिता शिक्षित नहीं होते, उनमें बच्चों का समुचित रीति से न तो पालन हो पाता है और न उनका विकास। माता बच्चे की सबसे बड़ी शिक्षिका होती है। शिक्षा के अभाव में परिवार के सदस्यों में आपस में ही कलह, द्वेष व झगड़ा आदि रहता है जिसके कारण बच्चों में भी बुरे संस्कार पनपने लगते हैं। अतः पारिवारिक जीवन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि परिवार के सभी सदस्य शिक्षित व सुसंस्कृत हों और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये।

(4) प्रेम, सहानुभूति व सहनशीलता– परिवार के सभी सदस्यों के बीच प्रेम-भावना का होना अत्यावश्यक है। परिवार के विभिन्न सदस्य यदि एक-दूसरे के दुःख तथा संकट में सहानुभूति, सेवा तथा सहायता का भाव नहीं रखते हैं, तो उनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं हो सकता। इसी प्रकार, परिवार में भिन्न-भिन्न विचार, स्वभाव तथा आदतों के लोग रहते हैं। उन्हें चाहिये कि परस्पर व्यवहार करते समय वे सहनशीलता की भावना को न छोड़ें। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो उनका कौटुम्बिक जीवन कष्टमय हो जायेगा।

(5) शिष्टाचार व सद्व्यवहार– पारिवारिक सुख, शान्ति व सफलता के लिये यह आवश्यक है कि परिवार के सब सदस्य एक-दूसरे से अच्छा व्यवहार करें, छोटे बड़ों का आदर करें एवं उनके साथ शिष्टाचार का पालन करें तथा बड़े लोग छोटों के साथ प्रेम व सहानुभूति का व्यवहार करें। यदि परिवार का एक सदस्य भी अशिष्ट एवं अनुशासनहीन हो जाता है, तो कौटुम्बिक जीवन दुःखमय हो जाता है।

(6) सदस्यों के अधिकारों की रक्षा– यह आवश्यक है कि परिवार के सभी सदस्यों के उचित अधिकारों का सम्मान किया जाये। उदाहरण के लिये बड़ों, वृद्धों व बीमारों का यह अधिकार है कि परिवार में उनकी सेवा-सुश्रूषा व देखभाल हो, बच्चों का यह अधिकार है कि उनके पालन-पोषण, शिक्षा व मनोरंजन की समुचित व्यवस्था हो। हमारे समाज में स्त्रियों की दशा बड़ी दयनीय है। उनके अधिकारों का भी पूर्ण सम्मान किया जाना चाहिये। कहा भी है– **"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'** अर्थात् **"जिस परिवार में नारियों का सम्मान किया जाता है वहाँ देवता निवास करते हैं।"** सदस्यों के इन अधिकारों की रक्षा के बिना परिवार में स्वार्थ, कलह व द्वेष का साम्राज्य हो जायेगा।

(7) छोटा आकार– परिवार नियोजन– यदि परिवार का आकार छोटा है तो वहाँ सुख शान्ति की अधिक सम्भावना रहती है। आजकल देखा जाता है कि अनेक परिवारों में कमाने वाला व्यक्ति केवल एक ही और उसकी आय भी 750 रु० मासिक, परन्तु बच्चे 10–12 इस स्थिति में न उनका पालन-पोषण होता है और न देखभाल और न ही शिक्षा का प्रबन्ध होता है तथा वे रोगी हो जाते हैं, जिससे पारिवारिक जीवन नारकीय हो जाता है।

क्लिट ने ठीक ही लिखा है, **"परिवार में थोड़े से बच्चों का होना बहुत से दुर्बल व रोगी बच्चों के होने से अधिक अच्छा है क्योंकि रोगी बच्चे जीवित भी रहें तो वे समाज के लिए सदा भार बने रहेंगे।"**

अतः यह आवश्यक है कि **परिवार नियोजन** के कार्यक्रम को अपना कर अपने परिवार का आकार सीमित रखा जाये। सरकार इस दिशा में भी भारी प्रयास कर रही है। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार में भी चूँकि सदस्य विभिन्न स्वभाव व आदतों के होते हैं, अतः जीवन कलहपूर्ण हो जाता है। अतः संयुक्त परिवार को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये।

(8) बच्चों की समुचित देखभाल– यदि किसी परिवार में बच्चों का पालन, उनकी देखभाल तथा शिक्षा का प्रबन्ध समुचित एवं पर्याप्त रीति से नहीं होता है, तो उनका भविष्य अन्धकारमय ही समझना चाहिये। **कई परिवार ऐसे देखे जाते हैं जिसमें पति-पत्नी दोनों ही विभिन्न स्थानों पर नौकरी करते हैं।** इस स्थिति में न तो वे अपने दाम्पत्य जीवन का ही सुख उठा पाते हैं और न बच्चों का पालन ही उचित रीति से कर पाते हैं।

वर्तमान समय में माता-पिता में एक प्रवृत्ति और पाई जाती है। वे यह समझते हैं कि यदि उन्होंने अपने बच्चे को स्कूल धकेल दिया, तो उनका कर्त्तव्य पूरा हो गया। वे यह भूल जाते हैं कि परिवार के 18 घण्टे के वातावरण में बच्चे पर जो संस्कार पड़ते हैं उनके सामने स्कूल के 6 घण्टे के संस्कार कम ही महत्व रखते हैं। एक विद्वान् के शब्दों में, **"एक सभ्य, सुसंस्कृत तथा धर्मपरायण माता बच्चे को जो शिक्षा दे सकती है, वह 100 अध्यापक भी नहीं दे सकते।"**

माता-पिता इस बात की भी देखभाल नहीं करते कि उनका बच्चा दिन भर गलियों में घूमता है और किन-किन बुरे बच्चों की सोहबत में रहता है। आजकल अधिकांश परिवारों के बच्चों के बिगड़ने का कारण यही है कि इस पारिवारिक कर्त्तव्य की उपेक्षा की जा रही है। आजकल माता-पिता जिन गुरुजनों के पास बच्चों को पढ़ने भेजते हैं, बच्चों के सामने ही स्वयं उनकी निन्दा करते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस प्रकार बच्चों में निन्दा के कुसंस्कार पनप जायेंगे और बड़े होकर वे भी अपने माता-पिता व बड़ों की निन्दा व अनादर करेंगे।

प्रधानाचार्य के नाते मेरा अनेक माता-पिताओं से सम्पर्क आता रहता था। एक मेरे मित्र संरक्षक का बच्चा मेरे कॉलिज में कक्षा 11 में पढ़ता था। कहने लगे कि प्रिंसिपल साहब आप इसका बीड़ी पीना छुड़वा दीजिये, मैं जीवन भर आपका अहसान मानूँगा। मैंने कहा कि आप दिन भर इसके सामने बीड़ी पीते हैं, उसे बाजार भेजकर उससे बीड़ी का बण्डल मंगवाते हैं, तो यह कैसे सम्भव है कि यह बीड़ी छोड़ दे। मैंने कहा मैं एक बार छुड़वा भी दूँगा, परन्तु 18 घण्टे के आपके बीड़ी-पान से युक्त घरेलू वातावरण में यह फिर बीड़ी पीना सीख जायेगा। आप बीड़ी पीना छोड़ दीजिये, बच्चे की इस आदत को छुड़ाने की गारण्टी मैं लेता हूँ। आखिरकार उन्होंने नहीं छोड़ी।

बच्चों के प्रति पारिवारिक कर्त्तव्य की उपेक्षा का यह एक बड़ा गम्भीर पहलू है। यदि परिवार के लोग बच्चों के व्यक्तित्व एवं चरित्र-निर्माण के प्रति ऐसी उपेक्षा जारी रखेंगे, तो जहाँ उनका पारिवारिक जीवन दिन-प्रतिदिन दुःखद समस्याओं से उलझा रहेगा, वहाँ उनके बच्चे भी देश के सच्चे, निष्ठावान व सच्चरित्र नागरिक नहीं बन सकेंगे।

(9) सहयोग व सहकार्य– पारिवारिक सुख व शान्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि परिवार के सब सदस्य सहयोग व पारस्परिक सहायता की भावना से कार्य करें। परिवार के सब सदस्य कभी-कभी एक साथ बैठकर भोजन करें, मिलकर पिकनिक मनायें। घर पर बातचीत तथा घरेलू वातावरण में कोई बन्धन या बनावटीपन न हो जिससे बच्चे स्वच्छता या निर्भयता से रहना सीखें और उनकी मानसिक शक्तियों का पूरा विकास हो।

(10) उत्तम स्वास्थ्य– परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य उत्तम होना चाहिये, तभी वे पारिवारिक उन्नति में अपना योगदान दे सकते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि– **'यह शरीर ही सभी धर्मों का साधन है–** शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।'

(11) कर्त्तव्य-पालन की भावना– परिवार के सभी सदस्यों को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपना-अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये, तभी परिवार का जीवन-स्तर उन्नत रह सकता है। परिवार का आदर्श यह होना चाहिये कि– **"प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाये और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुरूप अधिकार दिये जायें।"**

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, **परिवार एक छोटा सा राज्य है।** परिवार में राज्य के सभी तत्व मूल रूप में पाये जाते हैं। राज्य के समान ही परिवार में भी अधिकारों व कर्त्तव्यों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यदि हम गहराई से दृष्टिपात करें, तो परिवार में अधिकारों व कर्त्तव्यों का जाल-सा बिछा है।

पति-पत्नी का यह अधिकार है कि परस्पर अपनी यौन-भावनाओं की सन्तुष्टि करें। इसके लिये उन्हें परस्पर प्रेम-भाव बनाये रखना चाहिये, परन्तु इस सम्बन्ध में उनका कर्त्तव्य है कि वे संयम का भी पालने करें, अन्यथा उनका तथा उनके परिवार का जीवन दुःखमय हो जायेगा। उनका यह भी कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों का पालन-पोषण तथा उनकी शिक्षा तथा देखभाल का समुचित ध्यान रखें और इस सम्बन्ध में उपेक्षा न बरतें। पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पति की आज्ञा का पालन करे तथा समस्त घरेलू कार्यों को ठीक प्रकार से सम्पन्न करे। उधर पति का कर्त्तव्य है कि वह पत्नी तथा बच्चों को उचित संरक्षण दे तथा उनके पालन-पोषण के लिये पर्याप्त धन तथा वातावरण की व्यवस्था करे।

इस प्रकार बच्चों का यह अधिकार है परिवार में उनके पालन, उनकी शिक्षा, मनोरंजन तथा आवश्यकता के सभी साधनों की समुचित व्यवस्था हो, उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार हो तथा लड़के-लड़कियों को समान समझा जाये। **उधर बच्चों का भी यह कर्त्तव्य है** कि माता-पिता तथा परिवार के बड़े जनों की आज्ञा मानें, उनके प्रति आदर-भाव रखें, उनकी सेवा करें, परिवार के अनुशासन का पालन करें। **प्रायः देखा जाता है कि यदि परिवार का एक सदस्य भी अनुशासनहीन हो जाता है और अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, तो सम्पूर्ण परिवार का जीवन कष्टमय हो जाता है।** यदि परिवार के सभी सदस्य अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करते हैं, तो पारिवारिक जीवन सुखी सम्पन्न बन जाता है और उसके सदस्य समाज व राष्ट्र की सेवा में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान करते हैं।

यदि उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखा जाये तो उससे न केवल पारिवारिक जीवन ही सुखी होगा, बल्कि देश का भी कल्याण होगा और सच्चे व आदर्श नागरिकों का निर्माण हो सकेगा। ये ही एक आदर्श परिवार के गुण हैं।

सीमित परिवार की अवधारणा
(Concept of the Planned or Limited Family)
(जनसंख्या वृद्धि के अभिशाप से मुक्ति का उपाय)

परिवार या कुटुम्ब ऐसा प्राकृतिक समुदाय है, जिसका सदस्य मनुष्य जन्म लेने के साथ ही बन जाता है। स्वाभाविक या प्राकृतिक समुदायों में परिवार को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है।

परिवार या कुटुम्ब मानव समाज का सबसे छोटा, किन्तु ऐसा महत्वपूर्ण समुदाय है, जो इस धरती पर स्वर्ग उतार सकता है। किन्तु धरती पर स्वर्ग उतारने की क्षमता रखने वाला परिवार आज स्वयं अभावों व तनावों से ग्रसित है। अधिकांश परिवार आज न केवल स्वयं दुखी हैं, बल्कि उन्होंने जंगली पेड़-पौधों की तरह असीमित मात्रा में सन्तान वृद्धि करके देश को भी **जनसंख्या वृद्धि के अभिशाप में जकड़ दिया है।**

परिवार तथा देश को इस अभिशाप से मुक्त कराने के लिये ही आज चारों ओर परिवार को सीमित रखने की आवाज बुलन्द हो रही है। **तो आइये ! देखें, कि सुरसा के मुँह की तरह बढ़ते हुए असीमित परिवारों ने किन-किन समस्याओं को जन्म दिया है ? और सीमित या नियोजित परिवार किस प्रकार उन समस्याओं का समाधान कर सुखी मानव-जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है ?**

सीमित परिवार की अवधारणा– क्या और क्यों ?

सन् 1947 में स्वतन्त्र होने के बाद, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से हमारे देश ने हर क्षेत्र में भारी प्रगति की। कृषि क्षेत्र में, खाद्यान्न का उत्पादन विगत 40 वर्षों में बढ़कर तीन गुने से भी अधिक हो गया। सिंचाई का क्षेत्रफल भी लगभग 3 गुना हो गया।

औद्योगिक क्षेत्र में भी, इस अवधि में हमने वहुत प्रगति की। स्वतन्त्रता के समय जहाँ देश में माचिस भी नहीं बनती थी, आज देश के कारखानों में मोटरें, जहाज तथा टैंक तक बनते हैं। देश में व्यापार वढ़ा है, परिवहन व संचार के साधन बढ़े हैं तथा स्वास्थ्य व चिकित्सा की सुविधायें भी बढ़ी हैं। कुल राष्ट्रीय आय वढ़ी है।

परन्तु आर्थिक क्षेत्र में इतनी प्रगति के बावजूद, देश में आज भी गरीबी है, बेरोजगारी है, मंहगाई है। इतनी प्रगति के बाद भी देश की 40% आवादी गरीवी की रेखा से नीचे जीवन गुजार रही है। करोड़ों लोग बेरोजगार मारे-मारे फिर रहे हैं। सामाजिक जीवन में बेचैनी व अस्थिरता है। उत्पादन बढ़ने के वावजूद, महंगाई घटने का नाम नहीं लेती।

आप जानते हैं इस विरोधाभास का कारण क्या है ? इसका एकमात्र तथा सबसे महत्वपूर्ण कारण है– **परिवार में सन्तान की असीमित वृद्धि तथा उसके कारण देश की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि।** हर 10 वर्ष हमारे देश की जनसंख्या में 25% वृद्धि हो जाती है।

सच्चाई तो यह है कि **आज हामरे परिवार, परिवार न रहकर सन्तानोत्पत्ति के कारखाने बन गये हैं।** परिवार में सन्तान जंगली पेड़-पौधों की तरह बेतरतीब रूप में बढ़ती जाती है, जिसका परिणाम होता है कि बच्चों का न तो ठीक प्रकार पालन-पोषण हो पाता है और न उनकी शिक्षा, मनोरंजन व चिकित्सा आदि का प्रवन्ध।

हमारी आर्थिक विकास की उपलब्धियों को जनसंख्या की तीव्र वृद्धि ने नगण्य बना दिया है। परिवार में जैसे-जैसे बच्चों की संख्या बढ़ती जाती है, वाद के बच्चों की गुणवत्ता उतनी ही कम होती जाती है।

परिवार में सन्तान की इस तीव्र वृद्धि ने परिवार का जीवन-स्तर तो गिराया ही है, देश के सामने भी जनसंख्या वृद्धि में उत्पन्न अनेक समस्यायें ला खड़ी की हैं। यही कारण है कि आज चारों ओर से परिवार को **सीमित व नियोजित करने की आवाजें बुलन्द हो रही हैं और इन्हीं परिस्थितियों से सीमित परिवार की अवधारणा का जन्म हुआ है।**

सीमित परिवार का अर्थ

सीमित परिवार का अर्थ है कि परिवार में बच्चों की संख्या जंगल के पेड़-पौधों की तरह अंधाधुंध एवं बेतरतीब ढंग से न बढ़े, अपितु परिवार को इस प्रकार नियोजित किया जाए कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को उचित सुख-सुविधायें प्राप्त हो सकें।

अन्य शब्दों में, प्रत्येक परिवार में बच्चों की संख्या सीमित हो तथा बच्चों का जन्म इतने अन्तर से हो कि आने वाले प्रत्येक बच्चे का पालन-पोषण व शिक्षा आदि की व्यवस्था समुचित प्रकार से की जा सके, वह स्वस्थ व सुखी जीवन बिता सके और माता-पिता पर भार न बने। डॉक्टर तथा अर्थशास्त्री भी दो या तीन बच्चे वाले परिवार को सीमित परिवार या श्रेष्ठ परिवार मानते हैं।

भारत की वर्तमान स्थिति को देखते हुए प्रत्येक परिवार में केवल दो बच्चे ही होने चाहियें और उसे ही हम सीमित परिवार' की संज्ञा दे सकते हैं। सीमित परिवार ही सुख का आधार तथा स्वर्ग के समान होता है।

विद्वानों एवं कवियों ने परिवार को दो बच्चों तक ही सीमित रखने की अवधारणा को निम्न पद्यों में व्यक्त किया है–

(1) पूत कपूत अगर हों चार,
समझो दुखिया सब परिवार।
पूत सपूत अगर हों दो,
जी करता है जीने दो।।1।।

(2) दो हों हमारे, दो हों हम।
इससे ज्यादा नाक में दम।।2।।

(3) दो बच्चों से हँसता बचपन।
दुख ही दुख, जो होगी पल्टन।।3।।

(4) दो हों तो काहे की खिट-खिट।
नम्बर तीन है दुख का परमिट।।4।।

(5) दो तक तो है सुखी जहान।
दो के आगे आफत में जान।।5।।

असीमित परिवार की हानियाँ व उत्पन्न समस्यायें

आज हमारे देश में परिवार में सदस्यों की असीमित वृद्धि के कारण जहाँ अनेक नई-नई समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं, वहाँ परिवार, समाज व देश को अनेक हानियाँ उठानी पड़ रही हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

(1) परिवार में गरीबी– जब परिवार में कमाने वाला तो एक ही होता है किन्तु बच्चों की संख्या बढ़कर आठ-आठ दस-दस हो जाती है तो परिवार की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो जाती है और वह परिवार गरीबी के चंगुल में फंस जाता है। यही कारण है कि आज देश की 40% जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन गुजार रही हैं

(2) पालन-पोषण ठीक नहीं– परिवार यदि सीमित न हो और बच्चों की संख्या निरन्तर वृद्धि पर हो तो सीमित आय के कारण बच्चों का पालन-पोषण ठीक प्रकार नहीं हो पाता। उन्हें पर्याप्त पौष्टिक भोजन व दूध आदि नहीं मिल पाता तथा चिकित्सा के अभाव में बच्चों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। बीमार व कमजोर बच्चे देश के लिये अभिशाप सिद्ध होते हैं। आज पोषण व उपचार के अभाव में देश में प्रतिवर्ष 30 हजार बच्चे अपनी आँखें खो बैठते हैं।

(3) शिक्षा की व्यवस्था नहीं– अधिक बच्चों वाले परिवार में सीमित आय के कारण बच्चों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं हो पाता। माता-पिता अल्पायु में ही उन्हें काम पर लगा देते हैं जहाँ बच्चों का शोषण होता है।

यदि सभी असीमित परिवार अपने बच्चों को शिक्षा देना भी चाहें, तो भी इतनी मात्रा में स्कूलों की व्यवस्था होनी संभव नहीं है। परिणाम यह है कि देश में अशिक्षितों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है।

उदाहरण के लिए, सन् 1961 में भारत में साक्षरता का प्रतिशत 24 था तथा अशिक्षित लोगों की संख्या 33 करोड़ थी। किन्तु सन् 1981 में यद्यपि साक्षरता का प्रतिशत तो 24 से बढ़ कर 36 हो गया किन्तु बच्चों की संख्या की तीव्र वृद्धि के कारण अशिक्षित लोगों की संख्या 33 करोड़ से बढ़कर 44 करोड़ हो गयी, जबकि साक्षरता का प्रतिशत बढ़ने पर अशिक्षित जनता की संख्या घटनी चाहिए थी।

और 1991 की जनगणना के अनुसार, भारत में साक्षरता का प्रतिशत बढ़कर 52 हो गया किन्तु फिर भी लगभग 41 करोड़ लोग अशिक्षित हैं।

(4) जीवन-स्तर नीचा– परिवार में बच्चों की असीमित वृद्धि के कारण परिवार के लोगों को पर्याप्त व पौष्टिक भोजन नहीं मिलता। बीमारी में चिकित्सा सुविधायें नहीं मिलतीं। शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाती। फलतः कार्यक्षमता कम हो जाती है जिससे आय घटती है। परिणामस्वरूप, परिवार का जीवन-स्तर गिर जाता है।

(5) मकानों की समस्या– असीमित परिवार के कारण देश में प्रतिवर्ष $1\frac{1}{4}$ करोड़ जनसंख्या बढ़ जाती है जिसके लिये हर वर्ष 25 लाख मकान चाहियें। मकानों की कमी के कारण ही देश के 70% लोग एक कमरे वाले मकान में रहते हैं। आवास की दिन प्रतिदिन विकट होती समस्या से परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य, कार्यक्षमता व जीवन-स्तर गिरता है।

विद्वानों का कहना है कि यदि परिवारों में सदस्यों की संख्या इसी गति से बढ़ती रही तो 500 वर्ष के पश्चात् लोगों को पृथ्वी पर खड़े होने की भी जगह नहीं मिलेगी।

इसी तथ्य को हास्य कवि काका हाथरसी ने निम्न पद में व्यक्त किया है–

यदि यही रहा क्रम बच्चों के उत्पादन का,
तो कुछ सवाल आगे आयेंगे– बड़े-बड़े।
सोने को किंचित् जगह धरा पर मिले नहीं,
मजबूरन हम तुम सब सोयेंगे खड़े-खड़े।।

(6) असीमित परिवारों की देन– परिवारों में सदस्यों की असीमित वृद्धि के कारण ही आज देश के समक्ष जनसंख्या की समस्या चुनौती बनकर खड़ी है, जिसके कारण अनेक समस्याओं का आज देश को सामना करना पड़ रहा है, जैसे गरीबी व बेरोजगारी की समस्या, खाद्य व महँगाई की समस्या, कानून व व्यवस्था में बिगाड़ की समस्या, शिक्षा व आवास की समस्या तथा जीवनोपयोगी सुविधाओं के अभाव की समस्या, आदि।

सीमित परिवार के मार्ग की बाधाएं

परिवारों को सीमित रखने के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाएं निम्न प्रकार हैं–

(1) सामाजिक व धार्मिक अन्ध-विश्वास– कुछ वर्गों व जातियों के लोग सन्तति-निरोध को धर्म विरुद्ध मानते हैं तथा इसके प्रति उदासीन रहते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की करोड़ों महिलाएँ आज भी 'दूधो नहाओ, पूतो फलो' के सिद्धान्त में विश्वास करती हैं। ये सारे अन्ध-विश्वास सीमित परिवार को असीमित परिवारों में बदल देते हैं।

(2) अशिक्षा– देश में 48% लोग अशिक्षित हैं। इस अशिक्षा व अज्ञानता के कारण सीमित परिवार की अवधारणा लोगों के गले नहीं उतर रही है। सीमित या नियोजित परिवार की अज्ञानता के कारण दम्पति शिशुओं को बराबर जन्म देते रहते हैं।

(3) बाल-विवाह– छोटी आयु में विवाह होने पर परिवार में बच्चों की संख्या अधिक बढ़ती है। यद्यपि कानून द्वारा विवाह की न्यूनतम आयु लड़के के लिए 21 वर्ष तथा लड़की के लिए 18 वर्ष निर्धारित है किन्तु फिर भी, गाँवों तथा कस्बों में आज भी हजारों बाल-विवाह होते हैं और न जाने कितनी अबोध बच्चियाँ युवा होने से पहले ही दुल्हन बना कर घर-गृहस्थी के जंजाल में जकड़ दी जाती हैं जिससे कम उम्र से सन्तानोत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। बाल-विवाह की प्रथा कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, बिहार, उत्तर प्रदेश व राजस्थान में अधिक है।

(4) बहु-पत्नी प्रथा– भारत की कुछ जातियां में कई-कई पत्नियाँ रखने की प्रथा है और उनका धर्म उन्हें ऐसा करने की अनुमति देता है। इससे परिवार में बच्चों की असीमित रूप में वृद्धि होती रहती है।

(5) बाल-श्रमिक प्रथा– गरीब परिवारों में छोटे-छोटे बच्चों से मजदूरी कराई जाती है। अतः बाल-श्रमिक प्रथा के कारण गरीबों में परिवार-वृद्धि को आर्थिक लाभ के रूप में देखा जाता है। इससे परिवार में बच्चों की संख्या बढ़ाने को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) संयमी जीवन का अभाव– वर्तमान भौतिकवादी एवं वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं के युग में लोगों का जीवन संयमी न रह कर विलासितापूर्ण बन गया है। इससे स्वभावतः ही अधिक सन्तानोत्पत्ति होती है और परिवार सीमित या नियोजित नहीं रहता।

सीमित परिवार के लाभ

सीमित परिवार के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं–

(1) सुखी जीवन– दो या तीन बच्चों तक सीमित रहने वाला परिवार सुखी परिवार माना जाता है। छोटे परिवार में कम आय में भी परिवार की सभी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं। बच्चों का पालन-पोषण आदि ठीक प्रकार से होता है। फलतः सभी सदस्य सुखी व सन्तुष्ट रहते हैं।

(2) अच्छा स्वास्थ्य– सीमित परिवार में सभी सदस्यों को पौष्टिक व पर्याप्त भोजन मिलना सम्भव होता है तथा चिकित्सा की सुविधायें प्राप्त करना भी सम्भव होता है। अतः परिवार के सभी सदस्यों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

(3) जीवन-स्तर ऊँचा– सीमित परिवार में पौष्टिक व पर्याप्त भोजन, अच्छी शिक्षा व चिकित्सा आदि की सुविधायें उपलब्ध रहती हैं। अतः सीमित परिवार में रहन-सहन का स्तर ऊँचा पाया जाता है।

(4) गरीबी नहीं– सीमित परिवार में कम आय में भी परिवार के सदस्यों की जरूरतें पूरी हो जाती हैं। अतः सीमित परिवार में गरीबी नहीं पायी जाती। गरीबी में तो असीमित परिवार ही जकड़े रहते हैं।

(5) बेरोजगारी का अन्त– सीमित परिवार में सीमित बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का अच्छा प्रबन्ध करके उन्हें नौकरी या किसी व्यवसाय में आसानी से लगाना सम्भव होता है। किन्तु असीमित परिवार के बहुसंख्यक युवा बेरोजगारी के शिकार बने रहते हैं।

(6) विकास की गति तीव्र– असीमित परिवारों के कारण जब जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती है तो देश के सारे साधन बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये रोटी, कपड़ा और मकान जुटाने में ही लग जाते हैं जिससे देश के आर्थिक विकास की गति मन्द पड़ जाती है। किन्तु सीमित परिवारों की स्थिति में ऐसा नहीं होता।

(7) जीवनोपयोगी सुविधाओं की उपलब्धता– सीमित परिवारों की स्थिति में देश की जनसंख्या भी नियन्त्रित तथा नियोजित रहती है। फलतः देश की जनसंख्या के लिये यथेष्ट मात्रा में खाद्यान्न, रोजगार, शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करना सरल होता है। सीमित जनसंख्या को महँगाई की प्रसव पीड़ा भी नहीं सहनी पड़ती।

(8) कानून व व्यवस्था में सुधार– असीमित परिवारों के कारण बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि होती है। इन बेरोजगार युवकों को जब जीविका का कोई साधन नहीं मिलता तो ये पथभ्रष्ट हो जाते हैं और उनमें से अनेक लूट-पाट, डकैती, हिंसा व आतंकवाद जैसे दुष्कर्मों में लग जाते हैं। आज देश में ऐसी वारदातें बढ़ने का एक प्रमुख कारण असीमित परिवार-वृद्धि ही है.

सीमित परिवार की स्थिति में देश की जनसंख्या भी नियन्त्रित रहती है, बेरोजगारी अधिक नहीं बढ़ती। अतः देश में कानून व व्यवस्था की स्थिति में बिगाड़ आना सम्भव नहीं होता।

सीमित परिवार के उपाय या साधन

सीमित परिवार आज देश की सर्वप्रमुख आवश्यकता है। सीमित परिवार ही वह समाधान है जिसके द्वारा देश की अनेक समस्याओं को हल किया जा सकता है। **प्रश्न यह है कि देश में परिवारों को सीमित या नियोजित कैसे रखा जाय ?** क्या उपाय तथा साधन अपनाये जायें अथवा क्या उपाय किये जायें कि देशवासियों को सीमित परिवार रखने की प्रेरणा मिले ? ऐसे प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं–

(1) शिक्षा का प्रसार– देश में शिक्षा का विस्तार तेजी से किया जाना चाहिये तथा शिक्षा में जनसंख्या से सम्बन्धित बातें बच्चों को प्रारम्भिक स्तर से ही बताई जानी चाहियें ताकि बच्चे प्रारम्भ से ही असीमित परिवार के खतरों व सीमित परिवार के लाभों को समझ सकें।

(2) विवाह की आयु– कानून बनाकर विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाकर लड़कियों के लिये 21 वर्ष और लड़कों के लिये 24 वर्ष की जानी चाहिये। अनुमान है कि ऐसा करने पर 20 वर्ष की अवधि में जन्म दर 33 से घटकर 24 हो जायेगी।

(3) बाल-विवाह पर रोक– बाल-विवाह को दण्डनीय अपराध माना जाना चाहिये। लोगों को इस बात का अहसास कराया जाना चाहिये कि बाल-विवाह जहाँ बच्चों के जीवन से खिलवाड़ है, वहाँ सामाजिक व्यवस्था के नाम पर कलंक है।

(4) असीमित सन्तान वृद्धि पर रोक– परिवार में तीन बच्चे होने के बाद सन्तानोत्पत्ति पर कानूनी रोक लगाई जानी चाहिये। यह रोक देश-हित में सभी जातियों तथा वर्गों पर समान रूप से लागू की जानी चाहिये। इसमें सामाजिक या धार्मिक अन्ध-विश्वास बाधक नहीं बनने देना चाहिये। इसके लिये तीन बच्चों के बाद अनिवार्य नसबन्दी की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(5) सामाजिक चेतना– समाज में प्रचलित गलत मान्यताओं (जैसे लड़कों को अच्छा व लड़की को बुरा समझना, सन्तानोत्पत्ति निरोध को धर्म विरुद्ध मानना आदि) के विरुद्ध समाज में जागरण पैदा किया जाना चाहिये। 'दूधों नहाओ, पूतों फलो' की बजाय 'दूधो नहाओ, सीमित परिवार अपनाओ' के पक्ष में लोगों में चेतना पैदा की जानी चाहिये।

(6) बाल-श्रमिकों पर रोक– बाल-श्रमिक प्रथा से अधिक सन्तानोत्पत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अतः इस प्रथा पर कानूनी रोक लगाई जानी चाहिये ताकि बच्चों का शोषण और बच्चों की असीमित वृद्धि रुके।

(7) बहुपत्नी प्रथा पर रोक– भारत में किसी भी जाति या वर्ग को धर्म परम्परा के नाम पर बहुपत्नी प्रथा की छूट नहीं दी जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार होना चाहिये और बहुपत्नी प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये।

(8) आत्म-संयम को प्रोत्साहन– परिवारों को सीमित या नियोजित रखने का सर्वोत्तम प्राकृतिक उपाय आत्म-संयमी जीवन है। अतः इस बात का समुचित प्रचार किया जाना चाहिये कि अच्छे स्वास्थ्य, अच्छी कार्यक्षमता, अच्छे पारिवारिक जीवन तथा देश के सुखद भविष्य के लिये संयमी जीवन की कितनी अधिक उपयोगिता है।

(9) ग्रामों में परिवार नियोजन का प्रचार– ग्रामों में सीमित परिवार या नियोजित परिव या परिवार नियोजन की उपयोगिता का खूब प्रचार किया जाना चाहिये और लोगों को इसके लि मनोवैज्ञानिक ढंग से तैयार किया जाना चाहिए।

परिवार नियोजन या नियोजित परिवार
(Family Planning or Planned Family)

परिवार नियोजन का अर्थ है परिवार को दो या तीन बच्चों तक सीमित रखना। परिव नियोजन द्वारा परिवार को इस प्रकार सीमित रखा जाता है कि परिवार के सभी सदस्य आर्थि तथा शारीरिक दृष्टि से सुखी रहें। परिवार-नियोजन को ही परिवार-कल्याण या नियोजित-परिव अथवा सीमित परिवार का नाम भी दिया जाता है।

परिवार नियोजन के उद्देश्य

भारत में परिवार नियोजन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) बच्चे का जन्म अपनी इच्छा से हो न कि संयोग से,

(2) बच्चों के जन्म के बीच पर्याप्त वर्षो का अन्तर रखा जाये,

(3) दो या तीन बच्चों से आगे नहीं बढ़ा जाए।

ताकि परिवार हर दृष्टि से सुखी, सम्पन्न व समृद्ध रहे और देश के सामने उत्प जनसंख्या-विस्फोट की विकराल समस्या का समाधान हो जाये।

योजनाओं में परिवार नियोजन पर व्यय

पंचवर्षीय योजनाओं में इन कार्यक्रमों पर भारी धन व्यय किया गया जिसका विवर निम्नांकित तालिका में है–

योजना	धनराशि (करोड़ रु० में)
प्रथम योजना (1951–56)	0.14
द्वितीय योजना (1956–61)	2.16
तृतीय योजना (1961–66)	24.86
तीन वार्षिक योजनायें (1966–69)	70.46
चौथी योजना (1969–74)	284.41
पाँचवीं योजना (1974–78)	408.98
छठी योजना (1980–85)	1010.00
सातवीं योजना (1985–90)	5649.20

देश में परिवार नियोजन की सुविधायें

इस समय हमारे देश में 5,428 ग्रामीण परिवार नियोजन केन्द्र, 57,638 उपकेन्द्र तथा 1,766 शहरी परिवार नियोजन केन्द्र हैं। देश में 400 जिला परिवार केन्द्र ब्यूरो तथा 450 प्रसवोत्तर सेवा केन्द्र भी हैं। इसके अतिरिक्त अप्रैल 1972 से गर्भपात को कानूनी मान्यता दे दी गई है तथा रेडियो, दूरदर्शन, समाचार-पत्रों, चल-चित्रों एवं नाटक-गीतों आदि के द्वारा सीमित या नियोजित परिवार के लाभों का व्यापक प्रचार किया जा रहा है।

निष्कर्ष (Conclusion)

स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शब्दों में, "नियोजित परिवार एक आन्दोलन बन जाना चाहिये जो लोगों का, लोगों के द्वारा और लोगों के लिये हो, क्योंकि हम अपने बच्चों को ऐसा संसार देना चाहिते हैं जो हमारे आज के अपने संसार से हर लिहाज से बेहतर, खूबसूरत और खुशहाल हो।"

अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज के सभी जातियों तथा वर्गों के लोग अपने हित में, अपने परिवार के हित में तथा अपने देश के हित में सीमित या नियोजित परिवार की अवधारणा को स्वेच्छा से अपनायें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

(1) "कुटुम्ब मानवीय समुदाय की मूल इकाई है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। **(1968)**

(2) "कुटुम्ब सामाजिक जीवन की अनिवार्य पाठशाला है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये। **(1971)**

(3) परिवार का क्या अर्थ है ? सामाजिक जीवन में परिवार का क्या महत्व है ?

(4) सुखी पारिवारिक ज़ीवन के लिये आवश्यक दशाओं का विवरण दीजिये।

(5) एक आदर्श परिवार में कौन-कौन से गुण होने चाहियें ?

(6) परिवार को "सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला" क्यों कहा जाता है ? **(1985)**

(7) सीमित परिवार की अवधारणा क्या है ? सीमित परिवार के लाभ बताइये।

(8) "परिवार नागरिक गुणों की प्रथम पाठशाला है।" व्याख्या कीजिए। **(1989, 92)**

(9) सीमित परिवार की अवधारणा से क्या तात्पर्य है ? सीमित परिवार की बाधाओं का उल्लेख करते हुए सीमित परिवार के लाभों का विवरण दीजिए।

(10) परिवार को आदर्श एवं सुखी बनाने के लिये किन-किन गुणों की आवश्यकता होती है ? **(1991)**

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– परिवार की कोई एक परिभाषा दो।

उत्तर– "परिवार एक ही छत के नीचे निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो अपने मूल तथा रक्त सम्बन्धी बन्धन में आबद्ध होता है तथा एक ऐसी सामान्य चेतना से पूर्ण होता है, जिसका आधार स्थान, हित, पारस्परिक कृतज्ञता तथा अन्योन्याश्रितता है।"

डी० ए० मजूमदार

प्रश्न 2– परिवार के प्रमुख कार्य कौन-से हैं ?

उत्तर– परिवार के प्रमुख कार्य हैं–

(i) विवाह सम्बन्ध की स्थापना, (ii) बच्चों का पालन-पोषण, (iii) मकान, भोजन व वस्त्र की व्यवस्था, (iv) आर्थिक कार्य, (v) शिक्षा सम्बन्धी कार्य, (vi) धार्मिक व सामाजिक कार्य, (vii) मनोरंजन के कार्य व (viii) नागरिक कार्य।

प्रश्न 3– सीमित परिवार का क्या अर्थ है ?

उत्तर– सीमित परिवार का अर्थ है कि परिवार में बच्चों की संख्या जंगल के पेड़-पौधों की तरह अन्धाधुन्ध एवं बेतरतीब ढंग से न बढ़े, अपितु परिवार को इस प्रकार नियोजित किया जाए कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को उचित सुख सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।

प्रश्न 4– सीमित परिवार के मार्ग की बाधाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– ये हैं– (i) सामाजिक व धार्मिक अन्ध-विश्वास, (ii) बाल विवाह, (iii) बहुपत्नी प्रथा, (iv) संयमी जीवन का अभाव, (v) अशिक्षा, (vi) बाल श्रमिक प्रथा।

प्रश्न 5– सीमित परिवार के लाभ बताइये।

उत्तर– सीमित परिवार के लाभ हैं– (i) सुखी जीवन, (ii) अच्छा स्वास्थ्य, (iii) ऊँचा जीवन स्तर, (iv) गरीबी व बेराजगारी का अन्त, (v) जीवनोपयोगी सुविधाओं की प्राप्ति, (vi) कानून व व्यवस्था में सुधार।

प्रश्न 6– क्या कुटुम्ब नागरिकता की आधारभूत पाठशाला है ?

उत्तर– हाँ, परिवार उन गुणों को जागृत तथा विकसित करता है जो बच्चे में जन्म से ही विद्यमान होते हैं। परिवारीयजनों के व्यवहार से ही छोटा बालक स्नेह, सहानुभूति, त्याग, सेवा की भावना व पारस्परिक सहयोग का पाठ सीखता है। परिवार ही बच्चों में आज्ञा-पालन व अनुशासन की भावना को जन्म देता है।

प्रश्न 7– संयुक्त परिवार के चार गुण तथा दोष लिखो।

उत्तर– चार गुण– (i) सम्मानजनक व प्रभावशाली, (ii) असहायों का सहायक, (iii) नैतिक स्तर ऊँचा, (iv) ज्ञानार्जन व सांस्कृतिक उत्थान में सहायक।

चार दोष– (i) कलह का केन्द्र, (ii) आर्थिक संकट की सम्भावना, (iii) परिवार नियोजन का विरोधी, (iv) स्त्रियों की दशा व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास। (प्रत्येक पर एक-एक वाक्य बनाकर लिख दीजिये।)

प्रश्न 8– आदर्श एवं सुखी परिवार के लिए आवश्यक गुण या शर्तें बताओ।

उत्तर– (i) छोटा व नियोजित परिवार, (ii) उत्तम स्वास्थ्य व शिक्षा, (iii) कर्त्तव्यपालन की भावना, (iv) अच्छा मकान, (v) अच्छी आर्थिक स्थिति, (vi) स्त्रियों का आदर, (vii) युवकों व वृद्धों की भावनाओं में तालमेल।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– परिवार की एक परिभाषा बताओ।

उत्तर– मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रकृति द्वारा स्थापित समुदाय को परिवार कहते हैं।

प्रश्न 2– संयुक्त परिवार प्रथा के दो गुण तथा दो दोष बताओ।

उत्तर– गुण– (i) आपातकाल में सुरक्षा, (ii) उच्च नैतिक स्तर।

दोष– (i) कलह का केन्द्र, (ii) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास।

प्रश्न 3– सुखी अथवा आदर्श परिवारिक जीवन की दो दशायें बताइये। (1990)

उत्तर– ये हैं– (i) सुदृढ़ आर्थिक स्थिति, (ii) उचित शिक्षा।

प्रश्न 4– बालक को शिक्षा प्रदान करने वाली सबसे पहली पाठशाला कौन-सी है ?

उत्तर– परिवार।

प्रश्न 5– उस समुदाय का नाम बताइये जिसके सम्पर्क में व्यक्ति जीवन भर और सबसे अधिक रहता है।

उत्तर– परिवार।

प्रश्न 6– परिवार का आकार छोटा क्यों होना चाहिये ?

उत्तर– ताकि पारिवारिक जीवन सुखी व सफल बना रहे।

प्रश्न 7– परिवार के दो कार्य लिखिये।

उत्तर– (i) आवश्यकताओं की पूर्ति, (ii) सन्तानोत्पत्ति।

प्रश्न 8– आदर्श परिवार के दो गुण लिखिये।

उत्तर– (i) सेवा व सहयोग की भावना, (ii) आज्ञापालन।

प्रश्न 9– सीमित परिवार का क्या अर्थ है ?

उत्तर– सीमित परिवार का अर्थ है परिवार को दो या तीन बच्चों तक सीमित रखना ताकि परिवार के सभी सदस्य आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से सुखी रहें।

□□

7

नागरिक और नागरिकता
(Citizen and Citizenship)

"मैं अपने स्वयं के हित से अपने परिवार के हित को, अपने परिवार के हित से अपने देश के हित को और अपने देश के हित से मानवता के हित को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।" —प्रो० इलियास अहमद

"निर्धनता– आदर्श नागरिकता के मार्ग का सबसे भयंकर शत्रु है।" —डॉ0 एलेम्बर्ट

इस अध्याय में क्या है ?

(1) नागरिक का शाब्दिक अर्थ, (2) नागरिक का प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक अर्थ, (3) नागरिक की प्रमुख परिभाषायें, (4) नागरिकों के भेद, (5) नागरिक के तत्व, (6) नागरिक और मतदाता, (7) विदेशी का अर्थ तथा भेद, (8) नागरिक और विदेशी में अन्तर, (9) नागरिकता का अर्थ, (10) नागरिकता की प्रमुख परिभाषायें, (11) नागरिकता के तत्व तथा महत्व, (12) नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ, (13) नागरिकता का लोप या समाप्ति, (14) आदर्श नागरिकता, (15) आदर्श नागरिकता के तत्व या आदर्श नागरिकता के गुण, (16) कर्त्तव्यों का उचित क्रम-निर्धारण, (17) आदर्श नागरिकता के मार्ग की वाधायें, (18) उन्हें दूर करने के उपाय, (19) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (20) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

पिछले अध्याय में हम पढ़ चुके हैं कि अच्छे एवं आदर्श नागरिकों का निर्माण करना नागरिकशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। अच्छे जागरूक व कर्त्तव्यपरायण नागरिक अपने देश को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा सकते हैं और आलंसी व कर्त्तव्यहीन नागरिकों के कारण देश गुलाम वन जाता है।

उस स्थिति में हमारे लिये यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि **नागरिक और नागरिकता** से क्या आशय है ? आदर्श नागरिक किसे कहते हैं, आदि ? **फिर हम अपने जीवन को इस कसौटी पर कसकर देखें कि क्या हम अच्छे व आदर्श नागरिक हैं ?** इस अध्याय में अव हम इन्हीं सव तत्वों की विवेचना करेंगे।

नागरिक का अर्थ
(Meaning of Citizen)

(1) 'नागरिक' का शाब्दिक अर्थ– वोलचाल की भाषा में नागरिक का शाब्दिक अर्थ **'नगर में रहने वाले व्यक्ति'** से होता है। जो लोग नगर से बाहर अर्थात् गाँवों में रहते हैं उन्हें **'ग्रामीण'** कहा जाता है। किन्तु नागरिकशास्त्र में 'नागरिक' शब्द का शाब्दिक अर्थ नहीं लिया जाता, क्योंकि यह अर्थ अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण प्रकट करता है। 'नागरिक' शब्द नागरिकशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका विशिष्ट अर्थ किया जाता है।

यहाँ हम यह देखेंगे कि पारिभाषिक दृष्टिकोण से 'नागरिक' शब्द का अर्थ प्राचीन समय से अव तक किस प्रकार विस्तृत होता रहा है।

(2) 'नागरिक' का प्राचीन अर्थ– नागरिक शब्द की प्राचीन परिभाषा यूनान ने की है। वहाँ केवल नगर-राज्यों में रहने वाले पुरुषों को नागरिक कहा जाता था। इन नगर-राज्यों के तीन प्रकार के निवासी थे– **(i) नागरिक–** जिन व्यक्तियों को राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते थे, वे नागरिक कहलाते थे। स्त्रियाँ शासन-कार्य में भाग न लेती

थीं। उनका क्षेत्र घर था इसलिये वे नागरिक न थीं। (ii) दास– राज्य के गुलाम व्यक्तियों को बाजारों में खरीदा व बेचा जाता था, अतः वे भी नागरिक नहीं समझे जाते थे। इनका कार्य बहुधा नागरिकों की सेवा करना होता था। (iii) विदेशी– जिनकी जान-माल की रक्षा तो की जाती थी, परन्तु उनकी राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

इसी कारण प्राचीन विद्वान् अरस्तू ने 'नागरिक' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है कि **"नागरिक वह व्यक्ति है जिसे राज्य के शासन में भाग लेने का तथा राज्य द्वारा प्रदत्त सम्मान का उपभोग करने का अधिकार है।"**

"A citizen is one who has a share in the government of the State and is entitled to enjoy its honours."

—Aristotle

स्पष्ट है कि नागरिक शब्द की यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित है, क्योंकि इसमें नगर-निवासी को ही नागरिक माना जाता था और उसमें भी स्त्रियाँ तथा नौकर (दास) नागरिक नहीं माने जाते थे।

नागरिक
1. नागरिक का शाब्दिक अर्थ
2. नागरिक का प्राचीन अर्थ
3. नागरिक का मध्यकालीन अर्थ
4. नागरिक का आधुनिक अर्थ।

(3) 'नागरिक' का मध्यकालीन अर्थ– यूनान के पतन के बाद रोमन साम्राज्य का युग आया। समय के साथ-साथ 'नागरिक' की परिभाषा में भी परिवर्तन आया। इस युग में भी दासों और स्त्रियों को नागरिकता नहीं प्राप्त होती थी, पर नागरिकता का क्षेत्र कुछ व्यापक हुआ। इस काल में नगर व देहाती स्थानों के रहने वाले वे लोग नागरिक माने जाते थे जो राजनीतिक तथा न्याय सम्बन्धी अधिकारों से अलंकृत थे। यह भी 'नागरिक' का संकीर्ण दृष्टिकोण था।

(4) 'नागरिक' का आधुनिक अर्थ– युग-परिवर्तन के साथ 'नागरिक' शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हुआ। आज का युग प्रजातन्त्र का युग है, दास-प्रथा समाप्त हो चुकी है, नारियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलने लगे हैं, सभी लोग राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं के पाने के अधिकारी हैं और कानून की दृष्टि में सभी समान हैं।

"आज नागरिक उस स्त्री या पुरुष को कहा जाता है जो अपने राज्य के अन्तर्गत किसी भी स्थान का निवासी हो, जिसे राज्य की ओर से सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो अपने राज्य के प्रति राजभक्ति एवं निष्ठा का भाव रखता हो।" चाहे कोई व्यक्ति अमीर हो अथवा गरीब, नगर अथवा देहात का निवासी हो, किसी भी जाति अथवा धर्म को मानने वाला हो, स्त्री अथवा पुरुष हो, नागरिक होने की शर्तों को यदि वह पूरा करता है, तो वह 'नागरिक' कहा जा सकता है।

'नागरिक' की प्रमुख परिभाषायें (Main Definitions)

'नागरिक' की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) सीले के शब्दों में– **"नागरिक उस व्यक्ति को कहते हैं जो राज्य के प्रति निष्ठावान हो, जिसे नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो समाज की सेवा की भावना से प्रेरित हो।"**

"A citizen is defined as one who owes allegiance to the state, has access to the civil and political rights and is inspired with a spirit of service to the community."

—Prof. Seeley

(2) प्रो० लास्की के अनुसार– **"नागरिक उस व्यक्ति को कहते हैं जो न केवल समाज का सदस्य हो, बल्कि उसके आदेशों को बिना संकोच के मानता हो और अपने कुछ कर्त्तव्यों का यन्त्रवत् पालन करता हो।"**

"A citizen is one who is not merely member of civil society but is intelligent receiver of orders and performer of certain mechanical duties." **—Laski**

(3) वाटल के शब्दों में– "नागरिक सभ्य समाज के वे सदस्य होते हैं जो कुछ कर्त्तव्यों द्वारा समाज से बंधे हों, जो उसके प्रभुत्व के अधीन रहते हों तथा समाज द्वारा प्रस्तुत सुविधाओं का समान रूप से लाभ उठाते हों।"

"Citizens are the members of the civilized society, bound to this society by certain duties, subjected to its authority and equal participation in its advantages." **—Vattal**

(4) श्रीनिवास शास्त्री के मत में– "नागरिक वह व्यक्ति है जो किसी राज्य का सदस्य हो, जो सम्पूर्ण समाज के उच्चतम नैतिक हित की वृद्धि के साधनों को बुद्धिमानी से समझकर अपने राज्य की सीमा में ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अपने उच्चतम विकास का प्रयास करता रहे।"

तत्व या लक्षण (Elements)

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि नागरिक कहलाने के लिये व्यक्ति में तीन तत्वों या लक्षणों का होना आवश्यक है– (1) वह किसी राज्य का सदस्य हो, (2) उसे राज्य से सभी राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त हों, और (3) राज्य के प्रति निष्ठा रखता हुआ वह अपने कुछ कर्त्तव्यों को पूरा करता हो।

नागरिकों के भेद या श्रेणियाँ
(Kinds of Citizens)

किसी भी देश के नागरिकों को निम्नलिखित् चार वर्गों में बाँटा जा सकता है–

(1) अल्पवयस्क नागरिक– ये ऐसे नागरिक होते हैं जिनको उनकी अल्प आयु के कारण राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। वे केवल सामाजिक अधिकारों का ही उपभोग कर सकते हैं अधिकतर देशों में मतदान करने की आयु 21 वर्ष और कहीं-कहीं 18 वर्ष निर्धारित है। अपने देश में भी यह आयु 21 वर्ष थी; किन्तु, दिसम्बर 1988 में संविधान में 62वाँ संशोधन करके मतदान करने की आयु 18 वर्ष कर दी गई। इस आयु को प्राप्त करने पर ही इन्हें पूर्ण नागरिक कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इनकी नागरिकता निर्धारित न्यूनतम आयु की प्राप्ति तक स्थगित रहती है।

नागरिकों की श्रेणियाँ

1. अल्पवयस्क नागरिक
2. मताधिकार-रहित वयस्क नागरिक
3. मताधिकार-प्राप्त वयस्क नागरिक
4. देशीयकृत नागरिक।

(2) मताधिकार-रहित वयस्क नागरिक– ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जो वास्तव में किसी राज्य के सभी अन्य नागरिकों की तरह राजीनतिक एवं सामाजिक अधिकारों का उपभोग करने के योग्य तो हैं, पर किसी विशेष कारण से उन्हें उनके राजनीतिक अधिकारों से राज्य वंचित कर देता है।

शारीरिक या मानसिक कमी अथवा नैतिक अपराधों के कारण इन लोगों को राजनीतिक अधिकारों के उपभोग से रोक दिया जाता है। **पागल, दिवालिये, कोढ़ी, भिखारी या लम्बी सजा पाये हुए व्यक्ति** इस श्रेणी में गिनाये जा सकते हैं। सरकार इनकी जान-माल की रक्षा तो करती है, पर इन्हें देश के शासन में भाग लेने का या मत देने का अधिकार नहीं होता। इन्हें हम अनागरिक भी कह सकते हैं।

(3) मताधिकार प्राप्त वयस्क नागरिक– ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जो उस आयु-सीमा को

पार कर चुके हैं जोकि किसी राज्य में वहाँ के नागरिकों को राजनैतिक अधिकारों का उपभोग करने के लिये निर्धारित की गई होती है और इसके फलस्वरूप ये व्यक्ति राज्य से प्राप्त सभी राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों का प्रयोग कर सकते हैं। इन अधिकारों के बदले में इन्हें राज्य के प्रति भक्ति एवं वफादारी रखनी होती है। भारत में 21 वर्ष की आयु के व्यक्ति मताधिकार पाते थे किन्तु दिसम्बर 1988 से यह 18 वर्ष कर दी गई है।

(4) देशीयकृत नागरिक– जब कोई विदेशी किसी अन्य देश में लम्बी अवधि तक निवास करने के उपरान्त अपने देश की नागरिकता को त्यागकर उस दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण कर लेता है, जहाँ कि वह निवास करने लगा है और इसके लिये वह कुछ ऐसी शर्तें स्वीकार कर लेता है, जोकि नई नागरिकता प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं, तो उस व्यक्ति को वही राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जोकि देशी नागरिकों को मिले होते हैं। ऐसे नागरिक देशीयकृत नागरिक कहलाते हैं।

नागरिक और मतदाता (Citizen and Voter)– उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक नागरिक को निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार नहीं है। यह अधिकार कानून के अनुसार केवल ऐसे वयस्क व्यक्तियों को मिलता है जिनमें भला-बुरा सोचने की शक्ति है और एक निर्धारित न्यूनतम आयु को प्राप्त कर चुके हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक नागरिक निर्वाचक (मतदाता) नहीं होता लेकिन प्रत्येक निर्वाचक (मतदाता) नागरिक होता है। भारत, अमरीका, इंग्लैण्ड आदि विश्व के अधिकांश देशों में सभी नागरिक मतदाता हैं।

विदेशी का अर्थ
(Meaning of Alien)

विदेशी से आशय उस व्यक्ति से लिया जाता है जो उस देश का न हो, बल्कि किसी अन्य देश से आया हो। जब कोई व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने के लिये, भ्रमण के लिये, व्यापार करने के लिये अथवा अन्य किसी कार्य से कुछ समय के लिये किसी अन्य देश में रहने लगता है, तो उस देश में उसे विदेशी कहा जाता है।

विदेशी की स्थिति– विदेशी व्यक्ति को उस देश में जीवन की रक्षा आदि के सामाजिक अधिकार तो प्राप्त होते हैं, किन्तु उन्हें राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। विदेशियों को उस देश के नियमों व कानूनों का पालन करना होता है जिस देश में वे अस्थायी रूप से रहते हैं। देश-हित की दृष्टि से कोई भी सरकार विदेशियों को अपने राज्य में आने से मना कर सकती है। उन्हें राज्य में भूमि खरीदने का अधिकार नहीं होता। युद्धकाल में शत्रु-देश से सम्बन्धित विदेशियों को या तो कैद कर लिया जाता है या उन पर विशेष नजर रखी जाती है। आवश्यकता होने पर विदेशियों को राज्य से बाहर जाने के लिये विवश किया जा सकता है। किन्तु सामान्य स्थिति में विदेशियों के साथ अतिथि जैसा व्यवहार किया जाता है।

विदेशियों के भेद
(Kinds of Alien)

साधारणतः विदेशियों का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जाता है–

(1) अस्थायी विदेशी– अस्थायी विदेशी उन लोगों को कहते हैं जो शिक्षा, भ्रमण या व्यापार आदि के कार्य से कुछ ही समय के लिये किसी दूसरे देश में आकर रह रहे हों।

(2) स्थायी या निवासी विदेशी– जब कुछ लोग कहीं बाहर से आकर किसी देश में बहुत अधिक समय तक रहते हैं और उस देश की नागरिकता प्राप्ति की शर्तों को पूरा कर लेते हैं, तो उनका देशीयकरण करके उस देश का नागरिक बना लिया जाता है। ऐसे लोगों को स्थायी या निवासी विदेशी कहा जाता है।

(3) मित्र देश के विदेशी– मित्र देश के विदेशी उन लोगों को कहते हैं जो उस देश के नागरिक होते हैं जिसके साथ हमारे देश की सरकार के मैत्री-सम्बन्ध होते हैं।

(4) शत्रु देश के विदेशी– जब विदेशी किसी ऐसे देश के नागरिक होते हैं जिसके साथ हमारे देश की शत्रुता या युद्ध-स्थिति होती है, तो उन्हें शत्रु देश के विदेशी कहा जाता है।

विदेशियों के भेद

1. अस्थायी विदेशी
2. स्थायी या निवासी विदेशी
3. मित्र देश के विदेशी
4. शत्रु देश के विदेशी
5. राजदूत।

(5) राजदूत– प्रत्येक देश अन्य देश में अपना एक राजदूत प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करता है। राजदूत तथा उसके कर्मचारीगण को विदेशी माना जाता है। इन्हें अन्य विदेशियों के मुकावले कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। इन पर इनके अपने ही देश के कानून लागू होते हैं। लड़ाई छिड़ने की स्थिति में इन्हें सम्मानपूर्वक इनके देश भेज दिया जाता है। इन्हें पत्र-व्यवहार, भ्रमण तथा कर-मुक्ति आदि की कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त होती हैं।

नागरिक और विदेशी में अन्तर
(Distinction between a Citizen and an Alien)

ऊपर की गई नागरिक और विदेशी की विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि एक नागरिक और विदेशी में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाये जाते हैं–

(1) स्थायी निवासी– नागरिक उस देश का स्थायी निवासी होता है, किन्तु विदेशी किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये उस देश में अस्थायी रूप से रहता है।

(2) प्रभुत्व– नागरिक उस देश के प्रभुत्व को स्वीकार करता है, किन्तु विदेशी उस देश के प्रभुत्व को न मानकर अपने निजी देश के प्रभुत्व की स्वीकार करता है।

(3) राजनीतिक अधिकार– नागरिक को उस देश के समस्त राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु एक विदेशी को नहीं।

(4) निष्ठा– नागरिक अपने देश के प्रति निष्ठा रखता है, किन्तु विदेशी उस देश के प्रति निष्ठा नहीं रखता जहाँ कि वह रह रहा होता है। वह अपने मूल देश के प्रति ही वफादार होता है।

(5) सम्पत्ति का अधिकार– नागरिक को भूमि आदि अचल सम्पत्ति खरीदने का अधिकार होता है, किन्तु विदेशी को नहीं।

(6) सेना में भर्ती– नागरिक को सेना में भर्ती होने के लिये विवश किया जा सकता है, किन्तु विदेशी को नहीं।

(7) रहने का अधिकार– नागरिक को अपने देश की सीमा में रहने का जन्मजात अधिकार होता है, किन्तु विदेशी पूर्वानुमति लेकर ही निवास कर सकता है।

(8) राज्य की सदस्यता– नागरिक राज्य का सदस्य तथा उसका एक अंग होते हैं, किन्तु विदेशी नहीं।

नागरिक का अर्थ
(Meaning of Citizenship)

नागरिकता का निर्माण 'नागरिक' शब्द से हुआ है। यह नागरिक शब्द की भाववाचक संज्ञा है। किसी वस्तु के गुण या स्वभाव को भाववाचक संज्ञा कहा जाता है। अतः नागरिक के गुण तथा स्वभाव को नागरिकता कहा जा सकता है। नागरिक का गुण है सामाजिक एवं नागरिक

अधिकारों की प्राप्ति और स्वभाव है कर्त्तव्यों का पालन। इस प्रकार, "नागरिकता राज्य में नागरिक जीवन की उस स्थिति का नाम है जिसके अनुसार वह राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों का उपभोग करता है तथा राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है।"

अन्य शब्दों में, "नागरिकता एक वैधानिक सम्बन्ध है जो व्यक्ति को उस राज्य से बाँधता है जिसका वह सदस्य बना है।"

इस प्रकार नागरिकता के दो भाग हैं– (1) राजनीतिक अधिकार, और (2) राज्य के प्रति निष्ठा तथा कर्त्तव्य। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति से नागरिकता प्राप्त होती है और राज्य के प्रति निष्ठा रखकर तथा कर्त्तव्य-पालन करके उसे स्थिर रखा जाता है। इस प्रकार, **"नागरिकता नागरिक में विद्यमान वह भावना होती है जिसके द्वारा वह मानव-समाज के हित के लिये अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों का समुचित प्रयोग करता है।"** जो व्यक्ति समय आने पर राज्य के प्रति निष्ठा नहीं रखते, या अपने कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन नहीं करते, उनको नागरिकता से वंचित कर दिया जाता है।

नागरिकता की प्रमुख परिभाषायें

नागरिकता की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) प्रो० लास्की के अनुसार– **"अपनी शिक्षित बुद्धि को जनकल्याण के लिये प्रयोग करना ही नागरिकता है।"**

"Citizenship is the contribution of one's instructed judgement to public good."

—Laski

(2) एक विद्वान् के अनुसार– **"नागरिकता व्यक्ति की वह स्थिति है, जिसके कारण वह सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करता है।"** इस परिभाषा का दूसरा रूप यह भी है कि **"जीवन में नागरिक के अधिकारों और कर्त्तव्यों के उचित प्रयोग का नाम ही नागरिकता है।"**

(3) एक आधुनिक लेखक के अनुसार– **"नागरिकता किसी मनुष्य के नागरिक होने की वह दशा है जिससे वह यह सीख सके कि वह एक आदर्श नागरिक किस प्रकार बन सकता है।"**

(4) विलियम बायड के शब्दों में– **"विविध कर्त्तव्यों एवं निष्ठाओं का उचित क्रम-निर्धारण ही नागरिकता है।"**

"Citizenship consists in the right ordering of duties and loyalties."

—William Boyd

(5) डॉ० ए० लाल के मतानुसार– **"नागरिकता केवल राजनीतिक कार्य ही नहीं है, बल्कि एक सामाजिक और नैतिक कर्त्तव्य भी है।"**

नागरिकता के तत्व– नागरिकता की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि नागरिकता के अन्तर्गत निम्नलिखित चार तत्व विद्यमान होते हैं–

(1) राज्य की सदस्यता, (2) सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति, (3) कर्त्तव्य का पालन, (4) देश के प्रति भक्ति व निष्ठा की भावना।

नागरिकता का महत्व
(Importance of Citizenship)

किसी राज्य का नागरिक न होना ऐसा ही है जैसा कि अनाथ होना। मनुष्य को अपनी उन्नति के लिये तथा व्यक्तित्व का विकास करने के लिये अनेकों सुविधायें दी जानी आवश्यक हैं जोकि उसे राज्य ही प्रदान करता है। नागरिकता की स्थिति से वंचित मनुष्य इन सब सुविधाओं

को प्राप्त नहीं कर पाता और उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। उसकी स्थिति खुले समुद्र में भटकते हुए उस जहाज के समान है जिसे कहीं किनारा नजर नहीं आता। उसके जीवन का कोई महत्व नहीं है।

जो व्यक्ति भरपेट भोजन पा लेता है वह भोजन के महत्व को नहीं समझ पाता, पर भूखा व्यक्ति भोजन के महत्व को समझता है। इसी तरह जिन व्यक्तियों को नागरिकता से वंचित कर दिया गया हो वे नागरिकता का महत्व समझ सकते हैं। जैसे बिना माँ-बाप की सन्तान या बिना संरक्षक के बच्चे संसार में किसी भी स्थान को अपना घर नहीं कह सकते वैसे ही नागरिकता से वंचित मनुष्यों के लिये सारा संसार पराया है।

एक राज्य अपने नागरिकों की रक्षा अपनी सीमा में ही नहीं करता वरन् संसार के सभी भागों में अपने नागरिकों का अपमान या उनकी सम्पत्ति एवं सुरक्षा की हानि होने की दशा में वह हस्तक्षेप करता है और कभी-कभी युद्धों तक का कारण भी बन सकता है।

एक विदेशी चाहे कितना भी योग्य हो, राज्य में कोई पद प्राप्त नहीं कर सकता वैसे ही एक नागरिकता से वंचित व्यक्ति देश की छोटी से छोटी संस्था का भी सदस्य नहीं बन सकता। अपने ही देश में वह व्यक्ति पराया हो जाता है।

ज्योति एवं तम, धूप और कालिमा, सुख और दुख के बीच अन्तर के समान ही नागरिकता प्राप्त और नागरिकता-विहीन व्यक्ति में अन्तर है।

नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ
(Rules of acquiring Citizenship)

किसी भी राज्य में नागरिकता दो प्रकार से प्राप्त होती है–

(क) स्वाभाविक रूप से प्राप्त या जन्मजात नागरिकता।

(ख) राज्य द्वारा प्रदत्त या देशीयकरण द्वारा प्राप्त नागरिकता।

(क) स्वाभाविक रूप से प्राप्त नागरिकता (Natural-born Citizenship)

स्वाभाविक रूप से या जन्म से ही नागरिकता प्राप्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन नियम प्रचलित हैं–

स्वाभाविक रूप से नागरिकता प्राप्त करने के नियम या सिद्धान्त

1. रक्त या वंश सम्बन्धी नियम
2. जन्म स्थान सम्बन्धी नियम
3. मिश्रित या दोहरा नियम।

(1) रक्त या वंश सम्बन्धी नियम– इस नियम या सिद्धान्त के अनुसार बच्चा जन्म लेते ही उस देश का नागरिक समझा जाता है जिस देश के उसके माता-पिता नागरिक होते हैं, चाहे बच्चे का जन्म उसके माता-पिता के देश में हुआ हो या विदेश में। यह एक प्राचीन नियम है और आज भी संसार के जर्मनी, इटली, फ्रांस, ऑस्ट्रिया आदि अनेक देशों में मान्य है। इस नियम के अनुसार यदि फ्रांसीसी दम्पत्ति से कोई बच्चा जापान में उत्पन्न होता है, तो उसे फ्रांसीसी नागरिक ही माना जाता है। यदि माता और पिता दो भिन्न-भिन्न देशों के नागरिक होते हैं, तो बच्चा किसी भी एक की नागरिकता को स्वीकार कर सकता है।

(2) जन्म स्थान सम्बन्धी नियम– इस नियम के अनुसार बच्चा उस देश का नागरिक माना जाता है, जहाँ उसका जन्म होता है, चाहे उसके माता-पिता किसी भी देश के नागरिक हों। अर्जेण्टाइना में इसी नियम का अनुसरण किया जाता है।

इस नियम के अनुसार यद्यपि नागरिकता का निर्णय सरलता से हो जाता है किन्तु यह अवैज्ञानिक तथा अतर्कपूर्ण है। इस नियम के अनुसार यदि कोई गर्भवती माता विदेश यात्रा पर

है और संयोगवश विदेश में बच्चा उत्पन्न हो जाये, तो वह बच्चा उस विदेशी राज्य का ही नागरिक हो जायेगा। इसी प्रकार विदेश भ्रमण के समय यदि कोई बच्चा किसी हवाई जहाज या जलयान में जन्म लेता है, तो वह उसी देश का नागरिक बन जायेगा जहाँ का वह हवाई जहाज या यान है। माता-पिता की नागरिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त अन्यायपूर्ण भी है।

(3) मिश्रित या दोहरा नियम– मिश्रित या दोहरे नियम के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों नियमों को सम्मिलित किया जाता है। इंग्लैण्ड, अमेरिका और भारत में इसी दोहरे सिद्धान्त को अपनाया जाता है। इस नियम के अनुसार यदि अमेरिका के नागरिकों की सन्तान का जन्म विदेश में होता है अथवा विदेश के नागरिकों की सन्तान का जन्म अमेरिका में होता है तो दोनों ही स्थितियों में वह बालक अमेरिका का नागरिक होगा।

इस नियम के कारण कभी-कभी नागरिकता का निर्णय करने में बड़ा विवाद उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी इस नियम के अनुसार जब बच्चे को दो देशों की नागरिकता प्राप्त हो जाती है, तब बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिये, यदि अमेरिकी दम्पत्ति के इंग्लैण्ड में कोई बच्चा उत्पन्न हो जाये, तो उसे अमेरिका व इंग्लैण्ड दोनों की ही नागरिकता प्राप्त हो जायेंगी, जबकि एक व्यक्ति एक साथ दो देशों का नागरिक नहीं हो सकता। इस स्थिति में वयस्क होन पर वह एक देश की नागरिकता का परित्याग कर देता है अथवा यदि वह अपने माता-पिता के साथ-साथ स्वदेश वापस चला जाता है, तो उसकी अपने माता-पिता के देश की नागरिकता बनी रहती है।

(ख) राज्य द्वारा प्रदत्त या देशीयकरण द्वारा प्राप्त नागरिकता (Naturalise Citizenship)

ऊपर हमने जन्म से ही प्राप्त होने वाली नागरिकता की विभिन्न विधियों का वर्णन किया है। राज्य यदि चाहे तो किसी भी व्यक्ति को वयस्क होने पर नागरिकता प्रदान कर सकता है। इसे राज्य द्वारा प्रदत्त नागरिकता कहते हैं। ऐसी नागरिकता या तो राज्य में रहने वाले विदेशियों को प्रदान की जाती है अथवा उन लोगों को जो एक लम्बे काल तक विदेशों में रहकर पुनः अपने देश लौट आते हैं। राज्य द्वारा प्रदत्त इस नागरिकता को ही **देशीयकरण द्वारा प्राप्त नागरिकता** भी कहा जाता है। इस रीति के अनुसार, कुछ शर्तों के अधीन विदेशियों का देशीयकरण (Naturalisation) कर लिया जाता है और उन्हें नागरिकता प्रदान करके देश का सामान्य नागरिक वना लिया जाता है।

देशीयकरण के सम्बन्ध में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक देश के अपने नियम होते हैं। **देशीयकरण के लिये किसी भी विदेशी को साधारणतया निम्न शर्तें पूरी करनी होती हैं–**

(1) उसे अपने पहले राज्य की नागरिकता का परित्याग करना होता है।

(2) नये देश की नागरिकता के लिये प्रार्थना-पत्र देना होता है।

(3) नये राज्य के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी होती है और अच्छे चाल-चलन का प्रमाण-पत्र देना होता है।

राज्य द्वारा प्रदत्त अथवा देशीयकरण द्वारा नागरिकता निम्न उपायों द्वारा प्राप्त की जाती है–

(1) निवास की अवधि द्वारा– विदेशियों का देशीयकरण करने के लिये एक निश्चित अवधि तक निवास की शर्त सामान्यतः सभी देशों में पाई जाती है। निवास की अवधि भिन्न-भिन्न देशों

में पृथक्-पृथक्, आमतौर पर 2 से 10 वर्ष तक होती है। अमेरिका में यह अवधि 5 वर्ष है। यदि कोई विदेशी पाँच वर्ष तक अमेरिका में रहता है, तो उपर्युक्त शर्तें पूरी होने पर उसका देशीयकरण करके उसको अमेरिका का नागरिक बनाया जा सकता है।

(2) विवाह द्वारा– जब कोई स्त्री किसी अन्य देश के नागरिक से विवाह कर लेती है, तो उसकी अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है और उसे पति के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(3) सरकारी पद द्वारा– यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य देश में सरकारी पद प्राप्त कर लेता है, तब वह उस राज्य की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। रूस में इस नियम का प्रचलन है।

(4) अचल सम्पत्ति के क्रय द्वारा– अनेक देशों में भूमि आदि अचल सम्पत्ति खरीदने पर विदेशियों का देशीयकरण कर दिया जाता है और उन्हें देश की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है। मैक्सिको में यही नियम है।

(5) गोद लेने पर– यदि किसी देश का नागरिक किसी अन्य देश में उत्पन्न बालक को गोद ले लेता है, तो वह बालक अपने देश की नागरिकता खोकर नये देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है।

राज्य द्वारा प्रदत्त नागरिकता
या
देशीयकरण द्वारा नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ

1. निवास की अवधि द्वारा
2. विवाह द्वारा
3. सरकारी पद द्वारा
4. अचल सम्पत्ति के क्रय द्वारा
5. गोद लेने पर
6. जय-पराजय द्वारा
7. देश का कोई भाग विदेश को सौंपने पर।

(6) जय-पराजय द्वारा– जब कोई देश युद्ध में अन्य देश पर विजय प्राप्त करके उसे अ[illegible] देश में मिला लेता है, तो विजित देश के नागरिकों को विजयी देश की नागरिकता प्राप्त हो ज[illegible] है।

(7) देश का कोई भाग विदेश को सौंपने पर– यदि किसी देश का कोई भाग सम[illegible] द्वारा किसी अन्य देश को सौंप दिया जाता है, तो उस सौंपे हुए भाग के नागरिकों को उस वि[illegible] की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। उदाहरण के लिये; 1964–65 में कच्छ का कुछ भाग पाकिस[illegible] को सौंपने पर ऐसा ही हुआ था।

.नेक देशों में जन्मजात नागरिक और देशीयकरण द्वारा बनाये गये नागरिकों में कुछ[illegible] रखा जाता है। उदाहरण के लिये, अमेरिका में आज भी देशीयकरण द्वारा बना हुआ कोई नागरिक राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति पद के लिये उम्मीदवार के रूप में खड़ा नहीं हो सकता।

नागरिकता का लोप या समाप्ति
(Loss of Citizenship)

जिस प्रकार अनेक नियमों व उपायों के द्वारा नागरिकता प्राप्त की जाती है, उसी प्र[illegible] अनेक परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें व्यक्ति की नागरिकता छिन जाती है अथवा समाप्त[illegible] जाती है। ये स्थितियाँ निम्न प्रकार हैं–

(1) विवाह– जब कोई स्त्री किसी विदेशी पुरुष से विवाह कर लेती है, तो उसकी [illegible] देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(2) परित्याग– कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने देश की नागरिकता छोड़ स[illegible] है, किन्तु ऐसा वह तभी करता है, जबकि वह किसी अन्य देश की नागरिकता स्वीकार [illegible] चाहता है।

(3) लगातार अनुपस्थिति– यदि कोई व्यक्ति लगातार लम्बी अवधि तक अपने दे[illegible]

बाहर रहता है, तो वह अपने देश की नागरिकता से वंचित हो जाता है। यह अवधि भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग होती है।

(4) **विदेशी नौकरी**– यदि कोई व्यक्ति विदेशों में जाकर सरकारी पद प्राप्त कर लेता है, तब भी वह अपने देश की नागरिकता से वंचित हो जाता है।

(5) **सेना से भागना**– यदि कोई व्यक्ति बिना किसी कारण के सेना की नौकरी छोड़ देता है, तब भी उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(6) **न्यायालय द्वारा दण्ड**– यदि कोई व्यक्ति न्यायालय द्वारा देशद्रोही जैसे, किसी गम्भीर अपराध के लिये दण्डित किया जाता है, तो उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(7) **पदच्युति (Dismissal)**– अनेक देशों के नियमानुसार जब कोई व्यक्ति किसी गम्भीर अपराध के कारण सरकारी नौकरी से निकाल दिया जाता है, तो वह अपनी नागरिकता से वंचित हो जाता है।

नागरिकता समाप्त होने की स्थितियाँ

1. विवाह
2. परित्याग
3. लगातार अनुपस्थिति
4. विदेशी नौकरी
5. सेना से भागना
6. न्यायालय द्वारा दण्ड
7. पदच्युति
8. भिखारी, पागल आदि
9. गम्भीर अपराध
10. समाज का त्याग करने पर।

(8) **भिखारी, पागल आदि**– जब कोई व्यक्ति भिखारी, कोढ़ी, पागल या दिवालिया हो जाता है, तो उसकी नागरिकता लुप्त हो जाती है।

(9) **गम्भीर अपराध**– युद्धकाल में शत्रु देश के साथ अवैध सम्बन्ध रखने या गम्भीर अपराध करने अथवा संविधान का गम्भीर रूप से उल्लंघन करने वाले व्यक्ति की नागरिकता छीन ली जाती है।

(10) **समाज का त्याग करने पर**– जो व्यक्ति समाज का त्याग करके साधु-संन्यासी हो जाते हैं, उनकी नागरिकता भी समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार, विभिन्न देशों में नागरिकता की समाप्ति के भिन्न-भिन्न नियम होते हैं।

आदर्श नागरिकता (Good or Ideal Citizenship)

आदर्श नागरिक और आदर्श नागरिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों को किसी भी स्थिति में पृथक् नहीं किया जा सकता। **आदर्श नागरिकता उस स्थिति का नाम है जिसमें व्यक्ति आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत करता है।** अन्य शब्दों में, जब आदर्श नागरिक अपने अधिकारों का सदुपयोग करता है और अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् रीति से पालन करता है, तो उसके इस व्यवहार को **आदर्श नागरिकता की संज्ञा** दी जाती है। संक्षेप में, आदर्श नागरिक की कर्त्तव्य-पालन की भावना ही आदर्श नागरिकता है।

अरस्तू के अनुसार, **"अच्छे नागरिक ही अच्छे राज्य का निर्माण कर सकते हैं। अतः राज्य के नागरिक आदर्श व श्रेष्ठ होने चाहिए।"**

प्रो० लास्की ने कहा है कि **"अपनी शिक्षित बुद्धि को जन-कल्याण के लिये प्रयोग करना ही आदर्श नागरिकता है।"** सारांश रूप में, एक आदर्श नागरिक में कुछ गुण होने चाहियें और जब नागरिक उन गुणों को अपने सामाजिक जीवन में लागू करता है, तो उसे आदर्श नागरिकता की संज्ञा दी जाती है।

आदर्श नागरिकता या तत्व
या
आदर्श नागरिक के गुण
(Qualities of a Good Citizen)

आदर्श नागरिकता की उपर्युक्त विवेचना से हमें यह पता चलता है कि एक आदर्श नागरिक के विविध गुणों का नाम ही आदर्श नागरिकता है। डॉ० ए० लाल ने कहा है कि – **"नागरिकता का सम्बन्ध केवल राजनीतिक जीवन से ही नहीं है। इसका सम्बन्ध सामाजिक व नैतिक जीवन से भी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श नागरिक को श्रेष्ठ व्यक्ति भी होना चाहिए।"**

प्रत्येक देश यह चाहता है कि उसके निवासी अच्छे नागरिक बनें, क्योंकि आदर्श एवं अच्छे नागरिकों पर ही किसी देश का उज्ज्वल भविष्य निर्भर होता है। प्रत्येक देश के नागरिक को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि अच्छी एवं आदर्श नागरिकता के लिये किन-किन गुणों की आवश्यकता होती है।

अनेक लेखकों ने आदर्श नागरिकता के लिये विभिन्न गुणों एवं तत्वों का उल्लेख किया है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, **"एक आदर्श नागरिक में बुद्धिमत्ता, आत्म-नियन्त्रण तथा जागरूकता होनी चाहिये।**

संक्षेप में, आदर्श नागरिकता के तत्वों अथवा आदर्श नागरिक के गुणों का विवरण निम्न प्रकार है–

(1) अच्छा स्वास्थ्य– एक आदर्श नागरिक के लिये सबसे पहले अच्छे स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है। कहा भी है कि **"अच्छे एवं स्वस्थ शरीर में ही अच्छा मस्तिष्क निवास करता है।"** जिस नागरिक का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है वह न तो अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों का उपयोग कर सकता है और न ही समाज तथा राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है।

(2) परिश्रमशीलता– आदर्श नागरिक को परिश्रमशील होना चाहिये। उसे आलसी तथा कामचोर नहीं होना चाहिये। उद्यमी और परिश्रमी नागरिक ही सुखी सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। नागरिक को स्वावलम्बी बनने के लिये किसी कार्य को छोटा या निम्न न समझकर कार्य करने को तत्पर रहना चाहिये।

(3) समुचित शिक्षा– आदर्श नागरिक का शिक्षित होना परमावश्यक है। अशिक्षित तथा अज्ञानता सभी दुःखों एवं पापों की जड़ है। शिक्षा से जीवन में व्याप्त अन्धकार तथा अन्धविश्वास दूर होते हैं। गाँधी जी कहा करते थे कि **"शिक्षा जोकि आत्मा की खुराक है, स्वस्थ नागरिकता की पहली शर्त है।"**

"Education, the bread of the soul, is the first condition of healthy citizenship."

—M. Gandhi

समुचित रूप से शिक्षित नागरिक ही आदर्श जीवन व्यतीत करता हुआ समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है। डॉ० बेनी प्रसाद ने कहा है कि **"शिक्षा अच्छे नागरिक जीवन के भवन की आधारशिला है।"**

(4) विचारशीलता एवं कर्त्तव्य-परायणता– आदर्श नागरिक को चाहिये कि वह अपने परिवार, ग्राम, प्रान्त तथा राष्ट्र के हितों का चिन्तन करे और इन सब समुदायों के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिये सदा तत्पर रहे। उसमें सच्चाई व ईमानदारी की भावना हो। एक आदर्श नागरिक के विचारों एवं कार्यों में समानता रहनी चाहिये।

आदर्श नागरिकता के तत्व
या
आदर्श नागरिक के गुण

1. अच्छा स्वास्थ्य
2. परिश्रमशीलता
3. समुचित शिक्षा
4. विचारशीलता एवं कर्त्तव्य-परायणता
5. सच्चरित्रता एवं शिष्टता
6. देश-भक्ति व राष्ट्रीयता
7. सहनशीलता एवं सहिष्णुता
8. निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता
9. मताधिकार का सदुपयोग
10. आत्मसंयम व दूरदर्शिता
11. दैनिक जीवन और आदतें
12. नियमों व कानूनों का पालन
13. संगठन एवं सहयोग की भार्वना
14. समाज-सेवा की भावना
15. विभिन्न समुदायों के प्रति उचित कर्त्तव्य-पालन।

(5) सच्चरित्रता एवं शिष्टता– सच्चरित्र एवं शिष्ट व्यक्ति ही आदर्श नागरिक बन सकते हैं। सच्चरित्रता जीवन का आभूषण है। जिन लोगों का नैतिक एवं राष्ट्रीय चरित्र ऊँचा होता है वे ही जीवन में सफल होते हैं तथा राष्ट्र की उन्नति में सहायक होते हैं। इसके साथ-साथ शिष्टता का भी नागरिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। बिना शिष्ट व्यवहार के कोई भी नागरिक आदर्श जीवन नहीं बिता सकता।

अरस्तू ने लिखा है कि **"संविधान की सफलता मनुष्यों के चरित्र पर निर्भर होती है। अतः नागरिकों का चरित्रवान होना आवश्यक है।"**

(6) देश-भक्ति तथा राष्ट्रीयता– आदर्श नागरिक वही है जिसके रक्त के कण-कण में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना भरी हो, जो देश-हित को सदा अपने सामने रखे, अपने राष्ट्र के लिये अपना सब कुछ त्याग करने को तत्पर रहे और जो सदा लोक-कल्याण की भावना से कार्य करे। ऐसे नागरिक राष्ट्र की नींव के पत्थर होते हैं।

(7) सहनशीलता एवं सहिष्णुता– आदर्श नागरिक का दृष्टिकोण संकुचित नहीं होना चाहिये। उसे दूसरे व्यक्तियों, धर्मों तथा सम्प्रदायों के विचारों एवं भावनाओं के सम्बन्ध में उदारता व सहनशीलता अपनानी चाहिये। ऐसा करके ही वह देश में शान्ति की स्थापना में सहायक हो सकता है।

(8) निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता– सामाजिक जीवन में व्यवहार करते समय नागरिक को निष्पक्षता अपनानी चाहिये। उसे सदा न्यायप्रिय दृष्टि रखनी चाहिये और भले-बुरे तथा सत्यासत्य में अन्तर करके तद्नुसार ही आचरण करना चाहिये। निष्पक्ष एवं न्यायप्रिय आचरण करके ही वह समाज में लोकप्रिय तथा सम्मानित हो सकता है।

(9) मताधिकार का सुदपयोग– एक अच्छे एवं आदर्श नागरिक को चाहिये कि वह अपने मत देने के अधिकार का उचित रूप से प्रयोग करे। उसे ईमानदार, सच्चरित्र, सच्चे तथा समाजसेवी व्यक्तियों को ही अपना मत देकर चुनना चाहिये। इस कार्य में उसे पार्टीबाजी, गुटबन्दी तथा धन के लोभ में नहीं पड़ना चाहिये। उसके द्वारा मताधिकार के सदुपयोग पर ही लोकतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल बन सकता है।

मताधिकार का सदुपयोग न होने के कारण ही आज देश में राजनीति का अपराधीकरण और अपराधियों का राजनीतिकरण हो गया है जिसके कारण हमारे देश का लोकतन्त्र विकृत होता जा रहा है।

एक विद्वान् ने कहा है कि **"मताधिकार का उचित प्रयोग ही आदर्श नागरिकता की कसौटी है। मताधिकार का सदुपयोग एक अच्छे राष्ट्र का निर्माण कर सकता है और दुरुपयोग राष्ट्र का विनाश कर सकता है।"**

(10) आत्मसंयम व दूरदर्शिता– एक आदर्श नागरिक को सदा ही आत्मसंयम तथा दूरदर्शिता से काम लेना चाहिये। उसे विचारों एवं भावनाओं के जोश में आकर कोई भी ऐसा कार्य नहीं

करना चाहिये जिससे देश को हानि पहुँचे। विशेषकर धर्म तथा जाति के मामलों में उसे आवेश में न आकर बड़ा सतर्क रहना चाहिये और बड़े हित के लिये छोटे हित का त्याग करने को तत्पर रहना चाहिये।

(11) दैनिक जीवन की आदतें– आदर्श नागरिकता हमारे दैनिक जीवन तथा हमारी आदतों में निवास करती है। हम कैसे उठते-बैठते हैं, किस प्रकार बात करते हैं, समाज के अन्य लोगों से किस प्रकार व्यवहार करते हैं, टिकट लेते समय लाइन में खड़े होते हैं या नहीं, सड़क पर चलते समय सड़क के नियमों का पालन करते हैं या नहीं, घर का कूड़ा सड़क पर तो नहीं फैंकते हैं, पड़ोसियों के साथ मेल-जोल से रहते हैं या नहीं, विशेष अवसरों पर समाज-प्रेम तथा देश-हित की भावना प्रकट करते हैं या नहीं– इत्यादि बातों से ही आदर्श नागरिकता का पता चलता है। व्यक्ति का दैनिक जीवन आदर्श नागरिकता का दर्पण है।

(12) नियमों व कानूनों का पालन– एक आदर्श एवं श्रेष्ठ नागरिक को सदा विभिन्न समुदायों के नियमों तथा राज्य के कानूनों का ईमानदारी और सच्चे हृदय से पालन करना चाहिये। उसे करों की चोरी नहीं करनी चाहिये। उसके इस व्यवहार पर ही देश की उन्नति निर्भर होती है।

(13) संगठन व सहयोग की भावना– आदर्श नागरिक वही कहा जा सकता है जिसमें संगठन व सहयोग की भावना हो। वह किसी से लड़ाई-झगड़ा न करता हो तथा अपने पड़ोसियों एवं समाज के अन्य सदस्यों के साथ मेल-जोल व सहयोग से कार्य करने को तत्पर रहता हो।

(14) समाज-सेवा की भावना– आदर्श नागरिक में सामाजिक भावना कूट-कूट कर भरी होती है। वह समाज के हित को अपने तथा अपने कुटुम्ब के हित से अधिक महत्त्व देने वाला होता है। अपने साथियों के सुख-दुःख को बाँटने और उनकी सहायता और सेवा के लिये आदर्श नागरिक सदैव ही तैयार रहता है। सजीव और जागृत सामाजिक भावना आदर्श नागरिकता का प्रमुख लक्षण है।

(15) विभिन्न समुदायों के प्रति उचित कर्त्तव्य-पालन– व्यक्ति को आदर्श नागरिक होने के नाते न केवल राज्य के प्रति, अपितु अन्य अनेक समुदायों के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। अतः उसे अपने विभिन्न कर्त्तव्यों में उचित तालमेल बनाये रखना होता है, ताकि उनमें परस्पर टकराव उत्पन्न न हो। टकराव उत्पन्न होने की स्थिति में उसे बड़े समुदाय के लिये छोटे समुदाय का और बड़े हित के लिये छोटे हित का त्याग करना होता है। इस प्रकार, **नागरिकता एक जिम्मेदारी है** तथा नागरिक की वह भावना है जो राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने में सहायक होती है और दूसरी ओर, जिसके बिना कोई भी नागरिक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।

कर्त्तव्यों का उचित क्रम-निर्धारण
(Right Ordering of Duties)

एक आदर्श नागरिक को विभिन्न प्रकार के समुदायों के प्रति विविध कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। यहाँ एक समस्या यह उठती है कि यदि विभिन्न समुदायों के प्रति कर्त्तव्य-पालन करते समय कभी उसके कर्त्तव्यों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाये, तो वह किस कर्त्तव्य को प्रमुखता दे ? कर्त्तव्यों का उचित क्रम-निर्धारण इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।

उचित क्रम-निर्धारण क्या ? और क्यों ?

विलियम ब्रायड का कहना है कि **"विविध कर्त्तव्यों एवं निष्ठाओं का उचित क्रम-निर्धारण ही आदर्श नागरिकता है।"** एक अन्य लेखक के मत में, **"विभिन्न समुदायों के प्रति भक्ति या**

निष्ठा या कर्त्तव्यों को उचित क्रमानुसार रखने को ही नागरिकता कहते हैं।" इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति को समाज में रहते हुए विभिन्न समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन में टकराव नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये और यदि टकराव हो तो, छोटे हित के सामने बड़े को प्रमुखता देनी चाहिये।

व्यक्ति समाज में रहते हुए विभिन्न समुदायों की सदस्यता ग्रहण करता है। जन्म लेते ही वह परिवार का सदस्य बन जाता है। परिवार सबसे छोटा किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण समुदाय है। जीवन भर वह इस समुदाय का सदस्य बना रहता है। इसके अलावा भी वह अपने जीवन काल में अपनी अनेक इच्छाओं, आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के समुदायों का सदस्य बनता है; जैसे आर्थिक समुदाय, मनोविनोद के समुदाय, धार्मिक समुदाय आदि। इन सभी समुदायों में उसे अनेक कर्त्तव्यों का पालन करना होता है।

श्रेष्ठ एवं आदर्श नागरिक उसे ही कहा जा सकता है, जो अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को इस प्रकार पूरा करे कि उनमें परस्पर कोई विरोध एवं संघर्ष उत्पन्न न हो और एक समुदाय के प्रति कर्त्तव्य-पालन से एक-दूसरे समुदाय के हितों को हानि न पहुँचे। यदि समुदाय के प्रति कर्त्तव्य-पालन से एक-दूसरे के हितों को हानि पहुँचेगी, तो ये सारे ही समुदाय उन्नति के साधन न वनकर समाज के शरीर को खाने वाले कीड़े वन जायेंगे।

अच्छा नागरिक वही है जो अपने कुटुम्ब, मौहल्ले, गाँव, नगर तथा राज्य आदि सभी समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे और अपने विभिन्न कर्त्तव्यों में इस प्रकार तालमेल बनाये रखे कि किसी भी समुदाय के हित को नुकसान न पहुँचे। **यदि कभी ऐसी स्थिति आ जाये कि एक समुदाय के प्रति कर्त्तव्य-पालन से दूसरे समुदाय के हित को हानि पहुँचती हो, तो उसे चाहिये कि बड़े हित के लिये छोटे हित का त्याग कर दे।**

उदाहरण

उदाहरण के लिये, **प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार के भरण-पोषण एवं उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करे,** किन्तु यदि कभी उसके मोहल्ले या गाँव पर डाकू आक्रमण करें, तो अपने परिवार की चिन्ता छोड़कर मौहल्ले या गाँव के निवासियों के साथ मिलकर सम्पूर्ण गाँव की ही रक्षा करनी चाहिये। वास्तव में गाँव या मौहल्ले की रक्षा में ही परिवार की रक्षा भी निहित है। **इसी प्रकार यदि कभी उसके राष्ट्र पर शत्रु का हमला हो, तो उसे अपने परिवार, मौहल्ले, गाँव या नगर** का मोह छोड़कर सर्वप्रथम राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। **"कर्त्तव्यों के इस प्रकार उचित क्रम-निर्धारण का नाम ही आदर्श नागरिकता है"** और यही नागरिक का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि गुण है।

निष्कर्ष

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कर्त्तव्यों का उचित क्रम-निर्धारण आदर्श नागरिकता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इसके बिना कोई भी व्यक्ति अपने को आदर्श नागरिक नहीं कह सकता।

इसलिये एक विद्वान् ने कहा है कि **"परिवार के हित के लिये अपने हित का, नगर के हित के लिये परिवार के हित का, प्रदेश के हित के लिये नगर के हित का और राष्ट्र के हित के लिये प्रदेश के हित का त्याग करने की क्रियात्मक भावना का नाम ही सच्ची नागरिकता है।"**

स्वयं को एक आदर्श नागरिक के रूप में प्रस्तुत करते हुए डॉ० एलम्बर्ट ने कहा है कि **"मैं अपने स्वयं के हित से अपने परिवार के हित को, अपने परिवार के हित से अपने देश के हित को और अपने देश के हित से मानवता के हित को श्रेष्ठ समझता हूँ।"**

"I prefer my family to myself, my country to my family and humanity to my country."

—Dr. Almbert

आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधायें
(Hindrances to Ideal Citizenship)

ऊपर आदर्श नागरिकता की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इन गुणों एवं विशेषताओं को अपनाकर कोई भी व्यक्ति आदर्श नागरिक बन सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होते हैं जिनमें आदर्श नागरिकता के उपर्युक्त सभी गुण हों और जिन्हें आदर्श नागरिक कहा जा सके। कारण यह है कि **आदर्श नागरिक बनने में उन्हें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इनमें कुछ मुख्य बाधायें निम्न प्रकार हैं–**

(1) अस्वस्थता– रोगों से मनुष्य की शारीरिक व मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है। रोगी शरीर वाला व्यक्ति न तो अपने अधिकारों का ही उपयोग कर सकता है और न अपने समाज तथा राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का पालन ही कर सकता है। अतः अस्वस्थता आदर्श नागरिकता के मार्ग की सबसे पहली बाधा है।

(2) लोभ तथा स्वार्थ– लोभी और स्वार्थी व्यक्ति कभी आदर्श नागरिक नहीं बन सकते। धन के लोभ में व्यक्ति बड़े-बड़े समाज विरोधी तथा देशद्रोहिता के कार्य कर डालते हैं। हमारे देश का बोफोर्स काण्ड तथा शेयर घोटाला काण्ड इसका उदाहरण है। इसी प्रकार, स्वार्थी व्यक्ति भी समाज तथा राष्ट्र की चिन्ता को छोड़कर हमेशा अपने स्वार्थ की पूर्ति में ही लगा रहता है। आज इस लोभ और स्वार्थ के कारण ही इतनी रिश्वतखोरी, चीजों में मिलावट तथा धोखाधड़ी हो रही है।

(3) निर्धनता– निर्धनता सभी पापों की जड़ है। भूखा आदमी सब प्रकार के पाप करने को तैयार हो जाता है। कहा भी है कि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।" निर्धनता के कारण कभी-कभी मुनष्य बेईमानी, चोरी, डकैती, हत्या आदि कुकृत्य करने तक को विवश हो जाता है। ऐसा व्यक्ति समाज़ तथा राष्ट्र के लिये अभिशाप बन जाता है। **"जिस देश के व्यक्ति भूखे नंगे और बेरोजगार हैं, वहाँ आदर्श नागरिक धनवानों की थैलियों से खरीदे जा सकते हैं।"** इसलिये निर्धनता को आदर्श नागरिक के मार्ग का मुख्य रोड़ा कहा जा सकता है। प्रो० इलियास अहमद ने ठीक ही कहा है कि **"निर्धनता आदर्श नागरिकता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है।"**

आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधायें

1. अस्वस्थता
2. लोभ तथा स्वार्थ
3. निर्धनता
4. साम्प्रदायिकता व प्रान्तीयता
5. दलबन्दी व गुटबन्दी
6. अशिक्षा तथा अज्ञानता
7. प्राचीन रीति-रिवाज व प्रथायें
8. सार्वजनिक कार्यों के प्रति उपेक्षा भाव
9. राष्ट्रवाद व साम्राज्यवाद की भावना
10. पूँजीवाद की भावना
11. भ्रष्टाचार।

(4) साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता की भावना– जिन लोगों में यह भावना होती है, वे अपने सम्प्रदाय या अपने प्रान्त के संकुचित दायरे में ही घिरे रहते हैं। राष्ट्र-हित की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता की भावना– अर्थात् देश के मुकाबले अपने सम्प्रदाय, अपनी जाति या अपने प्रान्त का हित ही सोचने की भावना देश की प्रगति के मार्ग की एक बड़ी बाधा है। इस मनोवृत्ति के कारण देश टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। हमारे देश में कश्मीर, पंजाब तथा बोडो समस्याएँ इसी गलत भावना के कारण उत्पन्न हुई हैं।

(5) दलबन्दी या गुटबन्दी– लोकतन्त्रीय शासन में राजनीतिक दल आवश्यक होते हैं। परन्तु जब राजनीतिक दलों की स्थापना तथा संचालन साम्प्रदायिक या जातीय आधार पर तथा व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये होने लगता है, तो ये दल राष्ट्र को काई लाभ नहीं पहुँचाते।

यहाँ तक कि एक राजनीतिक दल में भी अनेक गुट उत्पन्न हो जाते हैं और वे राष्ट्र व समाज की परवाह न करके व्यक्तिगत स्वार्थों या सत्ता-प्राप्ति के लिये ही परस्पर झगड़ते रहते हैं। इस स्वार्थपूर्ण गुटवाजी ने ही हमारे देश में **दल-बदलू राजनीतिज्ञ** पैदा कर दिये हैं। दलवन्दी या गुटवन्दी की यह संकुचित भावना आदर्श नागरिकता के मार्ग की एक प्रमुख वाधा है।

(6) अशिक्षा तथा अज्ञानता– शिक्षा का अभाव भी आदर्श नागरिक बनने में वाधक बना रहता है। अशिक्षित व्यक्ति को अपने नागरिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का भी कोई ज्ञान नहीं होता। वह अपने मताधिकार का सदुपयोग नहीं कर पाता। वह अन्धविश्वासों व रूढ़ियों में फंसा रहता है। अशिक्षित व्यक्ति समाज व देश के वारे में न सोचकर दिन-रात सभी अच्छे-बुरे उपायों द्वारा अपने ही स्वार्थ-साधन में लगा रहता है। **यही कारण है कि अशिक्षित नागरिक के वोट पैसों तथा शराब की बोतलों से खरीद लिये जाते हैं।**

(7) प्राचीन रीति-रिवाज एवं प्रथायें– अनेक लोग पुराने रीति-रिवाजों व पुरानी प्रथाओं से बुरी तरह चिपके रहते हैं। वे हर नई वात का विरोध करते हैं। समय के साथ और समाज की माँग के अनुसार हमें उन पुरानी प्रथाओं को त्यागने में संकोच नहीं करना चाहिये जो राष्ट्र के लिये हानिकारक हैं; जैसे छुआछूत की प्रथा, ऊँच-नीच की भावना, कट्टर जातिवाद, दहेज-प्रथा, मरण-भोज, वाल-विवाह आदि। ये प्रथायें अच्छी नागरिकता की प्राप्ति में वाधक सिद्ध होती हैं।

(8) सार्वजनिक कार्यों के प्रति उपेक्षा भाव– अनेक लोग सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन वने रहते हैं और उनमें किसी प्रकार का भाग नहीं लेते। वे सोचते हैं कि मत देना, चुनाव में भाग लेना, सार्वजनिक सभाओं में सम्मिलित होना, समाज की कुरीतियों को दूर करने के कार्य में हाथ वँटाना, अकाल व वाढ़ आदि सामाजिक संकटों में सहायता कार्य करना, समाज-सेवा के अन्य कार्य करना आदि कुछ नेताओं व अन्य इने-गिने लोगों का ही कार्य है।

सार्वजनिक कार्यों के प्रति यह उपेक्षा-भाव आदर्श नागरिक के मार्ग की बड़ी वाधा है। **"मैं क्यों इस मामले में पड़ूँ", "मौहल्ले में झगड़ा हो रहा है तो मुझे क्या", "कोई व्यक्ति राजद्रोह का कार्य कर रहा है तो क्यों उसकी रिपोर्ट करके शत्रुता मोल लें।"**– ऐसा सोचने वाले व्यक्ति न अपना विकास कर सकते हैं और न राष्ट्र के कल्याण में ही अपना योग दे सकते हैं। अच्छे नागरिक को सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिये।

(9) कट्टर राष्ट्रवाद व साम्राज्यवाद की भावना– राष्ट्रीयता की भावना तथा देश-प्रेम की भावना अच्छी होती है, परन्तु यह इतनी तीव्र तथा कट्टर न हो कि हम अन्य देशों के हितों को ही हानि पहुँचाने को तैयार हो जायें। जर्मनी तथा इटली की इस तीव्र एवं अन्ध राष्ट्रीयता ने ही द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया था। तीव्र एवं अन्ध राष्ट्रीयता की भावना से ही साम्राज्यवाद का जन्म होता है। साम्राज्यवाद की भावना के कारण हम अन्य देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने को भी तैयार हो जाते हैं। आदर्श नागरिक के लिये यह कदापि उचित नहीं है। अपने राष्ट्र का हित सोचने के साथ-साथ, उसे विश्व के हित का भी ध्यान रखना चाहिये और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** तथा **'जियो और जीने दो'** के आदर्श को नहीं भूलना चाहिये।

(10) पूँजीवाद की भावना– पूँजीवाद लोग स्वार्थी व धन-लोलुप हो जाते हैं। वे समाज के हित की चिन्ता किये विना दिन-रात धनोपार्जन में लगे रहते हैं। गरीव मजदूरों व किसानों का शोषण करते हैं। इससे समाज में अशान्ति वनी रहती है। पूँजीवाद के कारण देश में गरीवी बढ़ती है। पूँजीवाद सच्ची नागरिकता का एक वड़ा शत्रु है।

कहा भी है कि **जहाँ निर्धनता धन की कमी का नाम है, वहाँ पूँजीवाद धन के बाहुल्य का अभिशाप है।"**

(11) भ्रष्टाचार– देश की शासन-व्यवस्था के आचरण का देश के नागरिकों पर गहरा

प्रभाव पड़ता है। यदि सरकारी अधिकारी व कर्मचारी अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हैं, सरकारी दफ्तरों में रिश्वतखोरी व भ्रष्टाचार के विना कोई काम न होता हो, तो आदर्श नागरिक के जीवन पर इसका बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इन परिस्थितियों के कारण कभी-कभी उसे नागरिकता के आदर्श को छोड़ने पर विवश होना पड़ता है।

बाधाओं को दूर करने के उपाय
(Means of Removing Hindrances)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आदर्श नागरिकता के मार्ग में अनेक बाधायें आती हैं। अतः प्रत्येक नागरिक, सरकार, राजनीतिज्ञ तथा समाचार-पत्र का कर्त्तव्य है कि वे मिलकर इन बाधाओं को दूर करने का प्रयास करें। इन बाधाओं को समाप्त किये विना कोई भी देश उन्नति नहीं कर सकता। इन बाधाओं को दूर करने में निम्न उपाय सहायक होते हैं—

(1) सुखी पारिवारिक जीवन– हम पहले बता चुके हैं कि परिवार अच्छी नागरिकता की प्रथम पाठशाला है। परिवार में बच्चे पर जैसे भी संस्कार पड़ जाते हैं उनसे ही उसका जीवन बनता या विगड़ता है। जिन परिवारों में माता-पिता शिक्षित व सभ्य होते हैं, वे समुचित रूप से अपने बच्चों के विकास का ध्यान रखते हैं।

जिन परिवारों में कलह व फूट का वातावरण रहता है, जहाँ न बच्चों के खान-पान की देखभाल की जाती है, न उसके वस्त्रादि की। जिस परिवार के बच्चे गली-मौहल्लों में आवारा घूमते रहते हैं, ऐसे परिवार सच्ची नागरिकता के मार्ग की बाधायें हैं। स्पष्ट है कि जिस परिवार का जीवन सुखी होता है उसमें स्वभावतः ही अच्छे नागरिकों का निर्माण होता है।

(2) गरीबी का अन्त– निर्धनता सबसे बड़ा अभिशाप है। निर्धन व्यक्ति अपना पेट भरने के प्रयत्नों में बुरे से बुरा कार्य करने को तत्पर हो जाता है। उसे राष्ट्र व समाज की कोई चिन्ता नहीं होती। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह परिश्रम से कार्य करे और धन कमाये। उधर सरकार का भी कर्त्तव्य है कि वह कानून बनाकर ऐसा वातावरण उत्पन्न करे कि देश से गरीबी का अन्त हो। ऐसा होने पर ही देश में अच्छे नागरिकों का निर्माण हो सकता है।

(3) शिक्षा का प्रचार– अशिक्षा सभी बुराइयों की जड़ है। अशिक्षा के कारण ही व्यक्ति रूढ़िवादी बना रहता है, सार्वजनिक कार्यों में उत्साह से भाग नहीं लेता, अपने मताधिकार का उचित प्रयोग नहीं करता और देश-हित की चिन्ता नहीं करता। अतः अच्छी नागरिकता प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि समाज को शिक्षित बनाया जाये।

(4) दलबन्दी की समाप्ति– यह आवश्यक है कि देश में विद्यमान राजनीतिक व धार्मिक दलबन्दी व गुटबन्दी को एकदम समाप्त किया जाये। राजनीतिक दलबन्दी देश का वातावरण दूषित कर देती है। जिससे स्वार्थी नागरिकों का निर्माण होता है। अतः दलबन्दी के रोग को समाप्त करना प्रत्येक अच्छे नागरिक का कर्त्तव्य होना चाहिये।

(5) शिक्षा तथा शिक्षा संस्थाओं का सुधार– आज हमारे देश में ऐसी शिक्षा पद्धति प्रचलित है, जो अच्छी नागरिकता व अच्छे चरित्र का निर्माण नहीं करती। प्राचीन काल में शिष्यों पर गुरुओं की अमिट छाप लगा करती थी। वे उन्हें विद्यार्थी जीवन

बाधायें दूर करने के उपाय

1. सुखी पारिवारिक जीवन
2. गरीबी का अन्त
3. शिक्षा का प्रचार
4. दलबन्दी की समाप्ति
5. शिक्षा तथा शिक्षा संस्थाओं का सुधार
6. अच्छे कानूनों का निर्माण
7. समाचार-पत्रों का योगदान
8. नेतागण
9. अध्यापक
10. राज्य।

में ही सच्चरित्र और श्रेष्ठ नागरिक बना दिया करते थे। दुर्भाग्य से आज शिक्षा तथा शिक्षा संस्थाओं का वातावरण ऐसा नहीं है। सरकार को शिक्षा पद्धति में एकदम सुधार करके शिक्षा संस्थाओं के वातावरण को ठीक करना चाहिये, तभी देश में अच्छे नागरिकों का निर्माण हो सकता है।

(6) अच्छे कानूनों का निर्माण– सरकार को चाहिये कि देश में ऐसे कानूनों का निर्माण करे कि जिससे अच्छी नागरिकता के विकास के लिए समुचित वातावरण उत्पन्न हो। सरकार कानून बनाकर व प्रचार करके छुआछूत, जाति-पाँति, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, पूँजीवाद व अलगाववाद जैसे अनेक कुप्रभावों को दूर करके नागरिकता के मार्ग की अनेक बाधाओं को दूर कर सकती है।

(7) समाचार-पत्रों का योगदान– वर्तमान युग में समाचार-पत्र भी नागरिकता के मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओं को दूर करने में अपना योगदान दे सकते हैं। उन्हें चाहिये कि सच्चे तथा ऐसे समाचार एवं लेख प्रकाशित करें जिनसे नागरिकों का समुचित मार्ग-दर्शन हो, समाज में प्रेम व सहयोग का वातावरण उत्पन्न हो तथा देश में शान्ति बनी रहे।

(8) नेतागण– जनतन्त्र में जनता हर कार्य के लिये अपने नेताओं की ओर देखती है। अतः नेता आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। **किन्तु यदि नेता ही दिन-रात दलबन्दी व गुटबन्दी की दलदल में फँसे रहें और संसद तथा विधान-सभाओं में अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करें, तो नागरिकों से आदर्श बनाने की आशा कैसे की जा सकती है ?**

अतः आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने में नेताओं को अपना उदाहरण प्रस्तुत करना ही होगा।

(9) अध्यापक– अध्यापक उचित शिक्षा से नवयुवकों को भले-बुरे, उचित और अनुचित का अन्तर करना सिखा सकता है। वह नवयुवकों में आत्म-संयम, विचारशीलता तथा गम्भीर चिन्तन की प्रवृत्तियाँ विकसित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

देश की वर्तमान परिस्थितियों में तो अध्यापकों का यह विशेष दायित्व है कि वे राष्ट्रीय लक्ष्यों के बारे में छात्रों का मार्ग-दर्शन कर उन्हें अनुशासनहीन बनने व भटकने से रोकें। **किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जबकि स्वयं अध्यापक का जीवन एवं चरित्र भी ऐसा हो कि उसे देखकर विद्यार्थी के मन में उसके प्रति श्रद्धा जागृत हो जाये। दूसरी ओर, यह भी आवश्यक है कि सरकार तथा जनता अध्यापक वर्ग का पूर्ण सम्मान करे।**

(10) राज्य– राज्य भी स्वस्थ नागरिकता के विकास के लिये महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक कार्य कर सकता है। राज्य आर्थिक विषमता दूर करके **धनवानों के हाथों गरीब के शोषण को समाप्त कर सकता है।** वह आवश्यक **शिक्षा को अनिवार्य** और निःशुल्क करके अज्ञानजनित अन्धेरे को मिटा सकता है। **वह मादक वस्तुओं** पर रोक लगाकर जनता के नैतिक स्तर को उठा सकता है। भाषण, विचार और आलोचना की स्वतन्त्रता प्रदान करके तथा आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता सुलभ कराकर राज्य आदर्श नागरिकता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

(1) "नागरिकता हमारे कर्त्तव्यों का उचित रूप से क्रम-निर्धारण है।" इस वाक्य पर प्रकाश डालिए।

(2) आदर्श नागरिकता के तत्वों का वर्णन कीजिए। **(1967, 72)**

(3) टिप्पणी लिखिये–

(i) आदर्श नागरिकता।

(ii) कर्त्तव्यों का उचित क्रम-निर्धारण। (1971)

(iii) आदर्श नागरिक के गुण। (1984)

(iv) नागरिकता। (1991)

(4) आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधायें कौन-कौन सी हैं ? इन बाधाओं को दूर करने के उपाय बताइये।

(5) टिप्पणी लिखिये–

(i) नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ। (1992, 77)

(ii) निर्धनता तथा अशिक्षा में से कौन अच्छी नागरिकता के मार्ग में अधिक गम्भीर बाधा है तथा क्यों ? (1977)

(6) नागरिकता से आप क्या समझते हैं ? यह कैसे प्राप्त की जाती है और कैसे खोई जाती है ? (1974, 80)

(7) आदर्श नागरिक के गुणों का वर्णन कीजिये। आदर्श नागरिकता के मार्ग में कौन-कौन सी बाधायें हैं ? (1982, 85)

(8) नागरिकता की परिभाषा कीजिये। नागरिकता कैसे प्राप्त होती है और कैसे खोई जाती है ? (1986, 90)

(9) नागरिकता की परिभाषा दीजिये। एक अच्छे नागरिक के प्रमुख गुण क्या हैं(1991)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– नागरिक किसे कहते हैं ?

उत्तर– नागरिक उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे राज्य का सदस्य होने के नाते राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त हों और जो राज्य के प्रति निष्ठा या वफादारी रखता हो तथा राज्य के कानूनों का पालन करता हो। प्राचीन समय में स्त्रियों तथा दासों को नागरिक नहीं माना जाता था किन्तु वर्तमान समय में नगरों, कस्बों तथा गाँवों में रहने वाले प्रत्येक देशवासी स्त्री-पुरुष को नागरिक माना जाता है।

प्रश्न 2– नागरिक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर– नागरिक चार प्रकार के होते हैं–

(i) अल्पवयस्क नागरिक, (ii) मताधिकार रहित वयस्क नागरिक, (iii) मताधिकार-प्राप्त वयस्क नागरिक और (iv) देशीयकृत नागरिक।

प्रश्न 3– नागरिक और विदेशी में क्या अन्तर है ? चार कारण बताइये।

उत्तर– (i) नागरिक राज्य का स्थायी निवासी होता है और विदेशी अस्थायी, (ii) नागरिक को राज्य की ओर से राजनैतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु विदेशी को केवल सामाजिक अधिकार, (iii) नागरिक राज्य के प्रति निष्ठावान होता है, विदेशी नहीं, (iv) नागरिक को फौज में भर्ती होने के लिये बाध्य किया जा सकता है, विदेशी को नहीं।

प्रश्न 4– नागरिकता का क्या अर्थ है ?

उत्तर– नागरिकता जीवन की वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति राज्य द्वारा स्वीकृत

नागरिक के अधिकारों का उचित रूप से प्रयोग करता है और राज्य तथा अन्य समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है।

प्रश्न 5– राज्यदत्त नागरिकता या देशीयकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर– यह नागरिकता राज्य द्वारा उन विदेशियों को प्रदान की जाती है जो काफी समय तक उस देश में रहने के बाद वहाँ की कुछ शर्तें पूरी कर देते हैं। इसे ही देशीयकरण कहा जाता है। राज्य द्वारा यह नागरिकता इन दशाओं में प्रदान कर दी जाती है–

(i) उस देश में विवाह करने पर, (ii) सरकारी नौकरी करने पर, (iii) निश्चित अवधि तक निवास करने पर, (iv) युद्ध में विजय पर, (v) पुत्र गोद लेने पर, और (vi) देश के भू-भाग के हस्तान्तरण पर।

प्रश्न 6– भारत में जन्मजात नागरिकता का कौन-सा सिद्धान्त प्रचलित है ? यह सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर– भारत में जन्मजात नागरिकता का दोहरा सिद्धान्त लागू है। इस सिद्धान्त के अनुसार, भारतीय माता-पिता की सन्तान चाहे कहीं भी जन्मी हो, वह भारत की नागरिक मानी जाती है और भारत में जन्मी विदेशियों की सन्तान भी भारत की नागरिक मानी जाती है।

प्रश्न 7– आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधायें कौन-सी हैं ?

उत्तर– ये बाधयें हैं : अस्वस्थता, लोभ, स्वार्थ, निर्धनता, साम्प्रदायिकता, दलबन्दी, अशिक्षा, रीति-रिवाज, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, उदासीनता आदि। (इन पर एक-एक वाक्य बनाकर लिख दीजिये।)

प्रश्न 8– नागरिक भाव (Civic Sense) किसे कहते हैं ?

उत्तर– नागरिक द्वारा अपने अधिकारों का उचित प्रयोग करने, अपने कर्त्तव्यों के पालन के प्रति जागरूक व तत्पर रहने तथा राज्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखने को ही नागरिक भाव कहते हैं।

प्रश्न 9– नागरिकता कब समाप्त हो जाती है ? चार कारण बताइये।

उत्तर– (i) महिला द्वारा विदेशी से विवाह करने पर, (ii) विदेशी नौकरी, गम्भीर अपराध तथा देशद्रोह करने पर, (iii) पागल या दिवालिया होने पर, (iv) सेना से भागने या लम्बे समय तक देश में न रहने पर।

प्रश्न 10– आदर्श नागरिक के 6 प्रमुख गुण या लक्षण बताइये।

उत्तर– अच्छा स्वास्थ्य, कर्त्तव्यपरायणता, चरित्रवान, देशभक्त, शिक्षित और अनुशासित। (इन पर एक-एक या दो-दो वाक्य बनाकर लिख दीजिए।)

प्रश्न 11– किसी राज्य का नागरिक कहलाने के लिये किन चार बातों की पूर्ति होना आवश्यक है ?

प्रश्न 12– अस्थायी और स्थायी विदेशी में क्या अन्तर है ? संक्षेप में बताइये।

प्रश्न 13– मताधिकार रहित वयस्क नागरिक से क्या आशय है ?

प्रश्न 14– अल्पवयस्क नागरिक किसे कहते हैं ? समझाइये।

प्रश्न 15– नागरिक और मतदाता में क्या अन्तर है ? समझाइये।

प्रश्न 16– नागरिकता के बिना मुनष्य की स्थिति क्या होती है ? समझाइये।

प्रश्न 17– जन्मजात नागरिकता का रक्त या वंश सिद्धान्त क्या है ?

प्रश्न 18– किसी देश की नागरिकता जिन दशाओं में प्राप्त हो जाती है, उनमें से चार का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 19– आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने के चार उपाय बताइये।

प्रश्न 20– निरक्षरता आदर्श नागरिकता के मार्ग में किस प्रकार बाधक है ? संक्षेप में लिखिये।

प्रश्न 21– साम्प्रदायिकता आदर्श नागरिकता के मार्ग में किस प्रकार बाधक है ? संक्षेप में बताइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– नागरिक और विदेशी में एक अन्तर बताइये।

उत्तर– नागरिक को सामाजिक व राजनीतिक दोनों अधिकार प्राप्त होते हैं किन्तु विदेशी को केवल सामाजिक।

प्रश्न 2– आदर्श नागरिक के दो गुण या लक्षण बताइये। (1989)

उत्तर– (i) सच्चरित्रता, (ii) देशभक्ति।

प्रश्न 3– विदेशी से विवाह कर लेने पर महिला की नागरिकता पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर– महिला की अपने देश की नागरिकता समाप्त हो जाती है।

प्रश्न 4– ऐसी दो परिस्थितियाँ या शर्तें बताइये जिनके आधार पर राज्य विदेशी को नागरिकता प्रदान करता है।

या

नागरिकता प्राप्त करने के दो तरीके या विधि बताइये। (1990, 91)

उत्तर– (i) उस देश में निवास की अवधि पूरी होने पर।
(ii) सरकारी पद पाने पर।

प्रश्न 5– नागरिकता समाप्त होने की दो परिस्थितियों या कारणों का उल्लेख कीजिए। (1984)

उत्तर– ये हैं– (i) विदेशों में नौकरी करना, (ii) सेना से भागना।

प्रश्न 6– आदर्श नागरिकता की दो बाधाओं का उल्लेख कीजिये। (1984)

उत्तर– (i) निर्धनता, (ii) साम्प्रदायिकता।

प्रश्न 7– आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने के दो उपाय बताइये।

उत्तर– (i) शिक्षा का प्रचार, (ii) गरीबी की समाप्ति।

□□

8

नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य

(Rights and Duties of a Citizen)

"अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता है तो अधिकार हैं और उसी को यदि दूसरे के दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो ये कर्त्तव्य हो जाते हैं।"

—डॉ० बेनी प्रसाद

"कर्त्तव्य का पालन कीजिये, अधिकार स्वतः ही आपको मिल जायेंगे।" —महात्मा गाँधी

इस अध्याय में क्या है ?

(1) अधिकार का अर्थ तथा प्रमुख परिभाषायें, (2) अधिकारों के लक्षण या तत्व, (3) अधिकारों की उत्पत्ति के सिद्धान्त, (4) अधिकारों का वर्गीकरण, (5) प्राकृतिक अधिकार, नैतिक अधिकार, कानूनी अधिकार, सामाजिक अधिकार, राजनीतिक अधिकार व मौलिक अधिकार, (6) अधिकारों का महत्व, (7) कर्त्तव्य का अर्थ व परिभाषा, (8) कर्त्तव्यों का वर्गीकरण, (9) नैतिक कर्त्तव्य, कानूनी कर्त्तव्य तथा नागरिक के राज्य के प्रति कर्त्तव्य, (10) अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, (11) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (12) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

पिछले अध्याय में हमने पढ़ा कि नागरिक वह व्यक्ति होता है जिसे राज्य की ओर से कुछ अधिकार मिले होते हैं और जिनके बदले वह राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्यों का पालन करता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में कहा गया है कि **"नागरिकशास्त्र अधिकारों और कर्त्तव्यों का शास्त्र है।"** इस प्रकार नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य नागरिकशास्त्र के मूलाधार हैं। अतः इस अध्याय में अब हम यह अध्ययन करेंगे कि अधिकार क्या हैं ? कर्त्तव्य किसे कहते हैं ? उनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? सुखी नागरिक जीवन के लिये इन दोनों की ही आवश्यकता क्यों होती है ? इन्हें नागरिक जीवन की गाड़ी के दो पहिये क्यों कहा जाता है ? और क्या इनमें से एक की उपेक्षा करके नागरिक अपने जीवन को सुखी व समृद्ध बना सकता है।

अधिकार का अर्थ (Meaning of Rights)

मनुष्य जैसे ही जन्म लेता है उसी क्षण समाज से उसका सम्पर्क स्थापित हो जाता है। समाज में रहकर ही वह अपने व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करता है। किन्तु अपने व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करने के लिये व्यक्ति को समाज में एक विशेष प्रकार के ऐसे वातावरण की आवश्यकता होती है, जिसमें अनेक प्रकार की **"सामाजिक एवं राजनीतिक सुविधायें" प्राप्त हों।"** प्रत्येक समाज और राज्य अपने नागरिकों के विकास के लिये ऐसी सामाजिक एवं राजनीतिक सुविधाओं की व्यवस्था करते हैं, जिनके द्वारा वे अपने पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को सुखी बनाते हुए अपनी उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

नागरिकशास्त्र की भाषा में इन **"सामाजिक एवं राजनीतिक सुविधाओं अथवा माँगों को ही अधिकार कहा जाता है।"** इन सुविधाओं एवं माँगों को प्रदान करने के लिये ही जब राज्य कानून बना देता है, तो ये ही कानून अधिकार का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार **"अधिकार उन सुविधाओं एवं माँगों को कहते हैं जो समाज तथा राज्य द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं और जिनसे व्यक्ति, समाज तथा राज्य सभी का कल्याण होता है।"**

किन्तु व्यक्ति की कुछ ऐसी माँगें भी हो सकती हैं जिनसे समाज के दूसरे व्यक्तियों या

वर्गों को हानि होती हो। ऐसी माँगें पूरी नहीं की जा सकतीं। उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति खचाखच भरे रेल के डिब्बे में लेटकर यात्रा करना चाहे या कोई व्यापारी अनुचित मुनाफा कमाने के लिये मनमाने दाम पर वस्तुओं को बेचना चाहे तो उसे समाज के अन्य व्यक्तियों के हित में ऐसा नहीं करने दिया जा सकता। स्पष्ट है कि व्यक्ति की वही माँगें अधिकार कहलाती हैं जिन्हें समाज जन-कल्याण हेतु स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है। अधिकारों की स्वीकृति के मूल में जन-कल्याण तथा समाज कल्याण दोनों ही विद्यमान होते हैं तथा अधिकार व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक होते हैं।

अतः अधिकार का अर्थ हम इस प्रकार कर सकते हैं– "अधिकार मनुष्य की समाज में श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने की वह माँग है जिसे समाज द्वारा व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित में मान लिया गया हो।"

अधिकार की कुछ प्रमुख परिभाषायें
(Some Definitions of Rights)

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई अधिकार की परिभाषायें ये हैं–

(1) वोसांके के शब्दों में, "अधिकार वे माँगें हैं जो समाज द्वारा स्वीकार और राज्य द्वारा लागू की जाती हैं।"

"A right is a claim, recognized by the society and enforced by the state."

—**Bosanquet**

(2) प्रो० लास्की के अनुसार, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशायें हैं जिनके विना कोई व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता।"

"Rights are those conditions of social life, without which no man can seek in general to be himself at his best."

—**Laski**

(3) मैकनी के शब्दों में, "अधिकार सामाजिक कल्याण की वे सुविधाजनक दशायें हैं जो नागरिक के सही विकास के लिये अनिवार्य हैं।"

"Rights are advantageous circumstances of social benefit which are essential for the real development of human beings."

—**Macney**

(4) वाइल्ड के मत में, "कुछ विशेष कार्यों को करने की स्वतन्त्रता की न्यायोचित माँग ही अधिकार है।"

"A right is a reasonable claim to freedom in the exercise of certain activities."

—**Wilde**

(5) यारिंग के शब्दों में, "कानून द्वारा रक्षित हितों को ही अधिकार कहा जाता है।"

(6) हालैण्ड के शब्दों में, "व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों के कार्यों को स्वयं अपनी शक्ति से नहीं वरन् समाज के बल पर प्रभावित करने की क्षमता को अधिकार कहते हैं।"

"A right is one man's capacity of influencing the act of others not by his own strength but by the strength of the society."

—**Holland**

(7) डॉ० बेनी प्रसाद के अनुसार, "अधिकार वे सामाजिक दशायें हैं जोकि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं।"

(8) श्री निवास शास्त्री के शब्दों में, "अधिकार उस व्यवस्था, नियम या रीति का नाम है जो समाज के कानून द्वारा अनुमोदित हो और नागरिकों के उच्चतम नैतिक कल्याण में सहायक हो।"

(9) इस प्रकार 'अधिकर' शब्द की सर्वोत्तम परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि **"अधिकार सामाजिक जीवन की उन विशेष दशाओं एवं परिस्थितियों को कहते हैं, जिनके अन्तर्गत व्यक्तियों को अपनी तथा समाज की बहुमुखी उन्नति करने के यथेष्ट अवसर प्राप्त होते हैं।"**

अधिकारों के लक्षण अथवा आवश्यक गुण
(Elements or Characteristics of Rights)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकारों में निम्नलिखित लक्षण या आवश्यक तत्व पाये जाते हैं–

(1) व्यक्ति या समुदाय की माँग का नाम– व्यक्ति तथा समुदायों की कुछ आवश्यकतायें होती हैं जिनकी पूर्ति के लिये उनकी ओर से माँगें प्रस्तुत की जाती हैं। ये माँगें जब समाज तथा राज्य द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं, तो ये अधिकार बन जाती हैं।

(2) जन्म समाज में ही– अधिकारों की दूसरी विशेषता यह है कि उनका जन्म समाज में होता है। समाज से बाहर उनका कोई अस्तित्व नहीं होता।

(3) कर्त्तव्यों से सम्बन्धित– अधिकारों और कर्त्तव्यों को अलग नहीं किया जा सकता। कर्त्तव्यों के पालन से ही अधिकार प्राप्त होते हैं और अधिकारों की प्राप्ति से कर्त्तव्य-पालन की शक्ति पैदा होती है। हमारे जो कर्त्तव्य हैं, वे ही दूसरों के अधिकार हैं और दूसरों के कर्त्तव्य ही हमारे अधिकार हैं।

अधिकारों के लक्षण या तत्व

1. व्यक्ति या समुदाय की माँग का नाम
2. जन्म समाज में ही
3. कर्त्तव्यों से सम्बन्धित
4. अधिकार स्वार्थपूर्ण माँगें नहीं हैं
5. समाज की स्वीकृति
6. सर्वव्यापकता।

श्रीनिवास शास्त्री के शब्दों में, **"कर्त्तव्यों की दुनिया में ही अधिकारों का मूल्य होता है।"**

(4) अधिकार स्वार्थपूर्ण माँगें नहीं हैं– अधिकारों की भी सीमायें होती हैं। यदि कुछ माँगें स्वार्थ पर आधारित होती हैं, तो उन्हें अधिकार का रूप नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यापारी चीजों में मिलावट करने का अधिकार माँगे, तो वह नहीं माना जा सकता। अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं जो सामाजिक हित का ध्यान रखते हैं।

इसीलिए डॉ० आशीर्वादम ने कहा है कि, **"अधिकार एक स्वार्थपूर्ण माँग नहीं है, बल्कि यह एक स्वार्थहीन इच्छा है जोकि सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होती है।"**

(5) समाज की स्वीकृति– व्यक्ति अथवा समुदाय की जो माँगें समाज अथवा राज्य द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं उन्हें अधिकार कहा जाता है। इस स्वीकृति के अभाव में वे माँगें ही वनी रहती हैं, उन्हें अधिकार नहीं कहा जाता।

डॉ० आशीर्वादम ने लिखा है कि **"सामाजिक स्वीकृति के अभाव में अधिकार केवल सारहीन दावे मात्र रह जाते हैं।"**

(6) सर्वव्यापकता– अधिकार का एक लक्षण यह भी है कि अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों को व्यापक एवं समान रूप से प्रदान किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में धर्म, जाति, लिंग या वर्ण आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता।

अधिकारों की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(The Theories of the Origin of Rights)

अधिकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित पाँच सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं–

(1) प्राकृतिक सिद्धान्त– अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त सबसे अधिक प्राचीन है। यूनानियों के समय से ही इस सिद्धान्त का प्रचलन है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को जन्म

से ही अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकार मनुष्य को प्रकृति की देन है। हाब्स, लॉक, रूसो, मिल्टन आदि विद्वान इस सिद्धान्त के समर्थक थे।

उनके मतानुसार, जब समाज और राज्य का अस्तित्व नहीं था, तब भी मानव को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और अधिकारों का अस्तित्व समाज व राज्य की स्वीकृति पर निर्भर नहीं होता।

लॉक के शब्दों में, **"सभी मनुष्य स्वतन्त्र और विवेकी पैदा होते हैं तथा समाज की उत्पत्ति से पूर्व ही व्यक्ति को अधिकार प्राप्त थे।"**

डॉ० आशीर्वादम के अनुसार, **"अधिकार उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति के अंग होते हैं जिस प्रकार उसकी चमड़ी का रंग। ये तो स्वयं सिद्ध हैं।"**

अधिकारों की उत्पत्ति के सिद्धान्त

1. प्राकृतिक सिद्धान्त
2. वैधानिक सिद्धान्त
3. ऐतिहासिक सिद्धान्त
4. सामाजिक हित या उपयोगिता का सिद्धान्त
5. नैतिक अथवा आदर्शवादी सिद्धान्त।

महत्व– 17वीं व 18वीं शताब्दी में अधिकारों के इस प्राकृतिक सिद्धान्त से यूरोप तथा अमेरिका की जनता को भारी राजनीतिक प्रेरणा मिली। इसके आधार पर राजाओं के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन किया गया। इस सिद्धान्त के द्वारा मनुष्यों को स्वतन्त्रता व समानता के संघर्ष में सफलता मिली। अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा में प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख किया गया। फ्रांस में 1886 की मानव अधिकारों की घोषणा में इसी सिद्धान्त का सहारा लिया गया।

आलोचना– व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त का भले ही कभी महत्व रहा हो, परन्तु तर्क व इतिहास की दृष्टि से वर्तमान समय में इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं है। कई कारणों से इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है।

प्रथम, तो यह कि 'प्रकृति' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जड़ प्रकृति मनुष्यों को क्या अधिकार दे सकती है। दूसरे, 'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव भी है। अतः स्वभाव ने मनुष्य को अधिकार दिये हैं, यह भी नहीं माना जा सकता। तीसरे, यह सिद्धान्त समाज से बाहर भी अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार करता है। वास्तव में समाज के बिना अधिकारों का कोई अस्तित्व सम्भव नहीं है। मनुष्य जन्म और स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। समाज की स्वीकृति से ही हमें अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि हमारे अधिकारों को कोई छीनता है, तो समाज या राज्य उसे दण्ड देता है। समाज के बिना प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों के अस्तित्व की बात काल्पनिक ही है। ऐसी जंगली अवस्था में मनुष्य को अधिकार नहीं बल्कि शक्ति प्राप्त थी और उस शक्ति पर ही वह मनमानी कर लिया करता था।

जैसा कि गिलक्राइस्ट ने भी कहा है कि **"अधिकारों की उत्पत्ति इसी तथ्य से हुई है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।"**

"Rights arise from the fact that man is a social being." **—Gilchrist**

(2) वैधानिक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का जन्म राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों से होता है। हमारे अधिकार वही हैं जिनहें राज्य का कानून स्वीकार करता है। राज्य तथा उसकी स्वीकृति के बिना अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य ही हमारे अधिकारों की रक्षा करता है। टॉमस, हॉब्स तथा वेन्थम इसके प्रमुख समर्थक थे।

समीक्षा– यह सिद्धान्त भी अपने में पूर्ण नहीं है। कारण यह है कि व्यक्ति अथवा समुदाय की किन्हीं उचित एवं तर्कसंगत माँगों को यदि राज्य स्वीकार नहीं करता है, तो उन माँगों को अधिकार कहलाने से वंचित कैसे किया जा सकता है। **उदाहरण के लिये**, यदि कोई राज्य व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार न करे, तो इस माँग को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार कहने से वंचित नहीं किया जा सकता।

इसीलिये वाइल्ड ने कहा है कि **"राज्य हमारे अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता। वह तो केवल उनको मानता है और उनकी रक्षा करता है।"**

(3) ऐतिहासिक सिद्धान्त समीक्षा– इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन रीति-रिवाज, प्रथायें तथा परम्परायें ही जब राज्य द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं, तो वे अधिकारों का रूप धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिये, हिन्दुओं की उत्तराधिकार सम्बन्धी प्रथा तथा मुसलमानों की विवाह-सम्बन्धी प्रथा।

समीक्षा– किन्तु सभी रीति-रिवाज अधिकारों का रूप धारण नहीं करते। अनेक पुराने रीति-रिवाजों को कानून द्वारा समाप्त भी कर दिया जाता है; जैसे दास-प्रथा, बाल-विवाह प्रथा, अछूतों को मन्दिर प्रवेश निषेध सम्बन्धी प्रथा। इसके अतिरिक्त, राज्य द्वारा मनुष्यों को रीति-रिवाजों से पृथक् भी अनेक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। अतः अधिकारों की उत्पत्ति से सम्बन्धित यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है।

(4) सामाजिक हित या उपयोगिता का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकारों की उत्पत्ति समाज के कल्याण के लिये की जाती है। अतः केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता मिलनी चाहिये जिनसे समाज का हित होता है और तभी तक मान्यता चाहिये, जब तक वे समाज के लिये उपयोगी रहें। जो अधिकार समाज के लिये उपयोग न रहें, उन्हें नष्ट कर दिया जाना चाहिये। लास्की के शब्दों में, **"अधिकारों का औचित्य उनकी उपयोगिता के आधार पर आँका जाना चाहिये।"**

समीक्षा– इस सिद्धान्त में जन-कल्याण या समाज के अधिकतम लाभ को अधिकारों की उत्पत्ति का आधार बनाया गया है। परन्तु इसका दोष यह है कि समाज के अधिकतम लाभ को किस पैमाने से नापा जाये। यह सम्भव हो सकता है कि कभी अधिकतम सामाजिक लाभ के नाम पर समाज या राज्य व्यक्ति की उचित एवं न्यायपूर्ण माँगों को भी स्वीकार न करे।

(5) नैतिक अथवा आदर्शवादी सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की कुछ नैतिक आवश्यकतायें होती हैं जिनकी पूर्ति के लिये अधिकारों की उत्पत्ति होती है। अधिकार कुछ वे सुविधायें तथा सामाजिक दशायें हैं जिनके बिना हम नैतिक दृष्टि से अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकते। नैतिक विकास से तथा कुछ आदर्शों को अपनाने से व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही हित होता है।

ग्रीन का कहना है कि **"यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य के कार्य नैतिक दृष्टि से पूर्ण हों।"**

समीक्षा– अधिकारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त ही उचित प्रतीत होता है। इसमें अधिकारों की सामाजिकता को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार व्यक्ति तथा समाज के आदर्श हितों में कोई अन्तर नहीं है।

अधिकारों का वर्गीकरण
(Classification of Rights)

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अधिकारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है–
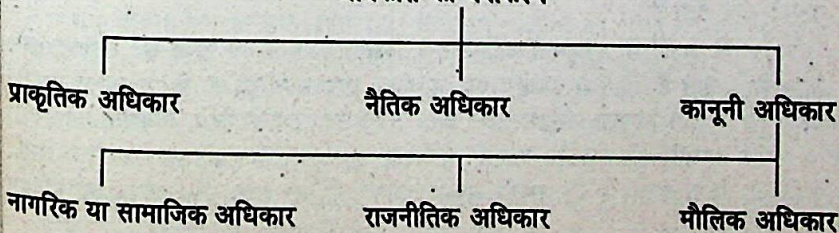
(1) प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)

प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में विद्वानों ने अलग-अलग मत प्रकट किये हैं। रूसो आदि के अनुसार, प्राकृतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो मनुष्य को समाज या राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे। किन्तु यह धारणा सही नहीं है। मनुष्य जन्म से ही एक सामाजिक प्राणी है। अधिकारों का जन्म तथा विकास समाज में ही हुआ है। समाज के अस्तित्व के बिना प्राकृतिक अधिकारों का विचार केवल कल्पनामात्र है।

कुछ लेखकों के अनुसार, प्राकृतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो मनुष्य को न समाज से प्राप्त होते हैं, न राज्य से, बल्कि वे तो मनुष्य को जन्म के साथ ही प्रकृति से प्राप्त हो जाते हैं, जैसे साँस लेने के लिये हवा-प्राप्ति का अधिकार, जीवन बिताने के लिये धूप व प्रकाश आदि की प्राप्ति के अधिकार, धरती, खनिज तथा नदियों के जल के उपयोग का अधिकार आदि। राज्य इन अधिकारों की सुरक्षा तथा सुव्यवस्था का प्रबन्ध करता है, ताकि उनका उपयोग व्यक्ति तथा समाज दोनों के ही हित के लिये किया जा सके।

(2) नैतिक अधिकार (Moral Rights)

नैतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो मनुष्यों को अन्य मनुष्यों द्वारा सदाचार, शिष्टता तथा नैतिकता के नियमों का पालन करने से प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति राज्य के कानून या राज्य की शक्ति से नहीं होती, अपितु लोकमत के भय या समाज के नैतिक दबाव के कारण होती है। इन अधिकारों की प्राप्ति में यदि कोई व्यक्ति बाधक बनता है, तो राज्य न तो उसको अपराधी घोषित करता है और न दण्ड ही देता है।

उदाहरण के लिये, माता-पिता का अपने पुत्र से वृद्धावस्था में सेवा का अधिकार, पति का पत्नी से और पत्नी का पति से प्रेम पाने का अधिकार, समाजसेवी व धार्मिक संस्थाओं को धनिकों से दान पाने का अधिकार, गुरुजनों को छात्रों से आदर पाने का अधिकार, साधुओं को भोजन, दान या भिक्षा प्राप्त करने का अधिकार आदि।

इन अधिकारों की प्राप्ति समाज के नैतिक दबाव से होती है। यदि कोई पुत्र वृद्धावस्था में अपने माता-पिता की सेवा नहीं करता या कोई धनी व्यक्ति किसी धार्मिक संस्था को धन की सहायता नहीं देता, तो कानून या राज्य उन अधिकारों की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते। हाँ, इन अधिकारों की प्राप्ति में बाधक बनने वाले मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा अवश्य गिर जाती है और लोकमत उसकी निन्दा करता है।

(3) कानूनी अधिकार (Legal Rights)

कानूनी या वैधानिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो राज्य द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं और राज्य कानूनों द्वारा उनकी रक्षा करता है। ये अधिकार देशवासियों को सरकार से प्राप्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे अधिकारों की प्राप्ति के मार्ग में बाधक बनता है, तो राज्य उसको दण्ड देता है।

लीकॉक के शब्दों में, **"कानूनी अधिकार वे विशेषाधिकार हैं जो राज्य की सर्वोच्च सत्ता द्वारा प्रदान किये जाते हैं, जिनका उपयोग एक नागरिक अन्य नागरिकों के विरुद्ध करता है और राज्य की प्रभुसत्ता द्वारा जिनको संरक्षण प्राप्त होता है।"** उदाहरण के लिये, नागरिक को अपने जीवन व अपनी सम्पत्ति की रक्षा का कानूनी अधिकार प्राप्त होता है। यदि कोई व्यक्ति उसकी हत्या करने की चेष्टा करता है या उसकी सम्पत्ति छीनता है, तो राज्य ऐसे व्यक्ति को दण्डित करेगा।

किन्तु, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी देशों की सरकारें अपने नागरिकों को समान कानूनी अधिकार प्रदान नहीं करतीं। सरकार जितनी उदार तथा लोकतन्त्रीय होती है, उतने ही अधिक अधिकार वह अपने नागरिकों को प्रदान करती है। भिन्न-भिन्न देशों में इस विषय में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है।

उदाहरण के लिये, रूस में सन् 1990 तक लोगों को वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त नहीं था। फ्रांस में स्त्रियों को वोट देने का अधिकर नहीं है, जबकि अन्य देशों में यह प्राप्त है। तानाशाही शासन के अन्तर्गत लोगों को सरकार की आलोचना करने का अधिकार नहीं होता। किन्तु इन विभिन्नताओं के बावजूद, कुछ कानूनी अधिकार ऐसे हैं जो आमतौर पर विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा प्रदान किये जाते हैं।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ऐसे **कानूनी अधिकारों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं– (क) नागरिक या सामाजिक अधिकार (Civil Rights), (ख) राजनीतिक अधिकार (Political Rights), (ग) मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)।**

(क) नागरिक या सामाजिक अधिकार (Civil or Social Rights)

नागरिक या सामाजिक अधिकार राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं, चाहे वे उस राज्य के नागरिक हों या नहीं। ये अधिकार राज्य के सभी नागरिकों को– चाहे वे बालक हों या वृद्ध, पुरुष हों या स्त्री, धनी हों या निर्धन– बिना किसी भेद-भाव के प्राप्त होते हैं। ये अधिकार राज्य के निवासियों को मनुष्य होने के नाते प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक जीवन में उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे अधिकारों की कोई सीमा नहीं होती। **नीचे कुछ प्रमुख नागरिक अथवा सामाजिक अधिकारों का वर्णन किया गया है–**

(1) जीवन-रक्षा का अधिकार– प्रत्येक मनुष्य को राज्य द्वारा अपने जीवन की रक्षा का अधिकार प्राप्त होता है। राज्य देशवासियों के इस अधिकार की रक्षा के लिये सेना, पुलिस तथा न्यायालय आदि की व्यवस्था करता है और आन्तरिक उपद्रवों, चोर-डाकुओं तथा विदेशी हमलों से अपने देशवासियों के जीवन की रक्षा करता है।

यदि किसी व्यक्ति पर कोई अन्य व्यक्ति हमला करता है या उसको जान से मारने की चेष्टा करता है, तो पहला व्यक्ति अपने जीवन की रक्षा के लिये कानून का आश्रय ले सकता है; और यदि इसका समय न हो, तो वह अपनी जान बचाने के लिये हथियारों का भी प्रयोग कर सकता है, चाहे ऐसा करने में हमलावर की मृत्यु ही क्यों न हो जाये। जीवन-रक्षा का अधिकार इतना व्यापक है कि व्यक्ति को आत्महत्या करने का भी अधिकार नहीं है। ऐसा प्रयत्न करने पर वह स्वयं भी दण्ड का भागी होता है।

इसलिये टॉमस ए० ने कहा है कि **"आत्महत्या अपने प्रति, समाज के प्रति तथा ईश्वर के प्रति अपराध है।"**

"Suicide is an offence to oneself, an offence to Community as well as an offence to God Himself."

—Tomas A.

(2) सम्पत्ति की रक्षा तथा उपयोग का अधिकार– व्यक्ति को राज्य की ओर से यह कानूनी अधिकार प्राप्त होता है कि वह कमाई द्वारा चल या अचल सम्पत्ति प्राप्त कर सके, उसका किसी भी प्रकार उपयोग कर सके, या उसका क्रय-विक्रय कर सके। उसे राज्य द्वारा अपनी सम्पत्ति की रक्षा का भी अधिकार होता है। यदि कोई व्यक्ति उसके इस अधिकार में बाधा डालता है, तो वह कूनन तथा न्यायालय की शरण ले सकता है।

किन्तु यदि कोई व्यक्ति समाज को हानि पहुँचाकर धन या सम्पत्ति का संग्रह करना चाहता है, तो राज्य को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है। राज्य इस बात का प्रयत्न करता है

कि कहीं ऐसा न हो कि इस अधिकार के नाम पर कुछ लोगों के पास ही सम्पत्ति एकत्र हो जाये और अधिकांश लोग निर्धन बने रहें। इस कार्य के लिए वह अनेक प्रकार के कर लगाता है तथा कानून बनाता है। कुछ राज्य तो व्यक्तिगत सम्पत्ति के संग्रह पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा देते हैं; जैसा कि सन् 1990 तक रूस में किया गया।

नागरिक या सामाजिक अधिकार

1. जीवन-रक्षा का अधिकार
2. सम्पत्ति की रक्षा व उपयोग का अधिकार
3. स्वतन्त्रता का अधिकार
4. धार्मिक अधिकार
5. भ्रमण व पर्यटन का अधिकार
6. सभा तथा संगठन करने का अधिकार
7. न्याय प्राप्ति का अधिकार
8. मनोरंजन का अधिकार
9. शिक्षा का अधिकार
10. व्यवसाय का अधिकार
11. स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन का अधिकार
12. अन्य अधिकार।

(3) विचार, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता का अधिकार– विचार, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता के अधिकार से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है तथा इससे समाज का हित होता है। इस अधिकार के उपयोग द्वारा जनता सार्वजनिक विषयों पर अपना मत प्रकट कर सकती है। प्रजातन्त्र राज्यों में इस अधिकार का अनुचित लाभ उठाकर समाज में अशान्ति, वैमनस्य या विद्वेष फैलाता है या सरकार के विरुद्ध झूठा प्रचार करता है, तो सरकार हस्तक्षेप करके इसं अधिकार को सीमित कर देती है। तानाशाही राज्यों में जनता को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(4) धार्मिक अधिकार– इस अधिकार के अन्तर्गत लोगों को इस वात की स्वतन्त्रता होती है कि वे किसी भी धर्म का पालन कर सकें और अपने धार्मिक विचारों का प्रचार कर सकें। किन्तु ऐसा करते समय उन्हें इस वात का ध्यान रखना चाहिये कि अन्य लोगों की धार्मिक मान्यताओं को ठेस न पहुँचे, समाज की शान्ति भंग न हो तथा लोगों में साम्प्रदायिक भावना न पनपे। इसके विपरीत स्थिति में राज्य इस अधिकार को सीमित कर देता है। अतः लोगों को चाहिये कि दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखते हुए अपने-अपने धर्म का पालन करें और राज्य सभी धर्म वालों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करे।

(5) भ्रमण एवं पर्यटन का अधिकार– प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह देश की सीमाओं के अन्दर तथा विदेशों में भ्रमण कर सके। इससे व्यक्तियों में ज्ञान व अनुभव की वृद्धि होती है। वे रुचि के अनुसार, कहीं भी कार्य कर सकते हैं, किन्तु विदेशों में जाने के लिये व्यक्तियों को पहले सरकार से अनुमति लेनी होती है। परन्तु यदि किसी व्यक्ति के स्थान परिवर्तन से सरकार को शान्ति-भंग की आशंका हो अथवा उससे समाज या राष्ट्र को हानि पहुँचती हो, तो वह लोगों के इस अधिकार पर प्रतिवन्ध लगाकर इसे सीमित कर सकती है।

(6) सभा तथा संगठन का अधिकार– अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये व्यक्ति को संगठन करने, सभा करने, समुदाय वनाने तथा विभिन्न संस्थाओं का सदस्य बनने का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए, मिल मालिकों, मजदूरों, अध्यापकों, सरकारी कर्मचारियों, वकीलों व व्यापारियों आदि के संघ होते हैं और अपना दृष्टिकोण जनता व सरकार के सामने रखने के लिए उन्हें सभा या मीटिंग करने की स्वतन्त्रता होती है। किन्तु यदि कोई संगठन या संघ समाज को या समाज के किसी वर्ग को हानि पहुँचाता है, तो सरकार उस पर रोक भी लगा सकती है।

(7) न्याय-प्राप्ति का अधिकार– यह व्यक्तियों का वड़ा महत्वपूर्ण अधिकार है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने अन्य सम्पूर्ण अधिकारों की रक्षा करता है। यदि उसके साथ किसी व्यक्ति, समुदाय या सरकार द्वारा अत्याचार किया जाता है, उसका कोई अधिकार छीना जाता है, कोई व्यक्ति उसकी मानहानि करता है, तो वह न्याय प्राप्ति के लिये न्यायालय की शरण में जा सकता है।

इस दिशा में सरकार का यह कर्त्तव्य होता है कि वह ऐसे कानून बनाये जिससे देश के सभी निवासियों को बिना किसी भेद-भाव के न्याय प्राप्त हो सके। न्याय इतना महंगा न हो कि वह गरीब की पहुँच से बाहर हो।

(8) मनोरंजन का अधिकार– दिन-भर शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम करने के बाद व्यक्ति थक जाता है और मनोरंजन द्वारा अपनी थकावट को दूर करना चाहता है। इसके लिये उसे मनोरंजन प्रदान करने वाले विभिन्न समुदायों का सदस्य बनने और उसका लाभ उठाने का अधिकार होता है। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह लोगों के इस अधिकार के लिये समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न करे और पार्क, स्टेडियम, सिनेमागृह, क्लब, डाक-घर, व्यायामशालायें, तैरने के स्थान तथा चिड़ियाघर आदि बनवाये और रेड़ियो व दूरदर्शन पर कार्यक्रम चलाए, ताकि लोग अवकाश का समय बिताकर मनोरंजन कर सकें।

(9) शिक्षा का अधिकार– शिक्षित मनुष्य ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और सुखी सामाजिक जीवन बिता सकता है। उचित शिक्षा से ही व्यक्ति आदर्श नागरिक बन सकता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह किसी भी भाषा का अध्ययन करे और किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करे। राज्य को चाहिये कि वह शिक्षा संस्थाओं का समुचित प्रबन्ध करे, नैतिक, साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करे, पुस्तकालय तथा वाचनालय खोलें और यथासम्भव निःशुल्क शिक्षा की सुविधायें प्रदान करे।

(10) व्यवसाय व व्यापार की स्वतन्त्रता का अधिकार– इस अधिकार का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी इच्छा, योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कोई भी कार्य, व्यवसाय या व्यापार कहीं पर भी कर सके। जाति-प्रथा, छुआछूत तथा रीति-रिवाज उसके इस अधिकार में बाधक नहीं होने चाहियें। यदि व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी, तो व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता।

भारत में जाति-प्रथा इस अधिकार में बाधक बनती है। हरिजनों को इच्छानुसार उच्च कार्य करने में कई सामाजिक बाधायें सामने आती हैं। सरकार को चाहिये कि इन बाधाओं को दृढ़ता से दूर करे। सरकार का यह भी कर्त्तव्य है कि यदि कोई व्यक्ति काम करना चाहता है और उसे काम नहीं मिलता है तो उसके लिये समुचित रोजगार की व्यवस्था करे, जिससे लोग बेकार न रहें।

लास्की के शब्दों में, **"एक व्यक्ति को केवल काम पाने का ही अधिकार नहीं है, अपितु उसे यह भी अधिकार है कि उसे काम करने के लिये उपयुक्त मजदूरी मिले।"**

(11) स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन का अधिकार– इस अधिकार से आशय है कि व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप के बिना स्वतन्त्र रूप से इच्छानुसार अपना पारिवारिक जीवन बिताने का अधिकार होना चाहिये। परिवार का मनुष्य के सामाजिक जीवन में बड़ा महत्व है। परिवार में बच्चों को शिक्षा प्राप्त होती है, उसी पर उनका भविष्य निर्भर होता है अतः प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ स्वतन्त्र पारिवारिक-जीवन बिता सके, कोई बाहरी व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप न करे।

इस अधिकार में स्वतन्त्र रूप से विवाह करने तथा गृहस्थ जीवन भार हो जाने पर तलाक देने का अधिकार भी सम्मिलित है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ पारिवारिक कुरीतियों को दूर करने के लिये सरकार पारिवारिक मामलों में हस्तक्षेप करती है; उदाहरण के लिये बाल-विवाह, विधवा विवाह, मरणभोज, दहेज-प्रथा आदि के सम्बन्ध में तथा बच्चों की अनिवार्य शिक्षा तथा उनके अनिवार्य रूप से टीका लगवाने के सम्बन्ध में सरकार नियम बनाती है। इन नियमों से परिवार का हित होता है।

(12) अन्य नागरिक अधिकार– उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार होते हैं जो राज्य के निवासियों को प्राप्त होते हैं; जैसे समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का अधिकार, संस्कृति व साहित्य की उन्नति का अधिकार, सार्वजनिक स्थानों व मार्गों के प्रयोग का अधिकार, आत्मसम्मान का अधिकार आदि। ये अधिकार, राज्य के सभी निवासियों को समान रूप से प्राप्त होते हैं।

(ख) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)

राजनीतिक अधिकारों की श्रेणी में वे अधिकार आते हैं जो केवल राज्य के नागरिकों को ही प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों द्वारा नागरिक अपने देश के शासन-प्रबन्ध में भाग लेते हैं राजनीतिक अधिकार विदेशियों, नाबालिगों, पागलों तथा दिवालियों को प्राप्त नहीं होते। आधुनिक लोकतन्त्रीय युग में राजनीतिक अधिकारों को भारी महत्ता प्राप्त है। राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य अधिकार सम्मिलित किये जाते हैं–

(1) मत देने का अधिकार– आज का युग प्रजातन्त्र का युग है। प्रजातन्त्र शासन में जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है जो देश का शासन चलाते हैं। अतः लोकतन्त्रीय व्यवस्था में नागरिकों को यह अधिकार होता है कि वे स्थानीय, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय शासन के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव करने में स्वतन्त्रतापूर्वक अपना मत दे सकें। इस अधिकार के द्वारा नागरिक अपने देश के शासन-कार्य में भाग लेते हैं।

कई देशों में अशिक्षितों अथवा नारियों को इस अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। भारत में प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को बिना किसी भी प्रकार के भेद-भाव के यह अधिकार प्रदान किया गया है। वर्ण, जाति, धर्म अथवा रंग इसमें बाधक नहीं है। नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे इस अधिकार का सदुपयोग करें और शासन के लिये योग्य व्यक्तियों को ही चुनकर भेजें।

(2) निर्वाचित होने का अधिकार– इस अधिकार का अर्थ है कि कोई भी नागरिक स्थानीय संस्थाओं, विधानमण्डल अथवा संसद में चुने जाने के लिये चुनाव में खड़ा हो सकता है। राज्य का कानून उसके इस अधिकार को प्रतिबन्धित नही कर सकता। भारत में आयु के अतिरिक्त इस अधिकार पर अन्य कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस अधिकार का दुरुपयोग न करे और चुने जाने के पश्चात् लोकहित का ध्यान रखते हुए अपनी सभी जिम्मेदारियों को निभाये।

राजनीतिक अधिकार

1. मत देने का अधिकार
2. निर्वाचित होने का अधिकार
3. सरकारी पद पाने का अधिकार
4. प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार
5. सरकार की आलोचना का अधिकार
6. निवास का अधिकार
7. विदेश में नागरिकों की रक्षा का अधिकार।

(3) सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार– राज्य के सभी नागरिकों को यह अधिकार होता है कि वे अपनी-अपनी योग्यता, क्षमता एवं कुशलता के अनुसार सरकारी पदों को प्राप्त कर सकें। सरकार इसके लिये प्रतियोगिता परीक्षाओं का आयोजन करके नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्त करती है। जाति या धर्म आदि के कारण किसी नागरिक को इस अधिकार से वंचित नहीं किया जाता। ऐसा करके योग्यतम नागरिकों को शासन-कार्य के लिये नियुक्त किया जाता है।

(4) प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार– प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह अपने कष्टों एवं शिकायतों को प्रार्थना-पत्र के द्वारा सरकार के समक्ष रख सके और सरकार का ध्यान उस ओर आकर्षित कर सके। सरकार को भी चाहिये कि ऐसे प्रार्थना-पत्रों पर विचार

करके उन शिकायतों को दूर करे। इससे सरकारी शासन में व्याप्त बुराइयाँ दूर होती हैं और शासन-कार्य के संचालन में सहायता मिलती है।

(5) सरकार की आलोचना करने का अधिकार– लोकन्त्रीय शासन में नागरिकों को यह भी अधिकार प्राप्त होता है कि वे सरकार के अनुचित एवं पक्षपातपूर्ण कार्यों तथा उसके दोषों की आलोचना कर सकें और उसको सही मार्ग पर ला सकें।

परन्तु इस सम्बन्ध में नागरिकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि इस अधिकार के नाम पर वे व्यक्तिगत दोषारोपण, गुटंबन्दी का प्रचार तथा सरकार की झूठी आलोचना न करें।

(6) निवास का अधिकार– नागरिकों को यह अधिकार होता है कि वे राज्य के किसी भी भाग में अचल सम्पत्ति का क्रय कर सकें, वहाँ स्थायी रूप से रह सकें। परन्तु विशेष परिस्थितियों में देश-हित की दृष्टि से सरकार इस अधिकार में हस्तक्षेप कर सकती है। उदाहरण के लिये; काश्मीर में कश्मीरियों के अलावा अन्य भारतीयों को अचल सम्पत्ति खरीदने का अधिकार नहीं है।

(7) विदेश में रहने वाले नागरिकों की रक्षा का अधिकार– वर्तमान युग में परिवहन के शीघ्रगामी साधनों के विकास के कारण जो नागरिक भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से विदेशों में जाकर रहने लगते हैं उन्हें यह अधिकार प्राप्त होता है कि वे विदेश की सरकार अथवा वहाँ के लोगों द्वारा सताये जाने पर अपनी सरकार से सहायता एवं रक्षा की सुविधा प्राप्त कर सकें। ऐसे अवसरों पर सरकार यथाशक्ति अपने नागरिकों को संरक्षण प्रदान करती है।

निष्कर्ष– उपर्युक्त अधिकारों से स्पष्ट है कि व्यक्ति के सामाजिक जीवन में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यदि राज्य और समाज की ओर से व्यक्ति को अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं, तो उस स्थिति में न तो व्यक्ति ही अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है और न देश तथा समाज ही उन्नति कर सकता है। इन अधिकारों को प्रजातन्त्र शासन का आधार माना जाता है। इसके बिना लोकतन्त्रीय शासन सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक कल्याणकारी राज्य इन अधिकारों को स्वीकार कर सम्पूर्ण देशवासियों तथा नागरिकों के लिये विकास के समुचित अवसर प्रदान करता है।

किन्तु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसी भी नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार का दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। अधिकारों का उपभोग करते समय नागरिक को दूसरों के हित को सदा दृष्टिगत रखना चाहिये।

(ग) मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)

मौलिक अधिकार क्या हैं ?— मौलिक अधिकार या मूल अधिकार साधारण अधिकारों से कोई विशेष भिन्न नहीं होते। मूल अधिकार उन महत्वपूर्ण अधिकारों को कहते हैं जो नागरिकों के विकास के लिये अत्यावश्यक होते हैं तथा देश के संविधान या सरकार द्वारा जिन्हें मान्यता प्रदान की जाती है। इन मूल अधिकारों से प्रत्येक नागरिक को विकास के लिये बिना किसी प्रकार के भेदभाव के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

महत्वपूर्ण अधिकारों को मूल अधिकार या मौलिक अधिकार इसलिये कहा जाता है क्योंकि ये नागरिकों के बहुमुखी विकास के मूलाधार होते हैं। मूल कहते हैं जड़ को। जिस प्रकार जड़ (मूल) के बिना कोई वृक्ष फल-फूल नहीं सकता, उसी प्रकार इन मूल अधिकारों के बिना कोई नागरिक अपना आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास नहीं कर सकता।

अन्य शब्दों में, **"व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये जो अधिकार अत्यावश्यक तथा अनिवार्य होते हैं, उन्हें मूल अधिकार कहा जाता है।"**

मूल अधिकारों की स्थिति साधारण अधिकारों से ऊँची होती है। सरकार द्वारा मूल अधिकारों

का आसानी से हनन नहीं किया जा सकता। यदि वह इनका हनन करती है, तो न्यायालय में अपील की जा सकती है। इसीलिये देश की मूल विधि (अर्थात् संविधान) में मूल अधिकारों का उल्लेख करके उनके पालन की गारन्टी दी जाती है।

सारांश रूप में, **"उन महत्वपूर्ण अधिकारों को मूल अधिकार या मौलिक अधिकार कहा जाता है, जो व्यक्ति के जीवन के लिये अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिनमें राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।"**

भारतीय संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकार– ब्रिटिश काल में भारत में नागरिकों को वहुत कम अधिकार प्राप्त थे। उस समय नागरिकों को विचार प्रकट करने तथा सभा आदि करने तक की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। भारतीयों का दमन करने के लिये अंग्रेजों ने कठोर कानून बना रखे थे। उस समय भारतीयों को ऐसे क्लबों का सदस्य वनने तक का अधिकार नहीं था जिनके सदस्य अंग्रेज होते थे। ऐसे क्लवों के दरवाजे पर बोर्ड लगा रहता था– **"Indians and dogs are not allowed"**। नागरिक को बिना मुकदमा चलाये जेल में डाला जा सकता था। इस प्रकार ब्रिटिश परतन्त्रता के काल में भारतीय नागरिक सामान्य अधिकारों से भी वंचित थे।

किन्तु 1947 में जव भारत स्वतन्त्र हुआ और इसे लोकतन्त्रात्मक गणराज्य वनाया गया, तो भारतीय नागरिकों पर लगे अनेक प्रतिवन्ध हटा दिये गये। नागरिकों को अनेक अधिकार प्रदान किये गये। भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया। अब किसी भी नागरिक को धर्म, जाति, रंग या वर्ण के कारण मूल अधिकारों से वंचित नहीं किया जाता। अस्पृश्यता समाप्त कर दी गई है।

भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को निम्नलिखित मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं– (1) समता का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार, (3) शोषण से रक्षा का अधिकार, (4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (5) संस्कृति व शिक्षा सम्वन्धी अधिकार और (6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार। नागरिकों को यह भी अधिकार प्राप्त है कि यदि कोई व्यक्ति या समुदाय उनको इन अधिकारों से वंचित करता है, तो वे न्यायालय से संरक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

अधिकारों का महत्त्व
(Importance of Rights)

अधिकार मानव के विकास की सीढ़ियाँ हैं। प्रो० लास्की ने ठीक ही कहा है कि, **"अधिकार जीवन की वे दशायें हैं जिनके बिना कोई मनुष्य अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।"**

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकारों का महत्व स्पष्ट है। अधिकारों में केवल वही स्वतन्त्रतायें शमिल हैं जो मानव के लिये हितकर हैं। जिस प्रकार व्यापार को चलाने के लिये पूँजी का महत्व है, इंजन को चलाने के लिये तेल-पानी की आवश्यकता है, उसी प्रकार व्यक्ति और समज की गाड़ी को सुचारु रूप से चलाने के लिये अधिकारों का महत्व है। अधिकार-रहित व्यक्ति का जीवन पैरों से रौंदे जाने वाले फूल के समान है।

अधिकारों की नींव पर ही सभ्यता और संस्कृति का विकास कायम है। यदि मनुष्य को लेखन व भाषण की सुविधा न हो अर्थात् यह अधिकार प्राप्त न हो तो मनुष्य एवं मूक पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाये और ज्ञान एवं संस्कृति का मूल स्रोत ही सूख जाये। कहा गया है कि 'शिक्षा विन मनु पशु समाना।' शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से शासन में उच्च पदों को प्राप्त किया जाता है।

इसी प्रकार धार्मिक अधिकारों के सहारे अपने मन एवं आत्मा को सन्तोष मिलता है। समानता के अधिकारों से मानव-जीवन में उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की असमानतायें समाप्त हो जाती हैं। मानव, मानव के अधिक समीप आ जाता है।

अधिकार-रहित देश में नागरिक का जीवन उस कठपुतली के समान है जिसे वह जिस

ओर चाहे उसी ओर नचा देता है। अधिकारहीन जीवन में नागरिक के गुण पनप नहीं सकते।

राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग तो जीवन की एक कला वन गई है। मताधिकार से प्रत्येक नागरिक शासन के कार्यों में भाग लेता है। निर्वाचित होने के अधिकार से वह सेवा-भावना की दृष्टि से पदों को ग्रहण करता है। इस अधिकार के कारण जनता व सरकार एक हो जाती है, राज्य की शक्ति वढ़ जाती है, राष्ट्र के संकट के समय जनता उसकी प्रतिष्ठा के लिये अपना तन-मन-धन अर्पण कर देती है। इस अधिकार के विना 'जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिये शासन' की कल्पना नहीं की जा सकती। 1965 व 1971 में पाकिस्तान के भारत पर आक्रमण के समय उपस्थित संकट में भारत की जनता ने त्याग एवं संगठन से देश-प्रेम का परिचय दिया था।

अधिकार में व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित की भावना का समावेश मिलता है। अधिकारों से जीवन में प्रकाश मिलता है और उत्तरदायित्व की भावना तथा राष्ट्रीयता का निर्माण होता है। जिस प्रकार तेल से दीपक प्रकाशयुक्त होता है, उसी प्रकार जीवनरूपी दीपक अधिकाररूपी तेल से ही प्रकाशमान होता है। इस प्रकार अधिकार व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं।

कर्त्तव्य का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Duty)

कर्त्तव्य से आशय उन कार्यों से होता है जो मनुष्य को करने चाहियें। कर्त्तव्य उन कार्यों को कहते हैं जिनका करना मनुष्य के लिये उचित एवं आवश्यक हो। यहाँ एक प्रश्न यह सामने आता है कि कार्यों के सम्वन्ध में उचित एवं आवश्यक का निर्णय कैसे हो ? स्पष्ट है कि जिन कार्यों को करने से व्यक्ति, समाज तथा राज्य का हित हो, वे हीं कार्य उचित तथा आवश्यक कहे जा सकतें हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि "कर्त्तव्य वे कार्य हैं जिन्हें मनुष्य को अपने तथा समाज के कल्याण के लिये करना चाहिये।"

एक अन्य लेखक के अनुसार, "मनुष्य के सामाजिक एवं राजनीतिक उत्तर-दायित्वों का नाम ही कर्त्तव्य है।"

कर्त्तव्यों के पालन से व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों का विकास होता है और वह सच्चरित्र बनता है।

सभी राजनैतिक विचारक कर्त्तव्यों पर अधिकारों की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। "गीता" में श्री कृष्ण ने यही उपदेश दिया है कि मनुष्य का अधिकार कर्म करने का है, फल की कामना का नही। कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।" गाँधी जी कहा करते थे कि कर्त्तव्यों का पालन करने से अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। वास्तव में अधिकारों के उचित प्रयोग का नाम ही कर्त्तव्य हैं।

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण
(Classification of Duties)

अधिकारों के समान ही नागरिक के कर्त्तव्यों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं है। अतः कर्त्तव्यों की कोई एक सूची प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से नागरिक के कर्त्तव्यों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) नैतिक कर्त्तव्य (Moral Duties)

(ख) कानूनी कर्त्तव्य या राज्य के प्रति कर्त्तव्य (Legal Duties)

(क) नैतिक कर्त्तव्य (Moral Duties)

नैतिक कर्त्तव्य उन कर्त्तव्यों को कहते हैं जिनका पालन लोग समाज के दवाव के कारण, लोकमत के भय के कारण अथवा अपनी प्रतिष्ठा बनाने या बदनामी से बचने के कारण करते हैं। **ये कर्त्तव्य अनविार्य न होकर ऐच्छिक होते हैं,** किन्तु जो लोग नैतिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते समाज में उनकी प्रतिष्ठा गिर जाती है। समाज में निन्दा होने के डर से ही लोग इनका पालन करते हैं। इनका पालन न करने वालों को सरकार की ओर से कोई दण्ड नहीं दिया जाता।

उदाहरण के लिये; सच बोलना, दूसरों का आदर करना, माता-पिता की सेवा करना, गुरु का सम्मान करना, पड़ोसियों के प्रति प्रेम रखना, समाज-सेवा करना आदि; मनुष्य के नैतिक कर्त्तव्य हैं। धर्मशास्त्र और आचरणशास्त्र नैतिक कर्त्तव्यों से भरे पड़े हैं।

नैतिक कर्त्तव्य वैधानिक कर्त्तव्यों से भी ऊँचे होते हैं। अनेक बार वैधानिक कर्त्तव्यों का उल्लंघन करके भी राष्ट्र-हित में मनुष्य को नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। **उदाहरण के लिये;** राज्य की आज्ञा का पालन करना मनुष्य का वैधानिक कर्त्तव्य है, किन्तु जव शासन अत्याचारी हो जाये, तो उसका विरोध करना मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। महात्मा गाँधी ने देश की आजादी के लिये, हरिजनों के उद्धार के लिये जो कार्य किये, भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियों ने जो बलिदान किये ये सब नैतिक कर्त्तव्य ही थे। एक अच्छा नागरिक अनिवार्य न होते हुए भी कभी नैतिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करता। **नागरिक के स्वयं अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, पड़ोसियों के प्रति या गाँव-नगर के प्रति और समाज तथा विश्व के प्रति अनेक नैतिक कर्त्तव्य हैं** जिनका उसे स्वेच्छा से पालन करना चाहिये। इन कर्त्तव्यों का पालन किये बिना वह एक आदर्श व श्रेष्ठ नागरिक नहीं बन सकता। ऐसे नैतिक कर्त्तव्यों का विवरण निम्न प्रकार है–

(1) अपने प्रति– नागरिक राष्ट्र का अभिन्न अंग होता है। उसके शरीर, मन, बुद्धि एवं कार्यों से राष्ट्र को शक्ति प्राप्त होती है। अतः उसका नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने शरीर की समुचित देख-भल करे। उसका जीवन राष्ट्र की सम्पत्ति है। अपने जीवन की रक्षा करना तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करना उसका नैतिक कर्त्तव्य है। शरीरिक उन्नति के लिये उसे शरीर को स्वच्छ रखना चाहिये, पौष्टिक भोजन खाना तथा व्यायाम करना चाहिये। रोग होने पर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उत्तम शिक्षा से अपना मानसिक व बौद्धिक विकास करना चाहिये।

यदि किसी राष्ट्र के नागरिक स्वस्थ, बलवान, चरित्रवान, बुद्धिमान तथा परिश्रमी होते हैं, तो वह राष्ट्र उन्नति करता है और संसार में उसका मान बढ़ता है। इसके विपरीत रोगी, अस्वस्थ, चरित्रहीन, आलसी और स्वार्थी नागरिक स्वयं भी डूबते हैं और राष्ट्र को भी ले डूबते हैं। अतः प्रत्येक नागरिक को चाहिये कि वह स्वयं अपने प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करके राष्ट्र के एक अंग के रूप में अपना सर्वांगीण विकास करे और राष्ट्र की उन्नति में अपना योगदान दे।

(2) अपने परिवार के प्रति– परिवार एक महत्वपूर्ण समुदाय है। व्यक्ति का जन्म परिवार की गोद में ही होता है। आत्म-निर्भर होने तक परिवार में ही उसका पालन-पोषण होता है। बाद में भी परिवार के द्वारा ही उसकी अनेक आवश्यकतायें पूरी होती हैं। अतः व्यक्ति परिवार का बड़ा ऋणी होता है। इसी कारण परिवार के प्रति उसके अनेक कर्त्तव्य होते हैं जिनका पालन करके व्यक्ति अपने पारिवारिक ऋण को उतार सकता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो उसे कृतघ्न ही कहा जायेगा।

परिवार में पति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी की रक्षा करे, उससे प्रेम रखे तथा उसका जीवन सुखी बनाये। इसी प्रकार पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई अपने पति की सेवा करे तथा अपने गृहस्थ के सभी कार्यों को पूर्ण करे। माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों के भोजन, वस्त्र, शिक्षा तथा उनकी देख-भाल की समुचित व्यवस्था

करें। दूसरी ओर बच्चों का भी कर्त्तव्य है कि वे माता-पिता तथा वृद्ध जनों की आज्ञा का पालन करें, उनकी सेवा करें तथा घर के कार्यों में हाथ बँटायें। परिवार के वृद्ध जनों का कर्त्तव्य है कि वे परिवार के सब सदस्यों के प्रति समान दृष्टि रखें और परिवार का सही मार्ग-दर्शन करें।

यदि परिवार के सभी सदस्य अपने कर्त्तव्यों का स्वेच्छा से पालन करेंगे, तो उनका पारस्परिक एवं सामाजिक जीवन सुखी हो जायेगा और उनके बच्चे देश के अच्छे नागरिक बनेंगे।

(3) अपने पड़ोस के प्रति– कोई भी व्यक्ति जब नया मकान खरीदता है या किराये पर लेता है, तो वह देखता है कि उसके आस-पास कैसे लोग रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अच्छे पड़ोसियों के पास सभी रहना चाहते हैं। अच्छे पड़ोसी का अर्थ है कि **हम पारिवारिक हित से कुछ ऊपर उठकर अपने पड़ोसियों के हित की भी बात सोचें।** प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे उसके पड़ोसी को कष्ट हो या हानि पहुँचे। उसको अपने पड़ोसी से अच्छे सम्बन्ध रखने चाहियें तथा उनके सुख-दुख में सम्मिलित होना चाहिये।

नैतिक कर्त्तव्य

1. अपने प्रति
2. अपने परिवार के प्रति
3. अपने पड़ोस के प्रति
4. गाँव या नगर के प्रति
5. समाज के प्रति
6. विश्व के प्रति।

अनेक लोग अपने पड़ोसियों की कोई चिन्ता नहीं करते। यदि पड़ोस में मृत्यु हो गई है, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके दुःख में शामिल हों। यदि पड़ोस में कोई व्यक्ति बीमार है, तो हम उसकी सेवा में अपना हाथ बढ़ायें। ऐसी भावना से ही परिवार तथा मौहल्ले के निवासियों का जीवन सुखी बनता है। शास्त्रों में अच्छे पड़ोसी को स्वर्गतुल्य बताया गया है। यदि हम पड़ोसियों से स्वार्थपूर्ण व्यवहार करेंगे, तो सम्पूर्ण मौहल्ले का जीवन ही नरकतुल्य हो जायेगा और मौहल्ला झगड़ों का अड्डा बन जायेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने पड़ोसी के हित तथा अहित का ध्यान रखे। उसके ऐसा करने पर उसके पड़ोसी उसके प्रति भी ऐसा ही सद्व्यवहार करेंगे।

(4) गाँव या नगर के प्रति– बड़ा हो जाने पर व्यक्ति का कार्य-क्षेत्र परिवार तथा पड़ोस से भी आगे बढ़कर गाँव या नगर तक विस्तृत हो जाता है अतः अपने गाँव या नगर के प्रति भी उसके अनेक कर्त्तव्य हो जाते हैं। उसे गाँव या नगर के निवासियों तथा नगर का प्रबन्ध करने वाली संस्थाओं से अनेक सुविधायें प्राप्त होती हैं। अतः उसका भी कर्त्तव्य है कि वह नगर या गाँव की सफाई में योग दे, गाँव या नगर के निवासियों के हितों का ध्यान रखे, नगर की शिक्षा संस्थाओं तथा प्रबन्ध संस्थाओं में सक्रिय रूप से भाग ले, गाँव या नगर पर संकट आने की स्थिति में मुँह न मोड़े और हर प्रकार से अपने गाँव या नगर को उन्नत बनाने का प्रयत्न करे। गाँव या नगर का सुखी जीवन ही सुखी सामाजिक जीवन का आधार होता है।

(5) समाज के प्रति– मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। समाज में ही उसका जन्म होता है और समाज में ही उसका बहुमुखी विकास होता है। अतः समाज के प्रति उसके अनेक कर्त्तव्य होते हैं जिनका पालन करके वह समाज के ऋण से मुक्त हो सकता है।

नागरिक का कर्त्तव्य है कि समाज के अन्तर्गत निर्माण होने वाले विभिन्न समुदायों की गतिविधियों में वह सक्रिय रूप से भाग ले। समाज में जो कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जैसे जाति-प्रथा, छुआछूत, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा आदि उनके उन्मूलन के लिये सामाजिक संस्थाओं को सहयोग दे। अपने परिवार, पड़ोस तथा नगर के सदस्यों के प्रति प्रेम-भाव रखे। समाज में अन्धे, लूले, लंगड़े, अनाथ तथा दीनों की यथाशक्ति सहायता करे। अपने नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों का इस प्रकार उपयोग करे कि उससे समाज के अन्य सदस्यों को हानि न पहुँचे। समाज के प्रति

ऐसी भावना रखकर ही व्यक्ति अपने सुखी एवं समृद्ध सामाजिक जीवन का निर्माण कर सकता है और राष्ट्र की उन्नति में अपना सहयोग दे सकता है।

(6) विश्व के प्रति– परिवहन तथा संचार के साधनों के विकास के कारण आज विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे के अधिक निकट आ गये हैं। एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से अनेक कार्यों तथा योजनाओं में सहयोग प्राप्त होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने राष्ट्र के हित का चिन्तन करने के साथ ही साथ यह भी ध्यान रखे कि उसके किसी कार्य से विश्व-शांति भंग न हो और संसार के सभी राष्ट्रों में परस्पर प्रेम व सहयोग बना रहे।

उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में पंचशील व सहिष्णुता का पालन करना चाहिये। साम्राज्यवाद की भावना या अन्य देशों को परतन्त्र बनाने का विचार कभी मन में नहीं लाना चाहिये। आज जब दो राष्ट्रों में युद्ध होता है, तो उसका प्रभाव संसार के सम्पूर्ण राष्ट्रों पर पड़ता है। अतः प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह "वसुधैव कुटुम्बकम्" के उच्च सिद्धान्त को जीवन में अपनाकर विश्व-शान्ति की स्थापना में सहयोग दे।

(ख) वैधानिक या कानूनी कर्त्तव्य (Legal Duties)
या
राज्य के प्रति नागरिक के कर्त्तव्य

वैधानिक कर्त्तव्य उन कर्त्तव्यों को कहते हैं जिनका पालन करना कानूनी दृष्टि से अनिवार्य होता है। यदि कोई नागरिक राज्य के कानूनों द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता है, तो वह राज्य द्वारा दण्डित किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति इन वैधानिक कर्त्तव्यों से बचता है, तो राज्य के सम्मुख अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं और राज्य में अशान्ति उत्पन्न होने की आशंका हो जाती है। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य के कानूनों द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों का हृदय से पालन करे और राज्य के विकास में हाथ बँटाये।

राज्य सबसे वड़ा तथा महत्वपूर्ण समुदाय होता है। मनुष्य को जो भी अधिकार प्राप्त होते हैं वे राज्य के ही संरक्षण में प्राप्त होते हैं। राज्य ही इस वात की देख-भाल करता है कि नागरिकों के अधिकारों की प्राप्ति में कोई अनुचित रूप से हस्तक्षेप न करे। इस स्थिति में राज्य के प्रति भी नागरिक के अनेक कर्त्तव्य हैं जिनका पालन प्रत्येक नागरिक को करना चाहिये।

जिस राज्य के नागरिक राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करते हैं उससे जहाँ नागरिक जीवन सुखी और शान्तिमय वनता है, वहाँ उनके राष्ट्र की शक्ति तथा प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होती है। जो नागरिक राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, राज्य उनको अधिकारों से वंचित कर देता है और उन्हें राज्य की ओर से मिलने वाली सुविधायें प्राप्त नहीं होतीं।

नागरिक के कानूनी कर्त्तव्य या राज्य के प्रति कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं–

(1) राज्य के नियमों व कानूनों का पालन– कानून समाज में शान्ति व व्यवस्था की स्थापना के लिये बनाये जाते हैं। कानूनों के बिना मनुष्य का सामाजिक जीवन सुखी नहीं बन सकता। कानूनों से ही व्यक्ति को अधिकारों की प्राप्ति होती है। कानूनों से ही नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है। कानूनों के द्वारा ही सभी नागरिकों को उन्नति के समान अवसर प्राप्त होते हैं। कानून लोगों को अनुचित कार्य करने से रोकते हैं। अतः राज्य के कानूनों व नियमों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का नैतिक एवं वैधानिक कर्त्तव्य है।

राज्य के नियमों को भंग करने वालों को राज्य की ओर से दण्ड मिलता है। यदि नागरिक राज्य के कानूनों का पालन नहीं करेंगे, तो राज्य में अराजकता तथा अशान्ति उत्पन्न हो जायेगी और नागरिकों का सामाजिक जीवन कठिन हो जायेगा। किन्तु यदि कोई कानून अनुचित, पक्षपातपूर्ण तथा राष्ट्र-विरोधी है, तो नागरिकों को चाहिये कि शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा उसका विरोध करें।

(2) देश-प्रेम– प्रत्येक नागरिक में देश-प्रेम तथा अपने राज्य के प्रति निष्ठा की भावना होनी चाहिये। उसे लोभ में आकर कोई भी कार्य ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे देश का अहित हो या देश के शत्रुओं को लाभ पहुँचे। नागरिक को अपने देश की रक्षा के लिये सब कुछ त्याग करने को तैयार रहना चाहिये। जो लोग अपने देश की रक्षा के लिये न्यौछावर हो जाते हैं उनका नाम युगों तक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहता है।

(3) सैनिक सेवा– आन्तरिक विद्रोह या विदेशी आक्रमण से जब देश की सुरक्षा खतरे में पड़ जाये, तब प्रत्येक नागरिक को चाहिये कि प्रसन्नता एवं स्वेच्छा से सेना में भर्ती होकर देश की सेवा करे और अपने प्राणों का बलिदान करने तक में संकोच न करे। आवश्यकता पड़ने पर राज्य नागरिकों को अनिवार्य रूप से भी सेना में भर्ती कर सकता है। विशेष परिस्थितियों में युवकों तथा छात्रों के लिये भी सैनिक शिक्षा अनिवार्य बना दी जाती है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह हर समय स्वयं को अपने देश का सैनिक समझे।

(4) करों का चुकाना– वर्तमान समय में राज्य के कार्यों में अत्यन्त वृद्धि हो गई है। लोकतन्त्रीय व समाजवादी देशों में तो राज्य के ऊपर अनेक कार्यों का उत्तरदायित्व होता है। इन कार्यों को पूरा करने के लिये राज्य को धन की आवश्यकता होती है जिसे वह करों द्वारा प्राप्त करता है। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य द्वारा लगाये गये करों को भार न समझे और ईमानदारी से उनका भुगतान करे। राज्य करों के रूप में जो धन एकत्र करता है वह जनकल्याण के कार्यों में खर्च कर देता है जिससे नागरिकों का हित होता है।

जो लोग करों को छिपाते हैं तथा उनसे बचने के लिये दोहरे या झूठे हिसाब तैयार करते हैं वे देश के प्रति द्रोह करते हैं। यदि गहराई से विचार किया जाये, तो एक नागरिक जितना कर संरकार को देता है उससे कई गुना अधिक लाभ उसे राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं के रूप में मिल जाता है।

कानूनी कर्त्तव्य
या
राज्य के प्रति नागरिकों के कर्त्तव्य

1. राज्य के कानूनों का पालन
2. देश-प्रेम
3. सैनिक सेवा
4. करों को चुकाना
5. मतदान का उचित उपयोग
6. शासन कार्य में सहायता
7. दूसरों के अधिकारों का आदर
8. शिक्षा आदि सार्वजनिक कार्य।

(5) मतदान का उचित उपयोग– संसद, विधानमण्डल, स्थानीय संस्थाओं तथा विभिन्न समुदायों के चुनाव में नागरिक को मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह मत देने के अधिकार का सदुपयोग करे। उसे चाहिये कि अच्छे, योग्य, ईमानदार व सच्चरित्र व्यक्तियों को ही अपना मत देकर चुने। मतदान के बीच में जाति-पाँति, धर्म, स्वार्थ तथा धन के लोभ जैसी बातें नहीं आनी चाहियें। नागरिकों द्वारा मताधिकार के उचित उपयोग पर ही देश का भविष्य निर्भर होता है।

(6) शासन कार्य में सहायता– प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह शासन व्यवस्था के संचालन में यथाशक्ति अपना सहयोग तथा सहायता प्रदान करे। उसे रिश्वतखोरी व भ्रष्टाचार का विरोध करना चाहिये। डाकुओं व अपराधियों को संरक्षण नहीं देना चाहिये। चोरों व बदमाशों

को पकड़वाने में तथा दंगे आदि की स्थिति में सरकारी अधिकारियों को सहयोग देना चाहिये।

(7) दूसरे के अधिकारों का आदर– प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के अधिकारों का भी उसी प्रकार आदर करे, जिस प्रकार कि वह अपने अधिकारों के लिये अन्य लोगों से चाहता है। ऐसा न करने की स्थिति में राज्य के समक्ष कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी, जिसका प्रतिकूल प्रभाव सभी नागरिकों पर पड़ेगा।

(8) शिक्षा तथा सार्वजनिक कार्य– राज्य नागरिकों के विकास के लिए अनेक सुविधायें जुटाता है, परन्तु फिर भी वे पर्याप्त नहीं होतीं। इस दशा में नागरिकों को चाहिये कि वे सरकार को हाथ बंटायें। उदाहरण के लिये; सरकार शिक्षा संस्थायें खोलती है, परिवार नियोजन का प्रचार करती है, सड़कें व गलियाँ बनवाती है, आदि-आदि। नागरिकों का कर्त्तव्य है कि सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए पूर्णतया सरकार पर निर्भर न रहें और स्वयं भी उनमें सक्रिय रूप से भाग लें।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि नागरिकों को अपने-अपने परिवार, ग्राम; नगर, राज्य तथा अन्य विभिन्न समुदायों के प्रति अनके कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। नागरिक को चाहिये कि अपने कर्त्तव्यों में इस प्रकार ताल-मेल बनाये रखे कि उनमें परस्पर विरोध या टकराव उत्पन्न न हो और यदि कभी ऐसी स्थिति आ ही जाये, तो उसे चाहिये कि बड़े समुदायों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे और छोटे समुदाय के हित की उपेक्षा कर दे।

अधिकारों व कर्त्तव्यों का पारस्परिक सम्बन्ध
या
कर्त्तव्यों के बिना अधिकार नहीं

अधिकारों व कर्त्तव्यों का पूर्ण विवेचन करने के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि अधिकारों व कर्त्तव्यों के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या अधिकार केवल कर्त्तव्यों की दुनिया में रह सकते हैं ? क्या एक-दूसरे के बिना किसी का भी अस्तित्व रह सकता है ?

इस सम्बन्ध में दो धारणायें प्रचलित हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है–

(1) गलत धारणा– कुछ लोगों का कथन है कि **नागरिक के अधिकारों व कर्त्तव्यों के परस्पर विरोध है।** उनके अनुसार, अधिकार से तो नागरिक को कुछ प्राप्त होता है और कर्त्तव्य से नागरिक को कुछ खोना पड़ता है। यही भावना कुछ नागरिकों में पाई जाती है और इसी कारण वे अपने अधिकारों के लिये तो चिल्लाते हैं, परन्तु अपने कर्त्तव्यों की ओर कोई ध्यान नहीं देते।

वास्तव में यह धारणा बड़ी भ्रममूलक है। कर्त्तव्य और अधिकार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का जन्म भी साथ होता है और विनाश भी। आज यदि चिल्लाने वाले लोगों को कुछ अधिकार प्राप्त नहीं हो रहे हैं, तो कारण यही है कि उस दिशा में उन्होंने अपना कर्त्तव्य पालन नहीं किया है।

(2) सही धारणा– इस धारणा के अनुसार अधिकार और कर्त्तव्यों में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। जिसे हम अपना अधिकार कहते हैं वह दूसरों का कर्त्तव्य है और दूसरों का अधिकार ही हमारा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का पालन करके ही व्यक्ति अधिकारों को प्राप्त करने तथा उनका उपभोग करने में सफल हो सकता है। एक उदाहरण द्वारा यह बात बिल्कुल समझ में आ जायेगी। हमें अपने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का अधिकार प्राप्त है। परन्तु हम इस अधिकार का उपभोग केवल तभी कर सकते हैं, जबकि हम दूसरों के जीवन व उनकी सम्पत्ति की रक्षा की दिशा में अपने कर्त्तव्य का पालन करें। यदि हम दूसरों की हत्या का प्रयत्न करेंगे या उनकी सम्पत्ति छीनेंगे, तो हमारी जान व माल की रक्षा का अधिकार ही हमें कैसे प्राप्त होगा। अतः यदि हम जीवन-रक्षा के अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम दूसरों के जीवन-रक्षा के अधिकार को मान्यता दें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्त्तव्य और अधिकारों के बीच परस्पर अटूट सम्बन्ध है। एक-दूसरे से पृथक् होकर उनका कोई अस्तित्व नहीं है। निम्नलिखित तथ्यों एवं उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी—

(1) अधिकार व कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं– अधिकार व कर्त्तव्यों का जन्म समाज में ही होता है। ये दोनों सामाजिक जीवन के आधार हैं। **"मनुष्य के दोनों पैरों की तरह ये दोनों सामाजिक जीवन के पैर हैं"** तथा एक-दूसरे के पूरक हैं। **"दोनों नागरिक जीवन की गाड़ी के दो पहिये हैं। उनमें से किसी एक के बिना भी नागरिक जीवन की गाड़ी नहीं चल सकती।"** दोनों के अस्तित्व से ही व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन को सुखी बना सकता है।

(2) अधिकार कर्त्तव्यों पर निर्भर है– बिना अपने कर्त्तव्य-पालन किये हम अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये, रेल में यात्रा करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति रेल में बैठने के नियमों का पालन नहीं करता, समय पर स्टेशन नहीं पहुँचता है या रेल की सम्पत्ति की रक्षा के सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता, तो वह रेल यात्रा के अधिकार का उपयोग नहीं कर सकता। अतः कर्त्तव्य-पालन की दुनिया में रहकर ही हम अपने अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।

प्रो० वाइल्ड ने कहा है कि **"अधिकारों का अस्तित्व केवल कर्त्तव्यों की दुनिया में होता है।"**

"It is only in a world of duties, that rights have existance." **—Wilde**

(3) कर्त्तव्य भी अधिकारों पर निर्भर होते हैं– बिना समुचित अधिकारों के व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का भी ध्यान नहीं रख सकता। यदि किसी व्यक्ति को जीवन-रक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं है, तो वह राज्य के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन करने में असमर्थ हो जायेगा। यदि व्यक्ति को राज्य में शारीरिक व मानसिक विकास के लिये पर्याप्त सुविधायें प्राप्त नहीं हैं, तो वह एक अच्छा नागरिक नहीं बन सकता और न अच्छे नागरिक के कर्त्तव्यों को ही पूरा कर सकता है।

(4) मेरा अधिकार तुम्हारा कर्त्तव्य है और तुम्हारा अधिकार मेरा कर्त्तव्य है– इसका आशय यह है कि दूसरों के कर्त्तव्य-पालन से हमें अधिकार प्राप्त होता है और हमारे कर्त्तव्य-पालन से दूसरों को अधिकार मिलता है। यदि हम अपना कर्त्तव्य-पालन करेंगे और दूसरों के अधिकारों में अड़चन नहीं डालेंगे, तो दूसरे भी ऐसा ही करेंगे और उस स्थिति में हमें हमारे अधिकार प्राप्त हो जायेंगे।

एक लेखक ने कहा है कि, **"हमारा एकमात्र अधिकार यही है कि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें।"**

"Our only right is to do our duties."

इसीलिये डॉ० बेनी प्रसाद ने कहा है कि **"अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता है, तो अधिकार है और उसी को यदि दूसरे के दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो वे कर्त्तव्य हो जाते हैं।"**

"Rights and duties are two aspects of the same coin. If one looks at them from one's own stand point, they are rights. If one looks at them from the stand point of other, they are duties." **—Dr. Beni Prasad**

(5) अधिकार और कर्त्तव्य व्यक्ति तथा समाज द्वारा दी जाने वाली माँगें हैं– अधिकार व कर्त्तव्यों में अभिन्न सम्बन्ध है। अधिकार वे माँगें हैं जो व्यक्ति समाज से तथा राज्य से करता है और कर्त्तव्य वह माँग है जो उसके बदले में राज्य तथा समाज व्यक्ति से करता है।

(6) अधिकारों का सही एवं उचित उपयोग ही कर्त्तव्य है– यदि हम गहराई से विचार करें, तो हमें प्रतीत होगा कि अधिकार व कर्त्तव्य दो भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। यदि कोई नागरिक अपने अधिकारों का सही व उचित रूप से तथा निःस्वार्थ भाव से उपयोग करता है, यदि वह यह ध्यान रखता है कि उसके द्वारा अधिकारों का उपयोग करने से अन्य व्यक्तियों या समाज को हानि न पहुँचे, तो कहा जायेगा कि वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है।

(7) अधिकार व कर्त्तव्य में कार्य-कारण का सम्बन्ध है– शास्त्रों के अनुसार भी, व्यक्ति जैसे कार्य करता है वैसे ही फल (अधिकार) भोगता है। यही बात नागरिक जीवन में भी सत्य है। एक नागरिक जैसे और जितने कर्त्तव्यों का पालन करेगा उसको वैसे ही और उतनी ही मात्रा में अधिकार प्राप्त होंगे। एक विद्वान् ने कहा है कि **"जितना सुख बाँटोगे, उतना ही मिलेगा।"**

निष्कर्ष (Conclusion)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नागरिक जीवन से अधिकारों व कर्त्तव्यों को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य जुड़ा होता है। उस कर्त्तव्य का पालन करने से ही उससे सम्बन्धित अधिकार की प्राप्ति होती है। अधिकारों और कर्त्तव्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। दोनों एक-दूसरे के सहायक व पूरक हैं। प्रो० गोल्ड ने कहा है कि **"व्यक्ति का एकमात्र अधिकार उसके द्वारा कर्त्तव्यों का पालन है।"**

"Our only right is to do our duties."

—Gould

मनुष्य का सामाजिक जीवन तभी सुखी और शन्तिमय बनता है, जवकि प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारों का सदुपयोग और अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। **अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।** यह कहा जा सकता है कि अधिकार और कर्त्तव्य मनुष्य के सामाजिक जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं। जिस प्रकार रथ दोनों पहियों के सहयोग से ही चलता है, उसी प्रकार **सुखी व समृद्ध सामाजिक जीवन का रथ भी अधिकार व कर्त्तव्य रूपी अपने दोनों पहियों के समुचित सहयोग से ही चल सकता है।** एक के भी अलग हो जाने या टूट जाने से सामाजिक जीवन की गाड़ी रुक जायेगी। नागरिकशास्त्र की भी मनुष्य के लिये सबसे बड़ी शिक्षा यही है कि प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों का सदुपयोग करे और अपने कर्त्तव्यों का पालन करे।

इसीलिये महात्मा गाँधी ने कहा है कि **"कर्त्तव्यों का पालन कीजिये, अधिकार आपको स्वतः ही मिल जायेंगे।"**

***"Perform your duties, rights will come automatically to you."* —M. Gandhi**

मूल कर्त्तव्य

ऊपर के अध्ययन से स्पष्ट है कि अधिकार और कर्त्तव्य नागरिक जीवन की गाड़ी के ऐसे दो पहिये हैं जिनमें से एक के बिना गाड़ी नहीं चल सकती। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि हम अपना कर्त्तव्य पालन करें, तो अधिकार स्वयं ही मिल जायेंगे।

किन्तु यदि किसी देश में राजनीतिक दलों के बहकावे में आकर लोग अधिकारों के लिये चिल्लाते रहें और कर्त्तव्य-पालन से विमुख हो जायें, तो ऐसे देश में अराजकता उत्पन्न हो जाती है और लोकतन्त्र समाप्त हो जाता है। अतः सरकारें नागरिकों के मूल अधिकारों के साथ-साथ उनके मूल कर्त्तव्यों का भी निर्धारण करती हैं। इन कर्त्तव्यों का पालन करना प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य बना दिया जाता है। जो नागरिक मूल कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते उन्हें मूल अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। अतः संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों के साथ-साथ मूल कर्त्तव्यों का भी उल्लेख कर दिया जाता है।

हमारे देश में भी इस समस्या पर विचार करने के लिये 1975 में गठित की गई स्वर्णसिंह समिति ने यह उपयोगी सुझाव दिया था कि देश के संविधान में नागरिक के मूल अधिकारों के साथ-साथ मूल कर्त्तव्यों का भी समावेश किया जाये।

संविधान में सम्मिलित मूल कर्त्तव्य

केन्द्र सरकार ने समिति की सिफारिशों पर विचार किया और 42वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा संविधान में 10 मूल कर्त्तव्य शामिल किये। 11 नवम्बर, 1976 को संसद ने एक विधेयक को पास कर दिया। संविधान में सम्मिलित किये गये नागरिकों के मूल कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं–

प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह– (1) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(2) स्वतन्त्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजाये रखे और उनका पालन करे।

(3) भारत में प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे, उसे अक्षुण्ण रखे।

(4) देश की रक्षा करे, आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(5) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(6) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

(7) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिनके अन्तर्गत वन, झील, नदी और अन्य जीव भी हैं, रक्षा करे और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दया भाव रखे।

(8) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

(9) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।

(10) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की ऊँचाइयों को छू ले।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

(1) अधिकार से आप क्या समझते हैं ? अधिकारों और कर्त्तव्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिये। (1969)

(2) अधिकार की परिभाषा कीजिये। इसके मुख्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दीजिये। (1975, 91)

(3) टिप्पणी लिखिये–

(i) मौलिक अधिकार (1976)

(ii) प्राकृतिक अधिकार (1976, 90)

(iii) क्या अधिकारों के बिना कर्त्तव्य सम्भव है ? (1979)

(iv) राजनीतिक अधिकार। (1993)

(4) नागरिक जीवन में अधिकारों का क्या महत्व है ? इस कथन को समझाइये कि "कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का उपंयोग सम्भव है।" (1977)

(5) "अधिकारों के अस्तित्व के लिये कर्त्तव्यों का होना आवश्यक है।" विवेचना कीजिये। (1971, 81)

[संकेत– देखिये शीर्षक "अधिकारों व कर्त्तव्यों का पारस्परिक सम्बन्ध"]

(6) 'अधिकार' की परिभाषा कीजिये। उनका वर्गीकरण किन आधारों पर किया जाता है ? (1973, 83)

(7) अधिकार का अर्थ समझाइये। इसके विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं ? (1984)

(8) अधिकरों के विभिन्न सिद्धान्त क्या हैं ? इनमें से आपकी राय में कौन सबसे अधिक सन्तोषप्रद है और क्यों ? (1986)

(9) प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिये। (1987)

(10) 'अधिकार' की परिभाषा कीजिए। प्रजातन्त्र शासन में नागरिकों द्वारा उपभोग किये जाने वाले विभिन्न अधिकारों का वर्णन कीजिए। (1990)

(11) कर्त्तव्य की परिभाषा दीजिए तथा अधिकार एवं कर्त्तव्य के सम्बन्ध बताइये। (O.Q.P. 1990)

(12) नागरिकता का अर्थ स्पष्ट कीजिए। एक नागरिक के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का विवेचन कीजिए।

[संकेत– नागरिकता के अर्थ के लिए देखिये अध्याय 'सात'। प्रश्न के उत्तरार्द्ध में अधिकारों व कर्त्तव्यों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्धों की भी चर्चा कीजिए।]

(13) अधिकारों से आप क्या समझते हैं ? समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों के सम्बन्ध में विवेचन कीजिए। (1992)

[संकेत– समानता व स्वतन्त्रता के अधिकारों के सम्बन्धों के अध्ययन के लिए देखिये 14वाँ अध्याय।]

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– अधिकार किसे कहते हैं ?

उत्तर– अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशायें अथवा व्यक्ति की वे माँगें हैं जिनसे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो और जिन्हें समाज द्वारा स्वीकृत और राज्य द्वारा लागू किया जाये अन्य शब्दों में, "अधिकार मनुष्य-समाज में श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने की माँग है जिसे समाज द्वारा व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित में मान लिया गया हो।"

प्रश्न 2– अधिकार कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर– अधिकार पाँच प्रकार के होते हैं (i) प्राकृतिक अधिकार, (ii) नैतिक अधिकार, (iii) सामाजिक अधिकार, (iv) राजनैतिक अधिकार और (v) मूल या मौलिक अधिकार।

प्रश्न 3– राजनैतिक अधिकार क्या हैं ?

उत्तर– ये वे अधिकार होते हैं जो मनुष्य को राज्य का नागरिक होने के नाते प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा नागरिक अपने देश के शासन प्रवन्ध में भाग लेता है। मत देने, निर्वाचित होने, सरकारी पद पाने तथा राजनैतिक दल बनाने के अधिकार इसी श्रेणी में आते हैं।

प्रश्न 4– मूल अधिकार किसे कहते हैं ?

उत्तर– नागरिकों को दिये जाने वाले जो सामाजिक व राजनीतिक अधिकार किसी देश के संविधान में सम्मिलित कर लिये जाते हैं वे मूल या मौलिक अधिकार कहलाते हैं। स्वतन्त्रता के

पश्चात् भारतीय संविधान मे देश की जनता को 7 मूल अधिकार दिये थे किन्तु अब 1978 से सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार नहीं रहा है। अब संविधान में केवल छः मूल अधिकारों का ही उल्लेख है।

प्रश्न 5– वयस्क मताधिकार क्या है ?

उत्तर– प्रत्येक वयस्क पुरुष या स्त्री को चुनाव में मत देने के अधिकार को वयस्क मताधिकार कहते हैं। इस अधिकार के द्वारा नागरिक राज्य की संस्थाओं– जैसे, ग्राम पंचायत, नगरपालिका, विधानसभा व लोकसभा–के लिये प्रतिनिधि चुनता है। भारत में यह अधिकार अब वयस्क (18 वर्ष या उससे अधिक आयु के) पुरुषों व स्त्रियों को प्राप्त है।

प्रश्न 6– राज्य के प्रति नागरिक के कर्त्तव्य क्या हैं ?

उत्तर– राज्य के प्रति नागरिक के कर्त्तव्य हैं– (i) राज्य-भक्ति, (ii) करों का भुगतान, (iii) कानून का पालन, (iv) सैनिक सेवा, (v) मताधिकार का उचित प्रयोग, (vi) सरकारी कर्मचारियों से सहयोग। प्रत्येक पर एक-एक या दो-दो वाक्य लिख दीजिये।

प्रश्न 7– अधिकार और कर्त्तव्य में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य जुड़ा होता है। अधिकार हमें तभी प्राप्त हो सकते हैं जबकि हम अपने कर्त्तव्य का पालन करें। कर्त्तव्यहीन नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं। हमारा अधिकार आपका कर्त्तव्य है और आपका अधिकार हमारा कर्त्तव्य है।

प्रश्न 8– नागरिकों के चार सामाजिक अधिकारों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 9– पड़ोसी के प्रति नागरिक का नैतिक कर्त्तव्य क्या है ?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तरी दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– अधिकार नागरिक जीवन की गाड़ी का एक पहिया है, तो दूसरा पहिया कौन-सा है ?

उत्तर– कर्त्तव्य।

प्रश्न 2– नागरिक के दो सामाजिक अधिकार बताइये।

उत्तर– (i) जीवन की रक्षा का अधिकार, (ii) शिक्षा का अधिकार।

प्रश्न 3– नागरिक के दो राजनीतिक अधिकार बताइये। (1990, 91)

उत्तर– (i) मत देने का अधिकार, (ii) सरकारी पद पाने का अधिकार।

प्रश्न 4– वर्तमान में संविधान में कितने मूल अधिकारों का उल्लेख है ?

उत्तर– छः।

प्रश्न 5– सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों में विदेशियों को कौन से अधिकार प्राप्त होते हैं ?

उत्तर– सामाजिक अधिकार।

प्रश्न 6– अधिकारों की उत्पत्ति के दो सिद्धान्त बताइये।

उत्तर– (i) प्राकृतिक सिद्धान्त, (ii) नैतिक सिद्धान्त।

प्रश्न 7– नागरिकों के दो कानूनी कर्त्तव्य बताइये।

उत्तर– (i) कर देना, (ii) राज्य के प्रति निष्ठा रखना।

प्रश्न 8– कानूनी अधिकार के सिद्धान्त के दो समर्थकों के नाम लिखिए। (1991)

उत्तर– ये हैं– (i) टॉमस हाब्स, (ii) जे० बेन्थम।

□□

9

पर्यावरण की सुरक्षा और नागरिक का दायित्व

(Conservation of Environment & Duties of a Citizen)

"पर्यावरण कोई रखैल नहीं है, जिसका हम मन चाहा शोषण करें। वास्तव में पर्यावरणीय स्रोत भावी पीढ़ियों की धरोहर हैं, जिनके हम रक्षक हैं।" —बसन्त लाल जैन

"पर्यावरण का विनाश विज्ञान और प्रौद्योगिकी की देन है, महानगरीय जीवन की सौगात है, विशाल उद्योगों की समृद्धि का बोनस है, मानव को मृत्यु के मुँह में धकेलने की अनचाही चेष्टा है, रोगों को शरीर में प्रवेश कराने का मौन निमन्त्रण है और प्राणिमात्र के अमंगल की अप्रत्यक्ष कामना है।"

तो क्या पर्यावरण के विनाश को रोकना प्रत्येक नागरिक का दायित्व नहीं है ? —बसन्त लाल जैन

इस अध्याय में क्या है ?

(1) पर्यावरण का अर्थ, महत्व व क्षेत्र, (2) पर्यावरण से आशाएँ तथा उनका अतिक्रमण, (3) पर्यावरण का असन्तुलन तथा प्रदूषण, (4) पर्यावरण की सुरक्षा का अर्थ तथा उद्देश्य, (5) पर्यावरण के संरक्षण की आवश्यकता व महत्व, (6) पर्यावरण के स्रोतों— मृदा, जल, वायु, वन व वन्य जन्तुओं की सुरक्षा के प्रति नागरिकों का दायित्व, (7) लघु उत्तरीय व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित) तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न।

पर्यावरण का अर्थ तथा महत्व
(Meaning and Importance of Environment)

'पर्यावरण' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। परि + आवरण = पर्यावरण। अर्थात् चारों ओर विद्यमान आवरण। **पर्यावरण का अर्थ** उन सभी प्राकृतिक दशाओं एवं वस्तुओं से लिया जाता है जो हमारे चारों ओर व्याप्त हैं। ये वस्तुएँ हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति व जीव-जन्तु।

इन सब प्राकृतिक पदार्थों का प्रभाव मानव के भोजन; वस्त्र, मकान, पेय जल तथा व्यवसायों आदि पर पड़ता है। **यही नहीं,** शास्त्रों व स्वास्थ्य-विज्ञान के अनुसार, **मानव के शरीर की रचना भी इन्हीं पाँच तत्वों** (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति) से मिलकर हुई है। इन पाँच प्राकृतिक तत्वों के वल पर ही **हम जीते हैं और जब हम मरते हैं** तो हमारा यह शरीर भी इन्हीं पाँच तत्वों में विलीन हो जाता है। क्योंकि मरने पर यदि यह शरीर कब्र में दफन होता है तो पृथ्वी में मिल जाता है और दाह-संस्कार होने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति तत्वों में विलीन हो जाता है।

पर्यावरण के इन तत्वों के कारण अथवा सन्तुलित पर्यावरण के कारण ही पृथ्वी एक जीवित ग्रह है और पर्यावरण के इन तत्वों के अभाव अथवा असन्तुलन के कारण ही चन्द्रमा पर जीवन नहीं है।

जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं, सम्पूर्ण सौर जगत में उसे ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि पर्यावरण के सभी तत्वों की विद्यमानता के कारण यहाँ जीवन है, अन्यथा सौर जगत में अन्य ग्रहों पर जीवन के प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। पर्यावरण के ये सभी तत्व एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और विकसित होते रहते हैं। सभी जीव जन्तु भी इसी पर्यावरण के अंग हैं और **मानव तो इस पर्यावरण की सर्वश्रेष्ठ रचना है।**

हम जीते हैं तो इन्हीं पाँच तत्वों (प्राकृतिक पदार्थों) से हमारा पोषण होता है और हमारी सारी आवश्यकताएँ भी इन्हीं के माध्यम से पूरी होती हैं।

स्पष्ट है कि पर्यावरण के इन प्राकृतिक अंगों का मानव के जीवन में भारी महत्व है।

पर्यावरण की कुछ परिभाषाएँ
(Some Definitions of Environment)

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई 'पर्यावरण' की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

(1) प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान हर्सकोविट्स (Harskovits) के शब्दों में, **"पर्यावरण उन समस्त बाहरी दशाओं और प्रभावों का योग है जो प्राणी के जीवन और विकास को प्रभावित करते हैं।"**

(2) प्रसिद्ध जर्मन भूगोलवेत्ता ए० फिटिंग के शब्दों में, **"जीव की परिस्थिति के समस्त तत्व या घटक (factors) मिलकर पर्यावरण कहलाते हैं।"**

(3) प्रसिद्ध विद्वान टाँसले के अनुसार, **"चारों ओर पाई जाने वाली प्रभावकारी दशाओं (effective conditions) का वह योग, जिसमें जीव रहते हैं, वातावरण या पर्यावरण कहलाता है।"**

इस प्रकार, पर्यावरण से तात्पर्य मनुष्य के चारों ओर पाई जाने वाली परिस्थितियों के उस समूह (set of surroundings) से है जो मानव के जीवन व उसकी क्रियाओं पर प्रभाव डालती हैं।

पर्यावरण के क्षेत्र या अंग या तत्व या संसाधन
(Zones or Resources of Environment)

पर्यावरण के क्षेत्र अथवा इसके अंगों या संसाधनों को निम्नलिखित 4 भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) स्थलमण्डल (Lithosphere)– पर्यावरण के इस क्षेत्र के अन्तर्गत पृथ्वी की रचना, उसकी विभिन्न आकृतियाँ, मिट्टी तथा चट्टानें, आन्तरिक व बाह्य शक्तियों द्वारा पृथ्वी के तल पर किये जाने वाले परिवर्तन, नदी, हिमनदी, वायु, भूमिगत जल, ऊर्जा तथा मानव-जीवन पर पड़ने वाले उनके प्रभावों को सम्मिलित किया जाता है।

(2) वायुमण्डल (Atmosphere)– वायुमण्डल पर्यावरण का दूसरा प्रमुख क्षेत्र या अंग है। इसके अन्तर्गत वायुमण्डल की बनावट, जलवायु व उसके तत्व, सूर्यताप, तापमान, वायुदाब, विभिन्न प्रकार की पवनें, बादल व वर्षा के प्रकार, चक्रवात व प्रतिचक्रवात, जलवायु के विभिन्न प्रकार तथा इन सब तत्वों के मानव-जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव सम्मिलित किये जाते हैं।

(3) जलमण्डल (Hydrosphere)– जलमण्डल पर्यावरण का तीसरा प्रमुख क्षेत्र है जिसके अन्तर्गत नदियाँ, महासागर, सागर, खाड़ियाँ, महासागरों के जल में तापमान व लवणता की मात्रा तथा उसके कारण, महासागरों के जल की गतियाँ, जैसे लहरें, धाराएँ व ज्वारभाटा तथा समीपवर्ती क्षेत्रों तथा वहाँ के मानव जीवन पर उनका प्रभाव सम्मिलित किया जाता है।

(4) जैवमण्डल (Biosphere)– जैवमण्डल पर्यावरण का चौथा तथा सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है जो अन्य तीन क्षेत्रों से प्रभावित भी होता है और उन्हें प्रभावित भी करता है। जैव मण्डल क्षेत्र में (i) वनस्पति–उसके प्रकार, विशेषताएँ व वितरण, (ii) विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तु व मनुष्य, (iii) वनस्पति व जीव-जन्तुओं का जलवायु से सहसम्बन्ध, (iv) पर्यावरण का असन्तुलन, उससे सम्बन्धित समस्याएँ व उनके निराकरण को सम्मिलित किया जाता है।
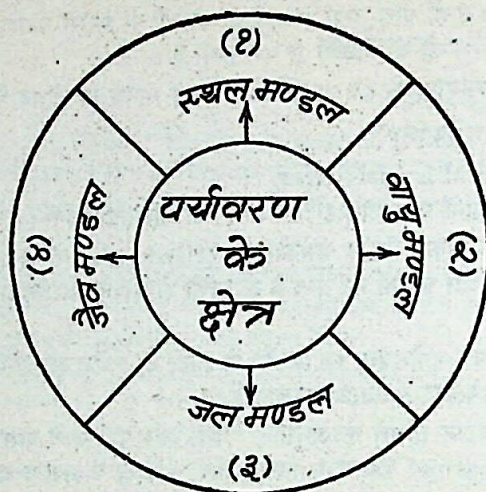
चित्र –1 पर्यावरण के क्षेत्र

पर्यावरण के उपर्युक्त चार क्षेत्रों में जैवमण्डल क्षेत्र का सर्वप्रमुख अंग मानव है जो इन चारों ही क्षेत्रों से प्रभावित होता है तथा अपनी पूर्णशक्ति से उन्हें प्रभावित, नियन्त्रित एवं परिवर्तित भी करता है। पर्यावरण के अन्तर्गत मानव को केन्द्र-बिन्दु मानकर इन चारों ही क्षेत्रों की क्रियाओं तथा अन्तःक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

इस प्रकार, सारांश रूप में, पर्यावरण के मुख्य संसाधन या अंग हैं– भूमि, जल, वायु, ऊर्जा, खनिज, वनस्पति तथा जीव-जन्तु।

पर्यावरण के तत्व (भूमि, मिट्टी, जल, वनस्पति, खनिज, वायु आदि) जीवन के आधार हैं। इन तत्वों की विद्यमानता से ही इस प्रथ्वी पर जीवन है और इन तत्वों के अभाव के कारण ही चन्द्रमा पर जीवन नहीं है। मानव तो इस पर्यावरण की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मानव के शरीर की रचना ही पर्यावरण के इन पाँच तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति) के कारण हुई है और मानव-जीवन की भोजन, वस्त्र, मकान, पेय-जल, व्यवसाय आदि की सारी आवश्यकताएँ भी पर्यावरण के इन तत्वों द्वारा ही पूरी होती हैं।

पर्यावरण से आशायें तथा उनका अतिक्रमण
(Expectations from Environment and their Voilation)

मानव पर्यावरण का सर्वाधिक प्रभावशाली तत्व है यदि मानव पर्यावरण के सभी जैविक व अजैविक तत्वों का सन्तुलित रूप से उपयोग करें तो उसकी जीवन की सभी आवश्यकतायें तथा आशायें पर्यावरण से पूरी हो सकती हैं। किन्तु मनुष्य ने तो उस लालची व्यक्ति के समान आचरण किया कि जिसने प्रतिदिन एक अण्डा देने वाली मुर्गी को सभी अण्डे एक साथ प्राप्त करने की धुन में हलाल कर डाला और फिर पछताया। उसी प्रकार, मानव ने पर्यावरण का सन्तुलित उपयोग न करके आर्थिक व औद्योगिक विकास की धुन में पर्यावरण का अतिक्रमण कर उसका विनाश कर डाला।

महात्मा गाँधी की इस चेतावनी का भी हमने ध्यान नहीं रखा कि "प्रकृति हम सबकी आवश्यकतायें तो पूरी कर सकती है, किन्तु हमारे लालच को पूरा नहीं कर सकती।"

तो आइये देखें कि पर्यावरण के सन्तुलित उपयोग से मनुष्य की कौन-कौन सी आशाएँ

पूरी होती हैं और पर्यावरण का अतिक्रमण करके मानव ने किस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों को क्षति पहुँचाई है तथा पर्यावरण का विनाश कर अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारी है–

(1) वन सम्पदा– पर्यावरण से मनुष्य को अपार वन सम्पदा मिली। वनों से मानव को फल-फूल, लकड़ी, औषधियाँ, रेशम, कत्था, गोंद तथा उद्योगों के लिए कच्चा माल मिला। वन बाढ़ रोकने में, वर्षा लाने में तथा ऑक्सीजन देने में बड़े सहायक हुए। यदि मानव संयम व नियन्त्रण के साथ वन सम्पदा का उपयोग करता और साथ ही नया वृक्षारोपण भी करता रहता तो पर्यावरण द्वारा प्रदत्त यह वन सम्पदा सदा उसकी जरूरतों को पूरा करती रहती और सदा की तरह वन उसके अभिन्न मित्र बने रहते।

किन्तु अफसोस, हमने पर्यावरण की बेटी—वन सम्पदा का अतिक्रमण व अपहरण ही कर डाला। औद्योगिक प्रगति की दौड़ में हम इस प्रकार अन्धे हो गये कि वनों के वृक्ष रूपी वस्त्र उतार-उतार कर (काट-काट कर) हमने धरती माँ को ही नंगा कर डाला। भारत में प्रतिवर्ष 16 लाख हेक्टेयर जंगल काटे जा रहे हैं और भारत का वन-क्षेत्र 23% से घटकर 12% रह गया है और इसी कारण आज मानव को बाढ़, अकाल, सूखा, वायु-प्रदूषण, भू-क्षरण, भूगर्भीय जल की कमी, भूस्खलन, लकड़ी तथा अन्य वनोत्पाद की कमियों की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

(2) स्वच्छ जल– जल जीवन का आधार है। कहा जाता है कि संसार की नदियों में जितना जल है, उसका 10% भाग जल हमारे देश की नदियों में बहता है। इस स्वच्छ जल को चाहे हम पियें, सिंचाई करें अथवा अन्य रूप में इस्तेमाल करें।

किन्तु मानव ने इस अमूल्य जल संसाधान का भी अतिक्रमण किया और औद्योगिक कचरा व नगरों का मल-मूत्र डालकर नदियों को इतना प्रदूषित कर दिया है कि भारत के 20 करोड़ लोगों को शुद्ध पेय जल भी उपलब्ध नहीं है।

(3) स्वच्छ वायु– स्वच्छ वायु प्राणिमात्र के जीवन की मूलाधार है। प्रकृति ने हमें अपार स्वच्छ वायु प्रदान की है जिसका उपयोग हम असीमित मात्रा में कर सकते हैं।

किन्तु मानव ने औद्योगिकरण, वाहनों के धुएँ, बम विस्फोट तथा वनों की कटान के कारण वायु को भी इतना प्रदूषित कर दिया है कि साँस लेने को स्वच्छ वायु के लए इन्सान तरस रहा है और नित नये-नये रोगों का शिकार हो रहा है।

(4) उर्वरा भूमि– प्रकृति ने मानव को प्रचुर मात्रा में उर्वरा भूमि दी जिससे स्वाभाविक रूप से खेती द्वारा अन्न उगाकर मानव अपनी भोजन, वस्त्र व मकान आदि की आवश्यकताएँ पूरी कर सकता था।

किन्तु मानव ने भूमि के साथ भी अच्छा व्यवहार नहीं किया और अधिक उत्पादन के लिए उसके उपजाऊपन का अतिक्रमण किया। उसके साथ रखैल जैसा व्यवहार करके उसे कई ढंगों से सताया। रासायनिक खादों का अत्यधिक इस्तेमाल करके उसके उर्वरापन का कस निकाला और कीट नाशकों का अंधाधुंध प्रयोग कर उसे रोगी बनाया। फलतः भूमि का उर्वरापन तथा उसकी गुणवत्ता निरन्तर घट रही है और उर्वरा भूमि बंजर बनती जा रही है।

(5) जीवों की रक्षा– पेड़-पौधे व जीव-जन्तु अपनी स्वाभाविक एवं पारस्परिक क्रियाओं से पर्यावरण को सन्तुलित रखते हैं और अनेक प्रकार से मानव की सेवा तथा रक्षा करते हैं।

किन्तु मानव ने पेड़-पौधों व जीव-जन्तुओं का उपयोग नहीं, बल्कि उनके जीवन का अतिक्रमण किया, उनके साथ शत्रुतापूर्ण एवं क्रूर व्यवहार कर उनका विनाश किया तथा पर्यावरण के असन्तुलन को न्यौता दिया।

(6) स्वस्थ वातावरण– प्रकृति ने अपने मोहक सौंदर्य से मानव को जीने के लिये स्वस्थ वातावरण प्रदान किया और उसके लिये मनोरंजन के प्राकृतिक साधन जुटाये। प्रकृति की गोद में शान्ति से रहकर मानव स्वस्थ व शान्त जीवन बिता सकता था।

किन्तु औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा भौतिक सुखों की लालसा से मानव ने प्रकृति का शोषण कर उसके प्राकृतिक सौंदर्य को ही नष्ट करना शुरू कर दिया। पर्यावरण के अतिक्रमण द्वारा उसने कलकल कर बहती नदियों को बाँधा, वनों का विनाश कर पहाड़ों को नंगा किया और वायु प्रदूषण द्वारा स्वस्थ प्राकृतिक वातावरण को अस्वास्थ्यकर एवं अशान्त वातावरण में बदल डाला।

(7) अनुकूल मौसम– सुखद एवं आनन्ददायक जीवन-संचार के लिये प्रकृति ने मानव को विभिन्न प्रकार के अनुकूल मौसम प्रदान किये।

किन्तु मानव ने अपनी औद्योगिक व वैज्ञानिक क्रियाओं से तथा धरती व समुद्र में परमाणु विस्फोटों से वायुमण्डल को प्रदूषित कर दिया तथा मौसम को प्रतिकूल व विद्रोही बना दिया। बाढ़, सूखा, समुद्री तूफान, ओजोन परत का विनाश उसी मौसम-क्रोध के परिणाम हैं।

(8) खनिज सम्पदा– प्रकृति ने मानव को धरती में अपार खनिज सम्पदा (लोहा, कोयला, मैंगनीज, अभ्रक, खनिज तेल, यूरेनियम आदि) प्रदान की, जिसका यदि मानव सन्तुलित उपयोग करता तो युगों-युगों तक उससे अपने सुख व विकास के साधन जुटा सकता था।

किन्तु मानव ने प्रकृति की इस सम्पदा का भी बेदर्द होकर अतिक्रमण व शोषण किया और भावी सन्तति की इस धरोहर को अपने ही जीवन-काल में नष्ट करना शुरू कर दिया। खनिज सम्पदा के अन्धाधुन्ध दोहन से भूक्षरण हुआ, वन-विनाश हुआ, जल तथा वायु प्रदूषण हुआ और कई खनिजों के आगामी शताब्दी में समाप्त होने की स्थिति उत्पन्न हो गई।

पर्यावरण के इस अतिक्रमण के कारण पर्यावरण के विभिन्न अंग भी अस्वाभाविक व्यवहार करने लगे जिससे मानव के सामने अनेक पर्यावरणीय संकट पैदा हो गये।

पर्यावरण का असन्तुलन तथा प्रदूषण

प्रकृति एवं मानव का सम्बन्ध आदि काल से रहा है। प्रकृति अथवा पर्यावरण के सभी घटक (जल, वायु, मुद्रा, खनिज, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु व मानव आदि) अपने प्राकृतिक क्रिया-कलापों से वातावरण को स्वच्छ रखने का प्रयास करते हैं।

पर्यावरण के प्रत्येक घटक के अन्दर भी उसके अलग-अलग तत्व होते हैं। पर्यावरण के ये घटक अथवा उनके तत्व अपना प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखते हुये मानव के लिये स्वच्छ, स्वस्थ व सन्तुलित वातावरण प्रदान करते हैं।

किन्तु जब मानव की विकासात्मक क्रियाओं के परिणामस्वरूप प्रकृति के घटकों अथवा उनके तत्वों का सन्तुलन बिगड़ जाता है तो उससे सम्पूर्ण पर्यावरण में उथल-पुथल हो जाती है। तब कहा जाता है कि पर्यावरण में असन्तुलन तथा प्रदूषण बढ़ रहा है। इस असन्तुलन से प्रकृति की क्रियाओं में अवरोध उत्पन्न होने लगता है और प्रकृति क्रोधित हो उठती है।

मानव को आज जिस प्रकार के प्रदूषणों के संकट का सामना करना पड़ रहा है, उनमें अग्रलिखित प्रमुख हैं–

(1) वायु प्रदूषण (Air Pollution)
(2) जल प्रदूषण (Water Pollution)
(3) मृदा प्रदूषण (Soil Pollution)
(4) ध्वनि प्रदूषण (Sound Pollution)
(5) रेडियोधर्मी प्रदूषण (Radio–active Pollution)

(6) खाद्य प्रदूषण (Food Pollution)।

पर्यावरणीय क्रियाएँ तथा उनकी सुरक्षा की समस्या
(Environmental Activities & Problem of their Conservation)

पर्यावरण के सभी जैविक या अजैविक घटक, स्रोत या संसाधन प्रकृति के अपने नियमों के अनुसार अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते रहते हैं।

उदाहरण के लिए, प्रकृति ने मानव को नदियों, वर्षा व भूमिगत स्रोतों के रूप में स्वच्छ जल प्रदान किया है। स्वस्थ रहने के लिए स्वच्छ वायु प्रदान की है। उपयोग के लिए अपार वन सम्पदा प्रदान की है। अन्न उगाने के लिए उर्वरा भूमि प्रदान की है। मानव की सेवा के लिए जीव-जन्तु दिये हैं। अनुकूल एवं विविध मौसम दिया है। अपार खनिज सम्पदा प्रदान की है। प्राकृतिक सौन्दर्य एवं स्वस्थ वातावरण प्रदान किया है।

पर्यावरण के ये सभी अंग अपनी क्रियाएँ इस प्रकार सम्पन्न करते हैं कि पर्यावरण में सन्तुलन बना रहता है और उसकी क्षति की स्वमेव पूर्ति होती रहती है।

किन्तु मनुष्य ने अपने स्वार्थ व लालसा को पूरा करने के लिए इन पर्यावरणीय क्रियाओं के स्वाभाविक संचलन में बाधा डाली और पर्यावरण के संसाधनों का बेदर्द होकर अतिक्रमण व शोषण किया। उसका परिणाम हुआ कि जल, वायु तथा मृदा प्रदूषित हो गये। पर्यावरण की क्रियाओं में असन्तुलन उत्पन्न हो गया तथा अनेक पर्यावरणीय स्रोत समाप्त होने की स्थिति में आ गये।

इसके कारण मनुष्य के सामने भयानक पर्यावरणीय संकट उत्पन्न हो गया तथा उसे पर्यावरण के संरक्षण की चिन्ता सताने लगी।

पर्यावरणीय संरक्षण या सुरक्षा से आशय
(Meaning of Environmental Conservation)

पर्यावरणीय स्रोतों या संसाधनों के संरक्षण से आशा है– पर्यावरणीय संसाधनों (भूमि, जल, वायु, खनिज, वन, ऊर्जा व जन्तु आदि) का कम से कम उपयोग करके अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त करना। अन्य शब्दों में, प्राकृतिक संसाधनों को कम से कम क्षति पहुँचाकर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना ही पर्यावरणीय-संरक्षण कहलाता है।

मैकनाल के शब्दों में, "पर्यावरणीय संरक्षण से आशय प्राकृतिक स्रोतों का इस प्रकार उपयोग करने से है कि जिससे मानव जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वोत्तम रीति से हो सके और ऐसा तभी हो सकता है जबकि वर्तमान और भविष्य की सम्भावित आवश्यकताओं में सन्तुलन रखा जाए।"

ऐली के अनुसार– "पर्यावरणीय स्रोतों का संरक्षण वर्तमान पीढ़ी का भावी पीढ़ी के लिए त्याग है।"

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि "पर्यावरणीय संरक्षण का अर्थ है कि प्राकृतिक संसाधनों का ऐसे विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग किया जाए ताकि उनका अधिक से अधिक समय तक, अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई के लिए प्रयोग किया जा सके। साथ ही संसाधनों की गैर-जरूरी खपत व विनाश रोका जाए ताकि वे संसाधन भावी पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित रखे जा सकें।"

पर्यावरणीय स्रोतों के संरक्षण के उद्देश्य तथा विशेषतायें

(Aims & Characteristics of Conservation)

पर्यावरणीय संसाधनों के संरक्षण का उद्देश्य यह नहीं है कि उन्हें बिल्कुल उपयोग में न लाया जाए, अपितु यह है कि संसाधनों का उपयोग वर्तमान और भावी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए ऐसी योजनावद्ध रीति से किया जाए कि संसाधनों की बर्वादी न हो।

अतः संसाधनों के संरक्षण के उद्देश्य तथा विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

(1) बचत– संसाधनों के संरक्षण का प्रथम उद्देश्य संसाधनों की बर्बादी को देखते हुए भविष्य के उपयोग के लिए उनकी बचत करना है।

(2) बर्बादी पर रोक– संसाधनों के संरक्षण का दूसरा उद्देश्य यह है कि संसाधनों के दुरुपयोग तथा बर्बादी को रोका जाए। उदाहरण के लिए, अंधाधुन्ध वनों की कटाई से पर्यावरण का सन्तुलन विगड़ रहा है।

(3) विवेकपूर्ण एवं योजनाबद्ध उपयोग– संसाधनों के संरक्षण का उद्देश्य यह नहीं है कि वर्तमान में उनका उपयोग बिल्कुल न किया जाए और उन्हें भविष्य के लिये सुरक्षित रख लिया जाए। क्योंकि यदि नदी के जल का उपयोग नहीं किया जायेगा तो वह बेकार बह कर समुद्र में ही जा गिरेगा। वृक्षों के फल-फूलों का उपयोग नहीं किया जायेगा तो वे सूखकर गिर जायेंगे।

अपितु, संरक्षण का उद्देश्य है कि संसाधन का उपयोग उचित समय पर, उचित रीति से तथा उचित मात्रा में विवेकपूर्ण एव योजनाबद्ध रीति से किया जाए ताकि संसाधन वर्तमान एवं भविष्य, दोनों की ही जरूरतों को पूरा कर सकें।

पर्यावरण के संरक्षण या सुरक्षा की आवश्यकता तथा महत्व

(Necessity & Importance of Environmental Conservation)

पर्यावरण-प्रदूषण तथा पर्यावरण-असन्तुलन के इस विनाशकारी संकट से बचने के लिए आज मानव ने पर्यावरण के संरक्षण की आवाज उठाई है।

दरअसल, हमारे पूर्वजों ने तो आज से हजारों वर्ष पूर्व ही पर्यावरण संकट को भाँप लिया था। पुराणों व उपनिषदों के माध्यम से उन्होंने वृक्षों को, जोकि पर्यावरण सन्तुलन के अभिन्न अंग हैं, पूज्य मानकर उनकी पूजा व रक्षा करने का सन्देश दिया था।

भारतीय धर्मों में पशु-वध, वृक्षों को काटना, पवित्र नदियों को प्रदूषित करना तथा पर्वतों को हानि पहुँचाना पाप माना गया है और पेड़ लगाने को पुण्य का कार्य माना जाता है। वनों और वन्य प्राणियों की रक्षा को धर्म का भाग माना जाता था।

वनों को मित्र, वृक्षों को पूज्य और नदियों को माँ मानना हमारी संस्कृति थी। किन्तु अफसोस है कि औद्योगिक प्रगति की दौड़ में हम इस कदर अन्धे हो गये कि वनों के वृक्ष रूपी वस्त्र उतार-उतार कर (काट-काट कर) हमने धरती को नंगा कर दिया। जल और वायु का सन्तुलित उपयोग करने के वजाय उन्हें प्रदूषित करके मानों हमने प्रकृति माँ के इन बेटों के साथ बलात्कार ही कर डाला।

पर्यावरण में इतना बिगाड़ आने पर अब हमें पर्यावरण-संरक्षण की सुध आई। चलो, सुध आई तो सही।

पर्यावरण-संरक्षण के महत्व को हमने समझा तो, भले ही देर से सही। दरअसल, पर्यावरण का हमारी शारीरिक संरचना, स्वास्थ्य और मन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण के प्राकृतिक संसाधन जितने स्वच्छ और निर्मल होंगे, उतना ही हमारा शरीर और मन स्वस्थ तथा अच्छा होगा। इसीलिये हमारे ऋषि-मुनियों ने हजारों वर्ष पूर्व ही कहा था कि **"प्रकृति हमारी माँ है, जो सभी कुछ अपने बच्चों को अर्पण कर देती है।"**

चाणक्य ने कहा था कि "राज्य की स्थिरता पर्यावरण की स्वच्छता पर निर्भर करती है।"

औषधि विज्ञान के आदि गुरु चरक ने कहा था कि "स्वस्थ जीवन के लिए शुद्ध वायु, जल तथा मिट्टी आवश्यक कारक हैं।

महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा 'मेघदूत' जैसे अमर काव्यों में भी मन पर पर्यावरण के प्रभाव को दर्शाया है। लेमार्क तथा डार्विन जैसे सुविख्यात वैज्ञानिकों ने भी पर्यावरण को जीवों के विकास में महत्वपूर्ण कारक माना है।

अतः यदि पर्यावरण या प्राकृतिक वातावरण प्रदूषित होता है तो उसका प्रतिकूल प्रभाव जीव जगत पर निश्चित ही पड़ेगा। आज की भौतिक विचारधारा के कारण अपनी सुख-सुविधा के साधनों में अधिकाधिक वृद्धि की लालसा में मनुष्य मानो पर्यावरण या प्राकृतिक संपदाओं की लूट पर उतर आया है। इसी बेदर्द और अविवेकपूर्ण लूट का परिणाम है पर्यावरण प्रदूषण।

पर्यावरण-प्रदूषण विज्ञान और प्रौद्योगिकी की देन है, महानगरीय जीवन की सौगात है, विशाल उद्योगों की समृद्धि का बोनस है, मानव को मृत्यु के मुँह में धकेलने की अनचाही चेष्टा है। रोगों को शरीर में प्रवेश करने का मौन निमन्त्रण है और प्राणिमात्र के अमंगल की अप्रत्यक्ष कामना है।

ऑक्सीजन जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि श्वसन के लिये सभी जीवों द्वारा इसका उपयोग किया जाता है। किन्तु पर्यावरण-प्रदूषण के कारण पिछले 100 वर्षों में लगभग 24 लाख टन ऑक्सीजन वायुमण्डल से समाप्त हो चुकी है और उसकी जगह 36 लाख टन कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस ले चुकी है जिसके कारण पृथ्वी पर तापमान बढ़ रहा है।

जून 1988 में 48 देशों के 300 वैज्ञानिकों ने टोरन्टो सम्मेलन में पर्यावरण संरक्षण के विषय पर विचार-विमर्श किया तथा पर्यावरण के प्रदूषण और बदलाव के विषय में विश्व को चेतावनी देते हुए कहा कि "पर्यावरण-प्रदूषण से मौसम का बदलाव, अत्यधिक गर्मी, सूखा, पानी की कमी, वर्फीली चोटियों का पिघलना, समुद्र का जलस्तर ऊँचा उठना जिससे समुद्र तट के पास बसे शहरों में बाढ़ आना आदि खतरे उत्पन्न होंगे जिनका प्रभाव फसलों पर बुरा होगा तथा शारीरिक विकार व रोगों में वृद्धि होगी और वह मानव-जीवन की विनाश-लीला का प्रारम्भ होगा।"

अतः जनकल्याण के उद्देश्य से सामाजिक एवं आर्थिक प्रणाली को बनाये रखने के लिये पर्यावरण की सुरक्षा उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना कि आर्थिक विकास। ये दोनों अवधारणायें एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

अतः हमें यह अवश्य सुनिश्चित करना होगा कि विकास कार्यों से पर्यावरण-सन्तुलन को क्षति न पहुँचने पाये, क्योंकि इस प्रकार की क्षति से न केवल विकास की गति अवरुद्ध होगी, बल्कि भोजन, ईंधन, चारे और आश्रय के लिये पर्यावरण पर निर्भर रहने वाले प्राणियों की गरीबी व अभावों में और वृद्धि ही होगी।

सत्य भी है, यदि हवा में साँस न ली जा सके, पानी पिया न जा सके और खाना खाया न जा सके तो सारा आर्थिक विकास और औद्योगिक प्रगति किस काम की ? अतः आर्थिक विकास तथा पर्यावरण-संरक्षण में सन्तुलन आज की सर्वोपरि आवश्यकता है।

पर्यावरण के विभिन्न स्रोतों की सुरक्षा तथा नागरिकों का दायित्व

प्रत्येक छात्र तथा नागरिक के लिए यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि पर्यावरण के विभिन्न स्रोतों मृदा, जल, वायु, वन व वन्य जीवों आदि की सुरक्षा कैसे की जाए ? और इस सम्बन्ध में नागरिकों की क्या जिम्मेदारी है ?

(1) मृदा (मिट्टी) की सुरक्षा व नागरिकों का दायित्व

मृदा मानव के लिये एक आधारभूत संसाधन है। मृदा वनस्पतियों के उगने का माध्यम है और विभिन्न प्रकार के प्राणियों के जीवन का आधार है। विंभिन्न प्रकार की फसलें, फल-फूल, वृक्ष, घास आदि मृदा में ही उगती हैं।

मृदा को सबसे अधिक हानि अपरदन या कटाव से होती है। मैदानी भागों में कीटनाशकों व उर्वरकों के अधिक प्रयोग से मिट्टी की स्वाभाविक उर्वरता कम होने तथा उसके प्रदूषित होने की समस्या भी गम्भीर है। वनों के विनाश, अनियन्त्रित व अति पशुचारण तथा कृषि की गलत विधियों से भी मिट्टी को भारी हानि पहुँचती है। अतः मृदा के संरक्षण की भारी आवश्यकता है।

नागरिकों का दायित्व– मृदा या मिट्टी की सुरक्षा के सम्बन्ध में नागरिक को निम्न उपाय अपनाने चाहिए–

(1) वनारोपण– वनों की अन्धाधुन्ध कटाई तत्काल रोकी जानी चाहिये। जिन क्षेत्रों में वनों के अभाव के कारण मृदा अपरदन अधिक होता है, वहाँ वनारोपण किया जाना चाहिये। कानून बनाकर यह अनिवार्य किया जाना चाहिये कि यदि एक वृक्ष काटा जाये तो इसके स्थान पर दो नये वृक्ष लगाये जायें।

(2) नियन्त्रित पशुचारण– यह आवश्यक है कि मनमाने ढंग से पशुचारण न किया जाये और पशुचारण के लिये कुछ क्षेत्र निश्चित कर दिये जायें। इससे बाकी क्षेत्रों में वनस्पति की मात्रा बढ़ जायेगी और कटाव कम हो जायेगा।

(3) मृदा प्रदूषण पर रोक– उर्वरकों व कीटनाशकों का अनियन्त्रित व अति प्रयोग मृदा को प्रदूषित करता है। अतः रासायनिक उर्वरकों का उपयोग कम और गोबर आदि देशी खादों का प्रयोग अधिक करना चाहिये। इससे भूमि के प्राकृतिक उर्वरापन व पोषक तत्वों में कमी नहीं आयेगी।

(4) कृषि प्रणाली में सुधार– कृषि की वैज्ञानिक एवं स्थानीय दशाओं के अनुरूप पद्धतियाँ अपनाकर मृदा संरक्षण किया जा सकता है; जैसे (i) फसलों का हेर-फेर, (ii) झूम खेती पर रोक, (iii) ढालू भूमि पर सीढ़ीदार खेत बनाकर खेती करना, (iv) ढालों पर समोच्च रेखीय जुताई, (v) पवन व जल से कटाव को रोकने के लिये आवरण फसलें उगाना आदि।

(2) जल की सुरक्षा के प्रति नागरिकों का दायित्व

जल जीवमात्र का जीवन है। जल समस्त वनस्पतियों, पशुओं व मानव के जीवन का आधार है। जल का उपयोग पीने के लिये तथा कृषि, उद्योग, यातायात तथा विद्युत-निर्माण के लिये किया जाता है। जल का संरक्षण जीवन का संरक्षण है।

इतने महत्वपूर्ण पर्यावरणीय संसाधन को मानव ने अपनी मूर्खता से गन्दा व प्रदूषित कर दिया है तथा जल के दुरुपयोग के कारण आज विश्व के अनेक भागों में जल की भारी कमी हो गई है। जल की दुर्दशा का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 40 वर्ष तक सात पंचवर्षीय योज़नायें लागू करने के बाद भी आज भारत के $1\frac{1}{2}$ लाख गाँवों के 20 करोड़ निवासियों को **'शुद्ध पेय जल'** उपलब्ध नहीं है।

कारखानों के विषैले कचरे, कीटनाशक दवाओं व उर्वरकों के अति प्रयोग तथा नगरों के सीवर ने नदियों व जलाशयों के जल को अत्यन्त प्रदूषित कर दिया है जिससे मानव, पशुओं, जलीय जीवों व वनस्पतियों के जीवन पर बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ रहा है।

नागरिक का दायित्व– जल की सुरक्षा के सम्बन्ध में नागरिक को निम्न नियमों का पालन करना चाहिए–

(1) मल को नदियों में न बहाया जाये, बल्कि उसे खाद में परिवर्तित करने की व्यवस्था की जाये।

(2) कारखानों से निकलने वाले जहरीले अवशिष्ट पदार्थों एवं गर्म तथा दूषित जल को नदियों, जलाशयों तथा समुद्र में न गिराया जाये, बल्कि उससे अन्य सस्ते पदार्थ बनाये जायें। यदि अवशिष्ट जल नदियों में गिराना आवश्यक ही हो, तो उसे वैज्ञानिक विधि से शुद्ध कर तब नदियों में गिराया जाना चाहिये।

(3) जिन नदियों अथवा झीलों को मानव ने अपनी मूर्खता से गन्दा कर दिया है उनकी वैज्ञानिक विधि से सफाई होनी चाहिये। गंगा नदी के प्रदूषण को दूर करने के लिये इसी विधि का प्रयोग किया जा रहा है जिसके लिये 290 करोड़ रुपये की **'गंगा शुद्धिकरण योजना'** बनाई गई है।

(4) जिन जलाशयों, झीलों का पानी मनुष्य या जानवर पीते हों उनमें कपड़े या गन्दी वस्तुयें नहीं धोनी चाहियें।

(5) सीवर का गन्दा मल-मूत्र वाला जल शहर के बाहर शुद्ध या दोष रहित करके ही नदियों में डालना चाहिये।

(6) जिन खेतों में रासायनिक खादों कीटनाशकों का प्रयोग किया जाये, उन खेतों से बहने वाले जल को जलाशयों व नदियों में नहीं गिराया जाना चाहिये।

(7) खेतों में रासायनिक खादों के स्थान पर गोबर आदि की देशी खादों का तथा कीटनाशक दवाओं की बजाय कीड़े मारने के देशी उपायों का प्रयोग बढ़ाया जाना चाहिये।

(8) जो कारखाने नदियों के किनारे स्थित हैं, उन्हें वहाँ से हटा कर दूर स्थापित करना चाहिये।

(9) कानून बनाकर और उसी दृढ़ता से लागू करके उद्योगपतियों को बाध्य किया जाना चाहिये कि वें कारखानों के दूषित जल को यन्त्रों से शुद्ध करके ही नदी में डालें।

(10) नदियों पर बाँध बनाकर बाढ़ का जल एकत्र करके उसे नहरों के माध्यम से जल की कमी वाले क्षेत्रों में पहुँचाया जाये। उदाहरण के लिये, पंजाब में भाखरा बाँध का जल इन्दिरा नहर के माध्यम से राजस्थान के सूखे क्षेत्रों में पहुँचा कर खेती की जाती है।

(11) जल के रिसाव से बहुत जल बेकार जाता है। अतः नहरों को पक्का कर जल की बचत की जानी चाहिये।

(12) अधिकांश उद्योगों में जल का उपयोग शीतलन के लिये किया जाता है। इसके लिये पुनर्शोधित जल का उपयोग करके स्वच्छ जल को बचाना चाहिये।

(3) वायु का संरक्षण तथा नागरिक का दायित्व

वायु प्राण का आधार है। वायु की शुद्धता पर ही हमारा जीवन तथा स्वास्थ्य निर्भर होता है। वायु में पाई जाने वाली गैसें एक निश्चित अनुपात में होती हैं। जब यह अनुपात बिगड़ जाता है, तो वायु अशुद्ध हो जाती है। वायु को अशुद्ध करने के लिये मानव ही उत्तरदायी है। मानव ने औद्योगिक कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले प्रदूषित धुयें से, जहर उगलने वाले वाहनों के गन्दे धुयें से, ताप बिजली घरों के धुयें व राख से तथा परमाणु भट्टियों की रेडियोधर्मी किरणों से वायु को अत्यधिक प्रदूषित कर दिया है जिससे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा रोग बढ़ते हैं।

नागरिकों का दायित्व–वायु को प्रदूषण से बचाने के लिए नागरिकों को अग्रलिखित दायित्वों का पालन करना चाहिए–

(1) **वनारोपण**– वैज्ञानिकों का मत है कि विश्व तथा प्रत्येक देश के सम्पूर्ण धरातल का 33% भाग यदि वन से घिरा हो तो वायु प्रदूषण से हानि नहीं होती, क्योंकि वृक्ष प्रदूषित वायु

को सतत शुद्ध करते रहते हैं। अतः प्रत्येक नागरिकों को वृक्षों की रक्षा करनी चाहिए तथा वृक्षारोपण करना चाहिए।

(2) कारखाने– कारखानों की स्थापना आवादी से दूर की जानी चाहिये तथा उनकी चिमनियों को ऊँचा करके उनसे निकलने वाले धुएँ को साफ करने के लिये विशेष फिल्टर का प्रयोग करना चाहिये।

(3) कूड़ा-करकट– गोबर, कूड़ा-करकट तथा मल आदि को इधर-उधन न डालकर आबादी से वाहर किसी गड्ढे में डालना चाहिये जिससे उससे निकलने वाली गन्दी वायु से वायु प्रदूषण न हो।

(4) वाहनों का कम प्रयोग– अव समय आ गया है कि हम वाहनों का उपयोग केवल सुख सुविधाओं की दृष्टि से ही न करें, बल्कि उनके द्वारा उत्पन्न वायु प्रदूषण के खतरे के प्रति भी जागरूक रहें। वाहनों से उत्पन्न प्रदूषकों पर कानून वनाकर नियन्त्रण किया जाये।

वायु प्रदूषण के वर्तमान संकट की घड़ी में, देखा जाये तो **साइकिल ही सर्वोत्तम सवारी है** जोकि प्रदूषण रहित, शोर न करने वाली, सस्ती एवं स्वास्थ्यवर्धक होने के साथ-साथ ऊर्जा वचाने वाली भी है। यही कारण है कि विकसित देशों में साइकिल पुनः लोकप्रिय हो रही है।

(5) जनजागरण– वायु प्रदूषण के संकट के वारे में जनमानस को जागृत किया जाना चाहिये। छात्रों के पाठ्य-क्रम में प्रारम्भ से ही पर्यावरण प्रदूषण को एक विषय के रूप में सम्मिलित किया जाना चाहिये।

(4) वनों की सुरक्षा तथा नागरिक का दायित्व

विगत आधी शताब्दी में मानव ने अपने मूर्खतापूर्ण, लालची, स्वार्थी और अविवेकशील व्यवहार द्वारा वनों को वुरी तरह नष्ट किया है। इस अवधि में वनों का प्रतिशत 23 से घटकर 12 ही रह गया है। वनों के विनाश से वायु प्रदूषण में वृद्धि हुई है। अनेक वनस्पतियाँ लुप्त हो गई हैं। मौसमों में प्रतिकूल परिवर्तन होने लगे हैं। पर्यावरण का सन्तुलन विगड़ा है। लकड़ी व वन-वस्तुओं की कमी हो गई है। भूमि का कटाव वढ़ा है। वाढ़ों में वृद्धि हुई है। भूमिगत जल में कमी हुई है। मिट्टी की उर्वरता घटी है। भूस्खलन बढ़ा है तथा रोगों में वृद्धि हुई है।

नागरिकों का दायित्व– वनों की सुरक्षा प्रत्येक नागरिक का सर्वोपरि दायित्व है जिसके लिए नागरिकों को निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए–

(1) वनों पर न तो व्यक्ति का अधिकार हो, न सरकार का; बल्कि प्रत्येक गाँव या नगर से सम्वद्ध वन पर उसी गाँव या नगर का अधिकार हो जो उसका सन्तुलित उपयोग, सुरक्षा तथा वृद्धि करे। दूरस्थ वनों की देख-रेख सरकार करे।

(2) वनों के विकास को कृषि से सम्वद्ध किया जाये।

(3) **'एक बच्चा एक पेड़'** कार्यक्रम का प्रचार तेजी से होना चाहिये।

(4) वृक्षारोपण में केवल यूक्लिप्टिस के वृक्ष ही न लगाये जायें बल्कि **विभिन्न प्रकार** के ऐसे बृक्ष लगाये जायें जो स्थान-विशेष की जलवायु व मिट्टी की दृष्टि से ठीक हों।

(5) हर गाँव तथा हर नगर में जागरूक युवा वर्ग का एक संगठन हो जो सामाजिक वानिकी आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाये।

(6) केवल भूगोल में ही नहीं, अपितु अर्थशास्त्र, विज्ञान, जीव विज्ञान, नागरिक शास्त्र, समाजशास्त्र, भाषा, वाणिज्य जैसे अन्य विषयों में भी **'वानिकी'** को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाये।

(7) यह कानून बने कि जो वृक्ष काटा जायेगा, काटने वाला व्यक्ति उसके बदले में दो पेड़ लगायेगा। इस हेतु पेड़ काटने वाला व्यक्ति 100 रु० जमानत के रूप में वन विभाग में जमा

करे। बाद में जब यह साबित हो जाये कि दो पेड़ लगा दिये गये हैं तथा उनकी सुरक्षा के प्रबन्ध कर दिये गये हैं तब जमानत के 100 रु० सम्बन्धित व्यक्ति को वापिस कर दिये जायें।

(5) वन्य जन्तु संरक्षण तथा नागरिकों का दायित्व

वनों के जीव-जन्तु भी मानव के लिये उतने ही उपयोगी हैं, जितनी कि अन्य कोई वस्तु। वन्य प्राणियों का सम्बन्ध 'जिओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली हमारी भारतीय संस्कृति से जुड़ा है। वन्य प्राणी प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखने में बड़े सहायक होते हैं।

किन्तु जनसंख्या वृद्धि, वनों में आग, अवैध शिकार तथा पानी की कमी के कारण वन्य जीवों का भारी विनाश हुआ है जिससे पर्यावरण के सन्तुलन पर बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा है।

वन्य जन्तुओं के तीव्र विनाश से सरकार बड़ी चिन्तित रही है। फलतः उसने वनों के साथ ही साथ **वन्य जन्तुओं के संरक्षण के लिये अनेक महत्वपूर्ण पग उठाये हैं।**

नागरिकों का दायित्व– वन्य जन्तुओं की सुरक्षा के लिए नागरिकों को भी निम्न प्रयास करने चाहिए–

(1) वन्य जन्तु संरक्षण सप्ताह– प्रति वर्ष 1 अक्तूबर से 7 अक्तूबर तक वन्य जन्तु संरक्षण सप्ताह मनाना चाहिए।

(2) स्वयं सेवी संस्थायें– सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयासों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि स्वयं सेवी संस्थाओं तथा नागरिक इस क्षेत्र में आगे आयें और वन्य जन्तुओं के संरक्षण के लिये जन-चेतना उत्पन्न करें।

(3) बच्चों व छात्रों का भ्रमण– बच्चों व छात्रों में इस दिशा में जागृति उत्पन्न करने के लिये उन्हें प्राणी उद्यानों तथा अभ्यारण्यों आदि की सैर कराने की व्यवस्था की जाये ताकि इन्सान की नई पीढ़ी में वन्य जन्तुओं के प्रति प्रेम व अनुराग बढ़े।

(4) वनकर्मियों को पुरस्कार– वनों तथा वन्य जन्तुओं की रक्षा के लिये सरकार द्वारा वन अधिकारी तथा वनकर्मी नियुक्त रहते हैं। अतः निष्ठावान तथा कर्त्तव्य-परायण वनकर्मियों को पुरस्कृत किया जाये और शिकारियों से मिलकर भ्रष्टाचार करने वाले वनकर्मियों को दण्डित भी किया जाये।

आज राष्ट्रहित में इस बात की भारी आवश्यकता है कि वन्य जन्तु संरक्षण के प्रयास एक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर लें।

पर्यावरण की रक्षा के सरकारी प्रयासों के प्रति नागरिकों का दायित्व

नागरिकों का यह दायित्व है कि वे पर्यावरण की रक्षा के निम्नलिखित सरकारी प्रयासों में अपना सहयोग प्रदान करें:–

(1) संविधान में संशोधन– (i) सन् 1976 में संविधान में किए गए 42वें संशोधन द्वारा संविधान में उल्लिखित 'राज्यों के नीति निर्देशक सिद्धान्तों' में अनुच्छेद 48–अ जोड़ा गया जिसमें कहा गया कि "राज्य पर्यावरण का संरक्षण करने तथा देश के वनों तथा वन्य जीवों की सुरक्षा करने का प्रयास करेगा।"

(ii) 42वें संशोधन के अन्तर्गत ही संविधान में नागरिकों के **10 मूल कर्त्तव्यों का समावेश** किया गया, जिसमें कहा गया कि "वनों, झीलों तथा नदियों और वन्य जीवों सहित प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण तथा सुधार करना एवं जीवित प्राणियों के प्रति दया रखना भारत के हर नागरिक का कर्त्तव्य होगा।"

(2) वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय– केन्द्र सरकार में 'वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय' के नाम से एक पृथक् मन्त्रालय की स्थापना की गई है। इसी प्रकार, भारत के 25 राज्यों में से प्रत्येक

में 'वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय' स्थापित किए गए हैं। ये मन्त्रालय केबिनेट स्तर के एक पृथक् मन्त्री के अधीन देश में तथा राज्यों में पर्यावरण की सुरक्षा हेतु विभिन्न योजनायें वनाते हैं और उन्हें कार्यान्वित करते हैं।

(3) पंचवर्षीय योजनायें– सातवीं पंचवर्षीय योजना में पर्यावरण-संरक्षण को प्रमुख स्थान दिया गया। वर्तमान में 1 अप्रैल 92 से प्रारम्भ हुई आठवीं पंचवर्षीय योजना में भी पर्यावरण-संरक्षण को प्रमुख स्थान दिया गया है और इस हेतु अरवों रु० का प्रावधान किया गया है।

(4) प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड– केन्द्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड तथा प्रत्येक राज्य में राज्य प्रदूषण नियन्त्रण वोर्ड स्थापित किए गए हैं। ये बोर्ड केन्द्र में तथा राज्यों में प्रदूषण की रोकथाम के लिये कार्य करते हैं, उद्योगों द्वारा फैलाए जाने वाले जल तथा वायु के प्रदूषण को रोकते हैं तथा पर्यावरण-सुरक्षा के लिए अनेक पग उठाते हैं।

(5) गैर-सरकारी संगठन प्रभाग– पर्यावरण सुरक्षा में लगे गैर-सरकारी संगठनों व सरकारी विभागों के बीच समन्वय व ताल-मेल स्थापित करने के लिए 'वन व पर्यावरण मन्त्रालय' के अन्तर्गत एक गैर-सरकारी संगठन प्रभाग की स्थापना की गई है।

(6) हिमालय पर्यावरण एवं विकास संस्थान– हिमालय की पर्यावरणीय व्यवस्था के संगठन एवं वनों का ह्रास रोकने के लिए **'गोविन्द बल्लभ पन्त हिमालय पर्यावरण एवं विकास संस्थान'** की स्थापना की गई है। यह संस्थान हिमालय के प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्ध एवं विकास के लिए प्रभावी रणनीति वनाकर उसे लागू करता है।

(7) पर्यावरण एवं वन पर्व– पर्यावरण की उपयोगिता व सुरक्षा की ओर जन-जन का ध्यान आकर्षित करने के लिए देश में अनेक पर्व मनाये जाते हैं। जैसे– (क) विश्व वानिकी दिवस 21 मार्च को, (ख) विश्व पर्यावरण दिवस 5 जून को, (ग) वन महोत्वस सप्ताह 1 से 7 जुलाई तक, (घ) वन्य जन्तु संरक्षण सप्ताह 1 से 7 अक्टूबर तक।

(8) संचार माध्यमों का उपयोग– सरकार द्वारा समाचार-पत्र, रेडियो, दूरदर्शन, गोष्ठियों एवं अन्य प्रचार माध्यमों से पर्यावरण-प्रदूषण दूर करने के उपायों के सम्बन्ध में लोगों को सचेत तथा प्रशिक्षित किया जाता है।

(9) विभिन्न कानूनों का निर्माण– पर्यावरण की सुरक्षा और जल तथा वायु के प्रदूषण को रोकने के लिए तथा वन्य जन्तु संरक्षण के लिए देश में अनेक कानून बनाये गये हैं, जैसे– (i) जल प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण अधिनियम 1947, (ii) वायु प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण अधिनियम 1981, (iii) पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम 1986, (iv) मोटर वाहन प्रदूषण नियन्त्रण अधिनियम 1989 तथा (v) वन्य जन्तु संरक्षण अधिनियम 1991 आदि।

पर्यावरण-संरक्षण में बच्चों की भूमिका
(Role of Children in Environmental Conservation)

पर्यावरण-संरक्षण का आन्दोलन समाज के सभी वर्गों को एक साथ लेकर ही सफल हो सकता है। इसमें भी वच्चों की भूमिका छोटी दिखाई देती हुई भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो दूरगामी प्रभाव डालती है।

वच्चे राष्ट्र की धरोहर होते हैं। बच्चों में आस-पास के वातावरण के लिये अटूट लगाव व भारी जिज्ञासा होती है। पशु-पक्षियों व पेड़-पौधों के लिये उनके मन में प्रेम की भावना होती है। वच्चों की इस जिज्ञासा व प्रेम भावना को और दृढ़ वनाने का कार्य माता-पिता तथा शिक्षक कर सकते हैं।

अमेरिका, जापान, जर्मनी व इंगलैंड आदि विकसित देशों में प्राइमरी कक्षाओं से बच्चों को पर्यावरण की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। फलतः हाई स्कूल व इण्टर तक आते-आते पर्यावरण के बारे में छात्रों का ज्ञान गहरा व व्यापक हो जाता है।

यह खुशी की बात है कि नई शिक्षा नीति 1986 के अन्तर्गत पाठ्यक्रम में पर्यावरण को सम्मिलित किया गया है। वर्तमान अध्ययन इसी का एक अंग है।

घर पर तथा स्कूलों में बच्चों को पर्यावरण तथा उसके संरक्षण के विषय में ज्ञान कराने के निम्न उपाय अत्यन्त कारगर साबित हो सकते हैं–

(1) कहानियों द्वारा– बच्चों को कहानियों से बड़ा लगाव होता है। बच्चों को पेड़-पौधों व जीव-जन्तुओं की मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक कहानियाँ सुनाकर उन्हें पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक बनाया जा सकता है।

(2) गीतों व कविताओं द्वारा– बच्चों पर लययुक्त मधुर गीतों व कविताओं का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण सम्बन्धी गीतों का सामूहिक रूप से ज्ञान कराकर बच्चों में पर्यावरण के प्रति लगाव उत्पन्न किया जा सकता है।

(3) एकांकी नाटकों द्वारा– बच्चे एकांकी नाटकों के मंचन में विशेष रुचि लेते हैं। पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों तथा वायु व जल संसाधनों से सम्बन्धित छोटे-छोटे नाटकों द्वारा उन्हें पर्यावरण संरक्षण के लिये प्रेरित किया जा सकता है।

(4) भाषण व वाद-विवाद द्वारा– स्कूलों में पर्यावरण के सम्बन्ध में भाषण व वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन करके पर्यावरण संरक्षण के सम्बन्ध में बच्चों के संस्कार सुदृढ़ किये जा सकते हैं।

(5) भ्रमण द्वारा– बच्चों की टोलियों को प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुभव कराने के लिये शिक्षक वनों, अजायबघरों, नदी, समुद्र तटों व पर्वतों की शैक्षणिक यात्रा पर ले जा सकते हैं। इससे बच्चों का पर्यावरण ज्ञान उनके मन और हृदय में अंकित हो जायेगा।

(6) वृक्षारोपण– स्कूलों में वृक्षारोपण कराकर बच्चों के पेड़-पौधों के प्रति लगाव में वृद्धि की जा सकती है। अपने लगाये पौधे की देखभाल बच्चे बड़े मनोयोग से करते हैं।

(7) फिल्मों द्वारा– पशु-पक्षियों, अभ्यारण्यों, तथा वन्य जीवन पर निर्मित फिल्में बच्चों को सिनेमा के वृत्त-चित्रों तथा दूर-दर्शन के द्वारा दिखाई जा सकती हैं।

इन उपायों से पर्यावरण का ज्ञान प्राप्त करके बच्चे बड़े होने के बाद जब नागरिक बनेंगे तो पर्यावरण की समस्याओं तथा इसके संरक्षण की उपयोगिता को अच्छी प्रकार समझ सकेंगे और स्वभाव तथा व्यवहार से पर्यावरण के सच्चे संरक्षक बन जायेंगे।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 वाक्यों में दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— पर्यावरण से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर– पर्यावरण का अर्थ उन सभी प्राकृतिक दशाओं एवं पदार्थों से लिया जाता है जो हमारे चारों ओर व्याप्त हैं। ये वस्तुयें हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, खनिज व जीव जन्तु। प्रसिद्ध विद्वान ताँसले के अनुसार, "चारों ओर पाई जाने वाली प्रभावकारी दशाओं (effective conditions) का वह योग, जिसमें, जीव रहते हैं, वातावरण या पर्यावरणीय कहलाता है।"

प्रश्न 2— जैवमण्डल क्या है ?

उत्तर– जैव मण्डल पर्यावरण का चौथा तथा सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है जो अन्य तीन क्षेत्रों (स्थल मण्डल, वायु मण्डल व जल मण्डल) से प्रभावित भी होता है और इन्हें प्रभावित भी करता

है। जैव मण्डल में (i) वनस्पति, उसके प्रकार, विशेषतायें व वितरण, (ii) विभिन्न प्रकार के जीव जन्तु व मनुष्य, (iii) वनस्पति व जीव जन्तुओं का जलवायु से सह-सम्बन्ध, (iv) पर्यावरण की समस्याओं व उनके निराकरण को सम्मिलित किया जाता है।

प्रश्न 3— पर्यावरणीय संरक्षण से क्या आशय है ?

उत्तर– प्राकृतिक संसाधनों को कम से कम क्षति पहुँचाकर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना ही पर्यावरण-संरक्षण कहलाता है।

मैकनाल के शब्दों में, "पर्यावरणीय संरक्षण से आशय प्राकृतिक स्रोतों का इस प्रकार उपयोग करने से है कि जिससे मानव जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वोत्तम रीति से हो सके और ऐसा तभी हो सकता है जबकि वर्तमान और भविष्य की सम्भावित आवश्यकताओं में सन्तुलन रखा जाए।"

प्रश्न 4— पर्यावरण संरक्षण के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ?

उत्तर– पर्यावरण संरक्षण के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं–

(i) **बचत**– संसाधनों की सीमितता को देखते हुए भविष्य के उपयोग के लिये उनकी बचत करना, (ii) **बर्बादी पर रोक**– पर्यावरणीय संसाधनों के दुरुपयोग व बर्बादी को रोकना, (iii) **विवेकपूर्ण उपयोग**– संसाधनों का उचित समय पर, उचित रीति से तथा उचित मात्रा में विवेकपूर्ण रीति से इस प्रकार उपयोग करना कि संसाधन वर्तमान एवं भविष्य, दोनों की ही जरूरतों को पूरा कर सकें।

प्रश्न 5— पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता तथा महत्व बताइये।

उत्तर– मनुष्य ने पर्यावरणीय संसाधनों का इतनी बेदर्दी से शोषण किया है कि पर्यावरणीय क्रियायें असन्तुलित हो गई हैं। जल, मृदा तथा वायु अत्यधिक प्रदूषित हो गये हैं। धरती का तापमान बढ़ने के कारण मौसम असामान्य हो रहा है। अनेक पर्यावरणीय स्रोत समाप्त होने की स्थिति में आ गये हैं। अतः पर्यावरणीय स्रोतों के संरक्षण की भारी आवश्यकता तथा महत्व है ?

प्रश्न 6— मृदा संरक्षण के चार उपाय बताइये।

उत्तर– मृदा संरक्षण के चार उपाय हैं–

(i) वनों की अन्धा-धुन्ध कटाई को रोक कर वनारोपण किया जाये ताकि मृदा अपरदन रुके, (ii) पशुचारण को नियन्त्रित किया जाए, (iii) कीटनाशकों व उर्वरकों से होने वाले मृदा प्रदूषण तथा मृदा अवक्रमण को रोका जाए और (iv) कृषि की वैज्ञानिक एवं स्थानीय दशाओं के अनुरूप पद्धतियाँ अपनाकर मृदा संरक्षण किया जाये।

प्रश्न 7— जल संरक्षण के चार उपाय बताइये।

उत्तर– जल संरक्षण के चार उपाय हैं–

(i) कारखानों से निकलने वाले जहरीले अवशिष्ट पदार्थों एवं गन्दे जल को नदियों, झीलों या समुद्र में न डाला जाए, (ii) प्रदूषित नदियों के जल की वैज्ञानिक विधि से सफाई की जाए, (iii) शहरों के सीवर का मल-मूत्र वाला गन्दा जल यन्त्रों से साफ करके ही नदियों में डाला जाये, (iv) नदियों पर बाँध बनाकर बाढ़ का जल एकत्र करके उसे नहरों के माध्यम से जल की कमी वाले क्षेत्रों में पहुँचाया जाये। राजस्थान नहर इसका उदाहरण है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर एक वाक्य में दीजिए। प्रत्येक प्रश्न का 1 अंक है।)

प्रश्न 1— पर्यावरण का क्या अर्थ है ?

उत्तर– पर्यावरण का अर्थ उन सभी प्राकृतिक दशाओं व वस्तुओं से लिया जाता है जो हमारे चारों ओर व्याप्त हैं, जैसे पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति व जीव-जन्तु।

प्रश्न 2— पर्यावरण के चार अंग या तत्व या क्षेत्र कौन से हैं ?

उत्तर– ये हैं– (1) स्थल मण्डल, (2) वायुमण्डल, (3) जल मण्डल और जैवमण्डल।

प्रश्न 3— पर्यावरण प्रदूषण के चार प्रकार बताइये।

उत्तर– ये हैं– (1) वायु प्रदूषण, (2) जल प्रदूषण, (3) मृदा प्रदूषण, (4) ध्वनि प्रदूषण।

प्रश्न 4— पर्यावरण सुरक्षा से क्या आशय है ?

उत्तर– पर्यावरण की सुरक्षा से आशय प्राकृतिक संसाधनों को विनाश से बचाने व उनका सदुपयोग करने से है।

प्रश्न 5— पर्यावरण सुरक्षा के प्रति नागरिक का एक प्रमुख दायित्व बताइये।

उत्तर– पर्यावरण प्रदूषण की हानियों व पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति जन जागरण उत्पन्न करना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

1. पर्यावरण का अर्थ, क्षेत्र तथा महत्व बताइये।
2. पर्यावरण से मनुष्य की कौन-कौन सी आशाएँ पूरी होती हैं ? मनुष्यं ने पर्यावरण को किस प्रकार क्षति पहुँचाई है ?
3. पर्यावरण की सुरक्षा से क्या आशय है ? पर्यावरण की सुरक्षा के क्या उद्देश्य हैं ?
4. पर्यावरण की सुरक्षा की आवश्यकता तथा महत्व पर प्रकाश डालिये।
5. मिट्टी तथा जल की सुरक्षा में नागरिक के दायित्व पर प्रकाश डालिये।
6. वायु तथा वनों की सुरक्षा के प्रति नागरिकों का क्या दायित्व है ?
7. पर्यावरण की सुरक्षा के सरकारी प्रयासों का विवरण दीजिए।

□□

10 राज्य (State)

"जिस प्रकार जल मछली के लिये अनिवार्य है, उसी प्रकार राज्य मनुष्य के लिये अनिवार्य है।" —अरस्तू
"राज्य का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है।" —बैंथम

इस अध्याय में क्या है ?

(1) राज्य का अर्थ, (2) राज्य की परिभाषायें तथा उनकी समालोचना, (3) राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा, (4) राज्य के आवश्यक तत्व, (5) राज्य की आवश्यकता तथा महत्व, (6) राज्य सभ्य जीवन की अनिवार्य शर्त है, (7) नागरिक का राज्य से सम्वन्ध, (8) राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिये अथवा क्या नागरिक को राज्य का विरोध करना चाहिये, (9) राज्य और अन्य समुदायों में अन्तर, (10) राज्य तथा सरकार में अन्तर, (11) राज्य और समाज में अन्तर, (12) राज्य और राष्ट्र में अन्तर, (13) राज्य और देश में अन्तर, (14) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (15) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

सभी प्राकृतिक और मनुष्यकृत समुदायों में राज्य सवसे शक्तिशाली एवं सवल संगठन है। वह समुदायों का शिरोमणि है। वह मानव अधिकारों का संरक्षक है। अन्य सभी समुदाय राज्य के नियन्त्रण और संरक्षण में अपना कार्य करते हैं। सुसंगठित और शक्तिशाली होने के कारण राज्य ही देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखता है।

राज्य का अर्थ (Meaning of State)

साधारण बोलचाल की भाषा में, 'राज्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। अमेरिका, भारत, चीन देश को हम 'राज्य' कहते हैं। भारतीय संघ की इकाइयों को भी 'राज्य' कहा जाता है। अंग्रेजी काल में जोधपुर आदि देशी रियासतों को भी 'राज्य' कहा जाता था। कभी-कभी हम सरकार, राष्ट्र आदि शब्दों के लिये भी राज्य शब्द का प्रयोग कर दिया करते हैं।

जव हम यह कह सकते हैं कि जनसंख्या को रोकने के लिये राज्य को नई नीति का पालन करना चाहिये, तो यहाँ राज्य से हमारा तात्पर्य शासन या सरकार से होता है। कभी-कभी देश, राज्य या राष्ट्र का भी एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वास्तव में, राज्य न तो सरकार, न प्रदेश, न देश और न राष्ट्र का पर्यायवाची है, अपितु नागरिकशास्त्र में 'राज्य' शब्द का एक **वैज्ञानिक अर्थ है।**

इस अर्थ के अनुसार, "राज्य मनुष्यों का एक ऐसा संघ है जो किसी निश्चित भू-भाग पर ऐसे राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत रहता है जो सर्वोच्च एवं स्वतन्त्र है।"

राज्य की परिभाषायें तथा उनकी समालोचना (Definitions)

कोई दो लेखक राज्य की परिभाषा पर एकमत नहीं हैं। एक जर्मन लेखक कहता है– "राज्य की परिभाषा अनगिनत हैं, लगभग प्रत्येक लेखक की अपनी परिभाषा है और इनमें से किन्हीं दो परिभाषाओं में समानता नहीं है।" **प्रसिद्ध विद्वान् आर० एम० मैकाइवर ने कहा है–** "यह आश्चर्य की बात है कि राज्य जैसे स्पष्ट शब्द की परिभाषायें विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की हैं।" इस विभिन्नता का कारण यह है कि समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, विधिशास्त्र तथा नीतिशास्त्र आदि के विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य की परिभाषा की है।

नीचे हम कुछ प्रमुख लेखकों की परिभाषाओं पर विचार करेंगे–

(1) अरस्तू के अनुसार– **"राज्य परिवारों तथा गाँवों का एक संघ है जिसका लक्ष्य पूर्ण तथा स्वावलम्बी जीवन है, जिससे हमारा अभिप्राय सुखी तथा सम्मानित जीवन से है।"**

"The state is a union of families and villages having for its end a perfect and self-sufficing life, by which we mean a happy and honourable life." **—Aristotle**

वर्तमान समय में राज्य के क्षेत्र का अत्यन्त विस्तार हो गया है। अतः राज्य केवल गाँवों और परिवारों तक सीमित नहीं है। अतः यह परिभाषा वर्तमान समय के लिये उपयुक्त नहीं है।

(2) ब्लंट्शली के शब्दों में– **"राज्य किसी भू-भाग के राजनीतिक रूप से संगठित जनसमूह का नाम है।"**

"The state is a politically organised people of a definite territory."

यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि इसमें राज्य के तीन तत्वों– भू-भाग, जनसंख्या और संगठन का ही उल्लेख है। चौथे तत्व सम्प्रभुता का कोई जिक्र नहीं है।

(3) वुडरो विल्सन के मत में– **"राज्य एक निश्चित भू-भाग के उस जनसमुदाय का नाम है जिसका संगठन शान्तिमय जीवन-यापन के लिये हुआ हो।"**

"The state is a people, occupying a definite territory and having its aim an organised peaceful living." **—Woodrow Wilson**

यह परिभाषा भी अपूर्ण है, क्योंकि इसमें भी राज्य के केवल तीन तत्वों का उल्लेख है– निश्चित भू-भाग, जनसंख्या और संगठन।

(4) बर्गेस के अनुसार– **'एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति के एक विशिष्ट भाग को राज्य कहते हैं।"**

"The state is a particular portion of mankind rewed as an organised unit." **—Burgess**

यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है, क्योंकि इसमें राज्य के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्वों– भू-भाग तथा संम्प्रभुता का कोई उल्लेख नहीं है।

(5) हालैण्ड के शब्दों में– **"राज्य अनेक व्यक्तियों का ऐसा संगठित समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर निवास करता हो और जिसमें बहुसंख्यक दल या एक वर्ग विशेष की इच्छा उसके शक्तिशाली होने के कारण उसके विरोधियों के द्वारा मानी जाती है।"**

"The state is a numerous assemblalge of human beings, generally occupying a certain territory, among whom the will of majority or of an ascertainable class of persons is by the strength of such a majority or class made to prevail against any of their numbers who oppose it." **—Holland**

यह परिभाषा भी इसलिये पूर्ण नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें राज्य के एक प्रमुख तत्व की उपेक्षा कर दी गई है।

(6) प्रो० लास्की के शब्दों में– **"राज्य एक भू-भाग में स्थित वह समाज है जो शासक व शासितों में बंटा होता है जो अपनी निर्धारित भौतिक सीमाओं के अन्दर स्थित है, सभी संस्थाओं पर सर्वोच्चता का दावा करता है।"**

इस परिभाषा में यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य के सभी तत्व सम्मिलित हैं किन्तु फिर भी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। कारण यह है कि सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं– आन्तरिक और बाह्य। इस परिभाषा में सम्प्रभुता के केवल आन्तरिक पक्ष को ही सम्मिलित किया गया है, बाहरी पक्ष की उपेक्षा कर दी गई है।

सर्वश्रेष्ठ परिभाषायें

ऊपर की सभी परिभाषायें किसी न किसी दृष्टि से दोषपूर्ण हैं तथा अपूर्ण हैं। वर्तमान समय में जिन दो विद्वानों की परिभाषायें सबसे अधिक मान्य हैं, वे हैं फिलीमोर तथा गार्नर इनकी परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(7) फिलीमोर के शब्दों में– "राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से निवास करता हो, जो समान्य कानून, रीति-रिवाज तथा परम्परा से एक राजनीतिक संगठन में बँधा हो, जो एक सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस भू-भाग की सीमा के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों तथा पदार्थों पर पूर्ण प्रभुत्व तथा नियन्त्रण रखता हो और जो संसार के किसी भी राष्ट्र से सन्धि या युद्ध करने अथवा उसके साथ किसी भी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्ध स्थापित करने में समर्थ हो।"

ऊपर अब तक की परिभाषाओं में फिलीमोर की परिभाषा बड़ी सारगर्भित तथा उपयुक्त है। इसमें राज्य के सभी आवश्यक तत्वों का समावेश है।

(8) इस प्रकार, गार्नर के अनुसार– "राज्य अधिक अथवा थोड़ी संख्या वाले उस जन-समुदाय को कहते हैं जो स्थायी रूप से एक निश्चित भू-भाग पर रहता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्णतः अथवा लगभग मुक्त हो, जिसकी एक सुसंगठित सरकार हो और जिसकी आज्ञा का वहाँ के अधिकांश निवासी स्वाभाविक रूप से पालन करते हों।"

फिलीमोर के समान गार्नर की परिभाषा भी पूर्ण तथा उपयुक्त है। इसमें राज्य के सभी तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। **वर्तमान समय के अधिकांश विद्वान् इसी परिभाषा को मान्यता प्रदान करते हैं।"**

राज्य के आवश्यक तत्व या लक्षण
(Essential Elements of the State)

ऊपर की परिभाषाओं से राज्य के आवश्यक तत्वों का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। प्रत्येक राज्य में निम्नलिखित पाँच तत्व पाये जाते हैं–

(1) जनसंख्या– जनसंख्या प्रत्येक मानवीय संस्था का एक आवश्यक तत्व है। राज्य भी एक मानवीय समुदाय है। मनुष्य ही राज्य का निर्माण करते हैं। राज्य के अस्तित्व की कल्पना मनुष्यों के बिना नहीं की जा सकती। जनसंख्या का होना राज्य के लिये अति आवश्यक है। यदि जनता न हो तो राज्य का शासन स्थापित नहीं हो सकेगा। उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों में राज्य की स्थापना न होने का यही कारण है।

राज्य के आवश्यक तत्व

1. जनसंख्या
2. निश्चित भू-भाग
3. संगठित सरकार
4. प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता
5. स्वाभाविक आज्ञापालन।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि राज्य की स्थापना के लिये कितनी जनसंख्या होनी आवश्यक है ? इस प्रश्न का ऐसा निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता कि कम से कम या अधिक से अधिक इतनी जनसंख्या राज्य के लिये आवश्यक है।

अरस्तु के अनुसार– "राज्य की जनसंख्या इतनी कम होनी चाहिये कि उसकी शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से हो सके और साथ ही इतनी अधिक भी होनी चाहिये कि वह स्वावलम्बी बन सके।" अतः राज्य की जनसंख्या थेड़ी भी हो सकती है और अधिक भी। उदाहरण के लिये; स्विट्ज़रलैंड में केवल 40 लाख के लगभग लोग रहते हैं जबकि चीन की जनसंख्या लगभग 106 करोड़ है। परन्तु यह स्पष्ट है कि 10 या 20 परिवारों अथवा 200 या 400 लोगों की जनसंख्या से राज्य का निर्माण नहीं

हो सकता। प्राचीन काल में बहुत छोटे-छोटे नगर राज्य हुआ करते थे। आजकल विज्ञान के आविष्कारों तथा यातायात के साधनों के विकास के कारण बड़े-बड़े राज्यों का निर्माण होता है। तथापि, राज्यों की जनसंख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि शासन-कार्य सुचारु रूप से चल सके और प्राकृतिक साधनों का समुचित रूप से उपयोग किया जा सके।

जैसा कि गार्नर ने कहा है कि, **"जनसंख्या राज्य के संगठन के निर्वाह के लिये पर्याप्त होनी चाहिये और उससे अधिक नहीं होनी चाहिये जितनी के लिये भू-खण्ड तथा राज्य के साधन पर्याप्त हों।"**

(2) निश्चित भू-भाग– निश्चित भू-भाग के अभाव में भी राज्य का अस्तित्व असम्भव है। ब्लंट्शली कहता है– **"जिस प्रकार राज्य का व्यक्तिगत तत्व जनसंख्या है, उसी प्रकार भूमि राज्य का भौतिक तत्व है। उस समय तक जनता राज्य की स्थापना नहीं कर सकती, जब तक कि उसके अधिकार में निश्चित भू-भाग न हो।"** यदि राज्य का भू-भाग निश्चित नहीं होगा, तो उस पर विभिन्न राज्य अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे और परस्पर युद्धों का जन्म होगा। जनसंख्या की भाँति भू-भाग की भी कोई निश्चित सीमा नहीं है। भू-भाग के अन्तर्गत भूमि, नदियाँ, झीलें, 100 मील तक का तटीय समुद्र तथा भूमि के ऊपर का वायुमण्डल सम्मिलित होता है।

प्राचीन काल के विद्वान् जो नगर राज्यों के पक्ष में थे, छोटे राज्य पसन्द करते थे क्योंकि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र ऐसे ही राज्य में सफल हो सकता है। आधुनिक लेखक बड़े राज्यों के पक्ष में हैं फिर भी छोटे राज्यों का अस्तित्व अभी भी कायम है। एक ओर, लग्जेम्बर्ग (2,586 वर्ग किमी) जैसे छोटे-छोटे राज्य हैं, दूसरी ओर अमेरिका, भारत, चीन और रूस जैसे विशाल राज्य हैं। फिर भी राज्य की भूमि इतनी अवश्य होनी चाहिये जो अपने प्राकृतिक साधन और उपज आदि के आधार पर अपनी जनसंख्या का पालन कर सके तथा भौगोलिक एकता की स्थापना कर सके। राज्य का भू-भाग एक प्राकृतिक सीमा के अन्दर होना चाहिये तथा एक ही स्थान पर होना चाहिये जिससे उसके प्रशासन में सुविधा हो। दो स्थानों पर होने के कारण ही पाकिस्तान का विभाजन हुआ।

(3) संगठित सरकार– सरकार वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वह राज्यों की इच्छाओं का क्रियान्वयन करती है। सरकार राज्य का व्यावहारिक पक्ष है। राज्य एक अमूर्त संख्या है, सरकार इस अमूर्त संस्था का मूर्त रूप है। सरकार के माध्यम से ही व्यक्ति राज्य से सम्बन्ध स्थापित करता है। सरकार के बिना राज्य की कल्पना निरर्थक है। गिलक्राइस्ट ने कहा है कि **"सरकार राज्य के भीतर वह प्रभावशाली संगठन है जिसके द्वारा राज्य अपनी प्रभुसत्ता का उपयोग तथा अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करता है।"** यदि सरकार न होगी तो राज्य में अराजकता फैल जायेगी। सरकार राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखती है और न्याय की उचित व्यवस्था कायम रखती है। सरकार के कारण ही एक राज्य दूसरे राज्य से भिन्न होता है। यदि दो राज्यों की सरकार एक ही हो, तो वे दो राज्य नहीं रहकर एक ही राज्य बन जाते हैं।

सरकार की स्थापना के साथ राज्य का अस्तित्व जुड़ा होता है। सरकार राज्य की आत्मा है, सरकार के बिना राज्य एक आत्महीन शरीर मात्र हैं। सरकारें विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। वे चाहे जिस प्रकार की हों, इतनी कुशल और शक्तिशाली होनी चाहियें कि राज्य की सीमाओं के भीतर शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा की भावना बनी रहे तथा राज्य की सीमाओं के बाहर से युद्ध या आक्रमण न हो सके। साथ ही सरकार ऐसी भी होनी चाहिए कि उसमें अधिकांश जनता का विश्वास हो और व्यक्ति उसके साथ सहयोग करके उनके [illegible] सहानुभूति रखते हों। राज्य में किस तरह की सरकार हो, यह जनता की राजनैतिक चेतना, राष्ट्रीय परम्परा, राष्ट्रीय चरित्र पर निर्भर करता है।

(4) सम्प्रभुता– सम्प्रभुता का अर्थ है सर्वोच्च शक्ति। यह शक्ति राज्य में निवास करती है। सम्प्रभुता के दो रूप हैं– बाहरी और आन्तरिक। बाहरी सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य की सीमा के बाहर कोई भी सत्ता राज्य के ऊपर न हो। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, कोई दूसरा राज्य या कानून राज्य की सत्ता को मार्यादित नहीं कर सकते। इन्हें स्वीकार करना या न करना राज्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है। अपने हितों को देखते हुए राज्य इनको अपने ऊपर स्वयं आरोपित करता है।

आन्तरिक सम्प्रभुता का अर्थ है कि अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत राज्य की सत्ता के ऊपर कोई अन्य सत्ता नहीं है। कानून, व्यक्ति या समुदाय, सब राज्य की सत्ता के ऊपर नहीं हैं। वे सब राज्य की सत्ता द्वारा मर्यादित हैं। अपनी सीमाओं के अन्तर्गत राज्य को सब व्यक्तियों, समुदायों और संस्थाओं पर सर्वोच्च कानूनी अधिकार प्राप्त है और सबको राज्य की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। राज्य का यही गुण उसे अन्य समुदायों से अलग करता है।

गेटेल कहता है– **"राज्यसत्ता राज्य का असली तत्व है। राज्य के भीतर, इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय, जोकि राज्य में हैं, इसके अधीन हैं। राज्य के बाहर, इसका अर्थ है कि वह राज्य किसी अन्य राज्य या शक्ति के अधीन नहीं है।"** 1947 से पूर्व हमारे देश में निश्चित भू-भाग, जनसंख्या तथा सरकार भी थी पर राज्य नहीं था, क्योंकि देश की सर्वोच्च सत्ता इंगलैण्ड वालों के हाथ में थी। इसी प्रकार सम्प्रभुता राज्य का प्राण तत्व है। सम्प्रभुता के अभाव में राज्य का दैहिक रूप (जनसंख्या, भू-प्रदेश और सरकार) व्यर्थ हो जाता है।

(5) स्वाभाविक आज्ञापालन– उपरोक्त चारों तत्व होते हुए भी यदि जनता का अधिकांश भाग राज्य के आदेशों का पालन नहीं करता, तो राज्य अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह सकता। जनता के सिर पर कोई कानून या शासन उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं लादा जा सकता। सदैव भय और आतंक से शासन नहीं चल सकता। यदि देश की अधिकांश जनता राज्य से असहयोग करती है तो वह शासन-व्यवस्था में परिवर्तन कर सकती है या उस राज्य की सीमाओं का त्याग कर सकती है। इसलिये **प्रोफेसर विलोबी** के अनुसार, **"राज्य की अधिकांश जनता में स्वाभाविक रूप से राज्यों की आज्ञाओं का पालन करने का भाव अवश्य होना चाहिये।"**

प्रत्येक राज्य में उपर्युक्त सभी तत्वों का होना आवश्यक है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में राज्य कहलाने का अधिकार समाप्त हो जाता है।

राज्य की आवश्यकता तथा महत्व
(Necessity and Importance of the State)
अथवा
राज्य सभ्य जीवन की प्रथम शर्त है

राज्य के सम्बन्ध में अराजकतावादी विचारकों के समर्थक कुछ लेखकों का यह मत है कि राज्य मनुष्य के लिये आवश्यक है। मनुष्य समाज में रहकर तभी पूर्ण विकास कर सकता है, जबकि उसे किसी का भय न हो और उस पर किसी भी शक्ति का नियन्त्रण न हो। उनके अनुसार, राज्य मनुष्य पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाता है, अतः वह अच्छे मानव-जीवन का शत्रु है।

परन्तु उपर्युक्त कथन में सत्यता का अंश नहीं है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य में जहाँ अनेक दैवी गुण होते हैं, वहाँ अनेक मनुष्यों में पाशविक प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। अनेक मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी होते हैं। मनुष्य की बहुत सी इच्छायें तथा कार्य परस्पर विरोधी होते हैं जिसके कारण उनके बीच परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है और समाज में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों को समाप्त करने तथा विवादों को मिटाने के लिये एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता होती है। राज्य ऐसी ही सर्वोच्च सत्ता के रूप में कार्य करता है।

इस प्रकार, अराजकतावादियों को छोड़कर अन्य सभी विचारधाराओं के व्यक्ति राज्यों को मनुष्य-जीवन के लिये उपयोगी और आवश्यक समझते हैं। प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने कहा है कि **"राज्य जीवन की आवश्यकताओं के कारण स्थापित हुआ है और वह श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिये स्थिर रहता है।"**

"The state originates in the bare needs of life and continues for the sake of good life."

—Aristotle

राज्य व्यक्ति तथा समाज की भलाई के लिये आवश्यक यन्त्र है। राज्य ही व्यक्तियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का नियामक है। राज्य के सदस्य के रूप में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का चरम विकास करता है। यदि कोई व्यक्ति किसी राज्य का नागरिक नहीं है, तो उसे नागरिक और राजनैतिक अधिकार नहीं मिलते और उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। राज्य के अभाव में शान्तिमय जीवन एक कल्पनामात्र रह जाती है। राज्य प्रत्येक समय इस ओर प्रयत्नशील रहता है कि व्यक्ति और समाज की उत्तरोत्तर उन्नति हो। इसलिए राज्य को **"सभ्य जीवन की पहली शर्त"** कहा गया है। **"State is the first condition of civilized life." संक्षेप में, राज्य की उपयोगिता निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जायेगी–**

(1) राज्य बाहरी आक्रमणों से रक्षा करता है– देश अपनी स्वतन्त्रता खो बैठने के कारण अपनी सभ्यता भी खो बैठता है। एक अव्यवस्थित समाज अपनी रक्षा नहीं कर सकता। केवल राज्य ही बाहरी आक्रमणों से रक्षा कर सकने में समर्थ है।

(2) राज्य शान्ति और व्यवस्था कायम करता है– सभ्यता का शान्ति और व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जव तक व्यक्ति असुरक्षित अनुभव करता है वह सभ्यता की उन्नति की ओर ध्यान नही दे सकता। शान्तिमय वातावरण ही उन्नति और प्रगति का जनक है। राज्य के अभाव में लूटमार, चोरी, डाके, राहजनी और लड़ाई-झगड़े का वातावरण असुरक्षा उत्पन्न करता है।

(3) राज्य कमजोरों की बलवानों से रक्षा करता है– राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्गों का शोषण रोकने के लिये कानून वनाता है। वह समाज के निर्वल वर्ग को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिये समान ओर पूर्ण अवसर प्रदान करता है और उनकी उन्नति के लिये विशद् व्यवस्था करता है।

(4) राज्य अधिकारों और कत्तव्यों की रक्षा करता है– अधिकार तभी सुरक्षित रहते हैं, जबकि समाज के सभी सदस्य अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से निष्ठापूर्वक पालन करें। राज्य एक निष्पक्ष और सार्वभौम संस्था होने के नाते सभी के अधिकारों की रक्षा प्रभावी ढंग से कर सकता है। यदि राज्य मनुष्य के अधिकारों की रक्षा करना छोड़ दे तो मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन और शक्ति का व्यंय आत्म-रक्षा में ही हो जायेगा।

राज्य का महत्व

1. वाहरी आक्रमणों से रक्षा
2. शान्ति और व्यवस्था की स्थापना
3. कमजोरों की रक्षा
4. अधिकारों व कर्त्तव्यों की रक्षा
5. व्यक्ति का सांस्कृतिक विकास
6. स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था
7. सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन
8. आर्थिक उन्नति में सहायक।

व्यक्तिगत रूप से निर्वल वर्ग बलवानों से अपने अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकते। इसलिये एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है जो सब मनुष्यों और मानवीय समुदायों की शक्ति की तुलना में अपार बलशाली हो और निष्पक्ष भाव से सभी के अधिकारों की रक्षा कर सकने में समर्थ हो। यही शक्ति राज्य-शक्ति है।

प्रो० लास्की ने कहा है कि **"प्रत्येक राज्य को उसके द्वारा नागरिकों को दिये गये अधिकारों के आधार पर ही जाना जाता है।"**

"Every state is known by the rights that it maintains."

(5) राज्य व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है– राज्य शिक्षण संस्थायें, अन्वेषण संस्थायें स्थापित करके शिक्षा की व्यवस्था करता है और साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत और ललित कलाओं तथा कला-कौशल की परम्परा को न केवल कायम रखता है, वरन् उन्हें आगे बढ़ाता है और प्रोत्साहन देता है।

(6) राज्य व्यक्तियों का स्वस्थ मनोरंजन करता है– निरन्तर कार्य करने के कारण व्यक्तियों को मनोरंजन की आवश्यकता पड़ती है। राज्य पार्क, उद्यान, संग्रहालय, अजायबघर, चिड़ियाघर, नाटकगृह, सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन आदि का निर्माण और प्रवन्ध करता है, ताकि नागरिकों का स्वस्थ मनोरंजन हो सके।

(7) राज्य सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन एवं नियन्त्रण करता है– समाज में व्याप्त बुराइयों का उन्मूलन और नियन्त्रण करने के लिए राज्य कानून वनाता है और विधवा आश्रम, अनाथालय, पागलखाने, अपाहिज गृह, वनिता आश्रम आदि की स्थापना करता है।

(8) राज्य आर्थिक उन्नति में सहायक है– राज्य आवागमन के साधनों रेल, जहाज, हवाई जहाज, टेलीफोन,जहाजरानी और सड़कों का निर्माण करके तथा औद्योगिक संस्थाओं का नियन्त्रण करके आर्थिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। वह सरकारी संस्थाओं, वैंकों तथा लेन-देन की अन्य दूसरी संस्थाओं का प्रवन्ध करता है, वह उत्पादन और वितरण के साधनों पर नियन्त्रण रखता है।

इस प्रकार राज्य मानव-विकास के लिये अत्यावश्यक समुदाय है। राज्य के विना मनुष्य न तो अपनी रक्षा कर सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास। अतः **राज्य सभ्य मानव-जीवन की प्रथम तथा आवश्यक शर्त है। हॉव्स ने कहा है कि "राज्य के विना मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक और क्षीण हो जायेगा।"**

नागरिक का राज्य से सम्बन्ध
(Relation between Citizen and the State)

राज्य और नागरिक के पारस्परिक सम्बन्धों के वारे में भी विद्वानों के अलग-अलग मत रहे हैं। इस सम्वन्ध में कुछ मत निम्न प्रकार हैं–

(1) राज्य को प्रमुखता– कुछ विद्वानों की दृष्टि में राज्य की उत्पत्ति का कारण दैवी सिद्धान्त है। उनका कथन है कि **राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। अतः नागरिक को राज्य और राजा के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है।** परन्तु इस सिद्धान्त को आजकल कोई मान्यता प्राप्त नहीं है, क्योंकि राजा की सत्ता ईश्वरीय न होकर मानवीय संगठन है।

(2) व्यक्ति को प्रमुखता– अराजकतावादी लोगों का मत यह है कि राज्य नहीं, बल्कि व्यक्ति सर्वोच्च है। वे राज्य को मानव-उन्नति के लिये घातक मानते हैं। उनके अनुसार, **'राज्य एक अनावश्यक बुराई है।' (State is an unnecessary evil)**। व्यक्ति स्वयं ही अपना हित अच्छी प्रकार से सोच सकता है।

(3) राज्य और नागरिक एक दूसरे के पूरक– उपरोक्त दोनों विचारधाराओं के विपरीत, आधुनिक विद्वानों का मत है कि राज्य का संगठन नागरिकों के हित के लिये होता है। अतः राज्य वह कार्य करता है जो सार्वजनिक हित में हो। यदि राज्य नागरिक के हित में कार्य न करे, तो उस दशा में राज्य या उसकी सरकार को वनाना-विगाड़ना नागरिकों के अधिकार में होता है।

इस विचारधारा के अनुसार, **राज्य और व्यक्ति का भिन्न-भिन्न समझना गलत है।** दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति राज्य का प्रमुख अंग है। व्यक्तियों से मिलकर ही राज्य बनता है। व्यक्तियों के विना राज्य का अस्तित्व नहीं हो सकता। और दूसरी ओर, राज्य के विना व्यक्ति न तो अपनी सुरक्षा कर सकता है और न अपना विकास ही कर सकता है।

इस प्रकार, राज्य और नागरिक के बीच बड़ा घनिष्ठ तथा अटूट सम्बन्ध होता है, जैसा कि निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है–

नागरिक का राज्य से सम्बन्ध
1. राज्य को प्रमुखता
2. व्यक्ति को प्रमुखता
3. एक-दूसरे के पूरक
4. परस्पर निर्भरता
5. परस्पर विरोधी नहीं
6. व्यक्ति का विकसित रूप
7. उन्नति का साधन
8. जंजीर व कड़ी
9. कर्त्तव्य-पालन।

(4) परस्पर निर्भरता– नागरिक राज्य के संगठन में निवास करता है और उसकी आज्ञाओं का पालन करता है। दूसरी ओर, राज्य की सर्वोच्च सत्ता भी अपने नागरिकों के विकास के लिये समुचित सुविधायें उपलब्ध कराती है।

(5) परस्पर विरोधी नहीं– राज्य अपने नागरिकों की भलाई के लिये अनेक कानून बनाता है और नागरिक उन कानूनों का पालन करके राज्य को सहयोग देते हैं। अतः राज्य और नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार सहयोग है, विरोध नहीं।

(6) व्यक्ति का विकसित रूप– राज्य और नागरिक के सम्बन्ध में प्लेटो तो यहाँ तक कहता है कि **"राज्य व्यक्ति या परिवार का ही विकसित रूप है।"**

(7) उन्नति के साधन– व्यक्ति स्वयं अपनी तथा समाज की प्रगति के साधन नहीं जुटा सकता। बिना राज्य की उन्नति के व्यक्ति की उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। इसी प्रकार, व्यक्ति के सुधार से ही राज्य का सुधार भी होता है। अतः व्यक्ति और राज्य, दोनों ही परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखने को क्रियाशील रहते हैं।

(8) जंजीर व कड़ी– नागरिक कड़ी है, तो राज्य जंजीर। कड़ी के बिना जंजीर का निर्माण नहीं हो सकता तथा जंजीर के बिना कड़ी का पृथक् कोई महत्व नहीं है।

(9) कर्त्तव्य-पालन– अपने सम्बन्धों को दृढ़ बनाये रखने के लिये राज्य और नागरिक दोनों ही अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। राज्य नागरिकों की सुरक्षा व भलाई के लिये पग उठाता है और नागरिक राज्य की सुरक्षा व उन्नति के लिये कर्त्तव्य पालन करते हैं।

अतः स्पष्ट है कि, राज्य और नागरिक के बीच परस्पर बड़ा निकट का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का आधार परस्पर सहयोग और कर्त्तव्य-पालन है। राज्य के कार्य जितने अधिक जनहित में होते हैं और नागरिक राज्य के प्रति जितने अधिक निष्ठावान होते हैं, यह सम्बन्ध उतना ही अधिक दृढ़ तथा घनिष्ठ होता है।

राज्य की आज्ञा का पालन करना क्यों आवश्यक है ?
(Why do people obey the orders of state ?)
या
क्या नागरिक को राज्य का विरोध करना चाहिये ?

राज्य की आज्ञापालन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न हमारे सामने ऐसे उठ खड़े होते हैं, जैसे कि मनुष्य राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं ? क्या हमें प्रत्येक दशा में राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये और किसी भी स्थिति में उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विचारकों ने अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं।

कुछ लोगों का मत है कि राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने पर चूँकि दण्ड मिलता है अतः दण्ड के भय से लोग राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। यह बात आंशिक रूप से सत्य भी है। कुछ लोगों की धारणा है कि राज्य की आज्ञा ईश्वर की आज्ञा होती है, अतः उसको न मानना उसका विरोध करना है। यह प्राचीन रूढ़िवादी विचार है। वर्तमान युग में इसको मान्यता प्राप्त नहीं है।

वर्तमान युग के विचारकों का मत है कि मनुष्य स्वभाव एवं आवश्यकतावश ही राज्य की आज्ञा का पालन करता है। मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिये ही राज्य की स्थापना की है। राज्य उसके लिये विकास की अनेक सुविधायें जुटाता है, अतः वह स्वाभाविक रूप तथा स्वेच्छा से ही राज्य की आज्ञाओं का पालन करता है। तथ्य यह है कि अनेक व्यक्ति अनेक कारणों से राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं, कोई भय से, कोई परम्परा से, कोई लाभ की दृष्टि से, तो कोई अपना नैतिक कर्त्तव्य मानकर।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि **क्या हमें प्रत्येक स्थिति में राज्य की आज्ञा का आँख मींचकर पालन करना चाहिये ?** इस सम्बन्ध में भी कुछ लोगों का मत है कि हमें किसी भी दशा में राज्य की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। उनका कहना है कि **बुरे से बुरा राज्य भी अराजकता की स्थिति से श्रेष्ठ होता है।** राज्य की आज्ञा न मानने से अराजकता उत्पन्न हो जायेगी जिससे न मानव सुरक्षित रहेगा और न समाज। अतः राज्य के विरुद्ध कभी विद्रोह नहीं करना चाहिये।

इस मत के समर्थकों का दोष यह है कि वे राज्य और सरकार में भेद नहीं करते। विद्रोह हमेशा सरकार के विरुद्ध होता है, राज्य के विरुद्ध नहीं। सरकार का कर्त्तव्य होता है कि वह नागरिकों के विकास के लिये तथा सुखी सामाजिक जीवन के लिये समुचित सुविधायें प्रदान करे। यदि कोई सरकार ऐसा नहीं करती और सार्वजनिक हित के विरुद्ध कार्य करती है, तो हमें उसका विरोध करना चाहिये। अत्याचार सहन करना अत्याचार करने से भी बुरा है।

परन्तु मनुष्य को राज्य, शासन या सरकार के किसी भी नियम, कानून या उसकी किसी बात का विरोध केवल तभी करना चाहिये, जबकि वह देश-हित तथा लोक-हित के विरुद्ध हो और जनमत उसको न चाहता हो। इस स्थिति में मनुष्य को उस नियम का पालन करते हुए सर्वप्रथम शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक उपायें से ही उसका विरोध तथा उल्लंघन करना चाहिये। सभाओं तथा समाचार-पत्रों द्वारा राज्य की उस लोक-हित विरोधी आज्ञा के विरुद्ध प्रचार करना चाहिये।

यदि इस पर भी अत्याचारी शासन उस नियम को वापस न ले, तो विशेष परिस्थितियों में तथा स्थिति अधिक संकटपूर्ण होने पर अत्याचारी शासन का हर सम्भव अहिंसक आन्दोलन से विरोध करना चाहिये। तोड़-फोड़ तथा हिंसक कार्य करना तो किसी भी दशा में उचित नहीं है। किन्तु जब तक कानूनी और वैधानिक साधन उपलब्ध हों, तब तक आन्दोलनों आदि का आश्रय लेना उचित नहीं है। **साधारण स्थिति में राज्य की साधारण आज्ञाओं का उल्लंघन करना न तो उचित है और न वांछनीय।**

राज्य तथा अन्य समुदायों में अन्तर
(Difference between the State & other Associations)

राज्य सबसे बड़ा तथा महत्वपूर्ण स्वाभाविक समुदाय है। राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच कई अन्तर पाये जाते हैं। ये अन्तर निम्न प्रकार हैं–

(1) अनिवार्य तथा ऐच्छिक सदस्यता– प्रत्येक नागरिक के लिये किसी न किसी राज्य का सदस्य बनना अनिवार्य होता है। किन्तु कृत्रिम समुदायों का सदस्य बनना या न बनना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है।

(2) दोहरी सदस्यता– मनुष्य किसी भी समय एक साथ दो राज्यों का सदस्य नहीं बन सकता, किन्तु वह एक साथ दो या दो से अधिक कृत्रिम समुदायों की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(3) निश्चित सीमा– राज्य का एक निश्चित भू-भाग होता है जिसके अन्तर्गत उसके सदस्य रहते हैं, किन्तु अन्य कृत्रिम समुदायों की कोई निर्धारित भौगोलिक सीमा नहीं होती। उसके सदस्य संसार-भर में फैले रहते हैं।

राज्य तथा अन्य समुदायों में अन्तर

1. अनिवार्य या ऐच्छिक सदस्यता
2. दोहरी सदस्यता
3. निश्चित सीमा
4. स्थायित्व
5. उद्देश्य
6. प्रभुसत्ता
7. जीवन-रक्षा
8. आज्ञापालन
9. अधिकार
10. कर तथा शुल्क।

(4) स्थायित्व– राज्य एक स्थायी समुदाय है जिसका कभी अन्त नहीं होता, किन्तु अन्य समुदाय स्थायी नहीं होते। ये तो किसी उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिये बनाये जाते हैं और उद्देश्य पूरा हो जाने पर वे समाप्त हो जाते हैं; जैसे बाढ़-पीड़ित सहायता समिति सहायता कार्य समाप्त करने के पश्चात् स्वयं ही विघटित हो जाती है।

(5) उद्देश्य– प्रत्येक कृत्रिम समुदाय का कोई एक विशिष्ट उद्देश्य होता है, किन्तु राज्य के उद्देश्य बहुमुखी होते हैं। वह जनता के लिये सभी प्रकार के कार्य करता है।

(6) प्रभुसत्ता– राज्य एक पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न समुदाय होता है। उसकी स्थिति सर्वोच्च होती है, किन्तु अन्य सभी प्रकार के समुदाय राज्य के अधीन रहकर कार्य करते हैं।

(7) जीवन-रक्षा– राज्य मनुष्य की जीवन-रक्षा के लिये आवश्यक होता है। इसके बिना तो समाज में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली उक्ति चरितार्थ हो जायेगी, किन्तु अन्य समुदायों के विषय में ऐसी बात नहीं है।

(8) आज्ञापालन– मनुष्यों के लिये राज्य के नियमों को मानना तथा उसकी आज्ञापालन करना अनिवार्य होता है। ऐसा न करने पर, राज्य उन्हें दण्ड देता है। किन्तु अन्य समुदायों के नियमों का पालन न करने पर उन्हें कोई दण्ड देने का अधिकार नहीं होता है।

(9) अधिकार– राज्य के अधिकार असीमित होते हैं, किन्तु कृत्रिम समुदायों के अधिकार सीमित होते हैं। राज्य को कृत्रिम समुदायों के विवाद तय करने का भी अधिकार होता है।

(10) कर तथा शुल्क– राज्य नागरिकों पर जो कर लगाता है उन्हें वह उनसे अनिवार्य रूप से वसूल कर सकता है, किन्तु कृत्रिम समुदायों के शुल्क अथवा चन्दे ऐच्छिक होते हैं।

राज्य तथा सरकार में अन्तर
(State and the Government)

अनेक विद्वान् राज्य (State) तथा सरकार (government) शब्दों को एक दूसरे का पर्यायवाची मानते हैं और दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। वास्तव में, राज्य और सरकार में बड़ी भिन्नता है। सरकार तो राज्य का एक ऐसा अंग है जो राज्य की इच्छा को प्रकट करता है और उस इच्छा की पूर्ति करता है। सरकार राज्य के कार्य का संचालन करने वाला एक संगठन है। अतः दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। नीचे राज्य तथा सरकार के बीच अन्तर को स्पष्ट किया गया है–

(1) संख्या– राज्य में सभी नागरिक सम्मिलित होते हैं, किन्तु सरकार के अन्दर केवल वे लोग सम्मिलित होते हैं, जो सरकारी शासन प्रबन्ध में हिस्सा लेते हैं।

(2) स्थायित्व– राज्य स्थायी होता है और सरकार अस्थायी तथा परिवर्तनशील होती है। सरकार तो किसी भी आम चुनाव के बाद या उससे पूर्व भी बदली जा सकती है, किन्तु राज्य केवल तभी बदला जा सकता है, जबकि उसे कोई विदेशी शक्ति गुलाम बना ले।

(3) आकार– राज्य एक निराकार तथा अप्रत्यक्ष संस्था है जिसे देखा नहीं जा सकता, केवल अनुभव से जाना जा सकता है। किन्तु सरकार का रूप साकार तथा प्रत्यक्ष होता है।

(4) कार्य– राज्य एक निष्क्रिय संस्था है। वह स्वयं कोई कार्य नहीं करता। राज्य के समस्त कार्य सरकार सम्पन्न करती है। सरकार सक्रिय संस्था है।

(5) स्वरूप– सरकार का रूप अनेक प्रकार का होता है; जैसे प्रजातन्त्र सरकार, तानाशाह सरकार, एकतन्त्र सरकार आदि। किन्तु राज्य का स्वरूप सभी जगह एक-सा होता है। राज्य में सभी जगह उसके आवश्यक तत्व पाये जाते हैं।

(6) प्रभुसत्ता– राज्य पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न होता है, किन्तु सरकार नहीं। सरकार राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों के अन्तर्गत ही अपना कार्य सम्पन्न करती है।

राज्य तथा सरकार में अन्तर

1. संख्या
2. स्थायित्व
3. आकार
4. कार्य
5. स्वरूप
6. प्रभुसत्ता
7. विद्रोह।

(7) विद्रोह– मनुष्य राज्य के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकता क्योंकि राज्य एक आवश्यक, अनिवार्य एवं स्वाभाविक समुदाय है। राज्य के समाप्त होने पर मनुष्य का जीवन भी वड़ा कठिन हो जायेगा। किन्तु सरकार यदि अत्याचार करती है, तो उसे वैधानिक उपायों से वदला जा सकता है और चरम परिस्थितियों में उसके विरुद्ध विद्रोह भी किया जा सकता है।

राज्य और समाज में अन्तर
(State and the Society)

राज्य और समाज में निम्नलिखित मुख्य अन्तर पाये जाते हैं–

(1) सम्वन्धों का बोध– राज्य से मनुष्य के केवल राजनीतिक सम्बन्धों का बोध होता है, किन्तु समाज से मनुष्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक आदि सभी प्रकार के सम्वन्धों का वोध होता है।

(2) कार्य-क्षेत्र– समाज का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता है, किन्तु राज्य का अपेक्षाकृत सीमित।

(3) निश्चित भू-भाग– राज्य का निश्चित भू-भाग है किन्तु समाज की कोई भौगोलिक सीमा नहीं होती, वह तो विश्वव्यापी हो सकता है।

(4) सत्ता– राज्य को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है, किन्तु समाज के सम्वन्ध में ऐसी कोई वात नहीं है। राज्य वलपूर्वक अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकता है, पर समाज नहीं।

(5) नियम– राज्य के नियम संसद या विधानमण्डल अथवा किसी व्यक्ति विशेष द्वारा बनाये जाते हैं। किन्तु समाज के नियम रूढ़ियों, रिवाजों तथा परम्पराओं द्वारा निर्मित होते हैं। इसी प्रकार राज्य के नियमों का पालन न करने पर दण्ड मिलता है, किन्तु समाज के नियमों के सम्वन्ध में ऐसी कोई वात नहीं है।

राज्य और समाज में अन्तर

1. सम्बन्धों का बोध
2. कार्य-क्षेत्र
3. निश्चित भू-भाग
4. सत्ता
5. नियम
6. संगठन
7. उत्पत्ति।

(6) संगठन– राज्य का कार्य चलाने के लिये एक संगठन बनाया जाता है जिसे सरकार कहते हैं, किन्तु समाज के कार्य-संचालन के लिये ऐसा कोई संगठन नहीं वनाया जाता।

(7) उत्पत्ति– समाज की उत्पत्ति मनुष्य के जन्म के साथ ही हुई, किन्तु राज्य की उत्पत्ति मानव के विकास के साथ-साथ हुई।

राज्य और राष्ट्र में अन्तर
(State amd the Nation)

कई लोग राज्य और राष्ट्र को एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं, यह उचित नहीं है। राज्य और राष्ट्र में कई अन्तर पाये जाते हैं। वे अन्तर निम्न प्रकार हैं–

(1) सम्बन्ध– राष्ट्र का सम्बन्ध केवल भावना से है, जबकि राज्य एक राजनीतिक संगठन का प्रतीक है।

(2) संगठन– राज्य विना संगठित सरकार के अपना कार्य नहीं कर सकता, किन्तु राष्ट्र का अस्तित्व संगठित समाज में भी होता है और संगठनविहीन समाज में भी।

(3) प्रभुसत्ता– राज्य पूर्ण प्रभुतासम्पन्न एवं शक्ति सम्पन्न होता है। वह बलपूवर्क जनता से अपनी आज्ञा पालन करा सकता है, किन्तु राष्ट्र के कार्य लोग राष्ट्र-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर करते हैं।

(4) स्थिति– राज्य एक राजनीतिक एवं वैधानिक स्थिति का प्रतीक है और राष्ट्र-प्रेम की भावना का द्योतक है।

(5) विस्तार– राष्ट्र स्वतन्त्र राज्य नहीं होता। एक राज्य में कई राष्ट्र रह सकते हैं। 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भारत एक राष्ट्र था, राज्य नहीं।

राज्य व राष्ट्र में अन्तर
1. सम्बन्ध
2. संगठन
3. प्रभुसत्ता
4. स्थिति
5. विस्तार
6. आधार।

(6) आधार– राष्ट्र का आधार है एकता की भावना, जबकि राज्य का आधार सत्ता होती है।

राज्य और देश में अन्तर
(State and the County)

अनेक लोग राज्य और देश में कोई अन्तर नहीं समझते, जबकि वस्तुतः दोनों में अन्तर है। यह अन्तर निम्न प्रकार है–

(1) स्वरूप– राज्य एक राजनैतिक संगठन है जबकि देश से आशय भौगोलिक इकाई से होता है।

(2) विस्तार– एक राज्य में कई देश हो सकते हैं, परन्तु एक राज्य में कई राज्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार एक देश में कई राज्यों का अस्तित्व हो सकता है। उदाहरणतः अमेरिका एक देश है और उसमें कई राज्य हैं।

(3) अधीनता– राज्य किसी अन्य राज्य के अधीन नहीं रह सकता है। किन्तु देश किसी अन्य राज्य के अधीन हो सकता है। उदाहरण के लिये; 1947 से पहले हमारा देश ब्रिटेन के अधीन था।

राज्य और देश में अन्तर
1. स्वरूप
2. विस्तार
3. अधीनता
4. जनसंख्या।

(4) जनसंख्या– राज्य में पर्याप्त जनसंख्या का होना आवश्यक है किन्तु देश जनसंख्या से शून्य भी हो सकता है अथवा उसमें नाममात्र की जनसंख्या भी हो सकती है; जैसे ग्रीनलैण्ड।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
(प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है)

1. राज्य की परिभाषा कीजिये। राज्य एवं समाज का अन्तर स्पष्ट कीजिये। **(1973)**

2. राज्य का सामाजिक जीवन में क्या महत्व है ? राज्य तथा अन्य समुदायों के मध्य अन्तर बताइये। (1970, 75, 77)

3. क्या अच्छे नागरिक को राज्य का विरोध करना चाहिये ? कारण सहित उत्तर दीजिये। (1978)

4. "राज्य सभ्य जीवन की अनिवार्य दशा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (1972, 79, 90)

5. राज्य के स्वरूप का विश्लेषण कीजिये तथा राज्य व सरकार के बीच अन्तर बताइये। (1976, 81)

6. राज्य की परिभाषा कीजिये और उसके तत्वों की व्याख्या कीजिये। (1987, 88, 91)

7. राज्य के आवश्यक तत्व क्या हैं ? क्या भारत 1947 से पूर्व एक राज्य था ? (1990)

8. राज्य की परिभाषा दीजिये। राज्य तथा अन्य समुदायों के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिये। (1990)

9. राज्य के विभिन्न तत्वों का उल्लेख कीजिये। (1994)

लघुउत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— राज्य का क्या अर्थ है अथवा राज्य की सर्वोच्च परिभाषा कौन सी है और क्यों ?

उत्तर– "राज्य न्यूनाधिक रूप से बहुसंख्यक मनुष्यों का वह समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग में रहता है, जिसकी ऐसी संगठित सरकार है जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त है तथा जिसकी आज्ञा का पालन अधिकांश जन स्वभाव से करते हैं।"

गार्नर की यह परिभाषा सर्वोच्च इसलिये है क्योंकि यह पूर्ण है तथा राज्य के तत्वों पर समुचित प्रकाश डालती है।

प्रश्न 2— राज्य के आवश्यक तत्व क्या हैं ?

उत्तर– राज्य के आवश्यक तत्व हैं– जनसंख्या, भू-भाग, सरकार, सम्प्रभुता और आज्ञा-पालन। (इनमें से प्रत्येक पर एक-एक वाक्य लिख दीजियें।)

प्रश्न 3— राज्य और समुदाय में क्या अन्तर है ?

उत्तर– राज्य और समुदाय में निम्नलिखित चार अन्तर हैं–

(1) राज्य का स्थान सब समुदायों से ऊपर होता है।

(2) राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है, किन्तु अन्य समुदायों की नहीं।

(3) राज्य अपने आदेशों का पालन बलपूर्वक करा सकता है, पर अन्य समुदाय नहीं।

(4) राज्य एक स्थायी संगठन है जबकि समुदाय एक अस्थायी संगठन होता है।

प्रश्न 4— राज्य की आवश्यकता तथा महत्व बताइये।

उत्तर– (1) राज्य बाहरी आक्रमणों से नागरिकों की रक्षा करता है।

(2) राज्य देश में शान्ति व व्यवस्था कायम रखता है।

(3) राज्य अधिकारों व कर्त्तव्यों की रक्षा करता है।

(4) राज्य आर्थिक उन्नति में सहायक होता है।

(5) राज्य स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था करता है।

प्रश्न 5— राज्य आर्थिक विकास में किस प्रकार सहायक होता है ?

उत्तर– राज्य परिवहन के साधनों– रेल, जहाज, सड़कों आदि का निर्माण करके तथा औद्योगिक संस्थाओं की स्थापना व नियन्त्रण करके आर्थिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। वह सहकारी संस्थाओं, बैंकों तथा लेन-देन की अन्य दूसरी संस्थाओं का प्रबन्ध करता है। वह उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर नियन्त्रण रखता है।

प्रश्न 6— नागरिक का राज्य से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– (1) राज्य और नागरिक दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। नागरिक राज्य का प्रमुख अंग है और नागरिक से मिलकर ही राज्य बनता है।

(2) राज्य और नागरिक दोनों एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

(3) राज्य और नागरिकों के सम्बन्धों का आधार परस्पर सहयोग है, विरोध नहीं।

(4) राज्य व्यक्ति तथा परिवार का ही विकसित रूप है।

प्रश्न 7— राज्य और समाज में क्या अन्तर है ?

उत्तर– राज्य और समाज में निम्नलिखित अन्तर हैं

(1) समाज का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता है, किन्तु राज्य का अपेक्षाकृत सीमित।

(2) राज्य का एक निश्चित भू-भाग होता है किन्तु समाज की कोई भौगोलिक सीमा नहीं होती।

(3) राज्य को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त है, समाज को नहीं।

(4) समाज की उत्पत्ति मनुष्य के जन्म के साथ ही हुई किन्तु राज्य की उत्पत्ति मानव-विकास के साथ-साथ हुई।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— राज्य के लिये आवश्यक दो तत्वों के नाम लिखिए।

उत्तर– (i) जनसंख्या, (ii) सम्प्रभुता।

प्रश्न 2— 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भारत को एक राज्य क्यों नहीं माना जा सकता था ? (1990)

उत्तर– क्योंकि उस समय 'सम्प्रभुता' का अभाव था।

प्रश्न 3— राज्य तथा अन्य समुदायों में सरकार किसका आवश्यक तत्व है ?

उत्तर– राज्य का।

प्रश्न 4— राज्य और समाज के बीच दो मुख्य अन्तर बताइये। (1991)

उत्तर– (i) कार्यक्षेत्र (ii) सत्ता।

प्रश्न 5— राज्य और सरकार में कोई एक अन्तर बताइये। (1986)

उत्तर– राज्य स्थायी होता है और सरकार अस्थायी।

प्रश्न 6— राज्य और राष्ट्र में अन्तर बताइये।

उत्तर– (i) राज्य का आधार सत्ता होती है और राष्ट्र का आधार है एकता की भावना, (ii) राज्य एक राजनीतिक संगठन है किन्तु राष्ट्र का सम्बन्ध भावना से है।

प्रश्न 7— राज्य तथा अन्य संघों में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर क्या है ? (1986, 1990)

उत्तर– राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है किन्तु अन्य संघों की सदस्यता ऐच्छिक होती है।

प्रश्न 8— राज्य की एक परिभाषा दीजिये। (1994, 90)

उत्तर– गार्नर के शब्दों में, "राज्य उस जन समुदाय को कहते हैं जो स्थायी रूप से एक निश्चित भू-भाग पर रहता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्णतः अथवा लगभग मुक्त हो, जिसकी एक सुसंगठित सरकार हो और जिसकी आज्ञा का वहाँ के अधिकांश निवासी स्वाभाविक रूप से पालन करते हों।"

□□

11

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of Origin of the State)

"राज्य न तो ईश्वर द्वारा निर्मित है, न यह किसी शक्ति या संविदा से उत्पन्न हुआ है, न यह परिवार का विस्तार मात्र है, न यह कोई कृत्रिम यान्त्रिक उत्पत्ति है और न कोई अविष्कार की वस्तु है, अपितु यह ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है।"

—गार्नर

इस अध्याय में क्या है ?

(1) राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त, (2) दैवी सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, (3) शक्ति सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, (4) सामाजिक समझौता का सिद्धान्त या संविदा सिद्धान्त एवं उसकी आलोचना, (5) हॉब्स, लॉक तथा रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त, (6) पैतृक व मातृक सिद्धान्त, (7) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, (8) राज्य के विकास में सहायक तत्व, (9) कौनसा सिद्धान्त उपयुक्त है, (10) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (11) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य का जन्म कब और कैसे हुआ ? इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। इतिहास भी इस सम्बन्ध में मौन धारण किये हुए है। गार्नर ने लिखा है कि "वे दशायें, जिनमें मनुष्य ने सबसे पहले राज्य के प्रकाश को देखा, अस्पष्टता के कोहरे में छिपी हुई हैं।" इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति का तथ्य एक रहस्य बनकर रह गया है।

इस स्थिति में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने अनुमानों के आधार पर राज्य की उत्पत्ति की कल्पना की है। इन अनुमानों एवं कल्पनाओं के आधार पर ही विद्वानों ने समय-समय पर राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनमें से निम्न सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—

(1) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (Divine origin theory)

(2) शक्ति सिद्धान्त (The force theory)

(3) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (The social contract theory)

(4) पैतृक व मातृक सिद्धान्त (The patriarchal and matriarchal theory)।

(5) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (The historical or evolutionary theory)।

अब प्रत्येक सिद्धान्त की अलग-अलग व्याख्या की जायेगी—

(1) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
(Divine Origin Theory)

दैवी सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है, उसे शक्ति तथा अधिकार ईश्वर से ही प्राप्त होता है। वह प्रजा के प्रति नहीं, बल्कि ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। राजा बुरा हो या अच्छा, जनता को बिना किसी संकोच के उसकी आज्ञा को मानना चाहिये। राजा की आज्ञा का उल्लंघन ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन है।

प्राचनी काल में भारत, मिस्र, यूनान तथा चीन आदि अनेक देशों में इस सिद्धान्त की विशेष मान्यता थी और राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। प्राचीन तथा मध्य काल में राज्य पर धर्म का प्रभाव था, अतः धार्मिक दृष्टि से इस सिद्धान्त को मान्यता मिली। ईसाई धर्म के अनुसार, **"राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही हुई है।"** यहूदियों के मतानुसार, **"ईश्वर ने स्वयं ही राज्य की स्थापना की है।"**

जेम्स प्रथम के अनुसार, **"राजा लोग पृथ्वी पर ईश्वर की जीवित प्रतिमाएँ हैं।"**

सेंटपाल के शब्दों में, **"राजा को ईश्वर ने बनाया है। अतः ईश्वर ने ही राज्य का निर्माण किया है।"** हिन्दू रामचन्द्र जी को अयोध्या का राजा ही नहीं बल्कि ईश्वर का अवतार भी मानते थे।

दैवी सिद्धान्त की आलोचना– यद्यपि प्राचीन काल में यह सिद्धान्त काफी समय तक प्रचलित रहा। प्राचीन काल में इस सिद्धान्त की मान्यता के कारण ही राज्य में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने में बड़ी सहायता मिलती थी। यह सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि प्राचीन काल में राज्य तथा धर्म के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। प्राचीन काल में इस सिद्धान्त की मान्यता का एक यह भी लाभ रहा कि इसके कारण प्रजा में राज्य की आज्ञाओं के पालन की स्वाभाविक भावना विद्यमान रहती थी।

परन्तु इस सबके बावजूद वैज्ञानिक एवं लोकतन्त्रीय युग में इसको कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। आधुनिक विद्वानों ने इस सिद्धान्त के कई दोषों का उल्लेख किया है और इसकी कटु आलोचना की है। **संसार के अधिकांश देशों में इस सिद्धान्त को अग्र कारणों के आधार पर अमान्य कर दिया है–**

(1) खतरनाक सिद्धान्त– कई लेखकों ने इसे एक खतरनाक सिद्धान्त बताया है, क्योंकि इसके अनुसार राजा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है, प्रजा के प्रति नहीं। राजा के प्रति यह उपेक्षा कभी भी खतरनाक रूप धारण कर सकती है।

दैवी सिद्धान्त की आलोचना

1. खतरनाक सिद्धान्त
2. अलोकतन्त्रीय
3. रूढ़िवादी
4. राज्य मनुष्यकृत है
5. निरंकुशता को प्रोत्साहन
6. अतर्कपूर्ण।

(2) अलोकतन्त्रीय– यह सिद्धान्त इस कारण अलोकतन्त्रीय है, क्योंकि यह राजतन्त्र राज्यों पर ही लागू होता है, प्रजातन्त्र राज्यों पर नहीं।

(3) रूढ़िवादी– यह सिद्धान्त राज्य को ईश्वरकृत मानता है, अतः राज्य में मतानुसार किसी भी परिवर्तन करने का विरोधी है। फलतः यह रूढ़िवादी है।

(4) राज्य मनुष्यकृत है– यह सिद्धान्त राज्य को ईश्वरकृत मानता है, जबकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य ने ही राज्य का निर्माण तथा उसमें समय-समय पर अनेक परिवर्तन किये हैं। आजकल भी मनुष्य स्वयं ही राज्य के कानूनों का निर्माण तथा उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करता है।

(5) निरंकुशता को प्रोत्साहन– इस सिद्धान्त से निरंकुशता तथा अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। यह जनता के अधिकारों तथा लोकहित का विरोधी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में अनेक राजाओं ने ईश्वर के नाम पर प्रजा पर भारी अत्याचार किये हैं।

प्रो० गार्नर ने ठीक ही कहा है कि **"यह सिद्धान्त काल्पनिक है और इसका अवष्किार कुछ लोगों ने निरंकुश राजाओं का समर्थन करने के लिये किया था।"**

(6) अतर्कपूर्ण– यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक तथा अतर्कपूर्ण है। इसका आधार धार्मिक है, राजनीतिक नहीं।

उपर्युक्त कारणों से वर्तमान युग में इस सिद्धान्त को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, **"यह धारणा कि ईश्वर इस या उस मनुष्य को राजा बनाता है, सामान्य ज्ञान व अनुभव के सर्वथा प्रतिकूल है।"**

"To say that God selects this or that man as a ruler, is contrary to experience and common sense."

—Gilchrist.

(2) शक्ति सिद्धान्त
(The Force Theory)

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि राज्य का जन्म शक्ति के द्वारा हुआ। प्रारम्भिक काल में मनुष्य पृथ्वी पर अनेक झुण्डों अथवा समूहों के रूप में रहता था। ये झुण्ड भोजन की तलाश में इधर-उधर घूमते-फिरते थे। इन झुण्डों में परस्पर युद्ध भी होता था और शक्तिशाली झुण्ड निर्वल पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था और शासन करता था। निर्बल झुण्ड शक्तिशाली झुण्डों की आज्ञाओं का पालन करते थे। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति का श्रीगणेश हुआ। वाल्टेयर ने लिखा है कि **"पहला राजा कोई भाग्यशाली योद्धा ही रहा होगा।" The first king was a fortunate warrior."**

इतिहास में हमें इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि सबल मनुष्यों ने निर्बल मनुष्यों पर विजय प्राप्त की और शासन किया। ऐसा सभी कालों में होता आया है और यह क्रम आज भी जारी है। आज भी लोकतन्त्र में आस्था न रखने वाले अनेक देश सैन्य शक्ति के आधार पर दूसरे देशों पर कब्जा करने की घात में लगे रहते हैं। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध का आधार भी शक्ति ही थी। यह सत्य भी है कि शक्तिहीन होने पर राष्ट्र अपनी सत्ता खो बैठता है। इस प्रकार राज्य के जन्म का आधार शक्ति ही है और शक्ति के बल पर ही राज्य जीवित भी रहता है।

कैरी का मत है कि **"जिस प्रकार लुटेरे किसी की सम्पत्ति लूट लेते हैं उसी प्रकार थोड़े से वलवान व्यक्ति अपनी शक्ति के बल पर अन्य लोगों पर शासन करने लगे और उन्हीं के आदेश कानून बन गये तथा वे राजा बन गये।"**

शक्ति सिद्धान्त की आलोचना– इस सिद्धान्त में सत्य केवल आंशिक रूप से ही विद्यमान है। यह तो सत्य है कि राज्य के पास शक्ति होनी चाहिये और वह शक्ति के बिना अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता परन्तु **यह कहना गलत है कि राज्य का आधार केवल शक्ति ही है।** जन-सहयोग तथा जनता की इच्छा के विना कोई भी राज्य केवल शक्ति के बल पर स्थायी नहीं रह सकता। भारत में अंग्रेजी राज्य इसका उदाहरण है।

टी० एच० ग्रीन के अनुसार, "राज्य का आधार, शक्ति नहीं वल्कि जनता की इच्छा है।" " Will, not force is the basis of State." शक्ति के आधार पर स्थापित राज्य में जनता को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता और शक्ति के अनुचित प्रयोग के कारण जनता में विद्रोह की भावना पनप जाती है। कोई भी राज्य केवल शक्ति के बल पर नहीं, बल्कि जन-सहयोग और शक्ति, दोनों के बल पर ही जीवित रह सकता है। शक्ति सिद्धान्त के अनुसार तो केवल तानाशाह सरकार की ही स्थापना होगी। अतः वर्तमान लोकतन्त्रीय युग में इस सिद्धान्त को अधिक मान्यता प्राप्त नहीं है।

(3) सामाजिक समझौते (अनुबन्ध) का सिद्धान्त या संविदा सिद्धान्त
(The Social Contract Theory)

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य जंगलों में अकेला जीवन व्यतीत करता था। उस समय न कोई राज्य था और न कोई समाज। उस प्राकृतिक अवस्था में कोई कानून या सामाजिक बन्धन नहीं था। मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही

अपना जीवन बिताता था। मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ भी कार्य करने को स्वतन्त्र था। कुछ समय बाद मनुष्य की मनमानी के कारण ही मनुष्य की यह प्राकृतिक अवस्था बड़ी असहनीय तथा कष्टपूर्ण हो गई। तब इस प्राकृतिक अवस्था को बदलने के लिये लोगों ने परस्पर एक समझौता या अनुबन्ध किया, जिसके अनुसार प्राकृतिक जीवन को छोड़कर अपना राजनीतिक संगठन बनाया जिससे राज्य की उत्पत्ति हुई।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के समर्थक
1. हॉब्स
2. लॉक
3. रूसो।

इस सिद्धान्त के अनुसार, राज्य उक्त सामाजिक समझौते की ही उपज है। सामाजिक समझौते या अनुबन्ध अथवा संविदा का यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। प्राचीन काल में यूनान में इस सिद्धान्त को समर्थन मिला। महाभारत के अध्ययन में प्राचीन भारत में इसके अस्तित्व की पुष्टि होती है। रोम में इसका समर्थन किया गया । 17वीं और 18वीं शताब्दी में हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने इस सिद्धान्त का दृढ़ता से समर्थन किया। अब हम इन तीनों विद्वानों के मतों की संक्षेप में विवेचना करेंगे।

(क) हॉब्स का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

हॉब्स 17वीं शताब्दी का एक अंग्रेज विद्वान् था। उसने सर चार्ल्स प्रथम पार्लियामेंट का युद्ध तथा उसके कारण होने वाला भयानक रक्तपात देखा था। अतः उसे लड़ाई-झगड़ों से घृणा हो गई थी। फलस्वरूप हॉब्स का मत इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित हुआ। उसका विचार था कि एक निरंकुश शासक ही शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना कर सकता है, अतः अपने मत की पुष्टि के लिये उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का सहारा लिया।

हॉब्स के कथनानुसार, मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में जंगली, निर्दयी, असभ्य तथा स्वार्थी था। लोग उस समय भेड़िये के समान एक-दूसरे को हड़पने को तैयार रहते थे। उस समय मानव-जीवन का कोई मूल्य नहीं था। प्रत्येक मनुष्य को हर समय अपनी जान बचाने की चिन्ता रहती थी। जब यह कलहपूर्ण जीवन मानव के लिये अत्यन्त शोचनीय तथा असहनीय हो गया, तब इस प्राकृतिक अवस्था से अपने को मुक्त करने के लिये उसने सामाजिक समाझौते की शरण ली। समझौते द्वारा उसने यह निश्चय किया कि एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को राजा बनाया जाये जिसे सम्पूर्ण सर्वोच्च अधिकार प्रदान किये जायें। सब लोगों ने समझौते द्वारा राजा की आज्ञा मानने का वचन दिया। हॉब्स ने इस संविदा सिद्धान्त के आधार पर निरंकुश शासन का समर्थन किया। हॉब्स के अनुसार राजा अपरिमित सत्ता से सम्पन्न था। उसके विरुद्ध विद्रोह करने का किसी को अधिकार नहीं था। उसका कहना था कि राजा के विद्रोह करने पर मानव पुनः उसी जंगली प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जायेगा।

आलोचना– हॉब्स के सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि वह निरंकुश शासन का समर्थन करता है। राज्य का निर्माण जनहित के लिये किया जाता है और निरंकुश शासन प्रायः अत्याचारी हो जाता है। इस सिद्धान्त का दूसरा दोष यह है कि हॉब्स ने राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं किया है। उनका यह मत सही है कि सरकार के परिवर्तन से राज्य समाप्त हो जाता है।

(ख) लॉक का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

लॉक भी एक अंग्रेज विद्वान् था। उसके साथ की परिस्थितियाँ हॉब्स की परिस्थितियों से भिन्न थीं। लॉक के समय में इंग्लैण्ड में राजा के अत्याचारों से जनता पीड़ित थी और देश में निरंकुश शासन के विरुद्ध लोग आन्दोलन कर रहे थे। लॉक ने निरंकुश शासन का विरोध और संवैधानिक शासन का समर्थन किया। अपने विचार की पुष्टि के लिये उसने भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का सहारा लिया।

लॉक ने मनुष्य के प्रारम्भिक काल की जिस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है, वह हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से भिन्न है। हॉब्स के विपरीत, लॉक का विचार था कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी नहीं बल्कि दयालु, सहयोगी एवं अनेक गुणों से युक्त था। सभी लोग शान्ति के साथ प्राकृतिक नियमों का पालन करते थे। सब मनुष्य बराबर थे। वे परस्पर सद्भाव रखते थे। उनका जीवन शान्तिपूर्ण तथा संघर्ष-रहित था।

लॉक के अनुसार, कुछ समय बाद दो कारणों से इस स्थिति में गड़बड़ी हो गई। एक तो इस कारण कि कर्त्तव्य और अधिकारों के सम्बन्ध में जब दो व्यक्तियों के बीच विवाद उठता था, तब कोई भी निर्णय करने वाली शक्ति नहीं थी। दूसरे, अपराधियों को दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इन्हीं बातों से परेशान होकर लोगों ने सामाजिक तथा राजनीतिक समझौता किया और इस प्रकार इस राज्य की उत्पत्ति हुई।

इस समझौते के अनुसार, लोगों ने अपने में से एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के समूहों को राजा चुना और समाज में शान्ति रखने, न्याय करने तथा अपराधियों को दण्ड देने के अधिकार उसे दिये। शेष अधिकार जनता के हाथों में ही रहे। राजा से कहा गया कि यदि वह अपना कार्य ठीक प्रकार सम्पन्न नहीं करेगा, तो उसे शासन से हटा दिया जायेगा। इस प्रकार लॉक ने इस सिद्धान्त के द्वारा संवैधानिक प्रजातन्त्र शासन का समर्थन किया।

(ग) रूसो का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

रूसो 18वीं शताब्दी का फ्रांसीसी विद्वान् था। रूसो फ्रांस में निरंकुश एवं अत्याचारी शासन के स्थान पर लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना का समर्थक था। फ्रांस की 18वीं शताब्दी की राज्य-क्रान्ति पर रूसो के विचार का काफी प्रभाव था। रूसो ने अपनी पुस्तक **"सामाजिक समझौता"** (The Social Contract) में अपने विचारों का उल्लेख किया है।

रूसो सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। यह सिद्धान्त उनके राजनीतिक दर्शन का महत्वपूर्ण तत्व है। रूसो के अनुसार, समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा के स्थान पर सम्पूर्ण समाज की सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति उस सामान्य इच्छा के अधीन कार्य करते हैं।

रूसो के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में लोगों का जीवन बड़ा सुखी तथा शान्तिपूर्ण था। उसने इस जीवन की स्वर्ग से तुलना की है, जबकि मनुष्य को किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं थी तथा उस पर किसी प्रकार का कोई पारिवारिक या सामाजिक बन्धन नहीं था। कन्द, मूल व फल खाकर भूख मिटा ली, नदियों का जल पीकर प्यास बुझा ली, गुफाओं तथा वृक्षों के नीचे निवास कर लिया, न कोई सामान, न कोई सम्पत्ति, न बीवी, न बाल-बच्चे, न किसी से मित्रता, न शत्रुता। इस प्रकार उस समय मनुष्य का जीवन बड़ा निर्द्वन्द्व तथा कष्टरहित था।

परन्तु यह अवस्था अधिक दिनों तक न रही। जनसंख्या तथा आवश्यकताओं की वृद्धि हो जाने के कारण कृषि तथा पशुपालन का आरम्भ हुआ। सम्पत्ति का उदय हुआ, परिवार बने असमानता उत्पन्न हुई और अनेक विवाद खड़े हो गये। मानव का जीवन असुरक्षित व दुःखपूर्ण हो गया। रूसो के अनुसार प्राकृतिक-जीवन की इन बुराइयों को दूर करने के लिये लोगों ने सामाजिक व राजनीकि संगठन का निर्माण किया। किन्तु शासन के अधिकार किसी एक व्यक्ति को नहीं, अपितु 'जन-समूह' को प्रदान किये गये। इस प्रकार शासन की सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथों में रही। इस प्रकार रूसो ने प्रजातन्त्रीय शासन का प्रतिपादन किया।

रूसो के सामाजिक समझौते सम्बन्धी सिद्धान्त के विचारों का संसार के अनेक देशों पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। रूसो ने जनता को शासन के अधिकार सौंपने का समर्थन करके निरंकुश शासन की जड़ों को खोखला कर दिया।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना

19वीं शताब्दी में अनेक विद्वानों ने ऐतिहासिक एवं तार्किक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त की आलोचना की। डारविन के विकासवादी सिद्धान्त की उत्पत्ति ने तो संविदा सिद्धान्त की कमर ही तोड़ दी। **सामाजिक समझौते के सिद्धान्त या संविदा सिद्धान्त अथवा सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त** की आलोचना निम्नलिखित तर्कों के आधार पर की जाती है।

(1) काल्पनिक– इस सिद्धान्त में प्राकृतिक अवस्था की तथा समाज का अस्तित्व न होने की मनमानी कल्पना कर ली गई है, जबकि वास्तविकता यह है कि समाज का अस्तित्व उतना ही पुराना है, जितना कि मनुष्य का अस्तित्व।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना
1. काल्पनिक
2. इतिहास विरुद्ध
3. तर्क-विरुद्ध
4. मानव-स्वभाव का गलत चित्र
5. सत्ताविहीन अवस्था में समझौता।

(2) इतिहास-विरुद्ध– यह सिद्धान्त इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इतिहास में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि जंगली मनुष्यों ने एक समझौते के आधार पर राज्य का निर्माण किया हो। इस विषय में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है कि समझौता कब, किस-किस के बीच तथा किस प्रकार सम्पन्न हुआ। ग्रीन के अनुसार, ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धान्त कोरी कल्पना है।"

"Historically, the theory is a mere fiction."

—Green

(3) तर्क-विरुद्ध– यह सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहा है कि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले जंगली तथा असभ्य मनुष्यों में सामाजिक एवं राजनीतिक समझौता करने की उच्च कोटि की भावना एकदम कैसे उत्पन्न हो गई और उन लोगों में समझौते का पालन करने की भावना एवं क्षमता किस प्रकार आई ?

(4) मानव स्वभाव का गलत चित्र– प्राकृतिक अवस्था में मानव-स्वभाव के जिस रूप की कल्पना की गई है, वह सही नहीं है। मनुष्य का आम स्वभाव न तो इतना स्वार्थी तथा दुर्गुणों से युक्त है, जैसा कि हॉब्स ने कहा है और न इतना उच्च गुणों से सम्पन्न जैसी स्वर्णिम कल्पना रूसो ने की है।

(5) सत्ताविहीन अवस्था में समझौता– इस सिद्धान्त के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में न तो समाज का अस्तित्व था और न कोई कानून या सर्वोच्च सत्ता। यह समझ में नहीं आता कि सर्वोच्च सत्ता के अभाव में कोई समझौता कैसे सम्पन्न हो सकता है और उसे कैसे लागू किया जा सकता है। अतः वैधानिक दृष्टि से यह सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं होता।

सिद्धान्त में सत्य का अंश– किन्तु इन सब दोषों के बावजूद भी इस सिद्धान्त की पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त अपने प्रतिपादन के समय में बड़ा उपयोगी रहा है। इस सिद्धान्त ने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को समाप्त किया। निरंकुश शासन का अन्त करने तथा संवैधानिक एवं प्रजातन्त्र शासन की स्थापना करने के अपने उद्देश्य में यह सिद्धान्त सफल रहा। इसने प्रभुसत्ता तथा अधिकार एक व्यक्ति से हटाकर जनता को सौंपे। सफल प्रजातन्त्रीय शासन के विकास में भी इस सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

(4) पैतृक व मातृक सिद्धान्त
(The Patriarchal and Matriarchal Theory)

पैतृक सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक सर हैनरी मेन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, "राज्य की उत्पत्ति कुटुम्ब से ही है।" कुटुम्ब का प्रधान पिता होता है जिसकी आज्ञा परिवार के सब

लोग मानते हैं। प्राचीन काल में परिवार के प्रधान को यहाँ तक अधिकार प्राप्त था कि वह परिवार के किसी सदस्य को प्राण-दण्ड दे सके। परिवार के लोग राज्य की प्रजा के समान परिवार के नियमों व कानूनों का पालन करते थे।

परिवार में पुरुष, उसकी स्त्री तथा बच्चे सम्मिलित होते थे। परिवार सामाजिक जीवन का प्रारम्भिक रूप था। परिवार का ज्येष्ठ पुरुष उसका प्रमुख और संरक्षक माना जाता था और वंश परम्परा पुरुष से ही मानी जाती थी।

एक परिवार से अनेक परिवारों का जन्म हुआ किन्तु वे सव मूल परिवार के जयेष्ठ पुरुष को अपना मुखिया मानते हुए संगठित बने रहे। अनेक परिवारों का समूह ही जनजाति या कबीला कहलाया। इस प्रकार उत्पन्न विभिन्न जनजातियों या कवीलों के संगठन ने ही अन्त में राज्य का रूप धारण कर लिया।

पैतृक सिद्धान्त की पाँच प्रमुख मान्यताएँ हैं–

(1) पैतृक परिवार स्थायी विवाह-प्रथा और रक्त सम्वन्ध पर आधारित था।

(2) परिवारों में वंश परम्परा पुरुषों से चलती थी।

(3) पैतृक परिवारों का समूह ही राज्य के रूप में विकसित हुआ।

(4) पैतृक परिवार का पुरुष मुखिया सत्ता का मूल स्रोत था।

(5) अपनी मृत्यु के समय मुखिया अपनी सत्ता उत्तराधिकारी को विरासत के रूप में सौंप जाता था।

पैतृक सिद्धान्त के समर्थन में हैनरी मेन ने यूनानियों, यहूदियों, रोमवासियों तथा भारत की परिवार-प्रथा के उदाहरण दिये हैं। भारत में अब भी ऐसे परिवार बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों का विचार है कि परिवार का पिता ही आगे चलकर राजा बन बैठा। यही कारण था कि प्रारम्भिक राज्य राजतन्त्रात्मक थे और राजा प्रायः निरंकुश होता था।

मातृक सिद्धान्त के प्रतिपादक एवं समर्थक **मैक्लेनन मॉर्गन और जेंक्स** थे। उनके अनुसार आदिम मानव-समाज मातृप्रधान थे। पितृप्रधान परिवारों का उदय बाद में हुआ। आदिम समाज में विवाह सम्बन्ध स्थायी नहीं था और एक स्त्री के अनेक पति हुआ करते थे। ऐसे परिवारों में वंश परम्परा माता से चलती थी, क्योंकि इस स्थिति में किसी बच्चे के पिता का निश्चय करना कठिन था।

जेंक्स के अनुसार, आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में मातृसत्ता प्रधान परिवार बहुतायत से पाये जाते थे। हमारे अपने देश में ही मालाबार तथा काँगड़ा की पहाड़ियों में बहुपति प्रथा अब भी प्रचलित है।

तथ्य यह है कि विश्व के विभिन्न भागों में पितृसत्ता प्रधान एवं मातृसत्ता प्रधान परिवार साथ-साथ ही विकसित होते रहे। फिर उनके द्वारा सामाजिक जीवन का प्रारम्भ तथा राज्य का विकास हुआ।

आलोचना– यह सिद्धान्त मुख्य रूप से राज्य की उत्पत्ति की नहीं, वरन् परिवार की ही उत्पत्ति की ही व्याख्या करता है। राज्य की उत्पत्ति तो अनेक कारणों से हुई है, यह तो उसके केवल एक ही कारण की व्याख्या करता है। फिर भी इस सिद्धान्त का महत्व इस दृष्टि से अवश्य है कि इससे राज्य के क्रमिक विकास के विचार की पुष्टि होती है।

(5) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

(The Historical Or Evolutionary Theory)

वर्तमान समय में इस सिद्धान्त को सबसे अधिक मान्यता प्राप्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार, **"राज्य का निर्माण न तो ईश्वर द्वारा किया गया, न शक्ति द्वारा उसकी उत्पत्ति हुई है और न उसका आधार सामाजिक समझौता ही है, बल्कि राज्य की उत्पत्ति ऐतिहासिक विकास का फल है।"** राज्य की उत्पत्ति किसी विशेष समय में नहीं हुई, बल्कि समय की प्रगति के साथ-साथ

ही इसका विकास हुआ। अन्य शब्दों में, राज्य की उत्पत्ति दो-चार दिन में हो गई हो, ऐसी बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि राज्य की उत्पत्ति तथा उसका आधुनिक विकसित रूप शताब्दियों की घटनाओं का परिणाम है।

इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य किसी भी अवस्था में राज्य विहीन नहीं था। मानव-जीवन में प्राचीन काल से ही राज्य के मूल तत्व किसी न किसी रूप में पाये जाते रहे हैं। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में जब कि मनुष्य जंगली अवस्था में रहता था, तब भी वह गिरोह बनाकर शिकार किया करता था। इस गिरोह का एक नेता होता था जिसके अनुशासन तथा नियन्त्रण में गिरोह के सब सदस्य काम करते थे।

आगे चलकर जब परिवार का निर्माण हुआ, तो उसमें भी राज्य के मूल तत्व पाये जाते थे। राज्य का वर्तमान स्वरूप उन्हीं मूल-तत्वों के क्रमशः विकास का प्रतिफल है। यह सत्य ही है कि राज्य का प्रारम्भिक रूप बड़ा असंगठित तथा अव्यवस्थित था और बाद में उसका शनैः-शनैः विकास होता गया। प्रो० गार्नर के अनुसार, **"राज्य मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का क्रमिक परिणाम है।"**

The state is the result of natural growth of historical evolution of man."

प्रो० वरगस के अनुसार, **"राज्य मानव समाज का कृमिक विकास है।"**

राज्य के विकास में सहायक तत्व

जैसा कि बतलाया जा चुका है, **"राज्य की उत्पत्ति किसी खास समय में या किसी देश-विदेश में किसी भी एक तत्व के कारण नहीं हुई, अपितु शताब्दियों की अवधि में अनेक तत्व इसके विकास में सहायक हुए हैं।"** ये निम्नलिखित हैं–

(1) रक्त सम्बन्ध– रक्त सम्बन्ध के कारण प्राचीन युग में मनुष्य जिस समुदाय के रूप में संगठित हुआ, वह परिवार था। इसमें राज्य के मूल तत्व पाये जाते थे। बाद में पारिवारिक जीवन के विकास में गोत्र, कुल तथा गण बने। लोग परिवार तथा गण के मुखिया की आज्ञा का पालन करते थे। आगे चलकर इन्होंने ही राज्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार रक्त-बन्धन और परिवार के विकास के द्वारा ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

जैसा कि मेन ने कहा है कि **"समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम खोज इस निष्कर्ष की ओर इंगित करती है कि समूहों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त सम्बन्ध ही था।"**

(2) धर्म– रक्त सम्बन्ध के द्वारा मानव संगठन की जो भावना उत्पन्न हुई थी, धर्म ने उसको और दृढ़ किया। धर्म के कारण लोगों में एकता आई और वे संगठन सूत्र में बंधे। प्राचीन काल में लोग संकटों से बचने के लिये प्रकृति की पूजा करते थे। बाद में देवताओं की पूजा करने लगे। इस प्रकार धर्म के कारण लोगों में पारस्परिक प्रेम, सहयोग तथा आज्ञापालन की भावना उत्पन्न हुई। यह भावना राज्य के विकास में सहायक हुई।

गैटेल ने इसीलिये कहा है कि **"राजनीतिक विकास के आदिम और अत्यधिक संकटपूर्ण कालों में केवल धर्म ही बर्बरतापूर्ण अराजकता को दबा सका और आज्ञापालन व श्रद्धा करना सिखा सका।"**

(3) शान्ति व सुरक्षा– प्राचीन काल में मनुष्यों का जीवन बड़ा असुरक्षित तथा संकटपूर्ण था। उन्हें हर समय अपनी सुरक्षा की चिन्ता रहती थी। कृषि तथा पशुपालन के युग में लोगों को सामाजिक जीवन की शान्ति व सुरक्षा के लिये कुछ नियम बनाने पड़े एवं संगठन करना पड़ा। इससे राज्य के विकास में मदद मिली।

(4) आर्थिक आवश्यकतायें– कालान्तर में मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि हुई। किन्तु मनुष्य चूँकि अपनी सब आवश्यकतायें स्वयं पूरी करने में असमर्थ था, अतः उसे अन्य मनुष्यों के साथ सहयोग करना पड़ा। आर्थिक सम्बन्धों के निर्धारण तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिये उसे अनेक नियम बनाने पड़े। इससे राज्य के कार्य-क्षेत्र का और भी विकास तथा विस्तार हुआ। कार्ल मार्क्स ने तो यहाँ तक कहा है कि, **"राज्य आर्थिक परिस्थितियों की ही अभिव्यक्ति है।"**

राज्य के विकास में सहायक तत्व

1. रक्त-सम्बन्ध
2. धर्म
3. शान्ति व सुरक्षा
4. आर्थिक आवश्यकतायें
5. युद्ध
6. राजनीतिक जागरण।

(5) युद्ध– युद्धों के कारण भी राज्य के विकास में सहायता मिली। प्राचीन काल में युद्ध के द्वारा शक्तिशाली व्यक्ति अथवा समूह निर्बल व्यक्तियों अथवा समूहों पर विजय प्राप्त कर लेते थे। परिणामस्वरूप विजित दल उनके अधीन रहते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार विजयी तथा विजित लोगों के अनेक वर्ग बन गये। बाद में उन्होंने बड़े वर्गों का रूप धारण किया, जिन्हें आगे चलकर राज्य का स्वरूप मिला।

(6) राजनीतिक जागरण– कालान्तर में वैज्ञानिक प्रगति एवं परिवहन के साधनों के विकास के साथ ही संसार के विभिन्न स्थानों में लोग परस्पर सम्पर्क में आये और उनमें राजनीतिक जागृति उत्पन्न हुई। लोगों में शासन-कार्य में हाथ बँटाने की भावना बढ़ी। इसी भावना के परिणामस्वरूप, राज्य का स्वरूप निरंकुश शासन से प्रजातन्त्र शासन के रूप में परिवर्तित हो गया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति दो-चार दिन में ही नहीं हो गई। राज्य का विकास शनैः-शनैः हुआ और उसके विकास में अनेक तत्व सहायक सिद्ध हुए।

कौन-सा सिद्धान्त उपयुक्त है ?

राज्य की उत्पत्ति के उपर्युक्त सिद्धान्तों में अन्तिम सिद्धान्त अर्थात् ऐतिहासिक विकास अथवा विकासवादी सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। **प्रथम चार सिद्धान्तों में भी राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित सत्य का कोई न कोई अंश अवश्य पाया जाता है।** उदाहरण के लिये, दैवी सिद्धान्त बतलाता है कि राज्य की उत्पत्ति में धर्म का योगदान रहा है। शक्ति-सिद्धान्त इस सत्य को स्पष्ट करता है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के कारण भी हुई है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि राज्य की उत्पत्ति में जनता की इच्छा का भी भाग रहा है। पैतृक व मातृक सिद्धान्त बतलाता है कि परिवार वह बीज है जिससे राज्य रूपी पेड़ का जन्म हुआ है। इस प्रकार, इन सभी सिद्धान्तों में सत्य के केवल एक अंश का उल्लेख किया गया है। अतः वे अपूर्ण हैं।

इनके अलावा **ऐतिहासिक व विकासवादी सिद्धान्त** ही ऐसा है जो राज्य के विकास पर सही प्रकाश डालता है। यह सिद्धान्त पूर्णतया निर्दोष है तथा राज्य की उत्पत्ति के सम्पूर्ण पहलुओं की विवेचना करता है, यह सिद्धान्त ऐतिहासिक कसौटी पर खरा उतरता है। प्रथम चार सिद्धान्तों की उपयोगिता भले ही किसी समय विशेष में रही हो, परन्तु आज के वैज्ञानिक एवं तार्किक युग में उनका कोई महत्व नहीं है। **वर्तमान समय में अधिकतर विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को ही मान्यता प्रदान की गई है।** अतः राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त ही सर्वोपयुक्त है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त कौन-कौन से हैं ? इनमें से कौनसा सन्तोषजनक है और क्यों ? **(1967, 74)**

(2) राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। (1975)

(3) राज्य की उत्पत्ति के प्रसंविदा सिद्धान्त (Contract Theory) की संक्षिप्त व्याख्या कीजिये और इसके विरुद्ध दिये गये तर्क प्रस्तुत कीजिये। (1976)

(4) राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये। (Q.S.R. 1983, 86, 90, 92)

(5) राज्य की उत्पत्ति के कौन-कौन से विभिन्न सिद्धान्त हैं ? संक्षेप में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये एवं इसके विपक्ष में तर्क दीजिये। (1984)

(6) टिप्पणी लिखिये–

(i) राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त। (1986, 88)

(ii) राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक सिद्धान्त। (1990)

(7) राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते (अनुबन्ध) के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिये। (1971, 73, 87, 91)

(8) राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। (1978, 82, 89, 90)

(9) राज्य की उत्पत्ति के पैतृक तथा मातृक सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (1992)

(10) राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये। (1990, 93)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिए। प्रतयेक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त क्या है ? (1982, 88)

उत्तर– आदिकाल की प्राकृतिक अवस्था में जब मनुष्यों के सामने अनेक कठिनाइयाँ आयीं तो लोगों ने संगठित होकर समझौता किया कि इन कठिनाइयों पर विजय पाने के लिये एक सामाजिक व राजनैतिक संगठन बनाया जाये। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। इस स्थिति में प्राकृतिक नियमों के स्थान पर मनुष्यकृत नियम लागू हो गये।

प्रश्न 2— राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के प्रमुख तत्व बताइये।

उत्तर– (i) राज्य मानवकृत नहीं, बल्कि ईश्वर द्वारा स्थापित एक दैवी संस्था है।

(ii) राज्य को शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है।

(iii) राजा प्रजा के प्रति नहीं, ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है।

(iv) राजा की आज्ञा का उल्लंघन ईश्वर का अपमान है।

(v) राजाओं की निन्दा धर्म विरुद्ध है।

प्रश्न 3— राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की आलोचना किन-किन आधारों पर की जाती है।

उत्तर– वर्तमान वैज्ञानिक व लोकतन्त्रीय युग में इस सिद्धान्त को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। इसकी आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है–

(i) राजा का प्रजा के प्रति उत्तरदायी न होना एक खतरनाक बात है।

(ii) यह सिद्धान्त अलोकतन्त्रीय तथा रूढ़िवादी है।

(iii) राज्य मनुष्यकृत है तथा राज्य में मनुष्य ने समय-समय पर अनेक परिवर्तन किये हैं।

(iv) यह सिद्धान्त अतर्कपूर्ण तथा निरंकुश है।

प्रश्न 4— सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना के तत्व समझाइये।

उत्तर– (i) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त काल्पनिक है।

(ii) यह इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

(iii) यह तर्क विरुद्ध है।

(iv) इसमें मानव स्वभाव का गलत चित्रण किया गया है।

(v) सत्ताविहीन अवस्था में समझौता सम्भव नहीं है।

प्रश्न 5— राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को समझाइये अथवा राज्य के विकास में सहायक तत्व कौन-से हैं ?

उत्तर– ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मानव समाज के क्रमिक एवं ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। राज्य की उत्पत्ति किस खास समय में या किंसी देश-विदेश में किसी एक तत्व के कारण नहीं हुई, अपितु शताब्दियों की अवधि में अनेक तत्व इसके विकास में सहायक हुए हैं। ये तत्व हैं– रक्त सम्बन्ध, धर्म, शान्ति व सुरक्षा, आर्थिक जरूरतें, युद्ध व राजनीतिक जागरण।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— राज्य की उत्पत्ति के सर्वमान्य सिद्धान्त का नाम बताइये। (1986)

उत्तर– ऐतिहासिक व विकासवादी सिद्धान्त।

प्रश्न 2— सामाजिक समझौता सिद्धान्त के दो प्रसिद्ध विचारकों के नाम लिखिये।

उत्तर– हॉब्स व रूसो।

प्रश्न 3— राज्य की उत्पत्ति के किन्हीं दो सिद्धान्तों के नाम बताइये।

उत्तर– (i) दैवी सिद्धान्त, (ii) विकासवादी सिद्धान्त।

प्रश्न 4— "प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सौहार्द्र, पारस्परिक सहयोग तथा आत्मरक्षण की अवस्था है।" यह कथन किस विचारक का है ?

उत्तर– जॉन लॉक का।

प्रश्न 5— सामान्य संकल्प सिद्धान्त का प्रतिपादक कौन है ? (1990)

उत्तर– रूसो।

प्रश्न 6— राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के दो समर्थकों के नाम लिखिए। (1990)

उत्तर– ये हैं– (i) जेम्स प्रथम, और (ii) सेण्ट पाल।

प्रश्नं 7— रूसो द्वारा लिखित एक पुस्तक का नाम लिखिये। (1992)

उत्तर– 'सामाजिक समझौता' (The Social Contract)।

प्रश्न 8— सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के प्रतिपादक का नाम बताइये।

उत्तर– रूसो।

□□

राज्य के कार्य क्या हों ? का विवेचन :

12 राज्य के कार्यों के सिद्धान्त

(Theories of the Functions of the State)

"समाजवाद का अर्थ है, व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के अधीन रखना।" —फ्रेड ब्रेमले

"गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, गन्दगी और बीमारी जैसे दानवों से नागरिकों की रक्षा करने वाला राज्य ही कल्याणकारी राज्य कहलाता है।" —विलियम बैवरिज

इस अध्याय में क्या है ?

(1) राज्य के कार्यों के सिद्धान्त, (2) व्यक्तिवादी सिद्धान्त— व्याख्या, कार्यक्षेत्र, पक्ष में तर्क तथा आलोचना, (3) प्रत्ययवाद या आदर्शवाद का सिद्धान्त— व्याख्या, मूल बातें, आलोचना तथा महत्व, (4) समाजवाद का सिद्धान्त— व्याख्या परिभाषायें, समाजवाद व व्यक्तिवाद, समाजवाद के रूप, मूल मान्यतायें, गुण तथा दोष, (5) लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त— अर्थ, परिभाषायें, लक्षण व कार्य, (6) क्या भारत कल्याणकारी राज्य है ? (7) राज्य के कार्यों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों, मनु व कौटिल्य का दृष्टिकोण, (8) राज्य के अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्य, (9) कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी राज्य में अन्तर, (10) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (11) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

विगत अध्यायों में राज्य की परिभाषा, उसके तत्व तथा उत्पत्ति के सिद्धान्तों के सम्वन्ध में विचार किया जा चुका है। इसके बाद अब राज्य के सम्बन्ध में मुख्य विचारणीय विषय यह आता है कि राज्य के क्या कार्य होने चाहियें ? राज्य के कार्यक्षेत्र के निर्धारण की समस्या नागरिकशास्त्र की प्रमुख समस्या रही है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ, त्यों-त्यों राज्यों के कार्यों में भी निरन्तर वृद्धि होती रही है। राज्य के कार्य-क्षेत्र के निर्धारण के सम्बन्ध में प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों ने पृथक्-पृथक् विचार व्यक्त किये हैं। इस अध्याय में हम राज्य के कार्यों का निर्धारण करेन वाले सिद्धान्तों एवं राज्य के कार्यों की विशेष रूप से चर्चा करेंगे।

राज्य के कार्यों के आधुनिक सिद्धान्त
(Theories of the Functions of the State)

राज्य के कार्यों का निर्धारण करने के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनमें निम्नलिखित चार सिद्धान्त अत्यन्त प्रमुख हैं और ये चार आधुनिक सिद्धान्त ही वोर्ड की इण्टरमीडिएट परीक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हैं—

(1) व्यक्तिवादी सिद्धान्त।
(2) प्रत्ययवादी या आदर्शवादी सिद्धान्त।
(3) समाजवादी सिद्धान्त।
(4) लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त।

अब हम राज्य के कार्यों से सम्वन्धित इन आधुनिक सिद्धान्तों की पृथक्-पृथक् विवेचना करेंगे।

(1) व्यक्तिवादी सिद्धान्त
(Theory of Individulism)

व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर सर्वाधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार, राज्य के कार्य तथा कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करते हैं। अतः राज्यों

के कार्यों की संख्या न्यूनतम होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य की इच्छा तथा रुचि अलग-अलग होती है। राज्य सब व्यक्तियों की इच्छा तथा रुचि के अनुसार कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपना हित स्वयं ही अच्छी प्रकार सोच सकता है। राज्य को उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

इस सिद्धान्त के समर्थक एडम स्मिथ, मिल, स्पेन्सर आदि थे। इनके अनुसार राज्य को बिल्कुल तो समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से अराजकता उत्पन्न हो जायेगी और मानव-जीवन की प्रगति में अनेक बाधायें खड़ी हो जायेंगी परन्तु **राज्य के कार्यों का क्षेत्र यथासम्भव छोटे से छोटा होना चाहिये।**

फ्रीमैन के शब्दों में, "सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है।"

"That government is best which governs the least." **—Freeman.**

इन लेखकों के अनुसार, **"राज्य एक अनिवार्य बुराई है।"** (अर्थात् **State is a necessary evil**)। यह एक ऐसी बुराई है जिसे व्यक्ति मजबूर होकर अपनाता है। अतः इसे अधिक कार्य नहीं सौंपे जाने चाहियें।

व्यक्तिवादियों के अनुसार, **"व्यक्ति साध्य (end) है और राज्य साधन (means) है।"** उनके मत में राज्य व्यक्ति के लिये है, न कि व्यक्ति राज्य के लिये। बेन्थम के शब्दो में, **"राज्य के हितों को समझे बिना समुदाय के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है।"**

व्यक्तिवादियों के अनुसार, **" राज्य एक अयोग्य संस्था है।"** राज्य ने अनेक भयंकर भूलें की हैं और मूर्खतापूर्ण कानून बनाये हैं। स्पेन्सर के शब्दों में, **"विधान मण्डलों के अँगूठा-टेक, अशिक्षित तथा अनुभवहीन सदस्यों ने अतीत काल में अनेक भयंकर भूलें करके समाज को हानि पहुँचायी है। अतः भविष्य में उन पर कोई भरोसा नहीं किया जाना चाहिये।"**

व्यक्तिवादी मत के अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र :

व्यक्तिवादी चाहते हैं कि राज्य के कार्य-क्षेत्र को अधिक से अधिक सीमित कर दिया जाए। स्पेन्सर के मतानुसार, **"व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य के कार्यों में उल्टा सम्बन्ध है।"**

उनके अनुसार, राज्य के केवल तीन कार्य होने चाहियें– (1) बाहरी शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना, (2) आन्तरिक शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना और (3) न्याय करना। इसलिये व्यक्तिवादियों के मत में सर्वोत्तम सरकार वह है जो सबसे कम शासन करे।

इस प्रकार, राज्य के कार्य केवल समाज में शान्ति बनाये रखने, बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करने, अपराधियों को दण्ड देने तथा मनुष्यों की प्रगति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को रोकने तक ही सीमित रहने चाहिये। इनके अनुसार, **"व्यक्ति का स्थान समाज तथा राज्य के ऊपर होना चाहिये और राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिये जिन्हें व्यक्ति नहीं कर सकता।"** यदि राज्य उपर्युक्त कार्यों के अलावा अन्य कार्यों को भी अपने हाथ में लेगा, तो लोग आलसी तथा निकम्मे हो जायेंगे और मानव की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकार सीमित हो जायेंगे।

व्यक्तिवाद के पक्ष में तर्क :

व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थन में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

(1) नैतिक तर्क– व्यक्तिवाद के समर्थन में नैतिक तर्क यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व तथा पृथक् विशेषता होती है। अतः यह आवश्यक है कि राज्य सभी व्यक्तियों को एक ही लाठी से हाँकने का प्रयत्न न करे, अपितु इसके विपरीत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार, अपनी शिक्षा, व्यायाम तथा मनोरंजन आदि कार्यों को करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इच्छानुसार नैतिक विकास व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण पहलू है। उसमें राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

इसलिये मिल ने कहा है कि, **"व्यक्तिगत जीवन में राजकीय हस्तक्षेप व्यक्ति के आत्मविश्वास को नष्ट कर देता है, उनकी उत्तरदायित्व की भावना को कमजोर बनाता है तथा चारित्रिक विकास को अवरुद्ध कर देता है।"**

(2) आर्थिक तर्क– एडम स्मिथ, माल्थस, मिल तथा रिकार्डो आदि अर्थशास्त्री इस विचारधारा के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि व्यक्ति अपने हानि-लाभ तथा अर्थिक हितों को स्वयं ही भली प्रकार समझता है। अतः राज्य को व्यक्ति के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

उदाहरणतः राज्य को मूल-नियमन जैसे कार्य नहीं करने चाहियें। मूल्य का निर्धारण स्वतन्त्र प्रतियोगिता में होना चाहिये, ताकि प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में अधिकाधिक परिश्रम करे और लाभ उठाये। राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वयं प्रेरणा तथा उत्साह मन्द पड़ जाता है। जैसा कि एडम स्मिथ ने कहा है कि, **"आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के साधनों का लाभ उतना नहीं हो पाता, जितना राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में हो पाता है।"**

व्यक्तिवाद के समर्थन में तर्क

1. नैतिक तर्क
2. आर्थिक तर्क
3. ऐतिहासिक तर्क
4. प्राणी वैज्ञानिक तर्क
5. व्यावहारिक तर्क।

(3) ऐतिहासिक तर्क– व्यक्तिवादी अपने मत के समर्थन में ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में राज्य का हस्तक्षेप सदा हानिकारक रहा है। राज्य ने मूल्य-नियन्त्रण किया तो चोर बाजारी बढ़ी, उत्पादन अपने हाथ में लिया तो उत्पादन घटा, सरकारी कारखाने सदा घाटे में चले, वितरण हाथ में लिया तो भ्रष्टाचार बढ़ा और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप से क्रान्तियाँ हुई। अतः राज्य को हस्तक्षेप न करने की नीति का ही पालन करना चाहिये।

(4) प्राणी विज्ञान सम्बन्धी तर्क– स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद के समर्थन में नया तर्क प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, यह प्रकृति का नियम है कि सभी प्राणी अपने जीवन के लिये संघर्ष करते हैं। उस संघर्ष में योग्य तथा सबल प्राणी जीवित रहते हैं और दुर्वल और अयोग्य मर जाते हैं। ऐसा ही संघर्ष मनुष्य को भी करना चाहिये। यदि राज्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करता है, तो समाज में अयोग्य व दुर्बल व्यक्तियों की बाढ़ जा जायेगी।

स्पेन्सर के शब्दों में, **"यदि हमें एक शक्तिशाली व योग्य मानव-समाज की रचना करनी है, तो हमें व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये, ताकि शक्तिशाली जीवित रह जायें व अयोग्य और दुर्बल समाप्त हो जायें।"**

(5) व्यावहारिक तर्क– व्यक्तिवादी विचारधारा के समर्थकों का यह कहना है कि व्यावहारिक दृष्टि से राज्य में सभी कार्यों को सम्पन्न करने की योग्यता नहीं होती, क्योंकि राज्य के कर्मचारी लगन और प्रतिबद्धता से कार्य नहीं करते और मन्त्री प्रायः अनुभव शून्य होते हैं।

उदाहरण के लिये; जब राज्य में ऐसा व्यक्ति रक्षा मन्त्री वन जाता है, जो कभी सिपाही भी न रहा हो तथा ऐसा व्यक्ति कृषि मन्त्री वन जाता है, जो फसल को पहचानता भी न हो, तो राज्य इन कार्यों को अच्छी प्रकार सम्पन्न नहीं कर सकता। इसके विपरीत, व्यक्ति की कार्यक्षमता तथा प्रेरणा उत्कृष्ट होती है।

अतः राज्य के कार्य कम से कम रहने चाहियें।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना :

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की अनेक विद्वानों ने अग्रलिखित दोषों के आधार पर आलोचना की है–

(1) व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की गलत कल्पना– इस सिद्धान्त के समर्थकों की यह धारणा गलत है कि व्यक्ति का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है ओर प्रत्येक व्यक्ति का हित समाज के अन्य व्यक्तियों के हितों से भिन्न होता है जबकि वास्तविकता यह है कि, **"मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है।"** और समाज से उसका अटूट सम्बन्ध है। समाज तथा राज्य के विना मानव अपना विकास नहीं कर सकता।

समाज और व्यक्ति का शरीर और अंग जैसा सम्बन्ध है। शरीर के हित से अलग किसी भी अंग का पृथक् कोई हित नहीं होता। शरीर के हित में ही अंग का हित निहित होता है। इसी प्रकार समाज के हित में व्यक्ति का हित सम्मिलित होता है।

(2) स्वतन्त्रता का भ्रामक अर्थ– व्यक्तिवादियों ने स्वतन्त्रता का अर्थ लगाया है– किसी भी प्रकार के बंधन या नियन्त्रण का अभाव जोकि सही नहीं है। वास्तविकता यह है कि सच्ची स्वतन्त्रता पूर्णतया बंधनमुक्त नहीं हो सकती। पूर्णतया बंधनरहित स्वतन्त्रता का नाम अराजकता है। फिर, राज्य अपने कानूनों द्वारा स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता, वल्कि उसकी रक्षा करता है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना

1. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की गलत कल्पना
2. स्वतन्त्रता का भ्रामक अर्थ
3. राज्य अनिवार्य बुराई नहीं
4. राज्य मानवीय उन्नति में बाधक नहीं
5. राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक
6. लोकतन्त्रीय युग में व्यक्तिवाद अनावश्यक
7. प्राणी वैज्ञानिक तर्क अमानवीय।

(3) राज्य को अनिवार्य बुराई कहना गलत है– व्यक्तिवादियों ने कहा है कि राज्य एक अनिवार्य बुराई है और व्यक्ति को विवश होकर उसे स्वीकार करना पड़ता है जवकि सच्चाई यह है कि राज्य एक वड़ा ही लोकोपयोगी समुदाय है और वह सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है।

अरस्तू ने लिखा है कि, **"राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की रक्षा के लिये हुई है और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिये ही वह स्थिर है।"**

(4) राज्य मनुष्य की उन्नति में बाधक नहीं है– व्यक्तिवादियों का यह कथन भी सत्य नहीं है कि राज्य के कारण लोग आलसी तथा निकम्मे हो जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि राज्य मनुष्यों की सर्वांगीण उन्नति के लिये समुचित अवसर तथा सुविधायें प्रदान करता है। इतिहास वताता है कि राज्य के अस्तित्व से पूर्व मनुष्य का जीवन जंगली था। मानव समाज ने राज्य की छत्रछाया में ही इतनी आर्थिक व वैज्ञानिक उन्नति की है।

(5) राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक– राज्य के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति अपने हित एवं स्वार्थ की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होगा। परिणामस्वरूप, उनके पारस्परिक हितों में टकराव होना अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक होता है।

(6) लोकतन्त्रीय युग में व्यक्तिवाद अनावश्यक– व्यक्तिवाद का जन्म निरंकुश राज्यों की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। वर्तमान युग में ऐसी परिस्थिति नहीं है। आज के लोकतन्त्रीय युग में तो जनता द्वारा चुनी हुई लोकप्रिय सरकार जनइच्छा के अनुसार ही शासन करती है।

(7) प्राणी विज्ञान तर्क अमानवीय– 'शक्तिशाली ही जीवित रहे' का तर्क अमानवीय है। यह पशुओं में तो लागू हो सकता है, किन्तु मनुष्यों में नहीं क्योंकि मनुष्य बुद्धि तथा नैतिकता की दृष्टि से पशु से वहुत ऊँचा है। अतः निर्बलों की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है।

लीकॉक ने इसीलिये कहा है कि, **"यदि शक्ति, को ही जीवित रहने की कसौटी मान लिया जाये, तो एक समृद्ध चोर समाज में प्रशंसा का पात्र होगा और एक भूखा कलाकार घृणा का।"**

अतः वर्तमान युग में राज्य के कार्य-क्षेत्र में व्यक्तिवादी विचारधारा को मान्य नहीं किया जा सकता।

(2) प्रत्ययवाद या आदर्शवाद का सिद्धान्त
(Theory of Idealism)

प्रत्ययवाद या आदर्शवाद का सिद्धान्त राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिपादित एक प्राचीन तथा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। आदर्शवादी सिद्धान्त संसार में पाये जाने वाले राज्यों के स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर एक ऐसे आदर्श राज्य की विवेचना करता है, जो पूर्ण हो। यह सिद्धान्त बहुत पुराना सिद्धान्त है। इसका प्राचीनतम रूप अरस्तू तथा प्लेटो की रचनाओं से मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य प्राकृतिक है और उसका आदर्श नैतिकता होता है।

इस सिद्धान्त को विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग नामों से पुकारा है। कुछ लेखकों ने इसे **'दार्शनिक सिद्धान्त'** का नाम दिया है, क्योंकि यह राज्य के सम्पूर्ण रूप का अध्ययन दार्शनिक दृष्टि से करता है। यह सिद्धान्त चूँकि नैतिकता पर अधिक बल देता है अतः गैटेल ने इसे **'नैतिक सिद्धान्त'** कहा है। कुछ लेखकों ने इसे **'आध्यात्मिक सिद्धान्त'** कहा है, क्योंकि यह राज्य के भौतिक तत्वों पर बल न देकर आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देता है। डॉ० महादेव प्रसाद ने इसे **'विचारवाद का सिद्धान्त'** कहा है।

आदर्शवाद के सिद्धान्त की मूल बातें–

आदर्शवाद सिद्धान्त की मूल बातें निम्न प्रकार हैं–

(1) राज्य एक नैतिक संस्था है– यह सिद्धान्त राज्य को एक ऐसी नैतिक संस्था मानता है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार, राज्य में ही व्यक्ति अपना सर्वतोन्मुखी विकास कर सकता है। राज्य की सदस्यता अनैतिक एवं अज्ञानी मानव को नैतिक एवं विवेकशील बनाती है।

(2) राज्य एक साध्य है, साधन नहीं– व्यक्तिवादियों और समाजवादियों के विपरीत आदर्शवादी राज्य को साध्य (end) मानते हैं और व्यक्ति को साधन (means)। इनके अनुसार, राज्य प्रमुख होता है और व्यक्ति गौण। राज्य के विकास के लिये व्यक्ति को अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को भी प्रस्तुत रहना चाहिए।

(3) राज्य का अपना व्यक्तित्व है– आदर्शवाद के अनुसार, राज्य का अपना एक पृथक् व्यक्तित्व होता है, जो उसके सदस्यों (व्यक्तियों) के व्यक्तित्व से भिन्न तथा स्वतन्त्र होता है। फिक्टे ने कहा है कि, **"जिस प्रकार एक मूर्ति संगमरमर के कणों का समूह मात्र न होकर उससे कुछ अधिक है, उसी प्रकार राज्य भी व्यक्तियों का समूह मात्र न होकर उससे अधिक है।"**

(4) राज्य सर्वशक्तिमान है– आदर्शवादियों के अनुसार राज्य सर्वशक्तिमान तथा सर्वाधिकार सम्पन्न है। हेगल ने तो **"राज्य को ईश्वर का अवतार माना है।"** राज्य के विरुद्ध उसके सदस्यों का कोई अधिकार नहीं है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय बन्धनों से भी मुक्त है।

(5) राज्य अनिवार्य है– आदर्शवादी विचारक व्यक्ति के अस्तित्व और विकास के लिये राज्य को अनिवार्य मानते हैं। राज्य के वाहर न तो कोई जीवित रह सकता है और न उसका विकास ही सम्भव है। अरस्तू के अनुसार, **"राज्य के बिना व्यक्ति श्रेष्ठ जीवन नहीं बिता सकता।"**

(6) राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध– राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध ठीक वही है जो शरीर और उनके विभिन्न अंगों का है। जैसे शरीर से

आदर्शवाद के सिद्धान्त की मूल बातें

1. राज्य एक नैतिक संस्था है
2. राज्य साध्य है, साधन नहीं
3. राज्य का अपना व्यक्तित्व है
4. राज्य सर्वशक्तिमान है
5. राज्य अनिवार्य है
6. राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध
7. राज्य स्वतन्त्रता का मूर्त रूप है
8. राजनीतिक व नैतिक कर्त्तव्य समान।

पृथक् होकर व्यक्ति का कोई जीवन नहीं। जैसे प्रत्येक अंग का कर्त्तव्य है कि वह शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व सुरक्षित बनाये रखे, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को भी राज्य के विकास के लिये हर सम्भव प्रयास करना चाहिये, क्योंकि राज्य के विकास में ही उसका विकास है।

(7) राज्य स्वतन्त्रता का मूर्तरूप है– आदर्शवादियों के अनुसार, जिस प्रकार कुरूपता का अभाव ही सुन्दरता नहीं है, उसी प्रकार बन्धनों का अभाव ही स्वतन्त्रता नहीं है। इनके अनुसार, राज्य की इच्छा के अनुसार काम करना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता का अर्थ है– अपनी इच्छा के भी प्रतिकूल राज्य के आदेशों को कर्त्तव्य मानकर पालन करना।

(8) राजनीतिक व नैतिक कर्त्तव्य समान– आदर्शवादियों के अनुसार राजनीतिक व नैतिक कर्त्तव्य एक समान हैं। राज्य के प्रति हमारे कर्त्तव्य का नैतिक होना जरूरी है, क्योंकि जो नैतिक रूप से सही है, वही कानूनी रूप से भी सही होगा अन्यथा नहीं।

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना

आदर्शवादी सिद्धान्त के अतिशयोक्तिपूर्ण स्वरूप की अनेक विद्धानों ने कटु आलोचना की है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

(1) काल्पनिक– आलोचक आदर्शवाद को वास्तविकताओं से दूर केवल एक ऐसा काल्पनिक सिद्धान्त मानते हैं जिसका व्यावहारिक दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। कई आदर्शवादियों ने भी ऐसे आदर्श राज्य की वास्तविकता पर यह सन्देह व्यक्त किया था। स्वयं प्लेटो का यह कहना है कि **"आदर्श राज्य स्वर्ग में भले ही स्थापित हो सके, पृथ्वी पर तो वह कहीं है नहीं।"**

(2) निरंकुशता को जन्म– आदर्शवादियों के अनुसार, राज्य सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान सत्ता है। इसी धारणा ने आगे चलकर तानाशाही तथा निरंकुश शासन को जन्म दिया।

जैसा कि हॉबहाऊस ने कहा है कि, **"इससे अधिक खतरनाक और कोई सिद्धान्त नहीं दिखाई देता, जिसने व्यक्ति के अधिकारों की इतनी उपेक्षा की हो और निरंकुशता का इतना खुला समर्थन किया हो।"**

आदर्शवाद सिद्धान्त की आलोचना

1. काल्पनिक
2. निरंकुशता को जन्म
3. राज्य साधन है, साध्य नहीं
4. राज्य शरीरधारी नहीं
5. भौतिक पहलू की उपेक्षा
6. स्वतन्त्रता का ढोंग
7. शान्ति के लिये घातक।

(3) राज्य साधन है, साध्य नहीं– आदर्शवादी राज्य को साध्य (लक्ष्य) मानते हैं जोकि उचित नहीं है। उन्होंने व्यक्तियों को राज्य रूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र बना दिया है। वास्तव में राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य वस्तुतः एक ऐसी संस्था है जिसका अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति का अधिकतम कल्याण करना है।

(4) राज्य शरीरधारी नहीं– आदर्शवादियों ने राज्य को एक ऐसा शरीरधारी माना है जिसकी अपनी इच्छा है और अपना व्यक्तित्व है। किन्तु व्यक्तियों से पृथक् राज्य का कोई अस्तित्व है ही नहीं। जैसा कि, मैकाइवर ने कहा है कि, **"जिस प्रकार बहुत से घोड़ों के समूह से कोई सर्वोत्कृष्ट घोड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार अनेक व्यक्तियों के समूह से किसी सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता।"**

(5) भौतिक पहलू की उपेक्षा– आदर्शवाद का सिद्धान्त व्यक्ति के केवल नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास पर ही जोर देता है और भौतिक पक्ष के विकास की यह पूर्णतः उपेक्षा करता है; जबकि भौतिक विकास वर्तमान युग की अनिवार्य आवश्यकता है।

(6) स्वतन्त्रता का ढोंग– आदर्शवादियों ने राज्य की आज्ञा के पालन को ही स्वतन्त्रता का नाम दिया है, जबकि वास्तविक स्वतन्त्रता का जन्म व्यक्ति के अन्तःकरण से अथवा उसकी

अन्तःप्रेरणा से होता है। इसीलिए हॉबहाऊस सने कहा है कि, **"कानून के पालन को ही स्वतन्त्रता का नाम देना, वास्तविक स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करता है।"**

(7) शान्ति के लिये घातक– आदर्शवादियों के अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक वन्धनों से भी ऊपर है। हेगल ने तो यहाँ तक कहा है कि, **"राज्य युद्ध करने के लिए स्वतन्त्र है और उस पर कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू नहीं होता।"** यह विचारधारा जहाँ युद्ध का समर्थन करती है, वहाँ शान्ति के लिए भी घातक है।

महत्व (Importance)

उपर्युक्त दोषों के बावजूद भी आदर्शवादी सिद्धान्त की कई महत्वपूर्ण देन हैं, जोकि निम्न प्रकार हैं–

(1) आदर्शवाद राज्य को प्राकृतिक मानता है।

(2) आदर्शवाद राजनीति का सम्बन्ध आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र से जोड़ता है।

(3) आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य के अभिन्न सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है।

(4) आदर्शवाद भौतिकवाद या उपयोगितावाद की स्वार्थी प्रवृत्ति के विरुद्ध एक स्वागत योग्य दर्शक है।

(3) समाजवादी सिद्धान्त
(Theory of Socialism)

व्याख्या– समाजवादी सिद्धान्त यद्यपि एक प्राचीन सिद्धान्त है, किन्तु वर्तमान युग में इसका उदय यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् हुआ। आधुनिक काल में इसके सबसे बड़े प्रवर्त्तक जर्मनी के प्रसिद्ध कार्ल मार्क्स थे। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् समाज पूँजीपति और मजदूरों के दो वर्गों में बँट गया। इन दोनों वर्गों ने शोषक और शोषित वर्ग का रूप धारण कर लिया। परिणामस्वरूप, मजदूरों का भारी शोषण होने लगा। इस समस्या के समाधान के लिए ही समाजवादी विचारधारा का जन्म हुआ।

कार्ल मार्क्स ने समाज को एक ऐसे नवीन ढंग से संगठित करने का सुझाव दिया जिसमें मजदूर वर्ग का शोषण न किया जाए। उत्पादन तथा वितरण के साधन राज्य के हाथों में हों। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के स्थान पर सामाजिक लाभ के लिये योजनावद्ध रीति से उत्पादन किया जाये और राष्ट्रीय आय का समान वितरण हो। इसी नये सामाजिक संगठन को समाजवाद का नाम दिया गया।

समाजवाद की परिभाषायें

समाजवाद वर्तमान युग की एक अत्यन्त लोकप्रिय धारणा है। वह व्यक्तिवाद से बिल्कुल उल्टा है। समाजवाद की कोई एक स्पष्ट एवं मान्य परिभाषा करना सरल कार्य नहीं है, क्योंकि समाजवाद शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। जोड ने तो यहाँ तक लिखा है कि, **"समाजवाद एक ऐसी टोपी की भाँति है जिसका अपना आकार नष्ट हो गया है, क्योंकि इसे प्रत्येक व्यक्ति धारण करता है।"**

फिर भी, समाजवाद की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) फ्रेड ब्रेमले के शब्दों में, **"समाजवाद का अर्थ है, व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के अधीन रखना।"**

(2) राबर्ट ब्लैक फोर्ड के अनुसार, **"समाजवाद वह कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधन किसी एक की सम्पत्ति न होकर सबकी सम्पत्ति रहे और उनका प्रयोग तथा संचालन जनता द्वारा जनता के लिये हो।"**

(3) बर्ट्रेण्ड रसेल के अनुसार, **"समाजवाद का अर्थ भूमि तथा पूँजी पर सार्वजनिक अधिकार स्थापित करना है, साथ ही लोकतन्त्रीय शासन भी स्थापित करना है।"**

(4) सेलर्स के शब्दों में, **"समाजवाद एक लोकतन्त्रीय विचारधारा है जिसका उद्देश्य समाज में ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता तथा न्याय प्रदान कर सके।"**

समाजवाद और व्यक्तिवाद

दोनों में निम्न अन्तर पाये जाते हैं–

(1) समाजवादी सिद्धान्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त से बिल्कुल उल्टा है। व्यक्तिवाद के समर्थक राज्य को न्यूनतम काम सौंपना चाहते हैं, जबकि समाजवादी राज्य को अधिक से अधिक कार्य सौंपने के समर्थक हैं।

(2) व्यक्तिवादी राज्य के कम से कम नियन्त्रण के समर्थक हैं तो समाजवादी राज्य का अधिक से अधिक नियन्त्रण आवश्यक समझते हैं।

(3) व्यक्तिवादी पूँजीवादी प्रथा के समर्थक हैं, तो समाजवादी उसे जड़मूल के उखाड़ने के समर्थक हैं।

(4) व्यक्तिवादियों ने स्वतन्त्र प्रतियोगिता का समर्थन किया है, किन्तु समाजवादी उसका विरोध करके योजनावद्ध उत्पादन के समर्थक हैं।

समाजवाद का रूप

समाजवाद की इस विचारधारा को विश्व के अनेक देशों में मान्यता मिली। **"समाजवाद के उद्देश्यों के विषय में तो सभी समाजवादी विद्वान् एकमत हैं,** किन्तु उन उद्देश्यों की प्राप्ति के तरीकों के सम्बन्धों में उनमें मतभेद पाया जाता है जिसके कारण आज संसार में **कई प्रकार का** समाजवाद विद्यमान है। कुछ लोग जो अहिंसक, शांतिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों से समाजवादी ढंग के समाज की रचना करना चाहते हैं, उनका समाजवाद **राजकीय समाजवाद (State Socialism)** तथा **लोकतन्त्रीय समाजवाद (Democratic Socialism)** के नाम से विख्यात है। **भारत में ऐसे ही** लोकतन्त्रीय समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य सामने रखा गया है।

इसके विपरीत, जो लोग क्रान्ति एवं हिंसात्मक तरीकों द्वारा समाजवाद लाना चाहते हैं, उनके समाजवाद को **साम्यवाद या कम्युनिज्म (Communism)** कहा जाता है। साम्यवादी लोग क्रान्ति तथा हिंसात्मक उपायों द्वारा एक ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जिसमें मजदूर वर्ग ही प्रमुख होगा। उसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति, पूँजीवाद तथा धर्म के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इस प्रकार ये मजदूरों की ही तानाशाही स्थापित करके साम्यवाद (तीव्र समाजवाद) लाना चाहते हैं। इस प्रकार का तीव्र समाजवाद चीन में स्थापित है।

आज विश्व में समाजवाद के अधिकांश समर्थक अहिंसक एवं शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा ही समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

समाजवाद की मूल मान्यतायें या लक्षण

समाजवाद की मूल मान्यतायें या लक्षण निम्न प्रकार हैं–

(1) क्रमिक विकास में विश्वास– समाजवाद के समर्थक क्रान्ति द्वारा आकस्मिक परिवर्तन नहीं चाहते, अपितु शनैः शनैः क्रमिक विकास में विश्वास करते हैं। वे जनमत को प्रभावित करके वैधानिक उपायों द्वारा आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते हैं।

(2) लोकतन्त्र में विश्वास– समाजवादी साम्यवादियों की तरह हिंसक उपायों में विश्वास नहीं करते, अपितु, लोकतन्त्र के माध्यम से कानूनों द्वारा समाज का बहुमुखी विकास करना चाहते हैं।

(3) आर्थिक विषमता की समाप्ति– इस विचारधारा के समर्थक पूँजीवाद का उन्मूलन करके आर्थिक विषमता दूर करना चाहते हैं। धनिकों पर कर लगाकर उस धनराशि को सामाजिक कल्याण पर खर्च करना चाहते हैं। आय तथा धन के वितरण की असमानता दूर करना समाजवाद का प्रमुख लक्ष्य है।

(4) उत्पादन के साधनों पर समाजवाद का स्वामित्व– पूँजीवाद का विरोधी होने के कारण समाजवाद भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर यथासम्भव सामाजिक स्वामित्व चाहता है, ताकि उत्पादन का लाभ कुछ हाथों में ही न सिमट जाये।

(5) व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्रमुखता– समाजवाद व्यक्ति के मुकाबले समाज को प्रमुखता देता है। उसका विचार है कि सामूहिक हित में व्यक्तिगत हित निहित होता है, अतः सामाजिक हित के लिये व्यक्तिगत हित को बलिदान कर दिया जाना चाहिये।

समाजवाद की मूल मान्यतायें या लक्षण या तत्व

1. क्रमिक विकास में विश्वास
2. लोकतन्त्र में विश्वास
3. आर्थिक विषमता की समाप्ति
4. उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व
5. व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्रमुखता
6. राज्य पर भरोसा
7. उत्पादन व वितरण की योजना
8. वर्ग-सहयोग में विश्वास
9. राज्य द्वारा अधिकाधिक कार्य।

(6) राज्य पर भरोसा– समाजवाद के समर्थक राज्य को बुराई न मानकर एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं। राज्य के माध्यम से ही वे समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

(7) उत्पादन व वितरण की योजना– समाजवादी केवल लाभ के लिए ही वस्तुओं का उत्पादन नहीं चाहते, वे केवल उन वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते हैं जो जनता के लिये जरूरी तथा उपयोगी हों। वे वितरण व्यवस्था पर भी राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं ताकि जमाखोरी व मुनाफाखोरी रोकी जा सके।

(8) सहयोग में विश्वास– समाजवादी समाज के सभी वर्गों के पारस्परिक सहयोग से विकास करना चाहते हैं। वे साम्यवादियों की भाँति न तो पूँजीपतियों से घृणा करते हैं, न व्यक्तिगत सम्पत्ति के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं।

(9) राज्य द्वारा अधिकाधिक कार्य– समाजवादी राज्य को एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं, अतः वे राज्य द्वारा अधिकाधिक कार्य किये जाने के समर्थक हैं। सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, साहित्यिक, औद्योगिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक आदि सभी क्षेत्रों में राज्य को अधिकाधिक कार्य करने चाहियें, ताकि समाज का अधिक से अधिक हित व कल्याण किया जा सके।

समाजवाद के गुण या पक्ष में तर्क

विद्वानों ने समाजवाद के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया है–

(1) समाज का नया संगठन– पूँजीवाद के कारण समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गये तथा समाज पूँजीपति और मजदूरों के वर्गों में बँट गया जिनमें निरन्तर संघर्ष होने लगा। इस सम्बन्ध में एच० जी० वेल्स ने लिखा है कि, **"पूँजीवादी व्यवस्था में धनी इसलिये काम नहीं करते, क्योंकि उनके पास अपार धनराशि होती है और गरीबों के लिए काम करना इसलिए कठिन है क्योंकि उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता।"** समाजवाद समानता के आधार पर ऐसे नये समाज के संगठन का समर्थक है जिसमें सभी के साथ न्याय हो और राष्ट्रीय आय तथा धन का उपयोग सामाजिक हित के लिये किया जाये।

(2) योजनाबद्ध उत्पादन– समाजवाद स्वतन्त्र प्रतियोगिता का विरोधी है और उसके स्थान पर योजनाबद्ध उत्पादन का समर्थक है, जिसमें कि उत्पादन के साधनों का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के बजाय सामाजिक लाभ के लिये किया जा सके।

(3) सामाजिक न्याय का पोषक– समाजवाद मजदूरों को पूँजीपतियों के और किसानों को जमींदारों के शोषण से मुक्त करता है। यह समाज के सभी वर्गों के साथ न्याय करके सभी मनुष्यों की उन्नति के समान अवसर उपलब्ध कराना चाहता है।

(4) प्रजातन्त्र का समर्थक– थोड़े से तीव्र साम्यवादियों की बात को छोड़ दिया जाये, तो समाजवाद लोकतन्त्र का ही समर्थक है। यह सभी मनुष्यों को आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार देना चाहता है।

(5) समान वितरण– समाजवादी राज्य में यह सम्भव नहीं है कि धनी और धनी होते जायें तथा गरीब और गरीब होते जायें। यह तो व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करके राष्ट्रीय धन तथा राष्ट्रीय आय का समान वितरण करना चाहता है।

समाजवाद के दोष या आलोचना

अनेक गुणों के बावजूद समाजवाद में कुछ दोष भी पाये जाते हैं जोकि निम्नलिखित हैं–

(1) राज्य को अधिक कार्य सौंपने से हानि– कुछ विद्वानों की यह राय है कि राज्य को अधिक काम सौंपने से लोग आलसी तथा परावलम्वी हो जाते हैं। उनकी कार्यक्षमता घट जाती है और वे हर कार्य के लिये राज्य का ही मुँह ताकने के आदी हो जाते हैं। स्पेन्सर ने लिखा है कि **"इस स्थिति में समाज का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप में समाज का दास बन जाता है।"**

वैलोक ने कहा है कि **"समाजवाद एक गुलाम देश की नींव डालता है।"**

(2) सरकार की शक्ति में अधिक वृद्धि– समाजवादी राज्य में सरकार के हाथ में अधिक शक्ति आ जाती है जिसके कारण एक प्रकार से राज्य की तानाशाही स्थापित हो जाती है, जिसमें पूँजीपतियों की बजाय सरकारी नौकरशाही जनता का दमन करती है।

(3) व्यक्तिगत क्षमता का ह्रास– समाजवाद मनुष्य की स्वतन्त्रता को सीमित कर देता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्तिगत उद्योग तथा व्यक्तिगत प्रेरणा को प्रोत्साहन न मिलने के कारण लोगों की रुचि कार्य में नहीं रहती जिसके कारण उनका उत्साह मर जाता है और कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

(4) हिंसा व तानाशाही को प्रोत्साहन– अनेक समाजवादी हिंसात्मक उपायों से समाजवाद स्थापित करते हैं जिनके कारण राज्य में सरकारी तानाशाही उत्पन्न हो जाती है और लोगों में हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(5) धर्म का विरोध– समाजवाद और साम्यवाद धर्म के कट्टर विरोधी हैं। धर्म में जो आज बुराइयाँ व्याप्त हो गई हैं वे तो दूर की जानी चाहियें, किन्तु यदि जीवन से धर्म को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया, तो मनुष्य के जीवन में नैतिकता नहीं रहेगी और मानव व पशु में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

इन दोषों के बावजूद भी आज संसार में समाजवादी विचारधारा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और विश्व के अनेक देशों में समाज अपनी जड़ें जमा चुका है।

(4) लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त
(Theory of the Welfare State)

सम्पूर्ण जनता के बहुमुखी कल्याण के लिए कार्य करने वाला राज्य ही लोक कल्याणकारी राज्य कहलाता है। इस दृष्टि से लोक कल्याणकारी राज्य का विचार कोई नया नहीं है। भारत में प्राचीन काल से 'रामराज्य' की धारणा लोक कल्याणकारी राज्य का प्रतीक बनी हुई है। महर्षि

वेदव्यास ने अपने ग्रन्थ 'महाभारत' में लिखा है कि "जो राजा अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उस की उन्नति का बहुमुखी प्रयास नहीं करता, वह नरकगामी होता है।"

किन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वाध में विश्व के अधिकांश राज्यों में व्यक्तिवादी एवं स्वेच्छाचारी शासकों का उदय हुआ जिसमें राज्य को केवल 'पुलिस राज्य' ही माना जाता था। राज्य का कार्य केवल शान्ति व व्यवस्था की स्थापना करना, न्याय प्रदान करना तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा करना ही माना जाता था। व्यक्ति के जीवन को सुखी एवं समृद्ध वनाने वाले कार्यों में राज्य कोई भाग नहीं लेता था।

किन्तु वर्तमान लोकतन्त्रीय युग में 'पुलिस राज्य' की धारणा का स्थान पुनः 'कल्याणकारी राज्य' ने ले लिया है। आजकल राज्य उपर्युक्त कार्यों के अलावा व्यक्ति के जीवन को सुखी व समृद्ध बनाने के लिए सभी प्रकार के जनोपयोगी व सामाजिक कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है और अपनी जनता के कल्याण के लिए हर सम्भव प्रयास करता है।

अतः अव हम इस वात की विवेचना करेंगे कि वर्तमान समय में **लोक कल्याणकारी राज्य का क्या अर्थ है ? कल्याणकारी राज्य के क्या लक्षण होते हैं ? क्या भारत एक कल्याणकारी राज्य है ?**

(1) कल्याणकारी राज्य का अर्थ तथा परिभाषायें

'कल्याणकारी राज्य' की धारणा वहुत विस्तृत है। अतः नपे-तुले शब्दों में इसकी कोई एक सर्वमान्य परिभाषा करना सरल नहीं है। विभिन्न लेखकों ने इसकी परिभाषा पृथक्-पृथक् शब्दों में की है।

'लोक कल्याणकारी' राज्य का सामान्य अर्थ है कि केन्द्र व राज्य सरकारें ऐसी नीतियों को लागू करें, जिनका लक्ष्य जनता का कल्याण करना हो। राज्य के सामान्य कार्यों को करने के अतिरिक्त सरकारें जनता को पौष्टिक भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य की भी अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करें, लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठायें तथा आर्थिक व सामाजिक समानता की स्थापना करें।

'कल्याणकारी राज्य' की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) केण्ट के अनुसार, **"लोक कल्याणकारी राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिये व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।"**

"The welfare state is a state that provides for its citizens, a wide range of social services."

—Kent

(2) पं० नेहरू के शब्दों में, **"सबके लिये समान अवसर उपलब्ध कराना, अमीरों व गरीबों के बीच का अन्तर मिटाना, जीवन-स्तर को ऊपर उठाना लोक कल्याणकारी राज्य के बुनियादी तत्व हैं।"**

(3) प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विलियम बैवरिज के मतानुसार, **"गरीवी, बेकारी, अशिक्षा, गन्दगी और बीमारी जैसे दानवों से नागरिकों की रक्षा करने वाला राज्य ही कल्याणकारी राज्य कहलाता है।"**

(4) डॉ० आशीर्वादम् के शब्दों में, **"कल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार, ताकि अधिक लोगों का कल्याण हो सके।"**

इस प्रकार, कल्याणकारी राज्य लोक कल्याण के एक विस्तृत कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है तथा ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विकास हो सके।

(2) कल्याणकारी राज्य के लक्षण

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं–

(1) लोकतन्त्रीय– कल्याणकारी राज्य लोकतन्त्रीय व्यवस्था से ही पुष्पित तथा विकसित होता है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व नागरिक अधिकारों का सम्मान करता है और जनतान्त्रिक उपायों से अधिकाधिक जनकल्याण की व्यवस्था करता है।

(2) न्यूनतम जीवन-स्तर– कल्याणकारी राज्य नागरिकों के सामान्य जीवन-स्तर को बनाये रखने की कोशिश करता है और भोजन, वस्त्र व मकान आदि की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करना अपना दायित्व समझता है।

(3) सामाजिक सुरक्षा– कल्याणकारी राज्य सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों जैसे कि बेकारों को काम देना, कमजोर वर्गों की सहायता, बीमारी व बुढ़ापे में सहायता तथा बीमा; आदि से सम्बन्धित कार्यों को करना अपना दायित्व मानता है।

(4) समाजसेवी– कल्याणकारी राज्य वास्तव में समाजसेवी राज्य होता है। वह निरक्षरता व निर्धनता दूर करने, वाचनालय व पार्क बनाने, सड़क जलपूर्ति व प्रसूतिकागृह तथा चिकित्सा आदि से सम्बन्धित कार्यों को भी सम्पन्न करने की व्यवस्था करता है।

कल्याणकारी राज्य के लक्षण

1. लोकतन्त्रीय
2. न्यूनतम जीवन-स्तर
3. सामाजिक सुरक्षा
4. समाजसेवी
5. आर्थिक नियन्त्रण
6. पूँजीवाद व साम्यवाद के बीच का मार्ग।

(5) आर्थिक नियन्त्रण– धन तथा आय की विषमताओं को दूर करने के लिए एक कल्याणकारी राज्य उत्पादन तथा वितरण के साधनों को भी नियमित तथा नियन्त्रित करता है। सामाजिक न्याय व आर्थिक समानता लाने के लिये वह धनी और निर्धनों पर उनकी आमदनी के अनुपात में कर लगाता है।

(6) पूँजीवाद व साम्यवाद के बीच का मार्ग– कल्याणकारी राज्य साम्यवाद और पूँजीवाद जैसी दो चरम स्थितियों (two extremes) के बीच का मार्ग है, जो व्यावहारिक है। कल्याणकारी राज्य में एक ओर जहाँ इसके कार्यों में भारी वृद्धि होती है, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति के महत्व एवं उनकी स्वतन्त्रता को भी स्वीकार किया जाता है।

कल्याणकारी राज्य के कार्य

इसी पाठ में आगे दिये गये राज्य के अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्य ही कल्याणकारी राज्य के कार्य हैं।

क्या भारत कल्याणकारी राज्य है ?

प्राचीन भारत– भारत में प्राचीनकाल से ही कल्याणकारी राज्य के आदर्श को अपनाया जाता रहा है। 'रामराज्य' के आदर्श की मान्यता लोक कल्याणकारी राज्य की ही प्रतीक है कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस आदर्श का दृढ़ समर्थन किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्राट अशोक, शेरशाह सूरी तथा अकबर आदि सदा प्रजा के कल्याण-कार्यों को प्रमुखता देते थे। शेरशाह सूरी द्वारा कलकत्ता से पेशावर तक बनाई गई ग्राण्ड ट्रंक रोड इसका साक्षात् प्रमाण है।

स्वतन्त्र भारत– 1947 में स्वतन्त्र होने के बाद भारत के संविधान निर्माताओं ने भारत के संविधान में भारत को कल्याणकारी राज्य घोषित किया और कल्याणकारी राज्य के सभी प्रमुख तत्वों को संविधान में स्थान दिया।

(1) सर्वप्रथम संविधान की प्रस्तावना में ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्य अपने समस्त निवासियों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में समानता व न्याय प्राप्त करायेगा।

(2) संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख करके नागरिकों को सर्वांगीण उन्नति के समान अवसर प्रदान किये गये और संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख तो एक प्रकार से कल्याणकारी राज्य के ही तत्वों का घोषणा-पत्र है। वास्तव में, नीति-निर्देशक तत्व उन नियमों अथवा आदर्शों का दूसरा नाम है जिसके अनुसार राज्य को कल्याणकारी कार्य सम्पन्न करने हैं।

(3) संविधान लागू होने के बाद से केन्द्र व राज्य सरकारें नीति निर्देशक तत्वों को अधिकाधिक मात्रा में लागू करके देश को सही मानों में कल्याणकारी राज्य बनाने के लिये प्रयत्नशील रही हैं। सात पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में जनकल्याण व विकास के अनेक कार्य सम्पन्न हुए हैं।

(4) कृषि के क्षेत्र में इन प्रयासों से सिंचित भूमि का क्षेत्रफल व खाद्यान्न उत्पादन तिगुने से भी अधिक हो गया। आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना की दिशा में तेजी से पग उठाये हैं। गरीबी व बेकारी दूर करने के प्रयासों में सरकार ईमानदारी से जुटी है। देश में वेरोजगारी समाप्त करने के ठोस जनोपयोगी कार्यक्रम लागू किये जा रहे हैं। भूमि सुधार, चकबन्दी, कुटीर उद्योग व ग्रामीण विकास की दिशा में केन्द्र व राज्य सरकारों ने प्रभावी कदम उठाये हैं।

(5) शिक्षा, समाज-कल्याण व स्वास्थ्य के क्षेत्र में सराहनीय प्रयास किये गये हैं। अस्पृश्यता-निवारण, पंचायती राज की स्थापना, समान सामाजिक न्याय, मद्यनिषेध, सामाजिक सुरक्षा आदि ऐसे कल्याणकारी कार्य हैं जिनकी पूर्ति की दिशा में राज्य बराबर अग्रसर हैं।

स्पष्ट है कि हमारे देश में पूर्णतया कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और सरकार उस दिशा में वांछित लक्ष्यों की पूर्ति के लिये सतत प्रयत्नशील है।

राज्य के कार्यों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण

राज्य के कार्यों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण समझने से पूर्व यह उचित होगा कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की उन विशेषताओं का अध्ययन किया जाए जो उसे पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तनों से पृथक् करती हैं। इन विशेषताओं का अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय विचारकों के दृष्टिकोण को समझने में सरलता होगी।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं–

(1) आध्यात्मिक झुकाव– प्राचीन भारतीय चिन्तन का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर था। उस समय लोग भौतिक सुखों की अपेक्षा आत्मा की साधना को जीवन का लक्ष्य मानते थे। राजा का कर्त्तव्य भी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना था जिसमें व्यक्ति विना किसी बाधा के आत्मा के उत्थान की साधना कर सके।

(2) राजनीति व धर्म का सम्बन्ध– भारतीय सचिन्तन के अनुसार राजनीति व धर्म का घनिष्ठ पारस्परिक सम्वन्ध रहा है। वेद, पुराण, उपनिषद, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत तथा गीता एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में धर्म व राजनीति का महत्वपूर्ण समन्वय मिलता है।

इन ग्रन्थों में राज्य को धर्म का प्रतिष्ठापक तथा रक्षक माना गया है। धार्मिक श्रद्धा के कारण ही प्रजा भी राजा तथा राज्य के प्रति स्वामिभक्ति रखती थी।

(3) राज्य के कार्यों का विवेचन– प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में राजा के कर्त्तव्यों का

उल्लेख किया गया है। उनमें राजा के पद की योग्यता, राजा के महत्व, राजधर्म की व्याख्या, कूटनीति व दण्डनीति आदि का विशद् विवेचन मिलता है।

(4) दण्डनीति का महत्व– प्राचीन राजनीतिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत दण्ड को अत्यन्त महत्व प्रदान किया गया है क्योंकि दण्ड ही व्यक्ति को सीमाओं में बाँधे रखता है। मनु ने कहा था कि **'दण्ड ही शासक है।'** कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी दण्डनीति को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है।

(5) संस्थाओं को महत्व– प्राचीन भारतीय राजनीतिक विद्वानों ने अपने अध्ययन का केन्द्र व्यक्ति को न बनाकर संस्थाओं को बनाया। उन्होंने संस्थाओं को आधार वनाकर ही राजनैतिक मान्यताओं व सिद्धान्तों की विवेचना की।

प्राचीन भारतीय राज्यों के कार्य

प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के उद्देश्य के अनुसार ही उसके कार्यों की भी विवेचना की। मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की साधना से मोक्ष प्राप्त करना था। अतः राज्य का कर्त्तव्य था कि वह राज्य के समस्त कार्यों व संगठनों को इसी दिशा में सक्रिय करे तथा दण्ड के माध्यम से मोक्ष मार्ग की बाधक शक्तियों को दूर करे।

राज्य के कार्य के सिद्धान्तों में धर्म को केन्द्रीय स्थान प्राप्त था। धर्म के पालन की दृष्टि से ही राज्य को अच्छा या बुरा समझा जाता था।

प्राचीन भारत में राज्य के कार्यों को निम्न भागों में बाँटा गया है–

(1) आवश्यक कार्य– आवश्यक कार्य वे थे जो समाज के संगठन की दृष्टि से किये जाते थे, जैसे वाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना, प्रजा के जान-माल की रक्षा करना, राज्य में शान्ति व व्यवस्था वनाये रखना, कर लगाना तथा न्याय का प्रवन्ध करना।

(2) ऐच्छिक कार्य– ये वे कार्य थे जो जन-कल्याण की दृष्टि से किये जाते थे किन्तु उन्हें सम्पन्न करना राज्य की इच्छा पर निर्भर था, जैसे शिक्षा की व्यवस्था, स्वास्थ्य व चिकित्सा की व्यवस्था, निर्धनों व दीन-हीनों की सहायता करना।

(3) अन्य कार्य– प्राचीन राज्य निम्न कार्य भी सम्पन्न करते थे–

(i) सभी धर्म व सम्प्रदायों को उनके मत पर चलने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करना।

(ii) समाज को धर्म पर चलाये रखना।

(iii) विद्वानों व कलाकारों का सम्मान व उनकी सहायता करना।

(iv) शिक्षण संस्थाओं की सहायता देकर ज्ञान-विज्ञान का प्रचार करना।

(v) समाज के लाभ के लिये धर्मशाला, चिकित्सालय आदि वनवाना।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्यों के कार्यों में स्वतन्त्रता व समानता का और व्यक्तिवाद और समाजवाद का अद्भुत समन्वय था।

प्राचीन राज्य धार्मिक होते हुए भी धर्म-निरपेक्ष थे। इसीलिये डॉ० एस० एन० मित्तल ने कहा है कि **"प्राचीन भारत में राज्य के कार्य व्यक्तिवादी कार्यों की सीमा से आगे बढ़े हुए थे किन्तु आधुनिक समाजवादी कार्यों की तुलना में कम थे।"**

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मनु का दृष्टिकोण

मनु व मनुस्मृति का परिचय– पौराणिक दृष्टि से मुन मानव जाति के जनक तथा विश्व के प्रथम विधिवेत्ता थे। राजा मनु द्वारा प्रकट किये गये विचार ही "मनुस्मृति" या 'मानव धर्मशास्त्र' के रूप में संग्रहीत हैं। इस प्रकार मनुस्मृति भारतीय कानून व राजनीति शास्त्र का सवसे प्राचीन ग्रन्थ है।

मनुस्मृति में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का विशद् विवेचन किया गया है। मनुस्मृति में राजधर्म की भी विस्तार से चर्चा की गई है। मनुस्मृति में कहा गया है कि आदिकाल में बलवानों से चराचर की रक्षा के लिए भगवान ने राजा की सृष्टि की। इससे राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।

मनु ने राजा के सात गुण बताये हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा माँ है, पिता है, उपदेशक है, रक्षक है, अग्नि है, वैश्रणव है तथा यम है। राजा के इन गुणों से राज्य के विभिन्न कर्त्तव्यों की व्यापकता का पता चलता है।

राज्य के कार्य-क्षेत्र– मनुस्मृति में राज्य के कार्य-क्षेत्र का भी वर्णन किया गया है। इसके अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य हैं– (1) राज्य में शान्ति बनाये रखना, (2) राज्य को बाह्य आक्रमण से मुक्त रखना, (3) जनता से सामान्य कानूनों को पालन करवाना तथा (4) सभी वर्णों से धर्म का पालन करवाना।

इन प्रमुख कार्यों के अतिरिक्त मनुस्मृति में राज्य के निम्न कार्यों का भी उल्लेख किया गया है–

(1) मूल्य नियन्त्रण के लिये कानून बनाना।
(2) वैश्यों को व्यापार की सुविधायें देना।
(3) शिक्षा का प्रबन्ध करना।
(4) सामूहिक, पारिवारिक व व्यावसायिक विवादों का निपटारा करना।
(5) पशु-पालन के लिए प्रोत्साहन देना।
(6) दण्ड धारण कर प्रजा की रक्षा करना तथा उसे न्याय देना।

राजा तथा उसके कर्त्तव्य– मनु ने निरंकुश राजा का समर्थन नहीं किया। उन्होंने राजा को भी अपने गुणों के अनुरूप आचरण करने का उपदेश देकर उसे स्वेच्छाचारी बनने से रोका है। मनुस्मृति में कहा गया है कि **"राजा को समझना चाहिये कि वह सदा धर्म के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। धर्म राजाओं तथा मनुष्यों पर समान रूप से शासन करता है।"**

मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा को चाहिये कि वह देश, काल, दण्ड, शक्ति आदि का विचार कर अपराधियों को शास्त्रानुसार दण्ड दे। जहाँ राजा स्वयं विवादों का निर्णय नहीं दे सकता, वहाँ वह योग्य विद्वानों को उस कार्य के लिये नियुक्त करे।

मनुस्मृति में प्रजा की रक्षा के लिए राजा द्वारा कर लेने को आवश्यक बताया गया है। **किन्तु राजा को कर न लेकर अपनी जड़ और अधिक कर लेकर प्रजा की जड़ नहीं उखाड़नी चाहिये।**

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कौटिल्य का दृष्टिकोण

कौटिल्य व उनके 'अर्थशास्त्र' का परिचय– कौटिल्य मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के महामन्त्री थे। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारकों में उनका अत्यन्त प्रमुख स्थान है। उन्हें शासन की कला, राजनीति तथा कूटनीति का महान प्रतिपादक माना जाता है। **'अर्थशास्त्र'** उनके द्वारा लिखा हुआ राजनीति शास्त्र का विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

कौटिल्य का ग्रन्थ **'अर्थशास्त्र'** उनकी महान् राजनीतिक बुद्धिमत्ता का निचोड़ है। बाण ने कहा है कि– **"कौटिल्य का अर्थशास्त्र कूटनीति का विज्ञान तथा कला है।"**

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य अकेले थे जिन्होंने राजनीति के विषय में स्वतन्त्र रूप से तथा धर्म से पृथक् करके लिखा है। इस सम्बन्ध में कृष्णराव ने कहा है कि–

"कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसने भारतीय स्वभाव और चरित्र की आध्यात्मिकता की ओर अधिक झुके होने की प्रवृत्ति के दोष को सुधारने का प्रयास किया।"

कौटिल्य का राजनीतिक दृष्टिकोण

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक कौटिल्य के राजनीतिक दृष्टिकोण तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं–

(1) जनकल्याण को प्रोत्साहन– कौटिल्य ने कहा है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और कल्याण में ही राजा का कल्याण है। जनकल्याण के कार्यों में उन्होंने कृषि की उन्नति, उद्योगों का विकास, शिक्षा व शिल्प कला को प्रोत्साहन, व्यापार व वाणिज्य को प्रोत्साहन आदि को सम्मिलित किया।

(2) कानून के अंग– कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार कानून के चार अंग हैं– (i) धर्म– जिसका आधार सत्य है। (ii) व्यवहार– जो साक्षियों पर आधारित है। (iii) चरित्र– वे नियम जो मनुष्यों में परम्परागत रूप से प्रचलित हैं। (iv) शासन– जो राजा द्वारा प्रचारित आज्ञायें हैं।

(3) धर्म का अर्थ– कौटिल्य ने धर्म के तीन अर्थ लिये हैं– (i) सामाजिक कर्त्तव्य, (ii) सत्य पर आधारित नैतिक कानून और, (iii) नागरिक कानून।

(4) कूटनीति– कौटिल्य का अर्थशास्त्र कूटनीति की चालों से भरा पड़ा है। किन्तु कौटिल्य ने कहा है कि इनका उपयोग केवल तभी किया जाये जबकि नैतिक उपाय प्रभावहीन बन जायें।

(5) राज्य– राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में कौटिल्य ने सामाजिक समझौते का समर्थन किया है। उन्होंने कहा है कि सामाजिक भलाई के लिए मनुष्यों को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

(6) राज्य का उद्देश्य– कौटिल्य के अनुसार राज्य का उद्देश्य है– (i) व्यक्ति को उसके पूर्ण विकास में सहायता देना, (ii) धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में सहायता देना, (iii) सुदृढ़ अर्थव्यवस्था स्थापित करना, (iv) आवागमन के साधनों, चरागाहों व वनों का विकास करना।

(7) न्याय-व्यवस्था– कौटिल्य ने अपराधियों को कठोर दण्ड देने का प्रावधान किया। उन्होंने कई प्रकार के न्यायालय बनाये।

(8) राज्य नियन्त्रण– कौटिल्य राज्य में उत्पादन, वितरण और उपभोग पर राज्य के नियन्त्रण के पोषक थे।

राज्य के कार्य
(Functions of the State)

वैसे तो प्राचीनकाल से ही राज्य कुछ न कुछ कार्य सम्पन्न करता रहा है किन्तु वर्तमान वैज्ञानिक एवं आर्थिक विकास के युग में राज्य के कार्यों का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से राज्य के कार्यों को हम निम्नलिखित दो भागों में बाँट सकते हैं–

(1) अनिवार्य या आवश्यक कार्य, और (2) ऐच्छिक कार्य।

अनिवार्य या आवश्यक कार्य

आवश्यक कार्य उन कार्यों को कहते हैं जो राज्य को अनिवार्य रूप से करने होते हैं। यदि राज्य इन कार्यों को न करे, तो उसका अस्तित्व तथा नागरिकों का जीवन खतरे में पड़ जायेगा। राज्य के अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं–

(1) देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा– राज्य का सबसे प्रमुख आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह देश के नागरिकों की तथा देश की सम्पत्ति की किसी भी बाह्य आक्रमण से रक्षा करे। जो

राज्य ऐसा नहीं करता, वह शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो बैठता है और परतन्त्र हो जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य को सुसंगठित जल, थल व नभ सेना रखनी चाहिये और उसे आधुनिकतम वाहनों एवं अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करना चाहिये।

(2) देश में आन्तरिक शान्ति बनाये रखना– बाह्य हमलों से देश की रक्षा के अतिरिक्त राज्य का यह भी आवश्यक कर्त्तव्य है कि देश में पूर्णतया शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखे जिससे कि नागरिक शान्तिपूर्ण जीवन बिता सकें, आन्तरिक दंगों व उपद्रवों को रोका जा सके और नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कोई क्षति न पहुँचे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य को एक सुसंगठित पुलिस-विभाग की स्थापना करनी चाहिये। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये कि पुलिस का जनता से सम्पर्क बना रहे, वह जनता की सही मानों में सेवा करे और किसी के भी प्रभाव में आकर अपराधियों को संरक्षण न दे।

(3) न्याय की समुचित व्यवस्था करना– राज्य का तीसरा आवश्यक कार्य है, जनता के लिये न्याय की समुचित व्यवस्था करना। इसका अर्थ है शान्ति भंग करने वालों तथा राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड मिले। जनता को न्याय प्रदान करने के लिये दीवानी तथा फौजदारी न्यायालय होने चाहिये। इन न्यायालयों को चाहिये कि वे व्यक्तियों के पारस्परिक अथवा राज्य के साथ उत्पन्न होने वाले झगड़ों के सम्बन्ध में बिना किसी भेदभाव, दवाव या पक्षपात के न्याय प्रदान करें।

(4) नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों का निर्धारण– राज्य का यह भी आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह इस बात का स्पष्ट रूप से निर्धारण कर दे कि उसके नागरिकों को कौन-कौन से सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये हैं तथा उन्हें किन-किन कर्त्तव्यों का पालन करना है। आज के प्रजातन्त्रीय युग में नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का भारी महत्व है और इनका निर्धारण किये विना नागरिक जीवन में दिन-प्रतिदिन नये-नये विवाद उत्पन्न होंगे और नागरिकों का जीवन संघर्षमय तथा अशान्तिमय हो जायेगा।

राज्य के अनिवार्य या आवश्यक कार्य

1. देश की वाह्य आक्रमणों से रक्षा करना
2. देश में आन्तरिक शान्ति वनाये रखना
3. न्याय की समुचित व्यवस्था करना
4. नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों का निर्धारण
5. कानून बनाना
6. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करना
7. मुद्रा का प्रवन्ध
8. कर-संग्रह करना।

(5) कानून बनाना– राज्य का यह भी आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह शासन-कार्य के समुचित संचालन के लिये तथा नागरिक जीवन को सरल व सुगम बनाने के लिये जनोपयोगी कानूनों का निर्माण करे। कानूनों के अभाव में देश के जीवन में बड़ा अनिश्चित स्थिति विद्यमान रहेगी और दिन-प्रतिदिन नई-नई समस्यायें एव विवाद उत्पन्न होंगे।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करना– आज के वैज्ञानिक युग में परिवहन के तीव्रगामी साधनों का विकास हो जाने के कारण विभिन्न देशों की दूरियाँ कम हो गई हैं। उधर आर्थिक दृष्टि से आज संसार का कोई भी देश पूर्णतया आत्मनिर्भर नहीं है और एक देश दूसरे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस स्थिति में राज्य का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह अन्य देशों के साथ अपने राजनीतिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों की स्थापना करे और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से कार्य करे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना विश्व-शान्ति की दृष्टि से बड़ी आवश्यक है।

(7) मुद्रा का प्रवन्ध– किसी भी देश की आर्थिक दशा तभी ठीक रह सकती है जबकि वहाँ की मुद्रा (Currency) पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण या स्वामित्व हो। राज्य अपने देश की

मुद्रा का टकसालों में निर्माण करता है। वह विदेशों के साथ भी अपनी मुद्रा-विनिमय की दर निश्चित करता है, जिससे विदेशों में भी राज्य की मुद्रा की साख बनी रहे। मुद्रा-व्यवस्था के लिये राज्य बैंक भी खोलता है। राज्य की मुद्रा पर एकमात्र तथा सम्पूर्ण नियन्त्रण भी राज्य की सम्प्रभुता बनाये रखने के लिये अति आवश्यक है। राज्य के अलावा मुद्रा ढालने और उसका प्रचलन करने की छूट किसी को भी नहीं दी जा सकती।

(8) कर-संग्रह करना– राज्यों के कार्यों को सम्पादित करने के लिंये प्रचुर धनराशि की आवश्यकता होती है। धन के अभाव में राज्य एक क्षण के लिये भी नहीं चल सकता। धन प्राप्ति के लिये राज्य अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर लगाता है। इन करों की वसूली का जितना अच्छा प्रबन्ध राज्य में होगा, उतनी ही सुगमता से राज्य को अनेक कार्य करने के लिये धन की प्राप्ति होगी। राज्य कर-संग्रह करने के लिये अनेक स्तरों पर कर्मचारियों का प्रबन्ध करता है।

ऐच्छिक कार्य

ऐच्छिक कार्य उन कार्यों को कहते हैं जो राज्य को अनिवर्य रूप से नहीं करने होते हैं और इन कार्यों को राज्य अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार सम्पन्न करता है। फिर भी यह वात नहीं भूली जानी चाहिये कि यदि कोई राज्य ऐच्छिक कार्यों के प्रति उपेक्षा भाव बरतता है, तो उस देश के नागरिकों को विकास के समुचित अवसर नहीं प्राप्त हो सकते। अतः राज्य का प्रयत्न यही होना चाहिये कि वह नागरिक जीवन को उन्नत बनाने के लिये अधिक से अधिक ऐच्छिक कार्यों को सम्पन्न करे।

राज्य के ऐच्छिक कार्यों की कोई एक सूची प्रस्तुत नहीं की जा सकती। ये तो राज्य की और देश के नागरिकों की आवश्यकता के अनुसार कम या अधिक हो सकते हैं। **फिर भी, राज्य के ऐच्छिक कार्यों में हम मोटे रूप से निम्न कार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं–**

(1) कृषि व उद्योगों का विकास– राज्य को चाहिये कि वह कृषि तथा उद्योगों के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दे। यदि देश कृषि-प्रधान देश है तो कृषि के विकास के लिये खेतों की चकबन्दी, सिंचाई के साधनों का प्रवन्ध, अच्छे बीज व खाद की व्यवस्था, कृषि-यन्त्रों की व्यवस्था, कृषकों के लिये ऋण की व्यवस्था आदि करे। साथ ही, देश में बड़े पैमान के तथा छोटे पैमाने के उद्योगों के सन्तुलित विकास के लिये भी वह प्रयत्न करे। कृषि व उद्योगों के विकास से देश समृद्ध होगा, गरीबी दूर होगी और नागरिकों का जीवन सुखी बनेगा।

(2) व्यापार की उन्नति– वर्तमान आर्थिक विकास के युग में राज्य को देशी व्यापार के विकास के लिए भी अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करनी चाहियें। सरकार को कानून बनाकर विदेशी माल की प्रतियोगिता से देश की बनी वस्तुओं को संरक्षण देना चाहिये। व्यापार की उन्नति होने से देश में धन का वितरण समान होगा और नागरिकों का जीवन-स्तर उन्नत होगा।

(3) परिवहन व संचार के साधनों की व्यवस्था– परिवहन व संचार के साधनों को देश की रक्त-वाहिनी नाड़ियाँ कहा जाता है। इनके समुचित विकास के बिना राष्ट्र का जीवन मृतकतुल्य हो जाता है। अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण देश में रेल, सड़कों आदि का जाल बिछा दे और डाक़, तार व टेलीफोन आदि संचार के सस्ते व सुलभ साधनों की व्यवस्था करे। इन साधनों के बिना नागरिकों का व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन उन्नत तथा सुखी नहीं हो सकता।

(4) शिक्षा की व्यवस्था– देश के बच्चों के लिये समुचित शिक्षा की व्यवस्था करना वर्तमान युग में राज्य का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है। शिक्षा के बिना व्यक्ति न तो अपना व्यक्तिगत विकास कर सकता है और न एक अच्छा नागरिक बनकर राष्ट्र की सेवा ही कर सकता है। अतः राज्य को चाहिये कि वह नागरिकों के लिये साधारण, व्यावसायिक, औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था करे।

राज्य के ऐच्छिक कार्य

1. कृषि व उद्योगों का विकास
2. व्यापार की उन्नति
3. परिवहन व संचार के साधनों की व्यवस्था
4. शिक्षा की व्यवस्था
5. सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा
6. समाज कल्याण के कार्य
7. बैंकिंग व मुद्रा का प्रबन्ध
8. राष्ट्रीय आय व धन का समान वितरण
9. किसानों व मजदूरों की रक्षा
10. वनों का प्रबन्ध
11. मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था
12. कला, साहित्य व विज्ञान को प्रोत्साहन
13. प्राकृतिक साधनों का विकास
14. अन्य कार्य।

(5) सफाई तथा स्वास्थ्य रक्षा– नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए राज्य का कर्त्तव्य है कि वह रोगों की रोकथाम का प्रबन्ध करे, समुचित चिकित्सा की सुविधायें दे, चीजों की मिलावट को रोके तथा पीने के लिए स्वच्छ जल का प्रबन्ध करे। इसी प्रकार नगरों व गाँवों में सफाई करने के लिये समुचित प्रबन्ध करे, पार्क बनवाने तथा रोशनी का प्रबन्ध करे।

(6) समाज-कल्याण के कार्य– नागरिकों के सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के लिये राज्य को समाज-कल्याण सम्बन्धी अनेक ऐसे कार्य करने चाहियें, जैसे कि पर्दा-प्रथा, छुआ-छूत आदि को दूर करना, मातृत्व व शिशु-कल्याण की व्यवस्था करना, समाज के दीनों व अपाहिजों की रक्षा करना, मालिकों द्वारा मजदूरों का शोषण होने से रोकना, मादक पदार्थों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाना आदि। राज्य द्वारा इन कार्यों को सम्पन्न करने से नागरिकों का जीवन सुखी व समृद्ध बनेगा तथा समाज के सभी वर्गों को विकास के समुचित अवसर प्राप्त होंगे।

(7) बैंकिंग व मुद्रा का प्रबन्ध– राज्य के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास के लिये यह भी आवश्यक है कि राज्य देश में एक सुसंगठित बैंकिंग व्यवस्था की स्थापना करे। इस कार्य द्वारा राज्य देश की आर्थिक स्थिति पर समुचित नियन्त्रण भी रख सकता है।

(8) राष्ट्रीय आय व धन का समान वितरण– राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह ऐसे कानून बनाये जिससे देश में उत्पादित धन व आय का लगभग समान रूप से वितरण हो। कहीं ऐसा न हो कि धनी और धनी होते जायें तथा गरीब और भी गरीब होते जायें। यदि ऐसा हुआ तो उत्पादन वृद्धि के बावजूद देश की जनता सुखी न रह सकेगी।

(9) किसानों व मजदूरों की रक्षा– राज्य को ऐसे कानूनों का निर्माण करना चाहिये कि जमींदार किसानों का और पूँजीपति मजदूरों को शोषण न कर सकें। मजदूरों के कार्य व कार्य करने की दशाओं आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट कानूनी व्यवस्थायें होनी चाहियें।

(10) वनों का प्रबन्ध– नागरिक जीवन को सुखी बनाने से राज्य को प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की आय हो सकती है। अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि वनों का अनुचित रूप से शोषण न हो और उनके प्रयोग की उचित व्यवस्था हो, ताकि पर्यावरण की समुचित सुरक्षा हो।

(11) मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था– नागरिक जीवन को सुखी बनाने में मनोरंजन का भी बड़ा महत्व है। मनोरंजन से मनुष्य थकावट से होने वाली क्षति को पूरा करता है। अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों के मनोरंजन के लिये पार्क, अखाड़े, सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन आदि की व्यवस्था करे। सिनेमा के सम्बन्ध में राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह विलासिता को प्रोत्साहन देने वाले अश्लील चित्र न बनने दे, अन्यथा ऐसे गन्दे मनोरंजन से नागरिकों का स्वास्थ्य एवं चरित्र दोनों ही खतरे में पड़ जायेंगे।

(12) कला, साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहन– राज्य अपने नागरिकों की संस्कृति और सभ्यता का भी पोषक है। नागरिकों के सांस्कृतिक उत्थान के लिये राज्य संगीत और ललित

कलाओं और साहित्य की उन्नति के लिये अकादमियों की स्थापना करता है। वह कलाकारों और साहित्यिकों को प्रोत्साहन देने के लिये इनके सम्मेलन बुलाता है और इन्हें पुरस्कृत करता है। विज्ञान की प्रगति पर सभ्यता की प्रगति निर्भर होती है। अतः राज्य वैज्ञानिकों को प्रशिक्षण और प्रोत्साहन देने के लिये विज्ञान संस्थान खोलता है और वैज्ञानिक ज्ञान का अन्य राष्ट्रों से आदान-प्रदान करता है।

(13) प्राकृतिक साधनों का विकास एवं नियन्त्रण– राज्य अपनी प्राकृतिक सम्पदा और खनिज साधनों का विकास एवं संरक्षण करता है। वह तेल, कोयला, खनिज धातुओं की खानों का विकास करके उनके उत्पादन की समुचित व्यवस्था करता है। देश की वन-सम्पदा, मछली पालन और प्राकृतिक साधनों से सम्बन्धित उद्योगों की समुचित व्यवस्था राज्य के द्वारा की जाती है।

(14) अन्य कार्य– उपर्युक्त कार्यों के अलावा राज्य को वे अन्य सभी कार्य करने चाहियें जिन्हें नागरिक स्वयं न कर सकते हों और जो स्वस्थ एवं सुखी नागरिक जीवन के विकास के लिये आवश्यक हों।

कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी राज्य में अन्तर

कल्याणकारी राज्य व समाजवादी राज्य दोनों का ही एक समान उद्देश्य है– पूँजीवाद के शोषण से मुक्ति दिलाकर समाज का अधिक से अधिक हित करना। यदि कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों का अधिकाधिक कल्याण करना चाहता है, तो समाजवादी राज्य का उद्देश्य भी समाज का अधिक से अधिक हित करना है।

किन्तु उद्देश्य समान होते हुए भी कार्यप्रणाली तथा कार्यों के क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों के बीच कुछ भेद हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है–

(1) पूँजीवाद से व्यवहार– समाजवादी राज्य पूँजीवाद को शोषण का मूल स्रोत मानता है। अतः वह उसका पूर्ण उन्मूलन चाहता है। किन्तु कल्याणकारी राज्य मानता है कि पूँजीवाद का पूर्णतया विनाश असम्भव है। अतः कल्याणकारी राज्य पूँजीपतियों का सहयोग लेकर तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाकर जनता का अधिक से अधिक कल्याण करना चाहता है।

उदाहरण के लिये, समाजवादी राज्य सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहता है, किन्तु कल्याणकारी राज्य महत्वपूर्ण उद्योगों को अपने हाथ में ले लेता है और अन्य उद्योग निजी व्यक्तियों के लिये छोड़ देता है।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता– समाजवाद सामाजिक हित के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को यथासम्भव समाप्त करने के पक्ष में है। समाजवाद में राज्य या समाज के मुकाबले व्यक्ति की इच्छा का कोई महत्व नहीं है, किन्तु कल्याणकारी राज्य सामाजिक हित और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच सन्तुलन रखता है और जन-कल्याण के लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक व नागरिक स्वतन्त्रता देने का समर्थक है।

(3) लोकतन्त्र– समाजवादी राज्य जब अपने मार्ग पर बहुत आगे बढ़ जाता है तो एक वर्ग-विशेष या दल-विशेष की तानाशाही का रूप धारण कर लेता है। किन्तु लोक-कल्याणकारी राज्य और लोकतन्त्र का अटूट सम्बन्ध है। एक-दूसरे के बिना दोनों का अस्तित्व नहीं। अतः लोक-कल्याणकारी राज्य समाजवादी राज्य के मुकाबले अधिक प्रजातन्त्रीय होता है।

कल्याणकारी राज्य व समाजवादी राज्य में अन्तर

1. पूँजीवाद से व्यवहार
2. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता
3. लोकतन्त्र
4. कार्यक्षेत्र
5. राजकीय पूँजीवाद
6. राज्यवाद
7. धर्म।

(4) कार्यक्षेत्र– समाजवादी राज्य का कार्यक्षेत्र मुख्यतः आर्थिक होता है, किन्तु कल्याणकारी राज्य का कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है। कल्याणकारी राज्य आर्थिक कार्यों के अलावा अन्य सभी कार्यों को भी अपने हाथ में ले लेता है; जैसे कि समाज सुधार, मद्य-निषेध, सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति, छुआछूत की रोकथाम, जाति-प्रथा की समाप्ति, निर्बलों की सहायता, कल्याणकारी शिक्षा की व्यवस्था, नैतिक उन्नति के साधनों की व्यवस्था आदि।

(5) राजकीय पूँजीवाद– समाजवादी राज्य कृषि, उद्योग, व्यापार व व्यवसाय आदि सभी आर्थिक कार्यों को पूर्णतः अपने हाथ में लेना चाहता है। जब भी ये कार्य पूर्णतः राज्य के हाथ में आ जाते हैं, तो एक प्रकार से राजकीय पूँजीवाद ही वन जाता है, अर्थात् व्यक्तिगत पूँजीवाद के स्थान पर राजकीय पूँजीवाद स्थापित हो जाता है।

किन्तु लोक-कल्याणकारी राज्य महत्वपूर्ण आर्थिक कार्यों को अपने हाथ में लेता है और कुछ आर्थिक कार्य निजी व्यक्तियों के लिये भी छोड़ता है। इस प्रकार लोक-कल्याणकारी राज्य किसी भी प्रकार के एकाधिकारवाद या पूँजीवाद से बचा रहता है।

(6) राज्यवाद– समाजवाद में राज्य के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण वह **'समाजवाद'** (Socialism) न रहकर **'राज्यवाद'** (Statism) वन जाता है। किन्तु लोक-कल्याणकारी राज्य का स्वरूप सदा ही लोकतन्त्रीय बना रहता है।

(7) धर्म– समाजवाद धर्म का कट्टर विरोधी है। जबकि कल्याणकारी राज्य धर्म का विरोध न करके धर्मनिरपेक्षता की नीति अपनाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उद्देश्यों में समानता होते हुये भी कार्यक्षेत्र व कार्य-प्रणाली की दृष्टि से समाजवादी राज्य और कल्याणकारी राज्य में अन्तर पाया जाता है। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि समाजवादी राज्य में व्यक्ति पूर्णतः राज्य के अधीन हो जाता है और हर बात के लिये राज्य का मुँह ताकता है, किन्तु कल्याणकारी राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विकास हो सके।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) राज्य के कार्यों की विवेचना कीजिये। कल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं ? **(1971)**

(2) राज्य के कार्यों के प्रत्ययवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। **(1975)**

(3) टिप्पणी लिखिये–

(i) राज्य के अनिवार्य कर्त्तव्य। **(1966)**

(ii) कल्याणकारी राज्य। **(1974, 80, 90, 93)**

(iii) राज्य के कार्यों का व्यक्तिवादी सिद्धान्त। **(1985)**

(iv) मनु तथा कौटिल्य।

(v) राज्य के कार्यों का समाजवादी सिद्धान्त। **(1990)**

(vi) कौटिल्य के मतानुसार राज्य के कार्य। **(1993)**

(4) लोक-कल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं ? इसमें तथा समाजवादी राज्य में क्या भेद हैं ? **(1978)**

(5) राज्य के कार्यों में व्यक्तिवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। इसके विरुद्ध दिये गये तर्कों का उल्लेख कीजिये। **(1974, 81, 90)**

(6) राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

(1973, 77, 80, 84, 88, 90, 91)

(7) राज्य के कार्यों के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। व्यक्तिवाद आधुनिक युग के लिये कहाँ तक उपयुक्त है ?

(1986)

(8) कल्याणकारी राज्य पर एक निबन्ध लिखिये।

(1987, 92)

[संकेत– इस प्रश्न के उत्तर में कल्याणकारी राज्य की परिभाषा तथा लक्षणों के अतिरिक्त संक्षेप में राज्य के अनिवार्य व ऐच्छिक कार्यों का उल्लेख कीजिए।]

(9) राज्य की परिभाषा कीजिये। उसके आवश्यक एवं ऐच्छिक कार्य क्या हैं ? (1993)

(10) समाजवाद के मूल तत्वों की व्याख्या कीजिए। (1993)

(11) प्रत्ययवाद की विशेषताओं का परीक्षण कीजिये। (1994)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कौन-कौन से सिद्धान्त प्रचलित हैं ?

उत्तर– राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में प्रमुख प्रचलित सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(i) व्यक्तिवादी सिद्धान्त, (ii) प्रत्ययवादी या आदर्शवादी सिद्धान्त, (iii) समाजवादी सिद्धान्त, (iv) लोक कल्याणकारी सिद्धान्त।

प्रश्न 2— राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर– एडम स्मिथ, मिल, स्पेन्सर आदि इस सिद्धान्त के समर्थक थे। उनके अनुसार, राज्य एक अनिवार्य बुराई है। व्यक्ति साध्य (end) है और राज्य साधन (means) है। राज्य एक अयोग्य संस्था है। उसे अधिक कार्य नहीं सौंपे जाने चाहिए।

प्रश्न 3— राज्य के कार्यों के व्यक्तिवादी और समाजवादी सिद्धान्त में प्रमुख अन्तर बताइये।

उत्तर– व्यक्तिवादी और समाजवादी सिद्धान्त में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं–

(i) व्यक्तिवादी राज्य को न्यूनतम कार्य सौंपना चाहते हैं, तो समाजवादी अधिक से अधिक कार्य सौंपने के समर्थक हैं।

(ii) व्यक्तिवादी पूँजीवादी प्रथा के समर्थक हैं किन्तु समाजवादी उसे जड़मूल से उखाड़ने के समर्थक हैं।

(iii) व्यक्तिवादी स्वतन्त्र प्रतियोगिता के समर्थक हैं तो समाजवादी योजनाबद्ध उत्पादन के समर्थक हैं।

प्रश्न 4— राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धान्त के प्रमुख दोष बताइये।

उत्तर– (i) समाजवादी राज्य में सरकार की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

(ii) इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। फलतः उसकी व्यक्तिगत क्षमता घट जाती है।

(iii) राज्य को अधिक कार्य सौंपे जाने से व्यक्ति परावलम्बी तथा राज्य का दास बन जाता है।

(iv) समाजवाद धर्म का विरोधी है। फलतः उसके राज्य में नैतिकता का स्तर गिर जाता है।

प्रश्न 5— कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण या लाभ बताइये।

उत्तर– कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं–

(i) कल्याणकारी राज्य पूर्णतः लोकतन्त्रीय होता है।

(ii) यह नागरिकों के लिए न्यूनतम जीवन स्तर तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करता है।

(iii) कल्याणकारी राज्य साम्यवाद व पूँजीवाद जैसी दो चरम स्थितियों के बीच का व्यावहारिक मार्ग अपनाता है।

(iv) यह जनता के लिए अनेक कल्याणकारी कार्य करता है।

प्रश्न 6— राज्य के अनिवार्य कार्य क्या हैं ?

उत्तर– राज्य के अनिवार्य कार्य हैं– बाहरी आक्रमण से रक्षा करना, देश में आन्तरिक शान्ति की स्थापना करना, न्याय की उचित व्यवस्था करना, मुद्रा का प्रबन्ध करना, कर-संग्रह करना तथा विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करना।

प्रश्न 7— राज्य के प्रमुख ऐच्छिक कार्य क्या हैं ?

उत्तर– राज्य के प्रमुख ऐच्छिक कार्य हैं– शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा तथा मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करना, उद्योग व व्यापार पर नियन्त्रण करना, आवागमन के साधनों की व्यवस्था करना, प्राकृतिक साधनों का विकास करना, सामाजिक बुराइयों को दूर करना तथा आर्थक उन्नति करना।

प्रश्न 8— समाजवादी व लोककल्याणकारी राज्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर– (i) समाजवादी राज्य का कार्य क्षेत्र मुख्यतः आर्थिक होता है किन्तु कल्याणकारी राज्य आर्थिक कार्यों के अलावा अन्य कार्य भी करता है; जैसे समाज सुधार, कल्याणकारी शिक्षा, निर्बलों की सहायता।

(ii) समाजवाद पूँजीवाद का कट्टर विरोधी है किन्तु कल्याणकारी राज्य पूँजीपतियों का सहयोग लेकर मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाकर जनता का अधिक से अधिक कल्याण करना चाहता है।

(iii) समाजवादी राज्य कुछ समय बाद राजकीय पूँजीवाद व तानाशही का रूप धारण कर लेता है किन्तु लोक-कल्याणकारी राज्य का लोकतन्त्र से अटूट सम्बन्ध है।

प्रश्न 9— मनु के अनुसार राज्य के कार्य क्या हैं ?

उत्तर– प्राचीन विचारक मनु के अनुसार राज्य के कार्य हैं– (i) राज्य को बाह्य आक्रमण से मुक्त रखना, (ii) राज्य में शान्ति बनाये रखना, (iii) जनता से सामान्य कानूनों का पालन कराना, (iv) सभी वर्णों से धर्म का पालन कराना, (v) मूल्य नियन्त्रण के लिये कानून बनाना, (vi) सामूहिक, पारिवारिक व व्यावसायिक विवादों का निपटारा करना, (vii) दण्ड धारण कर प्रजा को न्याय देना।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— वर्तमान समय में राज्य जिन ऐच्छिक कार्यों को करता है, उनमें से दो के नाम बताइये।

उत्तर– (i) शिक्षा की व्यवस्था, (ii) प्राकृतिक साधनों का विकास।

प्रश्न 2— राज्य के कार्यों के दो सिद्धान्तों के नाम बताइये।

उत्तर– (i) समाजवादी सिद्धान्त, (ii) कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त।

प्रश्न 3— 'राज्य एक अनिवार्य बुराई है।' इस विचार के समर्थक एक लेखक का नाम बताइये।

उत्तर– फ्रीमैन।

प्रश्न 4— कार्ल मार्क्स का सम्बन्ध राज्य के कार्यों के किस सिद्धान्त से है ?

उत्तर– समाजवादी सिद्धान्त से।

प्रश्न 5— राज्य के दो अनिवार्य या प्रमुख कार्य बताइये। (1984, 90, 91)

उत्तर– (i) वाह्य आक्रमण से रक्षा करना, (ii) कानून बनाना।

प्रश्न 6— किस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई या दोष है ? (1986, 90)

उत्तर– व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अनुसार।

प्रश्न 7— समाजवाद व व्यक्तिवाद में क्या प्रमुख अन्तर है ? (1986)

उत्तर– व्यक्तिवाद व्यक्ति के हित को प्रमुखता देता है, समाजवाद समाज के हित को सर्वोपरि मानता है।

प्रश्न 8— वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कौन है ? (1986, 90)

उत्तर– जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् कार्ल मार्क्स।

प्रश्न 9— कौन-सा सिद्धान्त राज्य के उन्मूलन के पक्ष में है ? (1990)

उत्तर– अराजकतावादी सिद्धान्त।

प्रश्न 10— लोक-कल्याणकारी राज्य के दो उदाहरण दीजिये। (1990)

उत्तर– भारत व जापान लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रमुख उदाहरण हैं।

प्रश्न 11— प्रत्ययवाद और व्यक्तिवाद में मुख्य अन्तर क्या है ? (1991)

उत्तर– प्रत्ययवाद राज्य को साध्य मानता है और व्यक्तिवाद राज्य को साधन मानता है।

प्रश्न 12— राज्य के कार्यों से सम्बन्धित व्यक्तिवादी सिद्धान्त के दो समर्थकों के नाम लिखिये। (1991)

उत्तर– व्यक्तिवादी सिद्धान्त के दो समर्थक हैं–

(i) एडम स्मिथ, (ii) मिल।

प्रश्न 13— राज्य के कार्य से सम्बन्धित प्रत्ययवादी विचारधारा की दो विशेषतायें लिखिये। (1992)

उत्तर– (i) राज्य एक नैतिक संस्था है।

(ii) राज्य साध्य है, साधन नहीं।

प्रश्न 14– लोक कल्याणकारी राज्य का कोई एक कार्य बताइये।

उत्तर– शिक्षा की व्यवस्था करना।

□□

13 सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता या सार्वभौमिकता (Sovereignty)

"प्रभुसत्ता राज्य की आत्मा है। इसके विना राज्य एक निर्जीव शरीर के समान है।" —जैन तथा सेठी

इस अध्याय में क्या है ?

(1) सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता का अर्थ, (2) सम्प्रभुता की कुछ परिभाषायें, (3) सम्प्रभुता के लक्षण या विशेषतायें, (4) सम्प्रभुता की सीमायें या प्रतिवन्ध, (5) सम्प्रभुता के विविध रूप या प्रकार, (6) सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता के बीच सम्बन्ध, (7) ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त– व्याख्या, विशेषतायें तथा आलोचना, (8) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (9) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता या सार्वभैमिकंता (Sovereignty) राज्य का एक आवश्यक तत्व है। सम्प्रभुता ही वह तत्व है जो राज्य और अन्य समुदायों के बीच भेद करता है। सम्प्रभुता के कारण ही राज्य देश के अन्दर सर्वोपरि होता है और विदेशी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र होता है। सम्प्रभुता के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्प्रभुता के माध्यम से ही राज्य अपने सभी कर्त्तव्यों का सम्पादन करता है, सम्पूर्ण जनता तथा क्षेत्र पर नियन्त्रण रखता है।

सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता का अर्थ (Meaning of Sovereignty)

सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता राज्य की उस सर्वोच्च शक्ति का नाम है जिसके द्वारा वह देश में स्थित सभी व्यक्तियों तथा समुदायों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखता है और सबको अपनी आज्ञापालन करने के लिये बाध्य करता है। यदि वे आज्ञा न मानें तो कठोर दण्ड भी दे सकता है। राज्य का यह गुण ही उसकी सम्प्रभुता कहलाता है।

राज्य की प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र है और उस पर किसी भी प्रकार का कोई आन्तरिक या बाह्य नियन्त्रण नहीं है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य पर किसी भी आन्तरिक या बाह्य शक्ति का नियन्त्रण नहीं होता। इस प्रकार, प्रभुसत्ता के दो अंग या पक्ष हैं– (1) आन्तरिक नियन्त्रण से मुक्ति या आन्तरिक प्रभुसत्ता तथा (2) बाह्य नियन्त्रण से मुक्ति या बाह्य प्रभुसत्ता।

(1) आन्तरिक नियन्त्रण से मुक्ति अथवा आन्तरिक प्रभुसत्ता से आशय है कि राज्य में स्थित सभी व्यक्ति तथा समुदाय राज्य के अधीन हैं। सभी लोग राज्य की आज्ञाओं व उसके कानूनों का पालन करेंगे। कानूनों का उल्लंघन करने पर राज्य उन्हें दण्डित कर सकेगा। (2) बाह्य नियन्त्रण से मुक्ति अथवा बाह्य प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और वह किसी भी बाहरी शक्ति की आज्ञापालन करने को बाध्य नहीं है। कोई भी बाहरी देश अथवा शक्ति उसके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।

इस प्रकार, आन्तरिक तथा बाह्य मामलों में स्वतन्त्र तथा किसी भी नियन्त्रण से मुक्त रहने की सर्वोच्च शक्ति को ही प्रभुसत्ता या राज्यसत्ता कहा जाता है।

सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता की कुछ परिभाषायें (Definitions of Sovereignty)

विभिन्न लेखकों द्वारा दी गई सम्प्रभुता की कुछ परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) विलोबी के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।"

"Sovereignty is the supreme will of the state." —Willoughby

(2) बर्गेस के अनुसार, "सम्प्रभुता वह मौलिक, पूर्ण तथा असीमित शक्ति है जो राज्य को व्यक्तियों तथा उसके समुदायों पर प्राप्त होती है।"

"It is the original, absolute and unlimited power over individual subjects and over all associations of subjects."

—Burgess

(3) बोदां के शब्दों में, "सम्प्रभुता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कोई वैधानिक नियन्त्रण नहीं है।"

"Sovereignty is the supreme power of the state over citizens and subjects unrestrained by laws."

—Bodin

(4) ग्रोशियस के अनुसार, "सम्प्रभुता उस व्यक्ति में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य अन्य किसी के अधीन न हों तथा जिसकी इच्छा का उल्लंघन न किया जा सकता हो।"

"Sovereignty is the supreme political power vested in him whose acts are not subject to any other and whose will can not be overridden." **—Grotious**

(5) जैलिनिक के अनुसार, "प्रभुसत्ता राज्य का वह गुण है, जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति से प्रतिबन्धित नहीं है।"

"It is that characteristic of the state by virtue of which it can not be bound except by its own will or limited by any power other than itself." **—Jellinek**

उपर्युक्त, सभी परिभाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्दों में एक ही बात व्यक्त की गई है कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। परन्तु इनमें से किसी भी परिभाषा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि इन परिभाषाओं में सम्प्रभुता के केवल एक पहलू (आन्तरिक सम्प्रभुता) को ही प्रकट किया गया है। सम्प्रभुता के दूसरे पहलू (वाह्य सम्प्रभुता) का इनमें कोई उल्लेख नहीं है।

अतः सम्प्रभुता के इन दोनों ही पहलुओं या पक्षों को दृष्टिगत रखते हुए सम्प्रभुता की निम्न परिभाषा की जा सकती है–

"सम्प्रभुता राज्य की उस उच्चतम शक्ति का नाम है जो राज्य को सर्वोपरि अधिकार प्रदान करती है और जिसकी विद्यमानता में राज्य सभी व्यक्तियों, नागरिकों व समुदायों पर नियन्त्रण रखता है तथा किसी भी आन्तरिक अथवा बाह्य सत्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्र अथवा मुक्त होता है।"

सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता के लक्षण या विशेषतायें–
(Characteristics of Sovereignty)

राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने प्रभुसत्ता के निम्नलिखित लक्षणों या विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(1) सर्वोच्चता– राज्य की प्रभुसत्ता सर्वोच्च होती है। राज्य के अन्दर अथवा उससे वाहर राज्य से बड़ी या उस पर शासन करने वाली कोई शक्ति या सत्ता नहीं होती। कोई भी आन्तरिक या वाह्य शक्ति राज्य की प्रभुसत्ता को प्रतिवन्धित नहीं कर सकती। यदि कोई शक्ति प्रभुसत्ता को सीमित करती है तो वह सीमित करने वाली सत्ता ही प्रभुसत्ता बन जाती है। प्रभुसत्ता अपनी इच्छानुसार नियमों व कानूनों का निर्माण करने के लिये स्वतन्त्र होती है।

ऑस्टिन के शब्दों में, "सम्प्रभुता अन्य सभी से आदेश पालन कराने की स्थिति में होती है, किन्तु स्वयं किसी का आदेश पालन करने की अभ्यस्त नहीं होती।"

कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रभुसत्ता नैतिक विचारों, दैवी सिद्धान्त, विद्रोह के भय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों आदि से प्रतिबन्धित अथवा सीमित होती है, परन्तु वास्तविकता यह है कि ये प्रतिबन्ध अनिवार्य नहीं हैं। इनको मानना अथवा न मानना प्रभुसत्ता की इच्छा पर निर्भर होता है। अतः प्रभुसत्ता एक सर्वोच्च शक्ति है।

सम्प्रभुता के लक्षण

1. सर्वोच्चता
2. व्यापकता
3. अविभाज्यता
4. स्थिरता
5. अदेयता
6. मौलिकता।

(2) व्यापकता– प्रभुसत्ता या राजसत्ता राज्य की सीमाओं के अन्दर पूर्ण रूप से फैली होती है। राज्य के निश्चित भू-भाग के अन्तर्गत जितने भी व्यक्ति या समुदाय रहते हैं, सबको प्रभुसत्ता के नियमों का पालन करना होता है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य अपनी इच्छा से भले ही राजदूत आदि किसी व्यक्ति-विशेष को कुछ विशिष्ट अधिकार प्रदान कर दे या नियमों के पालन में छूट दे दे, परन्तु कोई भी व्यक्ति या समुदाय राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होने अथवा उसकी आज्ञा न मानने का दावा नहीं कर सकता।

(3) अविभाज्यता– अविभाज्यता प्रभुसत्ता का एक प्रमुख गुण है। इसका अर्थ है, कि प्रभुसत्ता का विभाजन नहीं हो सकता अर्थात् एक राज्य में केवल एक ही प्रभुसत्ता रह सकती है, एक से अधिक नहीं। प्रभुसत्ता का विभाजन या अन्त होने से राज्य का ही अन्त हो जाता है। सरकार के कार्यों का बँटवारा हो सकता है, किन्तु प्रभुसत्ता का नहीं।

गेटल ने ठीक ही कहा है कि, **"यदि प्रभुसत्ता असीमित नहीं है, तो राज्य का अस्तित्व नहीं है और यदि प्रभुसत्ता विभाजित है, तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व है।"**

"If sovereignty is not absolute, no state exists; if sovereignty is divided, more than one state exists."

—Gattell

कोल्हन के शब्दों में, **"सम्प्रभुता एक पूर्ण वस्तु है, उसको बाँटना उसे नष्ट करना है। यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। जिस प्रकार एक अर्द्ध-वर्ग या अर्द्ध-त्रिभुज की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अर्द्ध-सम्प्रभुता की कल्पना नहीं की जा सकती।"**

"Sovereignty is an entire thing; to divide it is to destroy it. It is the supreme power in a state and we might not just as well speak of half a square or half a triangle as of half a sovereignty."

—Calhoun

(4) स्थिरता– स्थिरता प्रभुसत्ता का चौथा गुण है। प्रभुसत्ता राज्य का एक स्थायी तत्व है। राज्य तथा प्रभुसत्ता के बीच अटूट सम्बन्ध है। प्रभुसत्ता स्थायी होती है, वह नष्ट नहीं होती। यदि कोई सरकार नष्ट होती है, तो भी प्रभुसत्ता नष्ट नहीं होती बल्कि वह उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति में सरकार में तो परिवर्तन हो जाता है, किन्तु प्रभुसत्ता स्थिर रहती है।

(5) अदेयता– राज्य अपनी प्रभुसत्ता किसी दूसरे को नहीं दे सकता। राज्य और प्रभुसत्ता का शरीर और आत्मा जैसा सम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर से आत्मा के अलग हो जाने पर शरीर निर्जीव तथा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्रभुसत्ता के चले जाने पर राज्य नष्ट अथवा परतन्त्र हो जाता है। इस प्रकार प्रभुसत्ता को राज्य से पृथक् नहीं किया जा सकता।

लीवर ने कहा है कि, **"प्रभुसत्ता को राज्य से उसी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता जिस प्रकार वृक्ष अपने उगने की शक्ति को पृथक् नहीं कर सकता और मनुष्य अपना नाश किये बिना अपनी आत्मा को पृथक् नहीं कर सकता।"**

(6) मौलिकता– सम्प्रभुता मौलिक होती है, अन्य किसी के द्वारा प्रदत्त नहीं होती। प्रभुसत्ता

का अस्तित्व स्वयं अपने ही अधिकार से है। यदि वह किसी के द्वारा प्रदत्त होगी, तो प्रदत्त करने वाली शक्ति उससे उच्चतर हो जायेगी।

सम्प्रभुता की सीमायें या प्रतिबन्ध
(Limitations on Sovereignty)

यद्यपि वैधानिक दृष्टि से प्रभुसत्ता किसी भी आन्तरिक अथवा वाह्य नियन्त्रण से मुक्त होती है, किन्तु अन्य दृष्टिकोणों से प्रभुसत्ता पर कुछ प्रतिवन्ध लगाकर उसे सीमित किया जा सकता है। **सम्प्रभुता पर लगाई जाने वाली सीमायें अथवा प्रतिबन्ध निम्न प्रकार हैं–**

(1) लोकमत– कोई भी राज्य लोकमत की उपेक्षा करके अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सकता। प्रजातन्त्रीय शासन में राज्य की प्रभुसत्ता पर लोकमत का भारी प्रभाव पड़ता है। जो राज्य लोकमत की अवहेलना करते हैं, उनकी प्रभुसत्ता को खतरा उत्पन्न हो जाता है।

(2) रीति-रिवाज व प्रथायें– कोई भी राजसत्ता देश के रीति-रिवाजों तथा सामाजिक व धार्मिक प्रथाओं की उपेक्षा नहीं कर सकती। उसे इनका ध्यान रखना ही होता है। उदाहरण के लिये, दिल्ली की रामलीला में प्रतिवर्ष राष्ट्रपति महोदय जाकर भगवान राम का तिलक करते हैं और रीतियों को निभाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रीति-रिवाजों से प्रभुसत्ता सीमित होती है।

(3) अन्य संस्थाओं व समुदायों का अधिकार– राज्य में अन्य भी अनेक संस्थायें तथा समुदाय होते हैं जिन्हें कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य को इन मौलिक अधिकारों का अवश्य ध्यान रखना होता है, जिसके कारण उसकी प्रभुसत्ता सीमित हो जाती है।

प्रायः देखा जाता है कि कई यूनियन हड़ताल की धमकी देकर राज्य की इच्छा के विपरीत अपनी माँगें मनवा लेती हैं। राजनीतिक दल आन्दोलन से सरकार को झुका देते हैं। इसीलिये लॉस्की ने कहा है कि, **"अपने-अपने क्षेत्र में सभी समुदाय स्वयं राज्य से कम सम्प्रभु नहीं हैं।"**

(4) नैतिकता के नियम– राज्य को देश की नैतिकता के स्तर का भी ध्यान रखना होता है। उदाहरण के लिये, हमारे देश में सन् 1972 तक गर्भपात को अनैतिक माना जाता था। अतः परिवार नियोजन का दृढ़ समर्थक होते हुए भी राज्य ने आजादी के वाद 25 वर्ष तक गर्भपात को कानूनी मान्यता प्रदान नहीं की। इस प्रकार स्पष्ट है कि नैतिकता की मान्यताओं से प्रभुसत्ता सीमित होती है।

(5) कानून– यद्यपि एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य स्वयं ही कानूनों का निर्माण करता है जिनका पालन देश की सम्पूर्ण जनता करती है, किन्तु कानूनों का निर्माण हो जाने के पश्चात् प्रभुसत्ता स्वयं भी उन कानूनों से वँध जाती है और उसे विवश होकर उनका पालन करना होता है। उदाहरण के लिये, भारत में संविधान में नागरिकों को कुछ स्वतन्त्रतायें प्रदान की गई हैं। यदि राज्य इन स्वतन्त्रताओं का स्वयं ही अपहरण करता है, तो नागरिक न्यायालय में चुनौती देकर उसे ऐसा करने से रोक देते हैं। इस प्रकार वने हुए कानून भी प्रभुसत्ता को प्रतिबन्धित करते हैं।

प्रभुसत्ता की सीमायें

1. लोकमत
2. रीति-रिवाज व प्रथायें
3. संस्थाओं व समुदायों के अधिकार
4. नैतिकता के नियम
5. कानून
6. प्राकृतिक नियम
7. अन्तर्राष्ट्रीय नियम
8. संघीय शासन में।

(6) प्राकृतिक नियम– राजसत्ता प्राकृतिक दशाओं व प्राकृतिक नियमों का भी उल्लंघन नहीं कर सकती। उसे अपने नियम प्राकृतिक नियमों का ध्यान रखते हुए ही वनाने होते हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में 1972 आम चुनाव फरवरी में हुए। परन्तु पहाड़ी भागों में अधिक ठण्ड पड़ने के कारण राज्य को वाद में चुनाव कराने पड़े।

डायसी का भी मत है कि, **"सम्प्रभुता प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती है।"**

(7) अन्तर्राष्ट्रीय नियम– अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा नियमों के कारण भी राजसत्ता सीमित होती है। देश में कानून बनाते समय तथा देशी एवं विदेशी नीतियों का निर्धारण करते समय राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय लोक मत का भी ध्यान रखना होता है, क्योंकि आजकल विभिन्न राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य राष्ट्रों पर इतने अधिक निर्भर होते हैं कि वे उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये, भारत में अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार करते समय राजसत्ता इस बात का भी ध्यान रखती है कि इसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया क्या होगी ?

(8) संघीय शासन में– संघीय शासन में पूर्ण सम्प्रभुता केन्द्र सरकार में ही निहित न होकर, केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच विभाजित होती है। ऐसे भी उदाहरण हैं जव राज्य केन्द्र के निर्णय को अस्वीकार कर देते हैं। **उदाहरण के लिये,** संविधान के कुछ संशोधन तभी कानून वनते हैं, जवकि आधे से अधिक राज्य उन पर अपनी स्वीकृति दे दें।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रभुसत्ता के अधिकार भी असीमित नहीं होते। उनकी भी सीमायें होती हैं, प्रतिवन्ध होते हैं। परन्तु इन प्रतिवन्धों को मानने या न मानने के लिये राजसत्ता स्वतन्त्र होती है। इन प्रतिवन्धों को मानने के लिये उसे कानूनन वाध्य नहीं किया जा सकता।

सम्प्रभुता के विविध रूप या प्रकार
(Different Kinds of Sovereignty)

यद्यपि प्रभुसत्ता का विभाजन नहीं हो सकता, किन्तु विभिन्न विद्वानों ने चूँकि प्रभुसत्ता अथवा सम्प्रभुता का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है, अतः इसके अनेक स्वरूप हो जाते हैं। प्रभुसत्ता के विभिन्न स्वरूप निम्न प्रकार हैं–

(1) नाममात्र की तथा वास्तविक सम्प्रभुता– कुछ देशों में प्रभुसत्ता वहाँ के राजा, सम्राट या राष्ट्रपति में निहित होती है और शासन का समस्त कार्य उसके नाम से किया जाता है। किन्तु फिर भी उस प्रभुसत्ता का प्रयोग वह राजा या राष्ट्रपति स्वयं नहीं करता, उसका प्रयोग मन्त्रिमण्डल या संसद करती है। राजा या राष्ट्रपति केवल नाममात्र के लिये ही प्रभुता सम्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में सम्राट नाममात्र का शासक है, वास्तविक प्रभुसत्ता पार्लियामेंट के हाथों में है। भारत में भी राष्ट्रपति नाममात्र का शासक है, वास्तविक राजसत्ता संसद में निहित है।

(2) कानूनी सम्प्रभुता– उस सत्ता को कानूनी प्रभुसत्ता कहा जाता है जिसे सम्पूर्ण राज्य के लिये कानूनों को वनाने का अधिकार प्राप्त होता है। देश के प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसके कानूनों का पालन करना अनिवार्य होता है। न्यायालय भी उन कानूनों को मान्यता देते हैं। ऐसी कानूनी अथवा वैधानिक प्रभुसत्ता इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट में निहित है।

(3) राजनीतिक सम्प्रभुता– राजनीतिक प्रभुसत्ता का अस्तित्व प्रजातन्त्रीय राज्यों में पाया जाता है। इस प्रकार की प्रभुसत्ता देश के मतदाताओं में निहित होती है। राजनीतिक प्रभुसत्ता से सम्पन्न मतदाता चाहे स्वयं कानून न वना सकें और न्यायालय भले ही उनकी इच्छाओं की उपेक्षा करें, किन्तु कानून बनाने वाली संसद उनकी इच्छाओं व आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं कर सकती अन्यथा वे (मतदाता) चुनाव में संसद के सदस्यों को उलट-पुलट कर संसद (वैधानिक प्रभुसत्ता) का रूप ही वदल सकते हैं। इस प्रकार, राजनीतिक प्रभुसत्ता कानूनी प्रभुसत्ता से भी अधिक बलशाली होती है।

गिलक्राइस्ट के अनुसार, **"राजनीतिक सम्प्रभुता उन समस्त प्रभावों का योग है जो राज्य के कानूनों के पीछे निहित हैं।"**

"Political sovereignty is the sum total of the influences in a state which lie behind the law."

—Gilchrist

सम्प्रभुता के विभिन्न स्वरूप

1. नाममात्र की तथा वास्तविक सम्प्रभुता
2. कानूनी सम्प्रभुता
3. राजनीतिक सम्प्रभुता
4. लोकप्रिय सम्प्रभुता
5. राष्ट्रीय सम्प्रभुता
6. विधिमान्य तथा वास्तविक सम्प्रभुता।

(4) लोकप्रिय सम्प्रभुता– लोकप्रिय प्रभुसत्ता के प्रतिपादक प्रसिद्ध विद्वान् रूसो थे। जब किसी राज्य में सम्पूर्ण वयस्क जनता को राजकार्यों में भाग लेने तथा कानून बनाने वाली व्यवस्थापिका सभा या संसद का चुनाव करने का अधिकार प्राप्त होता है, तब उस राज्य को लोकप्रिय प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य कहा जाता है। ऐसी प्रभुसत्ता मूलतः जनता में ही निहित होती है। भारत ऐसा ही लोकप्रिय प्रभुसत्ता सम्पन्न गणराज्य है।

रूसो का कहना था कि, **"जनता की वाणी ही ईश्वर की वाणी है तथा राज्य की सम्प्रभुता जनता में निहित होती है।"**

लार्ड ब्राइस के शब्दों में, **"लोकप्रिय सम्प्रभुता लोकतन्त्र का आधार तथा प्रतीक बन गई है।"**

"Popular sovereignty has become the basis and watch-word of democracy.

—Lord Bryce

(5) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता– राष्ट्रीय प्रभुसत्ता से आशय है कि प्रभुसत्ता किसी एक व्यक्ति में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र में निहित होती है और सम्पूर्ण राष्ट्र की इच्छा के अनुसार ही प्रभुसत्ता को कार्यान्वित किया जाता है। राष्ट्रीय प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में प्रत्येक व्यक्ति प्रभुसत्ता को अखण्ड एवं अक्षय बनाये रखने में अपना योगदान करता है।

(6) विधिमान्य तथा वास्तविक प्रभुसत्ता (De jure and De facto Sovereignty)– विधिमान्य प्रभुसत्ता उस सत्ता को कहते हैं जो कानून द्वारा मान्य होती है। यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जिसे अपने आदेश सम्पूर्ण नागरिकों पर लागू करने का अधिकार होता है, किन्तु कानून का उल्लंघन करके जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह विधिमान्य प्रभुसत्ता से सम्पन्न शासक को बाहुबल द्वारा पदच्युत कर देता है और सम्पूर्ण प्रभुसत्ता पर स्वयं अधिकार कर लेता है, तब वास्तविक प्रभुसत्ता उसके हाथ में आ जाती है। कालान्तर में वह वास्तविक प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक ही विधिमान्य प्रभुसत्ता को धारण कर लेता है। सामान्य परिस्थितियों में विधिमान्य तथा वास्तविक दोनों ही प्रभुसत्ता एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में निहित होती हैं।

सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता के बीच सम्बन्ध
(Relation between Sovereignty and Liberty)

अनेक लोगों का यह कहना है कि राज्य की प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता, दोनों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है और इन दोनों में परस्पर विरोध है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है, बन्धनों और प्रतिबन्धों का अभाव और राज्य की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत व्यक्ति पर अनेकों प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। प्रभुसत्ता के अन्तर्गत् व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी राज्य की आज्ञाओं को पालन करना होता है। अतः प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता साथ-साथ नहीं रह सकतीं।

परन्तु यह धारणा सही नहीं है। इस धारणा का मूल कारण है, स्वतन्त्रता का गलत अर्थ करना। जैसे कि कुछ लोग समझते हैं, **स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों से पूर्णतया मुक्त होना अथवा मनमानी करना है। इस अर्थ में तो स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता न रह कर अराजकता का रूप धारण कर लेगी।** उस स्थिति में वह मानव की नहीं, बल्कि पशुओं की स्वतन्त्रता बन जायेगी। ऐसी दशा में समाज में अराजकता तथा कुव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। शक्तिशाली व्यक्ति निर्बलों का शोषण करेंगे और मानव न्याय से वंचित हो जायेगा।

ऐसी स्थिति में राज्य की प्रभुसत्ता या सम्प्रभुता ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करती है और उसे स्थायी बनाती है। प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते हैं जो दूसरों के अधिकारों की चिन्ता न करके स्वतन्त्रता के नाम पर मनमानी करते हैं। राज्य ऐसे लोगों को दण्ड देकर समाज के छोटे तथा निर्वल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का रक्षण करता है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा का भार राज्य पर ही होता है। नागरिकों की स्वतन्त्रता में जो वाधायें उत्पन्न होती हैं, राज्य उनको दूर करता है। राज्य जितना अधिक संगठित होता है उतना ही प्रभुसत्ता-सम्पन्न होता है, आन्तरिक तथा वाह्य शत्रुओं से अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में उतना ही अधिक समर्थ होता है।

राज्य लोकहित की दृष्टि से ही स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है और ऐसी व्यवस्था करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उपयोग विना किसी वाधा के कर सके। किन्तु यदि कोई सरकार प्रभुसत्ता के नाम पर नागरिकों का दमन करने लगती है, तो नागरिक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हर सम्भव वैधानिक उपाय अपनाकर अथवा क्रान्ति द्वारा सरकार को वदल देते हैं, किन्तु राज्य की प्रभुसत्ता फिर भी पूर्ववत् बनी रहती है। **इस प्रकार राज्य की प्रभुसत्ता स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं, अपितु उसकी जनक एवं रक्षक होती है। प्रभुसत्ता के बिना स्वतन्त्रता जीवित नहीं रह सकती।** वास्तव में सम्प्रभुता स्वतन्त्रता की रक्षक है और स्वतन्त्रता के बिना सम्प्रभुता पूर्णतः निरंकुश हो जाती है।

ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त
(Austin's Theory of Sovereignty)

सिद्धान्त क्या है ? सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विकास में जॉन ऑस्टिन के विचारों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऑस्टिन ने सम्प्रभुता की व्याख्या कानूनी दृष्टिकोण से की है। ऑस्टिन के अनुसार, सम्प्रभुता की परिभाषा निम्न प्रकार है–

"यदि कोई निश्चित उच्च सत्ताधिकारी व्यक्ति जो स्वयं किसी वैसे ही उच्च सत्ताधिकारी अन्य व्यक्ति की आज्ञापालन का अभ्यस्त न हो और जो स्वयं किसी मनुष्य-समाज के बड़े भाग से आदतन आज्ञापालन करने की स्थिति में हो, तो वह निश्चित उच्च सत्ताधिकारी व्यक्ति उस समाज में संप्रभु (sovereign) है और समाज (उस सम्प्रभु के सहित) एक राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज है।"

"If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determninate superior is the sovereign in that society and the society, including the sovereign, is a society political and independent."

ऑस्टिन के सिद्धान्त की विशेषतायें (Characteristics)

ऑस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विश्लेषण से इसकी निम्नलिखित विशेषतायें प्रकट होती हैं–

(1) सम्प्रभु कोई निश्चित मनुष्य होता है– ऑस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक व स्वतन्त्र समाज में कोई निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह सम्प्रभु होना चाहिये। यह सम्प्रभु ऐसा होना चाहिये जिसे केन्द्र विन्दु के रूप में सभी स्वीकार करें।

(2) सम्प्रभु अनिवार्य है– ऑस्टिन के अनुसार, प्रत्येक राजनीतिक व स्वतन्त्र समाज में किसी का सम्प्रभु होना अनिवार्य है। अन्य शब्दों में, प्रभुसत्ता राज्य का अनिवार्य अंग है। उसके अभाव में राज्य का कोई अस्तित्व नहीं है।

(3) सम्प्रभु सर्वोच्च होता है– ऑस्टिन के मत में सम्प्रभु सर्वोच्च होता है और उसके ऊपर कोई कानूनी बन्धन नहीं होता। कोई भी अन्य उच्च सत्ता उससे अपनी आज्ञाओं का पालन नहीं करा सकती। इसीलिये गार्नर ने कहा है कि, **"सम्प्रभु एक ऐसा निश्चित मनुष्य अथवा ऐसी सर्वोच्च सत्ता होनी चाहिये जिस पर स्वयं कोई कानूनी प्रतिबन्ध न हो।"**

ऑस्टिन के सिद्धान्त की विशेषतायें

1. सम्प्रभु कोई निश्चित मनुष्य होता है
2. सम्प्रभु अनिवार्य है
3. सम्प्रभु सर्वोच्च होता है
4. पूर्ण आज्ञाकारिता
5. सम्प्रभु के आदेश कानून हैं
6. सम्प्रभुता अविभाज्य है।

(4) पूर्ण आज्ञाकारिता– ऑस्टिन के अनुसार, सम्प्रभु को समाज की वहुसंख्या से पूर्ण आज्ञाकारिता प्राप्त होनी चाहिये। यह आज्ञाकारिता यदा-कदा नहीं, अपितु निरन्तर तथा स्थायी होनी चाहिये और जनसाधारण आज्ञापालन के अभ्यस्त होने चाहियें।

(5) सम्प्रभुता के आदेश कानून हैं– ऑस्टिन के अनुसार, **"सम्प्रभु द्वारा अधीनस्थों को दिया गया आदेश ही कानून है।"**[1] सम्प्रभु की आज्ञा के विना कोई कानून लागू नहीं होता। जो सम्प्रभुता के आदेश का उल्लंघन करता है, वह दण्ड का भागी होता है। अन्य शब्दों में, सम्प्रभु ही कानून का एक-मात्र स्रोत होता है।

(6) सम्प्रभुता अविभाज्य– सम्प्रभुता एक अखण्ड तथा अविभाज्य इकाई होती है। किन्हीं भी अन्य व्यक्तियों अथवा समुदायों के वीच उसका विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि सम्प्रभुता के विभाजन का अर्थ होगा, सम्प्रभुता की समाप्ति।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism)

जॉन ऑस्टिन एक विधिवेत्ता था। अतः उसने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की व्याख्या में केवल वैधानिक दृष्टिकोण को ही सामने रखा तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस पर बिल्कुल विचार नहीं किया। इसी कारण सर हेनरी मेन, सिजविक, व्राइस आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है, जिसका विवरण निम्न प्रकार है–

(1) निश्चित सम्प्रभु की खोज कठिन– ऑस्टिन ने अपने सिद्धान्त में निश्चित सम्प्रभु की जो कल्पना की है, व्यावहारिक जीवन में उसे खोज पाना अत्यन्त कठिन है। इतिहास में भी किसी निश्चित सम्प्रभु के कोई उदाहरण नहीं मिलते।

वर्तमान लोकतन्त्रीय राज्यों में ऑस्टिन का सम्प्रभु सिद्धान्त लागू नहीं होता, क्योंकि लोकतन्त्र में प्रभुसत्ता जनता तथा मतदाताओं में निहित होती है।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना

1. निश्चित सम्प्रभु की खोज कठिन
2. कानून का स्रोत सम्प्रभु ही नहीं
3. सम्प्रभु अविभाज्य नहीं
4. शक्ति को अधिक महत्व
5. सम्प्रभुता असीमित नहीं
6. केवल वैधानिक पक्ष
7. अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता के विरुद्ध।

(2) कानून का स्रोत सम्प्रभु ही नहीं– ऑस्टिन के अनुसार, सम्प्रभु ही कानून का एकमात्र स्रोत होता है। सम्प्रभु के आदेश ही कानून होते हैं। किन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसा नहीं पाया जाता। वर्तमान समय में रीति-रिवाज, परम्परायें, न्यायिक निर्णय, वैधानिक टिप्पणियाँ व धार्मिक नियम आदि भी कानून के स्रोत माने जाते हैं।

चाणक्य ने भी एक स्थान पर कहा है कि, **"धर्म, औचित्य, न्याय, पारस्परिक व्यवहार की शर्तें, परम्परागत नियम, प्रथायें तथा राजा के आदेश कानून के स्रोत होते हैं।"**

---

1. *Law is the command of the sovereign."* —Austin

(3) सम्प्रभुता अविभाज्य नहीं– ऑस्टिन के अनुसार, सम्प्रभुता अखण्ड तथा अविभाज्य होती है। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता। राजनीतिक समाज के कर्त्तव्यों का बँटवारा आवश्यक होता है। संघात्मक शासन वाले देशों में भी प्रभुसत्ता केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजित रहती है। अतः सम्प्रभुता के अविभाज्य होने की बात केवल काल्पनिक है, व्यावहारिक नहीं।

(4) शक्ति को अधिक महत्व– ऑस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार, सम्प्रभु अपनी शक्ति के कारण ही आज्ञापालन कराने की स्थिति में होता है, किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। जनता शक्ति के कारण कानूनों का पालन नहीं करती, अपितु इसीलिये करती है कि वह कानून जनता की इच्छा को ही प्रकट करता है और उसके पालन में जनता का कल्याण छिपा होता है।

इसीलिये ग्रीन ने कहा है कि, **"राज्य का आधार इच्छा होती है, शक्ति नहीं।"** हर्नशा के मत में, **"ऑस्टिन के सिद्धान्त में निरंकुशता तथा पुलिसशाही की गंध आती है।"**

(5) सम्प्रभुता सीमित नहीं– ऑस्टिन के मतानुसार, सम्प्रभुता अमर्यादित तथा असीमित होती है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में सम्प्रभुता पर अनेक प्रतिबन्ध लगे पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये, सम्प्रभु की आज्ञा अनेक अवसरों पर रीति-रिवाजों, धार्मिक नियमों, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा परम्पराओं आदि से प्रभावित होती है।

ब्लंट्शली के अनुसार, **"सम्प्रभुता अपने समस्त स्वरूप में सर्वशक्तिमान नहीं हो सकती, क्योंकि बाहरी मामलों में वह अन्य राज्यों के अधिकारों से और आन्तरिक क्षेत्र में स्वयं अपनी प्रकृति तथा अन्य सदस्यों के अधिकारों से प्रभावित होती है।"**

(6) केवल वैधानिक पक्ष– ऑस्टिन ने सम्प्रभुता की व्याख्या केवल वैधानिक दृष्टिकोण से की है और राजनीतिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। वर्तमान युग में राजनीतिक प्रभुसत्ता सदा ही वैधानिक प्रभुसत्ता को नियन्त्रित रखती है। अतः "ऑस्टिन का सिद्धान्त एक ऐसी सुन्दर मूर्ति बन गया है जिसमें प्राण नहीं है।"

(7) अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता के विरुद्ध– ऑस्टिन का सम्प्रभुता का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय तथा मानवता की धारणा के बिल्कुल विरुद्ध है। वर्तमान समय में यातायात व संचार के साधनों के विकास तथा आर्थिक व वैधानिक प्रगति के कारण संसार के देश एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं तथा उन पर अन्य देशों के विचारों तथा विश्व जनमत का भारी प्रभाव पड़ता है।

अतः यद्यपि कानूनी दृष्टि से सम्प्रभुता पर अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कोई बंधन नहीं होता, किन्तु फिर भी, व्यावहारिक जीवन में, कोई भी सम्प्रभुता सर्वसम्मत अन्र्तराष्ट्रीय नियमों तथा विश्व जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकती। उदाहरण के लिये, आज संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तथा विश्व जनमत के विरोध के भय के कारण ही एक देश दूसरे देश पर आक्रमण नहीं करता।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त वैधानिक दृष्टि से पूर्णतया ठीक, स्पष्ट तथा तर्कसंगत है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सिद्धान्त वर्तमान समय की राजनीतिक व्यवस्था के लिये अनुकूल नहीं है। फिर भी इस सिद्धान्त को राजनीतिक तथा अन्य सभी प्रकार की सम्प्रभुता के लिये आधार बनाया जा सकता है। ऐसा आधार बनने से राजनीतिक सम्प्रभुता की अनिश्चिततायें भी निश्चितता में बदल सकती हैं। यही सिद्धान्त की मुख्य देन है।

इस प्रकार, **"ऑस्टिन का सिद्धान्त एक ऐसी सुन्दर मूर्ति के समान है जो स्वयं भगवान तो नहीं है, किन्तु भगवान की प्राप्ति का आधार अवश्य बन सकती है।"**

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) सम्प्रभुता का अर्थ स्पष्ट कीजिये। ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त के विरुद्ध क्या तर्क दिये गये हैं ? (1974)

(2) "विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।" समझाइये। (1978)

[संकेत– इस कथन की व्याख्या में ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।]

(3) ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। (1990)

(4) सम्प्रभुता का क्या अर्थ है ? क्या सम्प्रभुता की कुछ सीमायें हैं ? समझाइये।

(5) टिप्पणी लिखिये–

(i) सम्प्रभुता। (1968, 81, 82)

(ii) राजनीतिक प्रभुसत्ता। (iii) ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त। (1985)

(6) 'सम्प्रभुता' से आप क्या समझते हैं ? उसकी विशेषता का वर्णन कीजिये। (1980, 90)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– सम्प्रभुता से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– सम्प्रभुता राज्य की उस सर्वोच्च शक्ति का नाम है जिसके द्वारा वह देश में सभी व्यक्तियों व समुदायों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखता है। राज्य की सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और उस पर किसी भी प्रकार का आन्तरिक व बाह्य नियन्त्रण नहीं है। प्रभुसत्ता राज्य की आत्मा है। इसके बिना राज्य एक निर्जीव शरीर के समान है।

प्रश्न 2– सम्प्रभुता के प्रमुख लक्षण बताइये।

उत्तर– सम्प्रभुता के प्रमुख लक्षण हैं– (i) राज्य की प्रभुसत्ता सर्वोच्च होती है, (ii) यह राज्य की सीमाओं में व्यापक रूप से फैली होती है। (iii) यह अविभाज्य होती है। (iv) प्रभुसत्ता स्थायी होती है, वह नष्ट नहीं होती। (v) प्रभुसत्ता मौलिक होती है किसी के द्वारा प्रदत्त नहीं।

प्रश्न 3– सम्प्रभुता की सीमायें बताइये।

उत्तर– सम्प्रभुता की सीमायें हैं– (i) लोकमत, (ii) रीति-रिवाज व प्रथायें, (iii) नैतिकता के नियम, (iv) अन्तर्राष्ट्रीय नियम, (v) कानून, (vi) प्राकृतिक नियम।

प्रश्न 4– नाममात्र की तथा वास्तविक सम्प्रभुता क्या है ?

उत्तर– कुछ देशों में प्रभुसत्ता वहाँ के राजा या राष्ट्रपति में निहित होती है और शासन का कार्य उसके नाम से होता है। किन्तु प्रभुसत्ता का प्रयोग वह राजा या राष्ट्रपति स्वयं नहीं करता। उसका प्रयोग मन्त्रिमण्डल या संसद करती है। राजा या राष्ट्रपति केवल नाममात्र का प्रभुतासम्पन्न होता है। वास्तविक सम्प्रभुता सम्पन्न संसद होती है। उदाहरण के लिये, भारत में राष्ट्रपति और संसद।

प्रश्न 5– सम्प्रभुता के अविभाज्य होने के पक्ष में एक तर्क दीजिये।

उत्तर– अविभाज्यता सम्प्रभुता का एक प्रमुख लक्षण है। प्रभुसत्ता का विभाजन होने से राज्य का विभाजन या अन्त हो जाता है। राज्य के कार्यों का बँटवारा हो सकता है, प्रभुसत्ता का नहीं। सम्प्रभुता एक सम्पूर्ण वस्तु है। जिस प्रकार एक अर्द्ध-वर्ग नहीं हो सकता, वैसे ही अर्द्ध-सम्प्रभुता नहीं हो सकती।

प्रश्न 6– प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता के बीच क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– कुछ लोगों का यह कहना सत्य नहीं है कि स्वतन्त्रता और प्रभुसंत्ता एक-दूसरे की विरोधी हैं। प्रभुसत्ता के बिना तो स्वतन्त्रता अराजकता बन जाती है। राज्य की प्रभुसत्ता स्वतन्त्रता की रक्षक होती है। प्रभुसत्ता के बिना स्वतन्त्रता जीवित नहीं रह सकती और स्वतन्त्रता के बिना प्रभुसत्ता निरंकुश हो जाती है।

प्रश्न 7– ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की चार विशेषतायें बताइये।

उत्तर– ऑस्टिन के सिद्धान्त की चार विशेषतायें निम्न हैं–

(1) सम्प्रभु कोई निश्चित व्यक्ति होता है।

(2) सम्प्रभु के बिना राज्य का अस्तित्व नहीं होता।

(3) सम्प्रभु सर्वोच्च होता है। उस पर कोई आन्तरिक या बाह्य नियन्त्रण नहीं होता।

(4) सम्प्रभु व्यक्ति के आदेश ही कानून होते हैं जिन्हें सब मानते हैं।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– सम्प्रभुता की विशेषतायें लिखिये। (1994, 84)

उत्तर– ये हैं– (i) सर्वोच्चता, (ii) अविभाज्यता।

प्रश्न 2– सम्प्रभुता के दो प्रकार बताइये।

उत्तर– (i) कानूनी सम्प्रभुता, (ii) राजनीतिक सम्प्रभुता।

प्रश्न 3– सम्प्रभुता की दो सीमायें बताइये।

उत्तर– (i) रीति-रिवाज एवं प्रथायें, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय नियम।

प्रश्न 4– सम्प्रभुता की कोई एक संक्षिप्त परिभाषा दीजिये। (1988, 92)

उत्तर– विलोबी के अनुसार, "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।"

प्रश्न 5– सम्प्रभुता को राज्य की आत्मा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर– क्योंकि सम्प्रभुता के अभाव में राज्य का अस्तित्व नष्ट हो जाता है।

प्रश्न 6– बोदां की सम्प्रभुता की परिभाषा लिखिये। (1991)

उत्तर– बोदां के शब्दों में, "सम्प्रभुता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कोई वैधानिक नियन्त्रण नहीं है।"

प्रश्न 7– ऑस्टिन द्वारा दी गई सम्प्रभुता की परिभाषा बताइये। (1993)

उत्तर– इसी पाठ में पीछे देखिये।

□□

14

विधि या कानून
(Law)

"कानून मनुष्यों के बाह्य आचरण के वे नियम हैं जिन्हें सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता लागू करती है और पालन करने के लिये बाध्य करती है।" —हालैंड

"विशेष परिस्थितियों में नागरिक को कानून के विरोध का अधिकार है। किन्तु इस अधिकार का प्रयोग औषधि के रूप में ही होना चाहिये, प्रतिदिन के भोजन के रूप में नहीं।" —बर्क

इस अध्याय में क्या है ?

(1) विधि या कानून का अर्थ, (2) विधि या कानून की कुछ परिभाषायें, (3) कानून के तत्व या लक्षण, (4) कानून के स्रोत, (5) कानून के उद्देश्य, (6) कानून के भेद या प्रकार, (7) कानूनों का महत्व, (8) विधि की उत्पत्ति तथा प्रकृति से सम्बन्धित सिद्धान्त, (9) अच्छे तथा बुरे कानून क्या हैं ? (10) अच्छे कानून के लक्षण या गुण, (11) कानून पालन करना क्यों आवश्यक है ? (12) क्या मनुष्य कानून की अवहेलना कर सकता है ? (13) कानून और नैतिकता में सम्बन्ध और अन्तर, (14) कानून और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध, (15) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (16) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

विधि या कानून का अर्थ (Meaning of Law)

कानून शब्द अंग्रेजी के लॉ (Law) शब्द का हिन्दी अर्थ है जो लैटिन भाषा के लैग (Lag) शब्द से बना है जिसका अर्थ है, स्थित या निश्चित। अतः शब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर कानून उस वस्तु को कहते हैं जो सब जगह स्थिर रहता है। कानून शब्द से एक प्रकार की 'व्यवस्था' का आभास मिलता है।

विधि या कानून शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। साधारण बोलचाल की भाषा में कानून किसी भी ऐसे सिद्धान्त या नियम को कहा जाता है जो किसी विशेष क्षेत्र के आचरण को नियन्त्रित या स्पष्ट करता हो।

उदाहरण के लिये, प्रकृति के आचरण से सम्बन्धित नियमों को प्राकृतिक या भौतिक कानून कहते हैं। मनुष्य के आचरण की आन्तरिक भावनाओं से सम्बन्धित नियमों को नैतिक कानून कहते हैं। सामाजिक आचरण एवं व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले नियमों को सामाजिक कानून कहते हैं।

किन्तु नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत, 'विधि या कानून' शब्द का प्रयोग सामान्यतः राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों के लिये किया जाता है। इस प्रकार, कानून या विधि राज्य द्वारा जारी की गई उन आज्ञाओं अथवा आदेशों को कहते हैं जो सर्वमान्य हों तथा मनुष्य जिनका पालन बिना किसी संकोच के करें।

वर्तमान समय में विधि या कानून उन नियमों को कहा जाता है जिनका निर्माण राज्य के प्रधान या राज्य की विधान सभा द्वारा किया जाता है जो कार्यपालिका द्वारा लागू किये जाते हैं और जिनका उल्लंघन करने वाले न्यायपालिका द्वारा दण्डित किये जाते हैं। राज्य द्वारा बनाये गये ये कानून समाज में रहने वाले मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं।

विधि या कानून की कुछ परिभाषायें (Some Definitions of Law)

कानून की विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषायें की हैं इनमें से कुछ अग्र प्रकार हैं—

(1) ऑस्टिन के अनुसार– "विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।"

"Law is the Command of the Sovereign." **—Austin**

यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित है, क्योंकि यह केवल सम्प्रभु की आज्ञा को ही कानून मानती है, जबकि राज्य में कुछ कानून रीति-रिवाजों द्वारा तथा कुछ न्यायाधीशों द्वारा निर्मित भी होते हैं।

(2) प्रो० साल्मण्ड के शब्दों में– "कानून राज्य द्वारा स्वीकृत उन नियमों का समूह है जिन्हें राज्य न्याय के प्रशासन में लागू करता है।"

"Law is the body of principles recognised and applied by the state in the administration of justice." **—Salmond**

(3) सिजविक के मत में– "विधि या कानून समुदाय के सदस्यों के आचरण से सम्बन्धित उन सामान्य निर्देशों को कहते हैं जिनका पालन न करने पर सरकार की सत्ता द्वारा सामान्यतः किसी न किसी प्रकार दण्ड दिया जाता है।"

(4) कार्टर के अनुसार– "कानून नियमों का ऐसा संग्रह है जो मानवीय आचरण का नियमन करता है।"

(5) ग्रीन के शब्दों में– "कानून अधिकारों व कर्त्तव्यों की वह व्यवस्था है जिसे राज्य लागू करता है।"

(6) कौटिल्य के शब्दों में, "कानून प्रभुसत्ता द्वारा दिया गया आदेश है।"

(7) हालैंड के शब्दों में– "कानून मनुष्यों के बाह्य आचरण के वे नियम हैं जिन्हें सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता लागू करती है और पालन के लिये वाध्य करती है।"

"A Law is a general rule of the external human action enforced by soverign political Authority." **—Holland**

उपर्युक्त परिभाषाओं में हालैंड की परिभाषा ही श्रेष्ठ, उपयुक्त तथा स्पष्ट प्रतीत होती है। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि **"विधि राज्य द्वारा बनाये गये उन नियमों को कहते हैं जिनका जनता द्वारा अनिवार्य रूप से पालन किया जाता है और पालन न करने वाले अथवा उनका उल्लंघन करने वालों को राज्य न्यायालय द्वारा दण्ड दिलवाता है।"**

कानून के तत्व या लक्षण (Elements of Law)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कानून में निम्न तत्व या लक्षण पाये जाते हैं–

(1) कानून एक सामान्य नियम है– कानून का निर्माण सर्वदा सम्पूर्ण समाज के हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है।

(2) कानून केवल नागरिक समाज में लागू होता है– कानून की आवश्यकता नागरिक समाज में सुव्यवस्थित संगठन के लिये होती है।

(3) कानून मनुष्य के बाह्य आचरण से सम्बन्धित होता है– हमारे मन में चाहे जैसी भावना हो, कानून उस पर प्रभावी नहीं होता, जब तक कि हमारी भावना हमारे बाह्य आचरण में व्यक्त नहीं होती।

(4) कानून का निर्माण और पालन सम्प्रभु शक्ति द्वारा होता है– केवल राज्य की सम्प्रभु शक्ति को ही कानून निर्माण करने का अधिकार है। यह राज्य द्वारा स्वीकृत कानून की अनिवार्य शर्त है।

कानून के लक्षण या तत्व

1. कानून एक सामान्य नियम
2. कानून नागरिक समाज में लागू
3. बाह्य आचरण से सम्बन्धित
4. निर्माण सम्प्रभु शक्ति द्वारा
5. नागरिकों द्वारा पालन अनिवार्य
6. कानून का उद्देश्य हित।

(5) कानूनों का पालन नागरिकों द्वारा किया

जाना अनिवार्य है– कानून आवरण को नियमित करता है। इस कारण कानूनों का पालन अनिवार्य है। कानूनों का पालन न करना दण्डनीय है।

(6) कानून का उद्देश्य सामान्य हित है– कानून निष्पक्ष और समस्त प्राणियों की भलाई को ध्यान में रखकर बनाया जाता है।

कानून के स्रोत (Sources of Law)

सामान्यतः कानून का निर्माण विधानमण्डल द्वारा होता है, पर अन्य स्रोतों से भी कानून का निर्माण हो सकता है, वे स्रोत निम्न प्रकार गिनाये जा सकते हैं–

(1) रीति-रिवाज व प्रथायें– रीति-रिवाज व प्रथायें विधि का एक प्राचीन स्रोत रही हैं। प्राचीन काल में जबकि राज्य का पूर्णरूप से विकास नहीं हुआ था, इन रीति-रिवाजों का ही कानूनों के समान पालन किया जाता था। ये रीति-रिवाज ही जब राज्य द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं, तो उन्हें नियमानुसार कानून का रूप प्राप्त हो जाता है। संसार के अनेक देशों में बने हुए बहुत से कानून रीति-रिवाजों व प्रथाओं पर ही आधारित हैं। उदाहरण के लिये, इंग्लैण्ड में प्रचलित सामान्य कानून (Common Law) पुराने रीति-रिवाजों पर ही आधारित है।

वुडरो विल्सन के शब्दों में, **"रीति-रिवाज विधि का सर्वप्रथम स्रोत है।"**

(2) धार्मिक नियम– धर्म भी कानूनों के विकास का एक प्रमुख स्रोत रहा है। प्राचीन युग तथा मध्य युग में मानव-जीवन धर्म से अत्यधिक प्रभावित होता था। लोग धर्म के आचरण सम्बन्धी नियमों को अपने जीवन में ईश्वरीय आज्ञा समझकर पालन करते थे। ये धार्मिक नियम, वेद, पुराण, मनुस्मृति तथा कुरान आदि पुस्तकों में भी लिखे गये। फलतः ऐसी पुस्तकें ही कानून का स्रोत बन गईं। भारत में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिये बनाये गये अनेक कानून इन धार्मिक ग्रन्थों (क्रमशः मनुस्मृति एवं शरीयत) एवं उनमें उल्लिखित धार्मिक नियमों पर आधारित हैं।

विधि के स्रोत

1. रीति-रिवाज व प्रथायें
2. धार्मिक नियम
3. न्यायालय के निर्णय व नजीरें
4. वैधानिक टिप्पणियाँ
5. विधानमण्डल
6. औचित्य या न्याय-भावना।

विल्सन के अनुसार, **"रोम का प्रारम्भिक कानून धार्मिक नियमों का ही संग्रह था।"**

(3) न्यायालय के निर्णय व नजीरें– न्यायालय के निर्णयों द्वारा नये कानूनों का निर्माण तो नहीं होता, किन्तु विभिन्न मुकदमों के सम्बन्ध में जब न्यायाधीश देश में पहले से ही प्रचलित कानूनों की व्याख्या करते हैं, तो उनकी व्याख्या ही अगले मुकदमों के फैसलों के लिये नजारें बन जाती हैं। कभी-कभी किसी मुकदमे के लिये जब वर्तमान कानून पर्याप्त नहीं होते, तो न्यायाधीश स्वविवेक से जो भी निर्णय कर देते हैं, वे निर्णय ही भविष्य के लिये कानून बन जाते हैं। इस प्रकार कानूनों की व्याख्या करके न्यायाधीश प्रचलित कानूनों में परिवर्तन् कर सकते हैं।

(4) वैधानिक टिप्पणियाँ– कभी-कभी देश के बड़े-बड़े वकीलों और कानूनी पण्डितों की टिप्पणियाँ भी विधि-निर्माण का आधार बन जाती हैं। कानूनी विद्वान् देश के रीति-रिवाजों, निर्णयों तथा कानूनों का विश्लेषण करके अपनी जो टिप्पणियाँ लिखते हैं उनके आधार पर भावी कानूनों का निर्माण किया जाता है। भारत में मनु, कौटिल्य आदि ऐसे ही टिप्पणीकार हुए हैं।

(5) विधानमण्डल– विधानमण्डल अथवा संसद विधि-निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण तथा आधुनिक स्रोत है। एकतन्त्रीय शासन के प्राचीन युग में तो स्वयं राजा ही कानून बनाता था, किन्तु वर्तमान लोकतन्त्रीय शासन के युग में जनता द्वारा चुनी हुई व्यवस्थापिका अथवा संसद ही नये कानूनों को बनाने, पुराने कानूनों को समाप्त करने अथवा उनमें संशोधन करने का कार्य करती है। इस स्रोत का विकास होने के कारण विधि के अन्य स्रोतों का महत्व अब कम हो गया है।

गिलक्राइस्ट ने कहा है कि, **"वर्तमान समय में व्यवस्थापिका ही कानून का मुख्य स्रोत है**

और दूसरे स्रोतों की पूर्ति में भी सहायता करता है।"

(6) औचित्य या न्याय भावना– यह शब्द Equity का रूपान्तर है। Equity का अर्थ है बराबर करना। न्यायिक क्षेत्र में Equity शब्द का अर्थ है को समानता के साथ पालन करना या न्याय का उचित पालन करना। कानून की अनुपस्थिति या अनिश्चितता की दशा में न्यायाधीश अपनी शुद्ध न्यायिक भावना के आधार पर निर्णय देते हैं।

विधि या कानून के उद्देश्य या कार्य (Objects or Functions of Law)

विधि के सम्बन्ध में एक बात यह भी बड़ी महत्वपूर्ण है कि विधि-निर्माण का उद्देश्य क्या हो। विधि-निर्माण का उद्देश्य जितना ही अधिक लोकहित के अनुकूल, निष्पक्ष तथा न्यायोचित होगा, जनता द्वारा उसके पालन की सम्भावनायें उतनी ही बलवती होंगी। विचारकों के अनुसार विधि के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहियें–

(1) शान्ति व व्यवस्था की स्थापना– मानव जीवन के समुचित विकास के लिये यह आवश्यक है कि समाज में शान्ति व सुव्यवस्था बनी रहे। कानून मनुष्य को कर्त्तव्य पालन के लिये प्रेरित करते हैं, उनके अधिकारों की रक्षा करते हैं, तथा नियमों के भंग करने वालों को दण्डित करते हैं। इस प्रकार कानून समाज में शान्ति व सुव्यवस्था की स्थापना करते हैं।

(2) विकास के लिये समान अवसर प्रदान करना– कानून समाज के सभी वर्गों को समान रूप से उन्नति के समान अवसर तथा विकास की समान सुविधायें प्रदान करते हैं। कानून जाति, धर्म, धन तथा रंग आदि के आधार पर मानव में कोई भेद नहीं करते। विधि का यह दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

(3) बाधाओं को दूर करना– समान अवसर प्रदान करने के साथ ही साथ मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक उन्नति के मार्ग में यदि किसी अन्य व्यक्ति या समुदाय की ओर से बाधायें उत्पन्न की जाती हैं, तो कानून उन्हें दूर करते हैं। इस प्रकार विधि नागरिक जीवन के विकास के मार्ग को निष्कंटक बनाती है।

कानून के उद्देश्य

1. शान्ति व व्यवस्था की स्थापना
2. विकास के लिये समान अवसर प्रदान करना
3. बाधाओं को दूर करना
4. अधिकारों की रक्षा
5. मनुष्य व समाज की उन्नति।

(4) अधिकारों की रक्षा– विधि का एक उद्देश्य यह भी होता है कि यदि व्यक्ति के अधिकारों का कोई भी अन्य व्यक्ति या समुदाय अपहरण करता है, तो वह उसे संरक्षण प्रदान करे। अधिकारों का अपहरण करने वाले व्यक्ति या समुदाय विधि के अनुसार दण्डित किये जाते हैं।

(5) मनुष्य तथा समाज की उन्नति– विधि का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी है कि वह मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की उन्नति के लिये कार्य करे। सुखी व शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवन ही विधि का लक्ष्य होना चाहिये।

कानून के भेद या प्रकार (Kinds of Law)

विभिन्न विद्वानों ने कानूनों का वर्गीकरण अलग-अलग प्रकार से किया है। सारांश रूप में राजकीय कानूनों के भेद निम्न प्रकार से व्यक्त किये जा सकते हैं–

(1) संवैधानिक कानून– संवैधानिक कानून उन कानूनों को कहा जाता है जो देश की शासन-व्यवस्था की रूपरेखा का निर्धारण करते हैं। इन कानूनों में राज्य तथा सरकार का संगठन, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का स्वरूप, राज्य के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों आदि का उल्लेख होता है। इन कानूनों के बनाने

तथा उनमें संशोधन करने की प्रक्रिया भी एक विशिष्ट प्रकार की होती है। संवैधानिक कानून जिस पुस्तक में लिखे जाते हैं उसे संविधान कहा जाता है। संवैधानिक कानून कभी-कभी अलिखित भी होते हैं। उदाहरण के लिये, इंगलैंड का संविधान अलिखित है।

(2) साधारण कानून या संविधि– साधारण कानून या संविधि वे कानून होते हैं जो देश की व्यवस्थापिका सभा या संसद द्वारा दैनिक शासन-कार्य के संचालन तथा नागरिकों के आचरण का नियमन करने के लिये बनाये जाते हैं। इनमें से जो कानून व्यक्ति के सम्बन्धों का नियमन करते हैं उन्हें व्यक्तिगत कानून कहा जाता है और जो कानून जनता से राज्य के सम्बन्ध का नियमन करते हैं उन्हें सार्वजनिक कानून कहा जाता है।

कानूनों के भेद

1. संवैधानिक कानून
2. साधारण कानून या संविधि
3. अध्यादेश
4. रीति-रिवाज के कानून
5. नजीरें
6. प्रशासनिक कानून
7. अन्तर्राष्ट्रीय कानून
8. व्यक्तिगत कानून
9. सार्वजनिक कानून।

(3) अध्यादेश (Ordinance)– अध्यादेश उन अस्थायी कानूनों को कहते हैं जो संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका द्वारा जारी किये जाते हैं। ये कानून एक निश्चित अवधि के लिये बनाये जाते हैं। व्यवस्थापिका यदि चाहे तो इन्हें अवधि से पूर्व भी रद्द कर सकती है किन्तु व्यवस्थापिका द्वारा अनुमोदन कर दिये गये अध्यादेश स्थायी कानूनों का ही रूप लेते हैं।

(4) रीति-रिवाज के कानून– ये कानून व्यवस्थापिका द्वारा नहीं बनाये जाते, बल्कि ये रीति-रिवाजों के आधार पर स्वयं ही प्रचलन में आ जाते हैं। ये कानून भी राज्य द्वारा मान्य होते हैं। इंगलैंड में ऐसे अनेक कानून प्रचलित हैं। भारत में परिवार की सम्पत्ति के विभाजन के लिये आमतौर पर रीति-रिवाजों के कानून ही लागू होते हैं।

(5) नजीरें– ये वे कानून होते हैं जो न्यायाधीशों के फैसलों के आधार पर नजीरों (उद्धरणों) का रूप धारण कर लेते हैं। ये नजीरें वकील लोग मुकदमों में मिसाल के तौर पर प्रस्तुत करते हैं जिन्हें अदालत मान्यता देती है। व्यवस्थापिका चाहे तो इन कानूनों को रद्द कर सकती है।

(6) प्रशासनिक कानून– ये वे कानून होते हैं जो प्रशासनिक कर्मचारियों के अधिकारों, कर्त्तव्यों, जनता तथा राज्य के साथ उनके व्यवहार एवं सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। भारत में ऐसे कानूनों का कम प्रचलन है। फ्रांस में ऐसे कानून विशेष रूप से प्रचलित हैं। कर्मचारियों द्वारा नियमों को भंग किये जाने पर उनके साथ इन विशिष्ट कानूनों के अनुसार ही व्यवहार किया जाता है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय कानून– अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन कानूनों को कहते हैं जो विशिष्ट राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। इन कानूनों के अनुसार ही दो देश परस्पर सन्धियाँ, राजदूतों की नियुक्तियाँ, समझौते, विदेशी व्यापार आदि करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि वे ऐच्छिक होते हैं और इनको अनिवार्य रूप से पालन कराने वाली कोई सर्वोच्च शक्तिशाली सत्ता नहीं होती।

लारेंस के शब्दों में, **"अन्तर्राष्ट्रीय कानून नियमों का वह समूह है जिसके द्वारा सभ्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन होता है।"**

(8) व्यक्तिगत कानून– ये वे कानून होते हैं जो व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का

निर्धारण करते हैं। हालण्ड के शब्दों में, **"व्यक्तिगत कानून वे कानून हैं जो नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों व अधिकारों को परिभाषित व नियन्त्रित करते हैं।"** तलाक कानून, ऋण सम्बन्धी कानून तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय के कानून इस श्रेणी में आते हैं।

(9) सार्वजनिक कानून– ये वे कानून हैं जो नागरिकों व राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों व अधिकारों का निर्धारण करते हैं। चोरी, डकैती व अन्य फौजदारी कानून तथा आयकर कानून इसी श्रेणी में आते हैं।

कानूनों का महत्व (Importance of Law)

कानून सभ्य जीवन के आवश्यक अंग हैं। कानून के अभाव में मनुष्य असभ्य युग में कहा जाता है। कानून के बिना मनुष्य का जीवन पशुतुल्य जीवन होगा। कानून की अनुपस्थिति का अर्थ है, अराजकता और **'जिसकी लाठी उसी की भैंस।'** अतः मानवीय विकास के लिए कानूनों का भारी महत्व है, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है–

(1) स्वतन्त्रता की रक्षा– कानून मनुष्य को स्वतन्त्रता के उपभोग का अवसर प्रदान करते हैं। समाज विरोधी तत्व; जैसे चोर, डाकू, हत्यारे कानून न होने पर तो समाज की स्वतन्त्रता का अपहरण करके एक निर्जीव समाज बना सकते हैं। कानून जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

(2) अधिकारों की रक्षा– स्वतन्त्रता के साथ-साथ कानूनों के द्वारा व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा की जाती है। कानूनों के अभाव में व्यक्ति के अधिकार जीवित नहीं रह सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपनी रोटी खा सकता है, परन्तु दूसरे की थाली में हाथ डालने से कानून उसको रोकता है। पलाण्डे के शब्दों में भी, **"अधिकारों का तब तक कोई मूल्य नहीं होता जब तक उनकी रक्षा के लिये प्रबन्ध न किया गया हो।"**

(3) शान्ति का अग्रदूत– हम जानते हैं कि शान्ति में ही मानव का विकास सम्भव है। अशान्त वातावरण में समाज की व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना निश्चित है। मनुष्यों को गलत मार्ग पर जाने से रोकने में कानून ही सहायक होते हैं। देश में अराजकता फैलाने वाले तत्वों के विरुद्ध कानूनों का सहारा लिया जाता है।

(4) समानता का पोषक– कानून के समक्ष सब व्यक्ति समान होते हैं। एक वर्गहीन, भेद-भाव रहित समाज की रचना करना कानून का मुख्य ध्येय है। कानून ऊँच-नीच, धनी-निर्धन अथवा किसी वर्ग विशेष के साथ कोई भेद-भाव नहीं करता।

कानूनों का महत्व

1. स्वतन्त्रता की रक्षा
2. अधिकारों की रक्षा
3. शान्ति का अग्रदूत
4. समानता का पोषक
5. धर्म व संस्कृति का रक्षक
6. आर्थिक उन्नति में सहायक
7. नैतिक विकास।

(5) धर्म और संस्कृति के रक्षक– कानून धर्म और संस्कृति के प्राण हैं। कानून सदा उनकी रक्षा करते आये हैं। वे जनता की इच्छा के दर्पण हैं। आज भारत में सभी वर्गों के मानने वाले व्यक्ति समान रूप से रहते हैं। कानून सब धर्मों के विकास के लिये समान अवसर प्रदान करता है।

(6) आर्थिक उन्नति में सहायक– विधि का उद्देश्य व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करना है। कानून के द्वारा हमारे आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। नागरिक निडर होकर व्यापार तथा उद्योग-धन्धे करते हैं। कानून सबकी सम्पत्ति की सुरक्षा की गारण्टी देता है। बिना कानून के समाज में लेन-देन समाप्त हो जायेंगे और आर्थिक प्रगति रुक जायेगी।

(7) **नैतिक विकास–** कानून मनुष्यों को समान रूप से यह अवसर देता है कि वे अपना नैतिक विकास कर सकें।

विधि की उत्पत्ति तथा प्रकृति से सम्बन्धित सिद्धान्त
(Theories Concerning the Nature of Law)

विधि की उत्पत्ति तथा प्रकृति के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन सिद्धांत प्रचलित हैं। उनकी विवेचना नीचे की जाती है–

(1) आज्ञा सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार, **"विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।"** इस सिद्धान्त का समर्थन जॉन आस्टिन, हॉब्स तथा वोदाँ आदि ने किया है। इन लेखकों के मत से राजा की आज्ञा ही कानून है। लोग यदि राजा की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं, तो अपराधी को प्रभुसत्ता की ओर से दण्डित किया जाता है। अतः लोग दण्ड के भय से ही विधि का पालन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा का आदेश ही कानून का सार है और उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य है।

इस सिद्धान्त की कई विचारकों ने आलोचना की है और कहा है कि वर्तमान प्रजातन्त्रीय युग में इस सिद्धान्त की कोई उपयोगिता नहीं है। वर्तमान समय में सभी कानूनों में प्रजा को आज्ञा दी जाती हो, ऐसी वात नहीं है। अनेक कानून ऐसे हैं जो प्रजा को आज्ञा न देकर उसे कुछ अधिकार प्रदान करते हैं; अव प्रजा चाहे उन अधिकारों का उपयोग करे या न करे; उदाहरण के लिये, मत देने का अधिकार प्रदान करने वाला कानून।

विधि की उत्पत्ति या प्रकृति के सिद्धान्त

1. आज्ञा सिद्धान्त
2. ऐतिहासिक सिद्धान्त
3. सामाजिक सिद्धान्त।

(2) ऐतिहासिक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार कानून इतिहास की उपज है। मनुष्य अपने प्रारम्भिक काल से ही अपने जीवन में नियमों का पालन करता आया है। समाज की उन्नति के साथ-साथ इन नियमों का भी विकास होता गया। राज्य के जन्म से पूर्व ये नियम सामाजिक नियमों, रीतियों तथा प्रथाओं के रूप में थे। बाद में राज्य ने इनको स्वीकार कर लिया और तब इन्हें राज्यकृत कानूनों का रूप प्राप्त हो गया। अव इनको पालन कराने का भार भी राज्य के कन्धों पर आ गया।

इस प्रकार, इस सिद्धान्त के अनुसार, कानूनों की उत्पत्ति किसी विशेष प्रभुसत्ता द्वारा नहीं हुई, अपितु प्राचीन सामान्य एवं सामाजिक नियम ही कालान्तर में विकसित होकर कानून बन गये। आज जो भी कानून बनाये जाते हैं उनमें प्राचीन रीतियों, प्रथाओं एवं नियमों का ध्यान रखा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, जनता नियमों तथा कानूनों का स्वभावतः ही पालन करती है। किन्तु इस सिद्धान्त में सत्य आंशिक रूप से ही पाया जाता है। वास्तविकता यह है कि सभी कानून, प्राचीन रीतियों व प्रथाओं पर आधारित नहीं होते।

(3) सामाजिक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार, कानून की उत्पत्ति तथा उसका विकास सामाजिक जीवन का परिणाम है। प्राचीन काल से ही सामाजिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये नियमों का निर्माण किया जाता रहा है। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार नियम व कानून बनाये जाते रहे हैं। समाज में जैसे-जैसे विभिन्न प्रकार के समुदाय या संगठन वने, उन्हीं के अनुसार विभिन्न प्रकार के नियम व कानून बने।

कहने का तात्पर्य यह है कि समाज के विकास के साथ ही कानूनों का भी विकास हुआ। समाज की व्यवस्था में परिवर्तन होने के साथ-साथ कानून भी बदलते रहे। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार मनुष्य का विचार था कि यदि इन नियमों का पालन नहीं किया गया, तो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। अतः लोग इन नियमों तथा कानूनों का पालन इसलिये करते हैं, क्योंकि ये उनकी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

उपर्युक्त तीनों ही सिद्धान्तों में यद्यपि सत्य आंशिक रूप से विद्यमान है किन्तु उनमें से कोई भी सिद्धान्त पूर्णरूप से विधि की उत्पत्ति तथा उसके विकास पर प्रकाश नहीं डालता। विधियाँ आज्ञात्मक तो हैं, परन्तु सारी विधियाँ आज्ञाप्रधान होती हों, ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार, सम्पूर्ण विधियों का निर्माण रीति-रिवाज़ों तथा प्रथाओं के आधार पर नहीं होता। सारी ही विधियों का पालन लोग इसलिये करते हैं कि ऐसा न करने से सामाजिक व्यवस्था भंग हो जायेगी– इसमें भी केवल आंशिक सत्य ही है तथापि, 'विधि के सम्बन्ध में इतनी बात तो सर्वमान्य है कि इसे राज्य की मान्यता प्राप्त होनी चाहिये, अन्यथा जनता द्वारा उसका पालन कराये जाने में कठिनाई उत्पन्न होगी।' इस दृष्टि से आज्ञा सिद्धान्त की उपेक्षा करना सम्भव नहीं होगा।

अच्छे तथा बुरे कानून क्या हैं (What is a Good or Bad Laws)

राज्य कानूनों का निर्माण इसलिये करता है, ताकि नागरिकों का सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन सुखी एवं शांतिमय बने। कानूनों के निर्माण के कुछ विशिष्ट उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों का वर्णन पीछे किया जा चुका है। अतः जो कानून इन उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं अथवा इन उद्देश्यों की कसौटी पर खरे उतरते हैं, उन्हें ही अच्छे कानून कहा जा सकता है। इसके विपरीत, जो कानून उन उद्देश्यों को पूरा करने में असफल हो जायें उन्हें बुरे कानून कहा जायेगा।

वस्तुतः कानून कोई स्वयं उद्देश्य नहीं है, बल्कि उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है। कानून का सर्वोच्च उद्देश्य होता है, लोकहित, इस उद्देश्य की प्राप्ति में होने वाली सफलता या असफलता को ही अच्छे या बुरे कानूनों की पहचान कहा जा सकता है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि कानून राज्य की आज्ञा है। उसके विषय में अच्छे या बुरे का कोई प्रश्न नहीं होना चाहिये। प्रत्येक नागरिक को हर स्थिति में कानून का पालन करना चाहिये। परन्तु यह धारणा सही नहीं है। आज्ञापालन का तत्व मुख्य होते हुए भी कानून को उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कानून वनाते समय राज्य का यह दृष्टिकोण होता है कि वह लोकहित के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति करे। यदि कोई कानून ऐसा नहीं करता है अथवा वह जनविरोधी या पक्षपातपूर्ण है, तो कदापि उसे अच्छा कानून नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से अव हम इस वात पर विचार करेंगे कि एक अच्छे कानून के लक्षण क्या होने चाहियें।

अच्छे कानून के लक्षण, गुण या विशेषतायें
(Characteristics of Good Laws)

एक अच्छे कानून में सामान्यतः निम्न वातें पाई जानी चाहियें–

(1) स्थायित्व– कानूनों में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होना चाहिये। उनमें स्थायित्व होना चाहिये।

(2) स्पष्टता– अच्छे कानून के लिये यह भी आवश्यक है कि वह स्पष्ट हो, ताकि लोग उसके भिन्न-भिन्न अर्थ न लगा सकें।

(3) सरलता– कानून अधिक कठोर न होकर सरल होने चाहियें। अधिक कठोर कानूनों से जनता में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है।

(4) निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण– अच्छे कानूनों के लिये यह भी आवश्यक है कि वह निष्पक्ष तथा न्यायसंगत हों। वह सभी नागरिकों को समान दृष्टि से देखें और सभी के साथ न्याय करें।

(5) विकास में सहायक– वे ही कानून अच्छे माने जाते हैं जो नागरिक के विकास में सहायक होते हैं तथा सुखी व शांतिपूर्ण सामाजिक जीवन के निर्माण में मदद करते हैं।

अच्छे कानून के लक्षण
1. स्थायित्व
2. स्पष्टता
3. सरलता
4. निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण
5. विकास में सहायक
6. भयरहित
7. अधिकारों के रक्षक
8. जन-प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित

(6) भयरहित– जिन कानूनों का पालन लोग भय से करें उन्हें अच्छे कानूनों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अच्छे कानूनों के लिये यह जरूरी है कि लोग उनका स्वेच्छा से पालन करें।

(7) अधिकारों के रक्षक– अच्छे कानूनों का एक लक्षण यह भी है कि वे जनता के अधिकारों की रक्षा करें और उन्हें कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा दें।

(8) जन-प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित– अच्छे कानून उन्हें ही कहा जा सकता है जिनका निर्माण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा जनता की इच्छाओं के अनुसार किया गया हो।

उपर्युक्त आठ कसौटियों पर खरे उतरने वाले कानून ही अच्छे कानून कहे जाते हैं। परन्तु आजकल यह देखा जाता है कि अधिकांश देशों में कानून ऐसे भी होते हैं जो उपर्युक्त कसौटियों पर खरे नहीं उतरते। इस स्थिति में क्या सभी कानूनों का पालन करना नागरिक के लिये अनिवार्य है ? इस समस्या पर हम निम्न पंक्तियों में विचार करेंगे–

कानून का पालन करना क्यों आवश्यक है ?
(Why do we obey Laws)
तथा
क्या मनुष्य कानून की अवहेलना कर सकता है ?

राज्य के कानूनों के सम्बन्ध में कई प्रश्न हमारे समक्ष उठ खड़े होते हैं, जैसे कि मनुष्य राज्य के कानूनों का पालन क्यों करते हैं ? क्या हमें प्रत्येक दशा में राज्य के कानूनों का पालन करना चाहिये और किसी भी स्थिति में उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विचारकों ने अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं।

(1) कुछ लोगों का मत है कि राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने पर चूँकि दण्ड मिलता है, अतः दण्ड के भय से लोग राज्य के कानूनों का पालन करते हैं। यह बात आंशिक रूप से सत्य भी है। (2) कुछ लोगों की धारणा है कि राज्य की आज्ञा ईश्वर की आज्ञा होती है, अतः उनको न मानना ईश्वर का विरोध करना है। यह एक प्राचीन रूढ़िवादी विचार है। (3) अनेक लोग आलस्यवश ही कानूनों का पालन करते हैं। वे सोचते हैं कि कानून का उल्लंघन करके क्यों वेकार सिरदर्द मोल लिया। अतः वें बिना किसी संकोच के सभी कानूनों का पालन करते हैं।

आधुनिक युग के विचारकों का मत है कि मनुष्य स्वभाव एवं आवश्यकतावश ही राज्य के कानूनों का पालन करता है। मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के लिये ही राज्य की स्थापना की है। राज्य इसके लिये विकास की अनेक सुविधायें जुटाता है, अतः वह स्वाभाविक रूप तथा स्वेच्छा से ही राज्य की आज्ञाओं तथा राज्य के कानूनों का पालन करता है। तथ्य यह है कि विभिन्न व्यक्ति अनेक कारणों से राज्य के कानूनों का पालन करते हैं; कोई भय से, कोई परम्परा से, कोई लाभ की दृष्टि से, कोई आलस्यवश, तो कोई अपना नैतिक कर्त्तव्य मानकर।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या हमें प्रत्येक स्थिति में राज्यों के कानूनों का आँख मींचकर पालन करना चाहिये ?

सदा आज्ञापालन (एकमत)

इस विषय में भी कुछ लोगों का यह मत है कि हमें किसी भी दशा में राज्य के कानूनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। उनका कहना है कि प्रत्येक कानून मनुष्य को अराजकता की स्थिति से बचाता है। राज्य के कानूनों की अवहेलना करने से अराजकता उत्पन्न हो जायेगी, जिससे न मानव सुरक्षित रहेगा और न समाज। **अतः राज्य के कानूनों की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिये।**

अवहेलना हो सकती है ?

उपर्युक्त मत के समर्थकों का दोष यह है कि वे राज्य और सरकार में भेद नहीं करते। राज्य के किसी कानून-विशेष को न मानने से सरकार के विरुद्ध जनता में असन्तोष का ही प्रदर्शन होता है, उसे राज्य के विरुद्ध विद्रोह की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सरकार का कर्त्तव्य होता है कि वह नागरिकों के विकास के लिये तथा सुखी सामाजिक जीवन के लिये समुचित सुविधायें प्रदान करे। यदि कोई सरकार ऐसा नहीं करती और सार्वजनिक हित के विरुद्ध कार्य करती है तो हमें उसका विरोध करना चाहिये। **अत्याचार सहन करना अत्याचार करने से भी बुरा है।**

अवहेलना कब और कैसे ?

परन्तु मनुष्य को राज्य, शासन या सरकार के किसी भी नियम, कानून या उसकी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन तथा विरोध केवल तभी करना चाहिये, जबकि वह देश-हित तथा लोक-हित के विरुद्ध हो और जनमत उसको न चाहता हो। इस स्थिति में मनुष्य को उस नियम या कानून का भी पालन करते हुए **सर्वप्रथम** शांतिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों से ही उसका विरोध तथा उल्लंघन करना चाहिये। सभाओं द्वारा तथा समाचार-पत्रों द्वारा राज्य के उस लोक-हित विरोधी अथवा अन्यायपूर्ण कानून के विरुद्ध प्रचार करना चाहिये।

यदि इस पर भी अत्याचारी शासन उस कानून को वापस न ले, तो विशेष परिस्थितियों में तथा स्थिति अधिक संकटपूर्ण होने पर सत्याग्रह अथवा अहिंसक आन्दोलन द्वारा विरोध करना चाहिये। **किन्तु जब तक कानूनी तथा वैधानिक साधन उपलब्ध हों, तब तक तीव्र आन्दोलन आदि का आश्रय लेना उचित नहीं है।** तोड़-फोड़ तथा हिंसक कार्य करना तो किसी भी दशा में उचित नहीं है। साधारण स्थिति में राज्य के कानूनों की अवहेलना करना न तो उचित है और न वांछनीय।

जैसा कि बर्क ने कहा है कि, **"विशेष परिस्थितियों में नागरिक को कानून के विरोध का अधिकार है। किन्तु इस अधिकार का प्रयोग औषधि के रूप में ही होना चाहिये, प्रतिदिन के भोजन के रूप में नहीं।"**

"The right to resist is the medicine of the constitution and not is daily bread."

—Burke

कानून और नैतिकता में सम्बन्ध
(Relation between Law and Morality)

नैतिकता तथा कानून में सदैव **घनिष्ठ सम्बन्ध** रहा है। दोनों का उद्देश्य नैतिक जीवन के उच्चतम आदर्शों की स्थापना करना है। कानून और नैतिकता एक-दूसरे पर आश्रित और एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति यदि नैतिक है, तो राज्य भी नैतिक होगा। व्यवहार में नैतिकता की अभिव्यक्ति ही कानून है। राज्य कानून द्वारा नैतिकता को बढ़ावा देता है।

विल्सन ने ठीक ही कहा कि, **"कानून देश की नैतिक प्रगति के दर्पण होते हैं।"**

गिलक्राइस्ट के मतानुसार, "नैतिक प्रहरी के रूप में राज्य एक ओर तो अच्छी विधियाँ बनाता है जो जनता के सर्वोच्च नैतिक हितों के अनुकूल होती हैं और दूसरी ओर, उन विधियों को रद्द करता है जो जनता के लिये अहितकर हो गई हों।"

अन्तर–

घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में अन्तर पाया जाता है जो निम्न प्रकार है–

(1) कानून राजनीति का विषय है, नैतिकता नीतिशास्त्र का।

(2) नैतिकता का सम्बन्ध आन्तरिक विचारों और वाह्य कृत्यों से होता है, जवकि कानून का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के बाहरी कामों से है।

(3) नैतिकता उचित और अनुचित को देखती है, जवकि कानून उपयोगिता और सुविधा पर आधारित है। इसीलिये बहुत-सी बातें नैतिक दृष्टि से गलत होते हुए भी कानूनी दृष्टि से सही होती हैं।

(4) कानून अधिक स्पष्ट तथा सुनिश्चित होता है। नैतिकता इतनी स्पष्ट और निश्चित नहीं होती।

(5) कानून के पीछे राज्य की शक्ति होती है। नैतिकता के पीछे सामाजिक निन्दा, तिरस्कार और बहिष्कार का भय होता है।

कानून और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध
(Relation between Law and Liberty)

प्रथम धारणा– कानून और स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो धारणायें प्रचलित हैं– **प्रथम धारणा के अनुसार, कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं।** स्वतन्त्रता का अर्थ होता है, प्रतिबन्धों का अभाव और कानून व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाता है। इन लोगों के मतानुसार, कानूनों के सम्मुख स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती। कानून का नियन्त्रण जितना अधिक बढ़ता है, स्वतन्त्रता उतनी ही मात्रा में कम होती जाती है।

द्वितीय धारणा– परन्तु यह धारणा सही नहीं है। इसके समर्थक स्वतन्त्रता व कानून के वास्तविक अर्थ व उपयोग से अनभिज्ञ हैं। इसके विपरीत दूसरी धारणा के समर्थकों का कहना है कि **कानून व स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।** **"Law and liberty are not contrary but complimentary to each other."** पर वास्तविक स्वतन्त्रता और अच्छे कानून में कोई विरोध नहीं है। प्रो० लास्की ने लिखा है कि **"जहाँ कानून नहीं, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं।"**

"Where there is no law, there is no freedom." **—Laski**

इस विचारधारा के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं–

(1) कानून स्वतन्त्रता का जनक है– कानून ही स्वतन्त्रता को जन्म देता है। कानूनों द्वारा नागरिकों को विभिन्न प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। कानून ही समाज के निर्वल लोगों को अधिकार तथा स्वतन्त्रता प्रदान करता है। कानून ने ही हरिजनों को अनेक सामाजिक अधिकार प्रदान किये हैं। कानून के बिना सव लोग मनमानी करेंगे, जिससे समाज में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी और **'जिसकी लाठी उसकी भैंस'** की कहावत चरितार्थ हो जायेगी। ऐसी दशा में शक्तिशाली लोग निर्वलों का शोषण करेंगे। अतः कानून ही समाज के सभी वर्गों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

(2) कानून स्वतन्त्रता का पोषक व रक्षक है– कानून स्वतन्त्रता का जनक ही नहीं, अपितु उसका रक्षक भी है। राज्य कानून बनाकर हमें विभिन्न प्रकार के अधिकार तथा उन अधिकारों

के उपभोग की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यदि हमारी इस स्वतन्त्रता में कोई व्यक्ति हस्तक्षेप करता है या बाधा डालता है, तो राज्य कानून द्वारा ही उसको दण्डित करता है और हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

(3) कानून स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है– यह कहना गलत है कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी है। कानून तो केवल मनमाने कार्य करने पर प्रतिबन्ध लगाता है। कानून जिस स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है वह स्वतन्त्रता नहीं, अपितु उच्छृंखलता अथवा अराजकता होती है। कानून स्वतन्त्रता के अन्तर्गत उत्पन्न हो जाने वाली गन्दगी को दूर करके उसे निर्बल बनाता है।

(4) कानून स्वतन्त्रता को सीमा से बाहर नहीं जाने देते– जैसे कि बताया जा चुका है, स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रणों तथा वन्धनों का पूर्णतया अभाव नहीं है। पूर्ण वन्धन रहित स्वतन्त्रता को अराजकता कहते हैं। सामाजिक हित की दृष्टि से स्वतन्त्रता के साथ प्रतिवन्धों का होना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिये; यदि हमें सड़क पर चलने की स्वतन्त्रता है, तो हमें इस स्वतन्त्रता का उपभोग कुछ नियमों के अन्तर्गत ही करना होगा। हमें सड़क के बाईं ओर चलना होगा, सड़क के मध्य में नहीं चलना होगा तथा सड़क पार करते-समय यातायात के नियमों का पालन करना होगा, आदि। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि सड़क पर चलने की हमारी स्वतन्त्रता एक सीमा से बाहर न चली जाये।

स्वतन्त्रता को सीमा में बनाये रखने में कानून हमारे बड़े सहायक होते हैं। कानून ही हमें बतलाते हैं कि स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय हम क्या कार्य करें और क्या न करें। स्वतन्त्रता को सीमा में रखना सामाजिक हित की दृष्टि से वाँछनीय होता है। यदि लोग इस सीमा का अतिक्रमण करते हैं, तो कानून उन्हें दण्डित भी करता है।

(5) कानून के बिना स्वतन्त्रता अराजकता बन जाती है– मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि उससे अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण न हो। यदि उसने अन्य लोगों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखे बिना मनमानी की, तो समाज में अराजकता तथा कुव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी और मनुष्य का सामाजिक जीवन अशांत हो जायेगा। कानून स्वतन्त्रता को अराजकता नहीं बनने देता।

(6) कानून सभी की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है– समाज में कुछ न कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जो मनमानी करके निर्बल लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। कानून ही ऐसे लोगों को भी न्याय प्रदान करके उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के पोषक तथा संरक्षक हैं। **"बिना स्वतन्त्रता के कानून दमन के अस्त्र बन जाते हैं और बिना कानून के स्वतन्त्रता अराजकता बन जाती है।"** प्रजातन्त्र शासन में कानून स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करते। व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिये अच्छे कानूनों और नियन्त्रणमुक्त स्वतन्त्रता दोनों का ही अस्तित्व आवश्यक है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) "विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।" इस कथन को समझाइये। क्या आप इस मत से सहमत हैं ? (1976, 78)

(2) कानून से आप क्या समझते हैं ? समाज में इनका क्या महत्व है ? (1968)

(3) विधि के प्रमुख भेद बताइये। अच्छी विधि में क्या गुण होने चाहियें ? (1972)

(4) विधि की परिभाषा दीजिये। विधि तथा स्वतन्त्रता का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। (1973)

(5) टिप्पणी लिखिये–

(i) विधि के स्रोत।

(ii) विधि (1968, 74, 90, 91)

(1969)

(6) विधि का क्या अर्थ है ? विधियाँ कितने प्रकार की होती हैं ? प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दीजिये। (1976)

(7) "विधि का पालन स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है।" समझाइये। (1990)

(8) कानून की परिभाषा दीजिये। अच्छे कानून के क्या लक्षण हैं ? क्या कानून का पालन स्वतन्त्रता में बाधक है ? (1982)

(9) कानून की परिभाषा कीजिये। इसके विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिये।

(10) 'कानून' की परिभाषा कीजिये। अच्छे कानून के लक्षणों पर प्रकाश डालिये एव स्रोतों की व्याख्या कीजिये। (1988)

(11) विधि के मुख्य स्रोत बताइये। हम विधि का पालन क्यों करते हैं ? (1977, 90)

(12) विधि की परिभाषा दीजिये। इसके कितने स्वरूप या प्रकार हैं ? (1994)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– कानून क्या है ?

उत्तर– कानून मनुष्य के बाह्य आचरण को नियमित करने वाले वे नियम हैं जिन्हें सरकार लागू करती है और जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये जरूरी होता है। अन्य शब्दों में, "कानून बाह्य कार्यों के बारे में वह सामान्य नियम है जिसे सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता मनवाती है।"

प्रश्न 2– कानूनों के चार लक्षण या तत्व या विशेषतायें बताइये।

उत्तर– कानून के लक्षण ये हैं– (1) कानून मनुष्य समाज में सामान्य हित के लिये लागू होने वाला एक सामान्य नियम है, (2) इसका निर्माण तथा क्रियान्वयन सरकार करती है, (3) नागरिकों के लिये इसका पालन करना अनिवार्य होता है, (4) इनका सम्वन्ध नागरिकों के बाह्य आचरण से होता है।

प्रश्न 3– कानूनों के स्रोत क्या हैं ?

उत्तर– कानून के स्रोत हैं– रीति-रिवाज, धर्म, न्यायाधीशों के निर्णय, औचित्य तथा व्यवस्थापिका। (प्रत्येक पर दो-दो वाक्य लिखिये)।

प्रश्न 4– अच्छे कानून के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– स्थायित्व, सर्वव्यापकता, सूक्ष्म, सरलता, सर्वोच्चता तथा आदर्शों की स्थापना में सहायक– ये अच्छे कानून के लक्षण हैं। (प्रत्येक पर एक-एक या दो-दो वाक्य लिख लीजिये)।

प्रश्न 5– कानून का स्वतन्त्रता से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– (1) कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। (2) कानून स्वतन्त्रता का जन्मदाता व रक्षक है। (3) कानून का पालन करने से ही स्वतन्त्रता कायम रहती है। (4) इनके बीच शरीर व आत्मा जैसा सम्बन्ध है। (5) कानून के बिना स्वतन्त्रता अराजकता बन जाती है।

प्रश्न 6– क्या कानून की अवहेलना की जा सकती है ?

उत्तर– प्रजातन्त्र में सभी कानून जनता के प्रतिनिधियों द्वारा जन-कल्याण के लिये बनाये

जाते हैं। अतः सामान्यतः सभी कानूनों का पालन किया जाना चाहिये। परन्तु कोई कानून जन-विरोधी या अनैतिक हो तो संवैधानिक और शांतिपूर्ण उपायों द्वारा उसका विरोध किया जा सकता है। पर, इसके लिये हिंसात्मक आन्दोलन कदापि नहीं किया जाना चाहिये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– अच्छी विधि की कोई दो विशेषतायें या गुण बताइये। (1990)

उत्तर– ये हैं– (i) स्पष्टता व सरलता, (ii) निष्पक्षता।

प्रश्न 2– विधि (कानून) के दो प्रमुख स्रोत बताइये। (1987)

उत्तर– ये हैं– (i) विधान मण्डल, (ii) रीति-रिवाज व प्रथायें।

प्रश्न 3– कानून के दो उद्देश्य बताइये।

उत्तर– (i) शान्ति व व्यवस्था की स्थापना, (ii) अधिकारों की रक्षा।

प्रश्न 4– 'विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।' इस विचार के प्रवर्तक का नाम बताइये।

उत्तर– जॉन आस्टिन।

प्रश्न 5– वर्तमान युग में कानून का सबसे प्रमुख स्रोत क्या है ? (1993)

उत्तर– विधान मण्डल।

प्रश्न 6– वे कौन से कानून होते हैं जिन्हें राज्यों से बलपूर्वक नहीं मनवाया जा सकता है ?

उत्तर– अन्तर्राष्ट्रीय कानून।

प्रश्न 7– व्यक्ति कानूनों का पालन क्यों करते हैं ?

उत्तर– कुछ लोग दण्ड के भय से तथा कुछ लोग कर्त्तव्य व आवश्यकतावश कानूनों का पालन करते हैं।

प्रश्न 8– विधि की एक परिभाषा लिखिये। (1992)

उत्तर– आस्टिन के अनुसार, "विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।"

□□

15

स्वतन्त्रता और समानता
(Liberty and Equality)

"सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था स्वतन्त्रता है।"

—मैकेनी

"समानता का अर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए समान सुविधायें प्रदान करना।"

—पं० नेहरू

"समानता के बिना स्वतन्त्रता खोखली होगी और स्वतन्त्रता के बिना समानता का कोई अर्थ नहीं होगा।"

—लॉस्की

इस अध्याय में क्या है ?

(1) स्वतन्त्रता का भ्रमात्मक अर्थ, (2) स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ, (3) स्वतन्त्रता की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें, (4) स्वतन्त्रता के भेद, (5) स्वतन्त्रता की आवश्यकता व महत्व, (6) स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता, (7) स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध, (8) समानता का भ्रमात्मक अर्थ, (9) समानता का वास्तविक अर्थ, (10) समानता के दो रूप, (11) समानता की कुछ परिभाषायें, (12) समानता के भेद या प्रकार, (13) स्वतन्त्रता व समानता के सम्बन्ध, (14) स्वतन्त्रता व समानता परस्पर विरोधी हैं, (15) स्वतन्त्रता व समानता एक-दूसरे की पूरक हैं, (16) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (17) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को भारी महत्व प्रदान किया जाता है, किन्तु स्वतन्त्रता एवं समानता के बिना न तो अधिकारों का उपयोग किया जा सकता है और न कर्त्तव्यों का पालन। अतः स्वतन्त्रता व समानता लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के दो प्रमुख आधार तथा प्रजातन्त्र की दो लाडली बेटियाँ हैं। इस अध्याय में हम स्वतन्त्रता व समानता की ही विस्तृत विवेचना करेंगे।

स्वतन्त्रता (Liberty)

स्वतन्त्रता का भ्रमात्मक अर्थ
(Wrong Conception of Liberty)

'स्वतन्त्रता' का शाब्दिक अर्थ है, 'अपना शासन' या 'अपना अधिकार'। जब किसी व्यक्ति पर अन्य किसी दूसरे का अधिकार या शासन न होकर स्वयं उसका ही शासन होता है, तो उस व्यक्ति को स्वतन्त्र कहा जाता है। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से 'स्वतन्त्रता' जीवन की वह दशा है जिसमें व्यक्ति पर किसी बाहरी व्यक्ति का कोई बन्धन नहीं होता और वह स्वयं अपने ही शासन या अधिकार में रहता है।

इस शाब्दिक व्याख्या के अनुसार तो स्वतन्त्रता का यह अर्थ हुआ कि व्यक्ति को मनमानी करने की छूट होनी चाहिये और उसके कार्यों पर किसी प्रकार का बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये।

परन्तु यह स्वतन्त्रता का सही अर्थ नहीं है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता का अर्थ होगा किसी भी प्रकार के कानून का अभाव और कानून के अभाव की स्थिति को 'स्वतन्त्रता' न कहकर 'अराजकता' कहना ज्यादा उचित होगा। मनमाना कार्य करने की स्वतन्त्रता तो समाज के सभी

व्यक्तियों को प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी मनमानी स्वतन्त्रता तो समाज में एक-दो सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकती है। इस दशा में अन्य व्यक्तियों को उनके अधीन स्वतन्त्रता-विहीन अवस्था में रहना होगा।

स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ
(Real Conception of Liberty)

वास्तव में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज में रहकर दूसरों के साथ मिलकर काम करना होता है। अतः यह आवश्यक है कि उसके कार्यों पर कुछ बन्धन तथा प्रतिबन्ध लगाये जायें, जिससे कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता के लिये कुछ प्रतिबन्धों का होना आवश्यक है। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि व्यक्ति को कार्य करने की छूट वहाँ तक होनी चाहिये, जहाँ तक उससे अन्य व्यक्तियों के कार्यों में बाधा न पहुँचे।

वास्तव में स्वतन्त्रता बन्धनों का अभाव नहीं है, वरन् बंधनों से जकड़ा हुआ एक अधिकार है। यह मनमानी करने की आजादी नहीं है, वरन् अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिये सामाजिक नियमों के पालन करने का दायित्व है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें मनुष्य के मूल अधिकारों की रक्षा हो और ऐसे बन्धनों का अभाव हो जिनसे व्यक्ति के विकास में बाधा पड़ती हो। स्वतन्त्रता एक ऐसी स्थिति है जिसमें मनुष्यों को अपने अधिकारों के उचित प्रयोग की सुविधा हो।

स्वतन्त्रता वह अधिकार है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके, पर दूसरों के विकास में किसी प्रकार की बाधा न डाले, क्योंकि व्यक्ति के प्रत्येक कार्य से समाज प्रभावित होता है। इस प्रकार, "स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने की आजादी है जिनके माध्यम से व्यक्ति अपना विकास कर सके और समाज का किसी प्रकार से अहित न हो।"

स्वतन्त्रता की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें
(Some Definition of Liberty)

स्वतन्त्रता की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) पेन के अनुसार– "स्वतन्त्रता उन बातों को करने के अधिकार हैं, जो दूसरों के अधिकारों के विरुद्ध न हों।"

(2) स्पेन्सर के मत में– "प्रत्येक व्यक्ति इच्छानुसार कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है, बशर्ते कि वह अन्य मनुष्यों की समान स्वतन्त्रता में बाधा न पहुँचाये।"

"Every person is free to act according to his own will, provided he does not hinder with the similar liberty of other Persons." **—Spencer**

(3) बार्कर के शब्दों में– "जिस प्रकार कुरूपता का अभाव ही सुन्दरता नहीं है, उसी प्रकार प्रतिबन्धों के अभाव का नाम स्वतन्त्रता नहीं है, अपितु अवसरों की विद्यमानता को स्वतन्त्रता कहते हैं।"

(4) प्रो० लॉस्की के अनुसार– "स्वतन्त्रता उस वातावरण की स्थापना करता है जिसमें मनुष्यों को अपने विकास के सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हों।"

"Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their best selves." **—Laski**

(5) ह्वाइट के शब्दों में– "स्वतन्त्रता केवल वस्तु है, जिसे तुम उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक तुम उसे दूसरों को देने के इच्छुक न हो।"

(6) मैकेनी के मतानुसार– "सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था ही स्वतन्त्रता है।"

"Freedom is not absence of all restraints, but rather the substitution of rational ones for the irrational ones."

—Mackechnie

(7) ग्रीन के शब्दों में– "स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने अथवा उन वस्तुओं का उपभोग करने की शक्ति है जो कार्य करने तथा उपभोग करने योग्य हैं।"

"Liberty is the positive power of doing or enjoying something worth doing or worth enjoying."

—Green

इस प्रकार, स्वतन्त्रता का अर्थ है उन परिस्थितियों का होना जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके और उन परिस्थितियों को रोकना या दूर करना जो मनुष्य के व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास में बाधक बनें।

स्वतन्त्रता के भेद या प्रकार
(Kinds of Liberty)

मनुष्य अपने सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करके अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। अतः यह आवश्यक है कि उसे प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो। इसी दृष्टि से स्वतन्त्रता के कई भेद किये गये हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं–

(1) प्राकृतिक या स्वाभाविक स्वतन्त्रता– मानव स्वभाव से ही एक स्वतन्त्र प्राणी है। प्रसिद्ध विद्वान् रूसो का कहना था कि, "मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र होता है किन्तु वह सर्वत्र वन्धनों में बँध जाता है।"[1] इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य में सदा ही स्वतन्त्रता की भावनायें विद्यमान रही हैं और स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये उसने बड़े-बड़े त्याग और वलिदान किये हैं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि बिना स्वतन्त्रता के वह अपना विकास नहीं कर सकता। अतः मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये अधिकाधिक स्वाभाविक स्वतन्त्रता एवं सुअवसर उपलब्ध होने चाहियें।

(2) सामाजिक स्वतन्त्रता– सामाजिक स्वतन्त्रता का अर्थ है कि व्यक्ति को सामाजिक जीवन में सभी सामाजिक अधिकार प्राप्त हों तथा कोई भी व्यक्ति या राज्य उसमें बाधा न पहुँचाये। सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर ही व्यक्ति को समाज में उन्नति के समान अवसर प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये; पहले हिन्दु समाज में हरिजनों को अनेक सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे जिसके कारण वे पूर्ण विकास न कर सके। अब भारतीय संविधान के अन्तर्गत सभी वर्गों को समान रूप से सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

(3) राजनीतिक स्वतन्त्रता– इस स्वतन्त्रता का अर्थ है कि सभी नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और वे राज्य के शासन-प्रबन्ध में भाग ले सकें। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्दर मत देने के तथा चुनाव में खड़े होने आदि के अधिकार सम्मिलित होते हैं। लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में इस स्वतन्त्रता का भारी महत्व है।

गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यावहारिक रूप में प्रजातन्त्र का दूसरा नाम है।"

लॉस्की के अनुसार, "राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने की क्षमता ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।"

"Political liberty means the power to be active in the affairs of the State."

—Laski

---

1. *"Man is born free, but everywhere he is in chains."* — **Rousseau**

(4) आर्थिक स्वतन्त्रता– आर्थिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि राज्य के सामान्य नियमों का ध्यान रखते हुये व्यक्ति को सम्पत्ति रखने, कोई भी व्यवसाय चुनने अथवा इच्छानुसार कोई भी आर्थिक कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

लॉस्की के मतानुसार, "आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो।"

"By economic liberty means security and the opportunity to find reasonable significance in the earning of daily bread."

—Laski

आज का युग तो आर्थिक युग है। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता का भी उपयोग नहीं कर सकता। आर्थिक पिछड़ेपन के रहते हुए व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। इसी कारण आजकल सभी राज्यों में आर्थिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की जाती है।

(5) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता– राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की परतन्त्रता से मुक्त होने, स्वतन्त्र रहने तथा इच्छानुसार अपनी शासन-व्यवस्था करने का अधिकार हो। आत्म-निर्णय का अधिकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आधार है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अन्य सभी स्वतन्त्रताओं की जड़ है। इसके बिना व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक स्वतन्त्रता आदि का कोई मूल्य नहीं। 15 अगस्त, 1947 को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही भारतीय नागरिकों को अन्य सभी प्रकार की स्वतन्त्रतायें भी प्राप्त हो गई थीं।

स्वतन्त्रता के भेद

1. प्राकृतिक या स्वाभाविक स्वतन्त्रता
2. सामाजिक स्वतन्त्रता
3. राजनीतिक स्वतन्त्रता
4. आर्थिक स्वतन्त्रता
5. राष्ट्रीय स्वतन्त्रता
6. धार्मिक स्वतन्त्रता
7. भाषण व लेखन की स्वतन्त्रता
8. नागरिक स्वतन्त्रता
9. नैतिक स्वतन्त्रता
10. वैधानिक स्वतन्त्रता
11. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

(6) धार्मिक स्वतन्त्रता– धार्मिक स्वतन्त्रता से आशय है कि व्यक्ति को इस बात की छूट होनी चाहिये कि वह किसी भी धर्म का पालन कर सके। उसको नास्तिक अथवा आस्तिक बनने की स्वतन्त्रता हो। राज्य अपना कोई धर्म किसी पर न लादे। वह सभी धर्म वालों के साथ समान व्यवहार करे। किन्तु धार्मिक स्वतन्त्रतां के लिये यह आवश्यक है कि लोगों में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव हो; अन्यथा यदि लोग धर्म के नाम पर लड़ाई करते हैं, तो राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है।

(7) भाषण व लेखन की स्वतन्त्रता– मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये यह भी आवश्यक है कि उसे अपने विचार प्रकट करने तथा लेखादि लिखने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। लोकतन्त्र में इस स्वतन्त्रता का भारी महत्व होता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है तथा कोई ऐसी बात कहलाता है या ऐसा लेख लिखता है जो देश-हित के विरुद्ध हो, तो सरकार उस पर प्रतिबन्ध भी लगा देती है।

(8) नागरिक स्वतन्त्रता– नागरिक स्वतन्त्रता वह स्वतन्त्रता है जो हमें समाज में प्राप्त होती है। ये वे अधिकार और विशेषाधिकार हैं जिनकी उत्पत्ति राज्य अपने नागरिकों के लिये करता है और उनकी रक्षा करता है। अपने सम्बन्ध में निर्णय करने के पूर्ण अधिकार तथा अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता को नागरिक स्वतन्त्रता कहते हैं। दूसरी ओर, इसका अर्थ यह भी है कि राज्य के नागरिकों के कार्य में कोई बाहरी शक्ति दखल नहीं देती। नागरिक स्वतन्त्रता का जन्म राज्य के कानूनों से होता है।

गैटेल के शब्दों में, "नागरिक स्वतन्त्रता उन अधिकारों को कहते हैं जिन्हें राज्य अपने नागरिकों को देता है और रक्षा करता है।"

(9) नैतिक स्वतन्त्रता– अपने ही समान सब जीवों को मानना, सभी में आत्म-दर्शन करना और प्राणियों की सेवा करते हुए नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना नैतिक स्वतन्त्रता है। लोकतन्त्रात्मक शासन के लिये नैतिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक होती है। नैतिक स्वतन्त्रता से मनुष्य का सच्चा विकास सम्भव होता है।

(10) वैधानिक स्वतन्त्रता– वैधानिक स्वतन्त्रता से आशय है, अपनी कठिनाइयाँ व शिकायतें दूर करने के लिये नागरिकों को वैधानिक उपाय अपनाने तथा न्यायालय की शरण में जाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। दूसरी ओर इसका अर्थ यह भी है कि प्रत्येक देश को बिना किसी बाहरी प्रभाव या दवाव के अपना संविधान बनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(11) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता– व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के वहुमुखी विकास के लिये इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। उदाहरण के लिये; भोजन, वस्त्र, धार्मिक संस्कार, रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में उसे इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इसीलिये मिल ने कहा है कि, **"अपने ऊपर, अपने शरीर तथा मस्तिष्क पर व्यक्ति सम्प्रभु है।"**

किन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अन्य लोगों की स्वतन्त्रता को हानि नहीं पहुँचनी चाहिये। मिल ने ठीक ही कहा है कि, **"एक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये, बशर्ते कि उसकी स्वतन्त्रता से दूसरों की स्वतन्त्रता की कोई हानि न हो।"**

स्वतन्त्रता की आवश्यकता तथा महत्व
(Necessity and Importance of Liberty)

स्वतन्त्रता की आवश्यकता के सम्वन्ध में कई विचारकों ने अलग-अलग विचार प्रकट किये हैं। अतः इस सम्बन्ध में कई प्रश्न सामने आते हैं। **क्या मनुष्य स्वतन्त्रता के बिना अच्छा सामाजिक जीवन व्यतीत नहीं करता ? स्वतन्त्रता सामाजिक संगठन के लिये क्यों आवश्यक होती है ? क्या समाज में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये ? क्या मानव-विकास के लिये स्वतन्त्रता आवश्यक है ? क्या स्वतन्त्रता के बिना समाज उन्नति नहीं कर सकता है ?** इन प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें प्रचलित हैं–

प्रथम विचारधारा

इस मत के समर्थक स्वतन्त्रता को मनुष्य तथा समाज दोनों के लिये ही उपयोगी नहीं समझते। इन लोगों के अनुसार समाज में अधिकतर लोग अशिक्षित होते हैं। उन्हें अच्छे व बुरे की ठीक से पहचान नहीं होती और वे अपने हित तथा अहित का निर्णय तर्क व विवेक के आधार पर नहीं करते। अधिकांश लोगों में स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति नहीं होती। वे तो रेडियो, समाचार-पत्रों व भाषणों से प्रभावित होते हैं। अतः यदि सभी लोगों को इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता दी गई, तो ये लोग न केवल अपना ही अहित करेंगे बल्कि समाज को भी क्षति पहुँचायेंगे।

इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार समाज का संगठन ऐसा होना चाहिये कि सबसे अधिक बुद्धिमान व कुशल व्यक्ति ही शासन करें, उन्हें ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो और अन्य लोग उनका अनुकरण करें। किन्तु आज के लोकतन्त्रीय युग में इस दृष्टिकोण को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है।

दूसरी विचारधारा

इसके विपरीत, दूसरी विचारधारा यह है कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये सभी

लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा समान अवसर प्राप्त होने चाहियें। इस विचारधारा के समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं–

(1) स्वतन्त्रता मानव-जीवन का सार है– मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्रता का प्रेमी रहा है। स्वतन्त्रता वह विचार है जो मनुष्य को पशुओं और जंगली प्राणियों से पृथक् करता है। स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं। इसके बिना मनुष्य अपना विकास नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता से रहित मनुष्य चिड़ियाघर में बन्द सिंह तथा पिंजरे में बन्द तोते के समान है जिसे यद्यपि खाने-पीने की सब चीजें प्राप्त होती हैं, परन्तु जीवन का सच्चा सुख व आनन्द नहीं मिलता। जब मछली पानी में स्वतन्त्रापूर्वक घूम सकती हैं, पक्षी आकाश में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकते हैं तब फिर मनुष्य की स्वतन्त्रता पर रोक क्यों और किस लिये ? इसीलिये तुलसीदास जी ने कहा है कि, "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।"

(2) स्वतन्त्रता व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक– मानव-जीवन के विकास के लिए स्वतन्त्रता उतनी ही आवश्यक है जितनी जीवित रहने के लिये हवा। विचार और कार्य की स्वतन्त्रता मिलने पर ही मानव ने विज्ञान, साहित्य, कला आदि के क्षेत्रों में आज इतनी उन्नति की है। स्वतन्त्र वातावरण में रहकर ही व्यक्ति नई-नई खोजों में प्रवृत्त होता है। स्वतन्त्रता के अभाव में व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियाँ कुण्ठित तथा क्षीण हो जाती हैं।

स्वतन्त्रता से रहित व्यक्ति में अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। उसका चरित्र गिर जाता है। स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य एक मनुष्य के समान नहीं, बल्कि एक मशीन के समान कार्य करता है जिसका अपना स्वयं कोई व्यक्तित्व नहीं होता। विचार व कार्य की स्वतन्त्रता के कारण ही व्यक्ति ज्ञान, विज्ञान तथा आविष्कार के क्षेत्र में नई-नई खोजें करता है। स्वतन्त्रता उन्नति की जननी है। इसके बिना मनुष्य एक कठपुतली के समान है। इसलिये बर्न्स ने कहा है कि **"स्वतन्त्रता सभ्य जीवन का आधार है।"**

(3) स्वतन्त्रता से शासन में सुधार– जिस देश में नागरिकों को विचार प्रकट करने, भाषण देने तथा लेख लिखने की स्वतन्त्रता होती है, वहाँ के नागरिक शासन को सही रास्ते पर रखते हैं। जब भी सरकार कोई जन-विरोधी कार्य करती है, तो उसकी आलोचना करके उसकी कमियों को दूर करते हैं। इस स्वतन्त्रता के बिना सरकार तानाशाही मार्ग पर बढ़ने लगती है, जिससे शासन में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ये दोष नागरिकों के व्यक्तित्व एवं सामाजिक जीवन के विकास में बाधक होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता मानव-जीवन के लिये आवश्यक एवं अनिवार्य है। स्वतन्त्र वातावरण में रहकर ही मनुष्य अपना तथा समाज का विकास करता है। स्वतन्त्रता मानव-जीवन की आत्मा है। मानव-जीवन में स्वतन्त्रता के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता
(Liberty and Sovereignty)

अनेक लोगों की यह धारणा है कि स्वतन्त्रता और राज्य की प्रभुसत्ता, दोनों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है और ये दोनों एक-दूसरे की विरोधी हैं। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है, 'बन्धनों एवं प्रतिबन्धों का अभाव' और राज्य की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत व्यक्ति पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। प्रभुसत्ता के अन्तर्गत व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी राज्य की आज्ञाओं का पालन करना होता है। अतः स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता का एक साथ रहना सम्भव नहीं है।

परन्तु यह धारणा सही नहीं है। इस धारणा का मूल कारण है स्वतन्त्रता का गलत अर्थ करना। जैसा कि हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों से पूर्णतया

मुक्त होना अथवा मनमानी करना नहीं है। इस अर्थ में तो स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता न रहकर अराजकता बन जायेगी। वह तो मानव की नहीं बल्कि पशुओं की स्वतन्त्रता बन जायेगी। इस स्थिति में समाज में अराजकता एवं कुव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। शक्तिशाली निर्वलों का शोषण करेंगे और मानव को कोई न्याय प्राप्त नहीं होगा।

ऐसी दशा में राज्य की प्रभुसत्ता ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करती है और उसे स्थायी बनाती है। प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो दूसरों के अधिकारों की चिन्ता न करके स्वतन्त्रता के नाम पर मनमानी करते हैं। राज्य ऐसे लोगों को दण्ड देकर समाज के छोटे तथा निर्बल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा का भार राज्य पर ही होता है। नागरिकों की स्वतन्त्रता में जो बाधायें उत्पन्न होती हैं, राज्य उनको दूर करता है। राज्य जितना अधिक संगठित तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न होता है, अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता की आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने में उतना ही अधिक समर्थ होता है।

राज्य सार्वजनिक हित की दृष्टि से ही स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है और ऐसी व्यवस्था करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उपयोग बिना किसी बाधा के कर सके। किन्तु यदि कोई सरकार राज्य की प्रभुसत्ता के नाम पर नागरिकों का दमन करने लगती है, तो नागरिक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हर सम्भव वैधानिक उपाय अथवा क्रांति द्वारा सरकार को बदल देते हैं, किन्तु राज्य की प्रभुसत्ता फिर भी पूर्ववत् बनी रहती है। इस प्रकार राज्य की प्रभुसत्ता स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं अपितु उसकी जनक एवं रक्षक है। प्रभुसत्ता के बिना स्वतन्त्रता जीवित नहीं रह सकती।

स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध
(Relation between Liberty and Law)

स्वतन्त्रता और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो विचारधारायें प्रचलित हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

प्रथम विचारधारा

इस विचारधारा के अनुसार, कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ होता है प्रतिबन्धों का अभाव और कानून व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाता है। इन लोगों के मतानुसार कानूनों के सम्मुख स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती। कानून का नियंत्रण जितना अधिक बढ़ता है, स्वतन्त्रता उतनी ही मात्रा में कम होती जाती है।

गाडविन ने कहा है कि "कानून स्वतन्त्रता के लिये सबसे हानिकारक संस्था है।" (*"Law is an institution of the most pernicious type."*) डायसी के मतानुसार, "जितनी कम विधियाँ, उतनी अधिक स्वतन्त्रता और जितनी अधिक विधियाँ उतनी ही कम स्वतन्त्रता।" (*The more there is of the one, the less there is of the other.*)

परन्तु यह विचारधारा सही नहीं है। इसके समर्थक स्वतन्त्रता और कानून के वास्तविक अर्थ व उपयोग से अनभिज्ञ हैं।

दूसरी विचारधारा

इसके विपरीत, दूसरी विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि कानून व स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। वास्तविक स्वतन्त्रता और अच्छे कानून में कोई विरोधी नहीं है। प्रो० लॉस्की ने लिखा है कि "जहाँ कानून नहीं, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं।" (Where there is no law, there is no freedom) इस विचारधारा के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में अग्रलिखित तथ्य प्रस्तुत करते हैं—

(1) कानून स्वतन्त्रता का जनक है– कानून ही स्वतन्त्रता को जन्म देता है। कानूनों द्वारा नागरिकों को विभिन्न प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। कानून ही समाज के निर्बल लोगों को अधिकार तथा स्वतन्त्रता प्रदान करता है। कानून ने ही हरिजनों को अनेक सामाजिक अधिकार प्रदान किये हैं। कानून के बिना सब लोग मनमानी करेंगे, जिससे समाज में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी और **'जिसकी लाठी उसकी भैंस'** की कहावत चरितार्थ हो जायेगी। ऐसी दशा में शक्तिशाली लोग निर्बलों का शोषण करेंगे। अतः कानून ही समाज के सभी वर्गों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

(2) कानून स्वतन्त्रता का पोषक व रक्षक है– कानून स्वतन्त्रता का जनक ही नहीं, अपितु उसका रक्षक भी है। राज्य कानून बनाकर हमें विभिन्न प्रकार के अधिकार तथा उन अधिकारों के उपभोग की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यदि हमारी इस स्वतन्त्रता में कोई व्यक्ति हस्तक्षेप करता है या बाधा डालता है, तो राज्य कानून द्वारा ही उसको दण्डित करता है और हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

विलोबी का कहना है कि **"स्वतन्त्रता का अस्तित्व तभी सम्भव है, जबकि नियन्त्रण का अस्तित्व हो।"** ***(Freedom exists only because there is restraint.)***

(3) कानून स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है– यह कहना गलत है कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी है। कानून तो केवल मनमाने कार्य करने पर प्रतिवन्ध लगाता है। कानून जिस स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है वह स्वतन्त्रता नहीं, अपितु उच्छृंखलता अथवा अराजकता होती है। कानून स्वतन्त्रता के अन्तर्गत उत्पन्न हो जाने वाली गन्दगी को दूर करके उसे निर्मल बनाता है। कानून मनुष्य की स्वतन्त्रता का शत्रु नहीं मित्र है।

(4) कानून स्वतन्त्रता की सीमा से बाहर नहीं जाने देते– जैसा कि बताया जा चुका है, स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रणों तथा बन्धनों का पूर्णतया अभाव नहीं है। पूर्ण बन्धन रहित स्वतन्त्रता को अराजकता कहते हैं। सामाजिक हित की दृष्टि से स्वतन्त्रता के साथ कुछ प्रतिबन्धों का होना आवश्यक होता है।

उदाहरण के लिये, यदि हमें सड़क पर चलने की स्वतन्त्रता, है तो हमें इस स्वतन्त्रता का उपभोग कुछ नियमों के अन्तर्गत ही करना होगा। हमें सड़क के बाईं ओर चलना होगा, सड़क के मध्य में नहीं चलना होगा तथा सड़क पार करते समय यातायात के नियमों का पालन करना होगा, आदि। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि सड़क पर चलने की हमारी स्वतन्त्रता एक सीमा से बाहर न चली जाये।

स्वतन्त्रता को सीमा में बनाये रखने में कानून हमारे बड़े सहायक होते हैं। कानून ही हमें बतलाते हैं कि स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय हम क्या कार्य करें और क्या न करें। स्वतन्त्रता को सीमा में रखना सामाजिक हित की दृष्टि से वाँछनीय होता है। यदि लोग इस सीमा का अतिक्रमण करते हैं, तो कानून ही उन्हें दण्डित भी करता है।

(5) कानून के बिना स्वतन्त्रता अराजकता बन जाती है– मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि उससे अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण न हो। यदि उसने अन्य लोगों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखे बिना मनमानी की, तो समाज में अराजकता तथा कुव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी और मनुष्य का सामाजिक जीवन अशान्त हो जायेगा। कानून स्वतन्त्रता को अराजकता नहीं बनने देते।

(6) कानून सभी की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है– समाज में कुछ न कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जो मनमानी करके निर्बल लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। कानून ही ऐसे लोगों को भी न्याय प्रदान करके उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के पोषक तथा संरक्षक हैं। "बिना स्वतन्त्रता के कानून दमन के अस्त्र बन जाते हैं और बिना कानून के स्वतन्त्रता अराजकता बन जाती है।" प्रजातन्त्र शासन में कानून स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते। व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए दोनों का ही अस्तित्व आवश्यक है।

इसीलिए रैम्जे म्योर ने लिखा है कि "कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे पर आश्रित तथा एक-दूसरे के पूरक हैं।"

"Law and liberty are thus interdependent and complementary to each other."

—Ramsay Muir

समानता (Equality)

स्वतन्त्रता और समानता आधुनिक लोकतन्त्र के आधार हैं। सामाजिक जीवन के विकास के लिये समानता का भी उतना ही महत्व है, जितना स्वतन्त्रता का। समानता के अभाव में स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। अतः स्वतन्त्रता के पश्चात् अब हम समानता की विवेचना करेंगे।

समानता का भ्रमात्मक अर्थ
(Wrong Conception of Equality)

स्वतन्त्रता के समान ही समानता का भी अनेक व्यक्ति गलत अर्थ लगाते हैं। उनके अनुसार, समानता का अर्थ है मनुष्यों में हर प्रकार की बराबरी होना अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को एक सी शिक्षा, एक सी नौकरी तथा एक समान आय प्राप्त हो। सबसे पास सम्पत्ति या धन भी समान हो। शारीरिक व मानसिक दृष्टि से सभी समान हों। सिसरी का कहना है कि, "सभी मनुष्य इसलिए समान हैं, क्योंकि उन सभी में विवेक समान है और शारीरिक व मानसिक गठन समान है।"

किन्तु समानता का यह अर्थ बड़ा भ्रमोत्पादक है। प्रकृति ने भी सभी मनुष्यों को बराबर नहीं बनाया है। प्रत्येक व्यक्ति के रूप, रंग, आकार, शारीरिक बल, बुद्धि बल में अन्तर पाया जाता है। कोई गोरा है, कोई काला, कोई दुबला है, कोई मोटा, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है, कोई रोगी है, कोई स्वस्थ। कार्य करने की शारीरिक व मानसिक क्षमता भी सबकी एक-सी नहीं होती।

अतः समानता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि एक डाक्टर या इन्जीनियर को जो वेतन मिल रहा है, वह एक घास काटने वाले को भी दिया जाये। यदि ऐसा है, तो हजारों रुपये खर्च करके डाक्टर कौन बनना चाहेगा ? सभी एक रुपये का खुरपा लेकर और थोड़ी देर घास काटकर वैसा ही ऊँचा वेतन प्राप्त कर लेंगे।

समानता का वास्तविक अर्थ
(Real Conception of Equality)

अतः समानता का अर्थ सब मनुष्यों को समान बना देना या सभी को एक स्तर पर ला देना अथवा सभी को समान पुरस्कार देना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये सभी को समान अवसर तथा समान सुविधायें प्राप्त हों। प्रकृति सभी मनुष्यों को समान सुविधायें प्रदान करती है, 'सूर्य' सभी मनुष्यों को समान रूप से गर्मी प्रदान करता है, नदियाँ बिना किसी भेदभाव के सभी को समान रूप से जल प्रदान करती हैं। चन्द्रमा की चाँदनी सभी को समान रूप से शीतलता प्रदान करती है।

जिस प्रकार प्रकृति सभी व्यक्तियों की उन्नति के समान अवसर प्रदान करती है उसी प्रकार

समाज में समानता का मतलब है कि राज्य द्वारा सभी व्यक्तियों को उन्नति करने के लिये तथा अपनी कमियाँ दूर करने के लिये समान सुविधायें प्राप्त हों। कानून सबके साथ समान व्यवहार करे। सभी को मत देने का अधिकार हो। सरकारी पद सभी योग्य व्यक्तियों के लिए खुले रहें। जाति, लिंग, रूप, रंग तथा धर्म के आधार पर व्यक्ति को उन्नति की सुविधाओं से वंचित न किया जाए। समान कार्य करने वालों को समान पारिश्रमिक मिले।

प्रकृति सबको समान रूप से धूप और वायु प्रदान करती है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति धूप और वायु का उपयोग करने के लिए बाहर न निकले और हर समय घर के अन्धेरे कोने में पड़ा रहे, तो प्रकृति उसे स्वास्थ्य रूपी फल नहीं दे सकती। इसी प्रकार, आर्थिक व सामाजिक जीवन में समानता का अर्थ यही है कि सभी को डाक्टर व इन्जीनियर बनने की समान सुविधायें प्रदान की जायें। किन्तु यदि कोई छात्र आलसी व पढ़ाई-चोर हो और उस सुविधा का उपयोग न करके निकम्मा बना रहे, तो उसे भी डाक्टर व इन्जीनियर के समान वेतन देना कदापि समानता नहीं है।

इस प्रकार समानता का अर्थ है कि उन्नति के द्वारा सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले रहें। बिना किसी पक्षपात या भेद-भाव के सभी को समान अधिकार तथा विकास के लिये समान सुविधायें व अवसर प्राप्त हों।

समानता के रूप

समानता के दो रूप हैं– (1) सकारात्मक, व (2) नकारात्मक।

नकारात्मक रूप में, समानता का अर्थ उन विशेषाधिकारों को समाप्त करना है जो समाज के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों और वर्गों को जन्म, सम्पत्ति, धर्म, रंग, नस्ल के आधार पर प्राप्त होते हैं। सकारात्मक रूप में समानता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेद-भाव के विकास के समान अवसर प्रदान किये जायें।

इसलिए लॉस्की ने एक स्थान पर कहा है कि **"समानता का अर्थ है विशेष सुविधाओं का अभाव तथा सभी को समान अवसर प्रदान करना।"**

"Equality means the absence of special privilege and adequate opportunities for all."

—Laski

समानता की कुछ परिभाषायें

स्वतन्त्रता के समान ही विभिन्न लेखकों ने समानता की भी विभिन्न प्रकार से परिभाषायें की हैं। कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार हैं–

(1) लॉस्की के अनुसार, **"समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का उपयोग करने के यथासम्भव समान अवसर देने का प्रयत्न करना।"**

(2) रशदल के शब्दों में, **"समानता का अर्थ है निष्पक्षता तथा समानुपातिकता अर्थात् बराबर वालों में समानता और असमान स्तर के व्यक्तियों में असमानता।"**

(3) पं० नेहरू के शब्दों में, **"समानता का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये एक-सी सुविधायें प्रदान करना है।"**

समानता के भेद या प्रकार
(Forms of Equality)

समानता के प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं–

(1) सामाजिक समानता– इस समानता का अर्थ है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान सामाजिक अधिकार प्राप्त हों। समाज में धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि का भेद-भाव

नहीं होना चाहिये। ऐसी असमानतायें सामाजिक जीवन की नींव को ही हिला देती हैं। हिन्दू समाज में पहले हरिजनों तथा स्त्रियों को अनेक सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। नये संविधान ने इन असमानताओं को दूर कर दिया है।

समानता के भेद
1. सामाजिक समानता
2. राजनीतिक समानता
3. वैधानिक समानता
4. आर्थिक समानता
5. सांस्कृतिक समानता
6. धार्मिक समानता
7. नैतिक समानता
8. नागरिक समानता।

(2) राजनीतिक समानता– इसका अर्थ है कि देश में सभी नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। उन्हें वोट देने, चुनाव में खड़े होने तथा राज्य-शासन में भाग लेने का अधिकार हो। सरकारी नौकरियों का द्वार सभी के लिए खुला हो। जाति, धर्म, रंग आदि के कारण कोई इन अधिकारों से वंचित न किया जाये। राजनीतिक समानता के अभाव में न तो व्यक्ति अपना विकास कर सकता है और न उसका सामाजिक जीवन ही सुखमय हो सकता है।

(3) वैधानिक समानता– वैधानिक समानता से आशय है कि कानून की दृष्टि से धनी-निर्धन, पुरुष-स्त्री, छोटे-बड़े तथा ऊँचे-नीचे सभी बराबर हों। कानून सभी के साथ निष्पक्षता से न्याय करे। जो व्यक्ति कानून को भंग करे या किसी की स्वतन्त्रता व समानता का अपहरण करे, उन्हें समान रूप से दण्ड दिया जाये। कानून के निष्पक्ष तथा समदृष्टि होने पर ही व्यक्तियों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हो जाते हैं।

(4) आर्थिक समानता– आर्थिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक समान वेतन या आय प्रदान कर दी जाये बल्कि इसका अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार आर्थिक कार्य करने की छूट हो और समान कार्य के लिये उसे समान आय या वेतन प्राप्त हो। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति को इतनी आय अवश्य प्राप्त हो कि वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सके। उसकी नीति ऐसी हो कि थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में आय तथा धन का केन्द्रीयकरण न हो जाये।

(5) सांस्कृतिक समानता– इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भाषा, संस्कृति तथा सभ्यता के विकास के लिये समान रूप से सुविधायें प्राप्त हों। संस्कृति के अन्दर भाषा, विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, रीति-रिवाज व त्यौहार आदि सम्मिलित होते हैं। राष्ट्रीय एकता का ध्यान रखते हुए लोगों को अपनी-अपनी संस्कृति के विकास के लिये समुचित वातावरण मिलना चाहिये।

(6) धार्मिक समानता– धार्मिक समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म के पालन तथा धार्मिक क्रियायें करने के लिये समान सुविधायें प्राप्त हों। राज्य की ओर से कोई भी धर्म किसी पर न लादा जाये और न राज्य द्वारा किसी धर्मविशेष के साथ कोई पक्षपात किया जाये। जिस राज्य में धार्मिक समानता के सिद्धान्त को लागू किया जाता है, उसे **'धर्म-निरपेक्ष राज्य'** कहते हैं। भारत भी एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है और उसमें सभी धर्मों के अनुयायियों को समान अधिकार प्राप्त हैं।

(7) नैतिक समानता– इससे तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति करने के लिये समान वातावरण उपलब्ध हो। राज्य को चाहिये कि वह इसके लिये सभी नागरिकों को समान रूप से सुविधायें प्रदान करे, ताकि देश में आदर्श व श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण हो सके।

(8) नागरिक समानता– नागरिक समानता का तात्पर्य यह है कि राज्य प्रत्येक नागरिक को समान रूप से नागरिक अधिकार प्रदान करे। सभी नागरिक समान हैं, भले ही उनका धर्म,

जाति, वर्ण, लिंग और नस्ल कुछ भी क्यों न हो। राज्य के कानूनों के समक्ष सभी नागरिक समान हैं और सभी को जीवन व व्यक्तिगत सुरक्षा, भाषण, सभा और संगठन करने के समान अधिकार मिलने चाहियें।

स्वतन्त्रता व समानता में सम्बन्ध
(Relation between Liberty and Equality)

स्वतन्त्रता व समानता के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भी विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में दो विचारधारायें पाई जाती हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है–

(1) स्वतन्त्रता व समानता विरोधी हैं

इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे की विरोधी हैं। उनके अनुसार समानता से स्वतन्त्रता पर प्रतिवन्ध लगता है। अतः इन दोनों का एक साथ रहना सम्भव नहीं है। व्यावहारिक जीवन में भी, अधिकांश लोकतन्त्रीय देशों में लोगों को स्वतन्त्रता तो प्राप्त होती है, किन्तु समानता का अभाव पाया जाता है।

स्वतन्त्रता का अर्थ है, इच्छानुसार कार्य करना और समानता का अर्थ है सभी को समान सुविधायें देना। अतः दोनों एक-दूसरे की विरोधी हैं।

इसीलिये लार्ड एक्टन ने कहा है कि **"समानता की तीव्र अभिलाषा ने स्वतन्त्रता की आशाओं पर पानी फेर दिया है। इनमें से कोई भी एक-दूसरे का नाश कर देगी।"**

"The passion for equality made vain the hopes for liberty." **—Lord Action**

यदि सभी लोगों को समान समझा जायेगा, तो इससे कुछ अन्य लोगों के साथ अन्याय तथा पक्षपात होगा तथा उनकी स्वतन्त्रता पर आघात होगा। यदि अयोग्य और आलसी व्यक्तियों को भी योग्य व्यक्तियों के वरावर समझा गया, तो योग्य व परिश्रमी व्यक्ति हतोत्साहित हो जायेंगे।

इस विचारधारा के समर्थक अपने मत की पुष्टि में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं–

(1) व्यक्ति स्वतन्त्र तभी रह सकता है, ज़वकि उस पर बन्धन न हों और समानता लाने के लिये वन्धनों का होना आवश्यक होता है। इस स्थिति में दोनों का साथ-साथ रहना असम्भव है।

(2) यदि सभी लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाये, तो उससे समानता अपने आप ही समाप्त हो जायेगी; क्योंकि उस स्थिति में योग्य व परिश्रमी व्यक्ति उन्नति करेंगे और अयोग्य तथा आलसी पिछड़ जायेंगे।

(3) यदि समाज में पूर्ण रूप से समानता स्थापित कर दी जाये, तो योग्य व कुशल व्यक्तियों का स्वतन्त्र विकास अवरुद्ध हो जायेगा। इस प्रकार समानता स्वतन्त्रता को समाप्त कर देगी।

(4) व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है कि अधिकांश लोकतन्त्रीय देशों में स्वतन्त्रता तो पाई जाती है, किन्तु समानता का अभाव पाया जाता है। अपने देश भारत में ही स्वतन्त्रता तो सन् 1947 में ही प्राप्त कर ली गई थी, किन्तु 45 वर्षों के अथक प्रयासों के बाद भी आर्थिक व सामाजिक समानता स्थापित नहीं हो सकी है।

(2) स्वतन्त्रता व समानता एक-दूसरे की पूरक हैं (महत्व)

परन्तु ऊपर का विचार सही नहीं है। स्वतन्त्रता व समानता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे की पूरक हैं। स्वतन्त्रता व समानता के अधिकारों के बीच चोली-दामन का साथ है। इनके सम्बन्ध अटूट हैं। सच्ची स्वतन्त्रता समानता के विना पनप नहीं सकती। स्वतन्त्रता केवल तभी कायम रह सकती है, जबकि समाज में सभी व्यक्तियों को अपने विकास के लिये समान

अवसर प्राप्त हों। जिस समाज में आर्थिक असमानता विद्यमान होगी, एक ओर महलों में पूँजीपति, दूसरी ओर भूख र. पीड़ित जनता रहती होगी, वहाँ राजनीतिक तथा सामाजिक अथवा किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।

वास्तव में समानता व स्वतन्त्रता एक-दूसरे पर निर्भर हैं। सच्ची स्वतन्त्रता हम उसे ही कह सकते हैं जो समाज में सभी को समान रूप से प्राप्त हो। समानता के अभाव में स्वतन्त्रता या तो परतन्त्रता बन जायेगी या अराजकता। जिस समाज में वर्ग भेद होगा या असमानता होगी, वहाँ स्वतन्त्रता टिक नहीं सकती।

स्वतन्त्रता व समानता लोकतन्त्र के दो दृढ़ आधार हैं। एक के अभाव में भी लोकतन्त्रीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी। यदि सभी लोगों को स्वतन्त्रता तो प्रदान कर दी जाये, परन्तु समान अवसर प्रदान न किये जायें, तो व्यक्ति न तो उस स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकते हैं। इस प्रकार, स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता व समानता एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं बल्कि पूरक हैं।

इस विचारधारा के समर्थक अपने मत की पुष्टि में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) गलत परिभाषा— स्वतन्त्रता व समानता को परस्पर विरोधी बताने वाले विचारकों ने स्वतन्त्रता व समानता का वास्तविक अर्थ न लेकर भ्रामक अर्थ लिया है। जैसा कि मैकेनी ने कहा है कि **"स्वतन्त्रता का अर्थ सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की स्थापना है।"**

इसी प्रकार, समानता का अर्थ सभी को एकदम समान बना देना नहीं है। ऐसा विचार तो एकदम कल्पना की वस्तु है। समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास की समान सुविधायें उपलब्ध हों, फिर वह स्वतन्त्र है, चाहे उनका उपयोग करे या न करे।

इस प्रकार स्वतन्त्रता व समानता में कोई विरोध नहीं है, बल्कि दोनों मानवीय विकास का आधार हैं।

(2) आर्थिक समानता— वर्तमान युग आर्थिक युग है। आर्थिक क्षेत्र में यदि समाज के सभी लोगों को विकास की समान सुविधाएँ प्राप्त नहीं होंगी, तो समाज का एक वड़ा वर्ग पिछड़ जायेगा, क्योंकि समाज में निर्धनों की संख्या अधिक है। आर्थिक समानता के विना व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता।

पंडित नेहरू ने कहा था, **"एक भूखे व्यक्ति के लिये वोट देने की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है।"**

जोड ने कहा है कि, **"आर्थिक समानता के विना राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम है।"**

"Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth."

"हॉब्स ने ठीक ही कहा है कि, "भूख से मरते हुए व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता का क्या लाभ है। वह स्वतन्त्रता को न खा सकता है, न पी सकता है।"

"What good is a freedom to a starving man. He can not eat freedom nor drink it."

—Hobbes

कोल के शब्दों में, **"आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता एक पुराण कथा वनकर रह जाती है।"**

(3) लोकतन्त्र के आधार— स्वतन्त्रता व समानता दोनों ही लोकतन्त्रीय व्यवस्था की मुख्य आधार हैं। लोकतन्त्र की गाड़ी के दो पहिये हैं। स्वतन्त्रता व समानता लोकतन्त्र की दो लाड़ली वेटियाँ हैं। कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता व समानता रेल की दो पटरियाँ हैं। जिन पर लोकतन्त्र व मानवीय विकास की रेल चलती है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता व समानता एक-दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। दोनों के बीच घनिष्ठ समानता है और एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रह सकता। लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि **"समानता के बिना स्वतन्त्रता खोखली होगी और स्वतन्त्रता के बिना समानता का कोई अर्थ नहीं होगा।"**

"Liberty would be hollow without some measure of equality and equality would meaningless without liberty."

—Laski

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) समानता की परिभाषा दीजिये तथा स्वतन्त्रता से इसका सम्बन्ध बताइये। **(1971)**

(2) स्वतन्त्रता की परिभाषा दीजिये। प्रजातन्त्र राज्य के नागरिकों को प्राप्त विभिन्न स्वतन्त्रताओं का वर्णन कीजिये। **(1972)**

(3) कानून और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। **(1973, 85)**

(4) स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं ? क्या स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं ? **(1974)**

(5) समानता का अर्थ स्पष्ट कीजिये। इसके कितने प्रकार होते हैं ? **(1976)**

(6) टिप्पणी लिखिये–

(i) समानता **(1975, 84, 86, 90)**

(ii) स्वतन्त्रता **(1968, 88)**

(iii) आर्थिक स्वतन्त्रता **(1973, 91)**

(iv) आर्थिक समानता। **(1987)**

(7) "स्वतन्त्रता नियन्त्रणों का अभाव है।" इस कथन पर टिप्पणी लिखकर समझाइये। **(1978)**

(8) क्या समानता स्वतन्त्रता से अधिक महत्वपूर्ण है ? समझाइये। **(1979)**

(9) स्वतन्त्रता व समानता के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये। **(1993)**

(10) 'समानता' से आप क्या समझते हैं ? वर्तमान प्रजातन्त्र में समानता के महत्व की विवेचना कीजिये। **(1988)**

(11) स्वतन्त्रता की परिभाषा दीजिये तथा कानून के साथ इसके सम्बन्ध की विवेचना कीजिये। **(1989, 90)**

(12) स्वतन्त्रता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। **(1990)**

(13) अधिकारों से आप क्या समझते हैं ? समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों के सम्बन्धों का विवेचन कीजिये। **(1992)**

[संकेत– अधिकारों के अर्थ के लिये देखिये पीछे 8वाँ अध्याय]

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– स्वतन्त्रता क्या है ?

उत्तर– प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छानुसार विकास करने की आजादी स्वतन्त्रता है, वशर्ते कि इसमें अन्य लोगों द्वारा अपनी इच्छानुसार विकास करने की आजादी में बाधा न पहुँचे।

प्रश्न 2– स्वतन्त्रता कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर– स्वतन्त्रता के भेद हैं– प्राकृतिक स्वतन्त्रता, नागरिक स्वतन्त्रता, राजनैतिक

स्वतन्त्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता, नैतिक स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता। (प्रत्येक पर एक वाक्य लिख लीजिये।)

प्रश्न 3– समानता से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर– समानता का अर्थ है कि समाज में सभी नागरिकों को किसी जाति, धर्म, लिंग या वर्ण के भेद-भाव के विना अपना विकास करने के समान अवसर प्राप्त हों, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता व क्षमता का पूर्ण उपयोग कर प्रगति कर सके।

प्रश्न 4– आर्थिक समानता से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर– आर्थिक समानता सुखी सामाजिक जीवन का आधार है। आर्थिक समानता से आशय है– जीविकोपार्जन के उचित अवसर प्राप्त होने, इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय चुनने, उचित वेतन पाने तथा आर्थिक शोषण से बचने का अधिकार मिलना।

प्रश्न 5– समानता का सामाजिक जीवन में क्या महत्व है ?

उत्तर– विना समानता के राजनैतिक तथा अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता वेकार है। समानता के बिना गरीबी-अमीरी का भेद वना रहेगा। गरीवों का शोषण होता रहेगा। धन तथा आय में विषमता वनी रहेगी। समानता समाज के सुख व शान्ति की कुँजी है।

प्रश्न 6– स्वतन्त्रता व समानता में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर– स्वतन्त्रता व समानता एक-दूसरे के पूरक हैं। समानता के विना स्वतन्त्रता खोखली है और स्वतन्त्रता के विना समानता निरर्थक है। समानता स्वतन्त्रता को कायम रखने वाले अनेक अधिकारों की जननी है। वास्तव में स्वतन्त्रता समानता में निहित है।

अति लधु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– 'कानून स्वतन्त्रता का रक्षक है।' पुष्टि में एक कारण दीजिए।

उत्तर– कानून स्वतन्त्रता को सीमा से वाहर नहीं जाने देता।

प्रश्न 2– 'आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता बेकार है।' एक कारण बताइये।

उत्तर– एक भूख से पीड़ित व्यक्ति के लिये वोट देने की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं।

प्रश्न 3– समानता के कोई दो भेद बताइये। (1990)

उत्तर– (i) राजनीतिक समानता, (ii) आर्थिक समानता।

प्रश्न 4– 15 अगस्त, 1947 को हमने कौन-सी स्वतन्त्रता प्राप्त की थी ?

उत्तर– राजनीतिक स्वतन्त्रता।

प्रश्न 5– पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा हम किस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं ?

उत्तर– आर्थिक स्वतन्त्रता।

प्रश्न 6– किन्हीं दो राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख कीजिये।

उत्तर– (i) मत देने की स्वतन्त्रता, (ii) सरकार की आलोचना करने की स्वतन्त्रता।

प्रश्न 7– स्वतन्त्रता के दो प्रकार लिखिये। (1984)

उत्तर– (i) नागरिक स्वतन्त्रता, (ii) आर्थिक स्वतन्त्रता।

प्रश्न 8– आर्थिक समानता का अर्थ लिखिये। (1985)

उत्तर– समाज के सभी वर्गों के लोगों की सामान्य आवश्यकताएँ पूरी हों और धनाभाव के कारण कोई भी व्यक्ति भूखा, अशिक्षित तथा नंगा न रहे।

प्रश्न 9– स्वतन्त्रता की परिभाषा लिखिये। (1987, 91)

उत्तर– स्वतन्त्रता उन बातों को करने का अधिकार है, जो दूसरे के अधिकारों के विरुद्ध न हों।

□□

16

संविधान तथा उसका वर्गीकरण

(Constitution and its Classification)

"संविधान उन आधारभूत नियमों के संग्रह को कहते हैं जिनके द्वारा किसी राज्य की सरकार के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है।"

—गैटल

"उस राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जिसका संविधान न हो। संविधानविहीन राज्य में अराजकता की स्थिति होगी।"

—जेलिनेक

इस अध्याय में क्या है ?

(1) संविधान का अर्थ, (2) संविधान की कुछ परिभाषायें, (3) संविधान की आवश्यकता तथा महत्व, (4) संविधान में संशोधन का अर्थ तथा आवश्यकता, (5) अच्छे संविधान के गुण या विशेषतायें, (6) संविधान का वर्गीकरण, (7) लिखित संविधान तथा उसके गुण-दोष, (8) अलिखित संविधान तथा उसके गुण-दोष, (9) परिवर्तनशील या लचीला संविधान तथा गुण-दोष, (10) अपरिवर्तनशील या कठोर संविधान तथा उसके गुण-दोष, (11) विकसित तथा निर्मित संविधान के गुण-दोष, (12) संघात्मक व एकात्मक संविधान के गुण-दोष, (13) लोकतन्त्रीय व अलोकतन्त्रीय संविधान, (14) कौन-सा संविधान सर्वश्रेष्ठ है, (15) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (16) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न।

संविधान का अर्थ (Meaning of Constitution)

संविधान शब्द अंग्रेजी के 'Constitution' शब्द का ही हिन्दी रूप है। 'कॉन्सटीट्यूशन' का शाब्दिक अर्थ है 'गठन'। दैनिक बोलचाल में इसका अर्थ मनुष्य के शारीरिक ढाँचे के गठन से लिया जाता है। किन्तु नागरिकशास्त्र में 'कॉन्सटीट्यूशन' शब्द का अर्थ 'राज्य के शारीरिक ढाँचे के गठन' से लिया जाता है।

अन्य शब्दों में, राज्य की शासन-व्यवस्था के ढाँचे का निर्धारण करने तथा उसके समुचित संचालन के लिये प्रत्येक राज्य में कुछ लिखित या अलिखित नियम होते हैं जिनके अनुसार ही सरकार देश में शासन का कार्य चलाती है। इन नियमों को ही कानूनी भाषा में राज्य का संविधान (Constitution) कहा जाता है।

परन्तु यहाँ यह वात ध्यान देने की है कि राज्य द्वारा वनाये गये सभी नियमों व कानूनों के समूह को संविधान नहीं कहा जा सकता, वल्कि संविधान के अन्तर्गत केवल वे नियम व कानून सम्मिलित होते हैं जिनके द्वारा शासन के संगठन एवं उसके ढाँचे का निर्धारण किया जाता है और शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्वन्धों का, उनके अधिकारों व कर्त्तव्यों का तथा शासन व नागरिकों के मध्य के सम्वन्धों का निर्धारण किया जाता है।

संविधान की कुछ परिभाषायें (Some definitions)

विद्वानों व लेखकों ने संविधान की परिभाषायें विभिन्न प्रकार से की हैं—

(1) ऑस्टिन के शब्दों में, "राज्य का संविधान उन नियमों का समूह है जो सर्वोच्च शासन के ढाँचे का निर्धारण करता है।"

"Constitution of a state is that which fixes the structure of the supreme Government."

—**Austin**

(2) लार्ड ब्राइस के मत में, "संविधान राज्य के उन नियमों व कानूनों को कहते हैं जो

राज्य की सरकार के स्वरूप का निर्धारण करते हैं तथा नागरिकों के प्रति राज्य के और राज्य के प्रति नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों का निश्चय करते हैं।"

"The constitution of a state consists of those of its rules or laws which determine the form of Government and the respective rights and duties of citizens towards the Government."

—Lord Bryce

(3) प्रो० लीकॉक के अनुसार, "किसी राज्य के ढाँचे को ही उसका संविधान कहते हैं।"

"Constitution is the form of a particular state."

—Leacock

(4) प्रो० गिलक्राइस्ट के मत में, "उन लिखित या अलिखित नियमों अथवा कानूनों के समूह को संविधान कहते हैं जिनसे सरकार के संगठन और सरकार के विभिन्न अंगों के बीच शक्ति के वितरण का निश्चय होता है तथा उन सामान्य सिद्धांतों का निर्धारण होता है जिसके अनुसार उस शक्ति का प्रयोग किया जाता है।"

"Constitution is that body of rules or laws, written or unwritten, which determine the organisation of Government, the distribution of powers to the various organs of Govt., and the general principles on which these powers are to be exercised."

—Gilchrist

(5) डायसी के शब्दों में, "संविधान उन नियमों को कहते हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य में प्रभुसत्ता के विभाजन अथवा उसके प्रयोग को प्रभावित करते हैं।"

"All rules which directly or indirectly effect the distribution or the exercise of the sovereign power in the state, make up the constitution of the state."

—Dicey

(6) वूल्से के मतानुसार, "संविधान सिद्धान्तों का वह संग्रह है जिसके अनुसार शासन की शक्तियों, प्रजा के अधिकारों तथा इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण किया जाता है।"

"Constitution is the collection of principles according to which the power of the government, rights of the governed and relation between the two are adjusted."

—Woolsey

(7) चार्ल्स बोर्गीड के शब्दों में, "संविधान वह मौलिक कानून है जिसके अनुसार किसी राज्य की सरकार संगठित की जाती है और व्यक्तियों के समाज के साथ सम्बन्ध निश्चित किये जाते हैं।"

संविधान की आवश्यकता तथा महत्व

(Necessity and Importance of Constitution)

आधुनिक लोकतन्त्रीय युग में, जबकि शासन-व्यवस्था गाँव के एक लेखपाल से लेकर राष्ट्रपति तक सैकड़ों सरकारी पदों में बिखरी हुई है, यह अत्यन्त आवश्यक है कि शासन-कार्य को ठीक प्रकार से चलाने तथा सरकारी पदाधिकारियों एवं जनता के अधिकारों का निर्धारण करने के लिए राज्य का एक संविधान हो। संविधान के अभाव में जनता को यह पता नहीं होगा कि सरकारी शासन के किस-किस अंग के क्या अधिकार हैं तथा राज्य तथा जनता के बीच क्या सम्बन्ध है। संविधान के अभाव में देश में अराजकता की स्थित उत्पन्न हो जायेगी। निश्चित नियमों के न होने से सरकारी कर्मचारी मानमानी करने लगेंगे और राज्य एक निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन में परिवर्तित हो जायेगा। नागरिकों की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य न रहेगा। शासन के सम्बन्ध में लोगों की अनिश्चितता तथा अविश्वास की भावना उत्पन्न हो जायेगी।

राज्य का संविधान होने से शासन के प्रत्येक अंग को अपने कार्य-क्षेत्र का ज्ञान होगा।

उन्हें यह भी पता होगा कि उनके क्या-क्या अधिकार हैं और जनता के प्रति उन्हें किन-किन कर्त्तव्यों का पालन करना है। नागरिक भी अपनी स्वतन्त्रता तथा अपने अधिकारों की रक्षा के लिये संविधान का संरक्षण प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार, संविधान राज्य तथा जनता दोनों के लिये ही एक प्रकाश-स्तम्भ के रूप में मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। विना संविधान के यह निश्चित है कि शासन तथा जनता दोनों ही अपने मार्ग से भटक जायेंगे। अतः किसी भी राज्य के अस्तित्व एवं प्रजा के सुखी जीवन के निर्माण के लिये राज्य का एक संविधान होना अत्यन्त आवश्यक है और कोई भी राज्य संविधान के महत्व की उपेक्षा करके अपने अस्तित्व को खतरे में नहीं डाल सकता। संविधान राज्य की नींव है।

जेलिनेक का यह कथन ठीक ही है कि, "उस राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जिसका अपना संविधान न हो। संविधान-विहीन राज्य में अराजकता की स्थिति होगी।"

"A state without a constitution, would not be state, but a regime of anarchy".

—**Jellineck**

संविधान में सुधार तथा संशोधन
(Amendment in Constitution)

संविधान में संशोधन का अर्थ

संविधान संशोधन का शाब्दिक अर्थ है, उसका पुनर्निर्माण अथवा पुनः रचना करना। जिस प्रकार मकान पुराना हो जाने पर उसमें मरम्मत की अथवा परिवार की आवश्यकताओं में वृद्धि हो जाने पर मकान में परिवर्तन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार देश की बदलती हुई परिस्थितियों में तथा जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति करने हेतु संविधान में भी कुछ रद्दोबदल की जरूरत होती है जिसे संविधान संशोधन की संज्ञा दी जाती है। यदि संविधान में समय के अनुरूप संशोधन नहीं होगा, तो वह गतिशील और अनुपयोगी बन जायेगा। संविधान-संशोधन ऐसी पौष्टिक औषधि (tonic) है जिसके द्वारा संविधान के शारीरिक ढाँचे को स्वस्थ व सजीव बनाये रखा जाता है।

संविधान में संशोधन या सुधार क्यों ?

संविधान एक जीवित कानून होता है। अतः देश व काल की परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होते ही रहने चाहियें। यदि सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप संविधान में संशोधन नहीं किया जायेगा, तो राष्ट्र की जनता की प्रगति की तुलना में संविधान पिछड़ जायेगा और उस स्थिति में क्रान्ति ही संविधान को बदलेगी। लार्ड मैकाले ने कहा था कि, "क्रांति का सबसे प्रमुख कारण यह है कि जहाँ राष्ट्र उन्नति के पथ पर बढ़ते जाते हैं, संविधान पूर्ववत् वहीं से वहीं खड़े रहते हैं।"

स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने 11 मई, 1948 को संविधान सभा में कहा था कि संविधान में सदा लचीलापन रहना चाहियें। यदि इसे स्थायी बनाया गया तो राष्ट्र का विकास रुक जायेगा, क्योंकि राष्ट्र का विकास जीवित प्राणियों के विकास से सम्बन्ध रखता है। डॉ० कश्यप के अनुसार, "किसी भी संविधान की महानता इसी में है कि वह नष्ट हुए विना बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप ढाला जा सके।"

महान् अमरीकी नेता जेफर्सन का कहना है कि, "हर पीढ़ी को अपने बहुमत की इच्छा अपने पर ही लादने का अधिकार है, यह आवश्यक नहीं है कि आगामी पीढ़ी भी वह इच्छा माने। वस्तुतः हर 19 वर्ष बाद संविधान में संशोधन किया जाना चाहिये।" स्व० श्री फखरुद्दीन अली अहमद के शब्दों में, "संविधान कोई ऐसा धार्मिक ग्रन्थ नहीं है कि उसमें परिवर्तन न हो सके। जनता की आकांक्षाओं के अनुसार उसमें परिवर्तन होते रहना चाहिये।"

परन्तु राजनीतिक दलों की स्वार्थपूर्ति के लिये संविधान में परिवर्तन नहीं किये जाने चाहियें और न संविधान में इतने अधिक परिवर्तन किये जाने चाहियें कि जिससे संविधान का मूल रूप ही विगड़ जाये। जैसा कि प्रमुख विधिवेत्ता श्री शान्तिभूषण ने कहा है कि, "संविधान में ऐसे परिवर्तन नहीं होने चाहियें कि जिससे उसका मूल ढाँचा विकृत हो जाये, क्योंकि इससे भी देश में क्रांति का आधार तैयार होता है।"

अतः संविधान में संशोधन या परिवर्तन करते समय सामान्य जनता या देश के हित को सर्वोपरि रखा जाना चाहिये।

संशोधन की पद्धति

संविधान में सुधार, परिवर्तन अथवा संशोधन करने के लिये संसार के विभिन्न देशों में अलग-अलग पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं। उदाहरण के लिये; भारत में संविधान में संशोधन का कार्य केवल संसद कर सकती है। संसद को कुछ नियमों के अधीन संविधान में संशोधन करने का सीमित अधिकार प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान में संशोधन करने के लिये नये सिरे से सभा बुलानी होती है। आस्ट्रेलिया में संशोधन का कोई प्रस्ताव पहले मतदाताओं द्वारा स्वीकार कराया जाता है।

अच्छे संविधान के लक्षण या गुण या विशेषतायें
(Characteristics of a Good Constitution)

वास्तव में यह प्रश्न वड़ा जटिल है कि कौन-सा संविधान अच्छा है और कौन-सा बुरा। श्रेष्ठ संविधान वही है जो नागरिकों की आवश्यकता के अनुरूप हो और जिससे शासन-कार्य सुचारु रूप से चले। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि एक अच्छे संविधान में निम्नलिखित गुण अथवा विशेषतायें होनी चाहियें–

(1) स्पष्टता– संविधान का सवसे पहला गुण यह है कि वह स्पष्ट हो। उसमें सन्देहास्पद वातों के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिये। उसका कोई नियम ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि उसके कई-कई अर्थ निकाले जा सकें, अन्यथा संविधान दिन-प्रतिदिन के विवाद का कारण बन जायेगा।

(2) व्यापकता– संविधान में शासन सम्वन्धी सभी बातों का समावेश होना चाहिये। उसमें शासन के सभी अंगों से सम्वन्धित बातों का समावेश होना चाहिये, ताकि शासन कार्य में अनिश्चितता उत्पन्न न हो।

(3) संक्षिप्तता– सभी दृष्टियों से पूर्ण एवं व्यापक होने के साथ ही संविधान संक्षिप्त भी होना चाहिये। वह इतना विशाल एवं विस्तृत आकार का न हो जाये कि उसके पढ़ने में भी कठिनाई हो। उसमें कम आवश्यक बातों का उल्लेख वहुत संक्षेप में किया जाना चाहिये।

(4) नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख– संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का भी अवश्य उल्लेख होना चाहिये ताकि राज्य एवं शासन को यह पता रहे कि उसे क्या करना है, किस दिशा में चलना है और किस प्रकार अपनी नीतियों का निर्धारण करना है।

अच्छे संविधान के गुण

1. स्पष्टता
2. व्यापकता
3. संक्षिप्तता
4. नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख
5. मौलिक अधिकारों का उल्लेख
6. न्यायपालिका की स्वाधीनता
7. परिवर्तनशीलता
8. लोकतन्त्रात्मक
9. भाषा की सरलता।

(5) मौलिक अधिकारों का उल्लेख– अच्छे संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों

का भी अवश्य उल्लेख होना चाहिये, ताकि नागरिकों को अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान हो और संविधान के प्रति उनकी श्रद्धा तथा निष्ठा में वृद्धि हो।

(6) न्यायपालिका की स्वाधीनता– संविधान में इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये कि राज्य की न्यायपालिका स्वतन्त्र रहकर जनता के साथ बिना किसी भेद-भाव के न्याय करेगी।

(7) परिवर्तनशीलता– एक अच्छे संविधान में परिवर्तनशीलता अथवा लचीलेपन का गुण भी होना चाहिये ताकि देश की आवश्यकता के अनुसार उसमें यथासमय संशोधन किया जा सके परन्तु संविधान में परिवर्तन करने की पद्धति इतनी सरल नहीं होनी चाहिये कि उसमें आये दिन परिवर्तन करना सरलता से सम्भव हो सके।

जैसा कि जैनिंग्ज ने कहा है कि, **"संविधान उन्हीं दशाओं में क्रियान्वित नहीं होता जिनमें उसकी रचना हुई थी, अपितु उसके सदियों बाद तक वह कार्यशील रहता है। अतः संविधान आवश्यक रूप से ऐसा होना चाहिये जो परिस्थितियों के अनुसार अपने को बदल ले।"**

(8) लोकतन्त्रात्मक– अच्छा संविधान वही कहा जाता है जो जनता को लोकतन्त्रात्मक अधिकार प्रदान करे। उसमें ऐसे नियमों का समावेश न हो जो शासन को किसी समय निरंकुश बना दे।

(9) भाषा की सरलता– संविधान की भाषा सरल, सुबोध तथा ऐसी होनी चाहिये जो जन-साधारण की समझ में आ जाये। यदि संविधान की भाषा संदिग्ध तथा क्लिष्ट होगी, तो चालाक लोग उसके वास्तविक अर्थ का अनर्थ लगाकर तथा सामान्य जनता की अज्ञानता का लाभ उठाकर विधान के मूल उद्देश्यों को ही क्षति पहुँचा सकते हैं।

संविधान का वर्गीकरण
(Classification of Constitution)

विद्वानों ने संविधान का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है–

(1) लिखित तथा अलिखित संविधान *(Written and Unwritten Constitution)*

(2) परिवर्तनशील (नमनीय) तथा अपरिवर्तनशील (अनमनीय) संविधान *(Flexible and Rigid Constitution)*

(3) विकसित और निर्मित संविधान *(Evolved and Enacted Constitution)*

(4) संघात्मक और एकात्मक संविधान *(Federal and Unitary Constitution)*

(5) लोकतन्त्रीय तथा अलोकतन्त्रीय संविधान *(Democratic and Undemocratic Constitution)*

अब हम प्रत्येक प्रकार के संविधान के गुण तथा दोषों की विवेचना करेंगे।

(1) लिखित तथा अलिखित संविधान
(Written or Unwritten Constitution)

लिखित संविधान उसे कहते हैं जिसमें शासन के आधारभूत सिद्धान्त, नियम तथा शासन के विभिन्न अंगों के अधिकार व कर्त्तव्य एक दस्तावेज (document) के रूप में लिखे जाते हैं। **उदाहरण के लिये; भारत तथा अमेरिका का संविधान लिखित माना जाता है।**

इसके विपरीत, **अलिखित संविधान** उस संविधान को कहते हैं जिसमें शासन के आधारभूत सिद्धान्त व नियम आदि दस्तावेज के रूप में नहीं लिखे रहते, वल्कि उनका निर्धारण देश के रीति-रिवाजों, प्रथाओं एवं परम्पराओं के अनुसार होता है और समय-समय पर न्यायालयों के निर्णयों के अनुसार उनकी रूप-रेखा का स्पष्टीकरण होता रहता है। **उदाहरण के लिये; इंग्लैण्ड का संविधान अलिखित कहा जाता है।**

परन्तु वास्तविकता यह है कि कोई भी संविधान पूर्णतया अलिखित तथा पूर्णतया लिखित नहीं होता। संसार के किसी भी देश में ऐसा संविधान नहीं है जो पूर्णतया लिखित या पूर्णतया अलिखित हो। जिन देशों में लिखित संविधान होता है वहाँ भी अनेक बातों के सम्बन्ध में वह मौन रहता है और उन बातों के सम्बन्ध में रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं का अनुगमन किया जाता है। इसी प्रकार जिन देशों का संविधान अलिखित होता है, वहाँ पर भी व्यवस्थापिका या संसद अनेक नियम पास करती है जो लिखित रूप में रखे जाते हैं। उदाहरण के लिये; इंग्लैण्ड में ऐसा ही है। सारांश यह है कि लिखित संविधान होने पर भी कुछ नियम अलिखित रहते हैं। अलिखित संविधान की स्थिति में कुछ नियम लिखित भी रखे जाते हैं।

लिखित संविधान के गुण

(1) स्पष्टता और निश्चितता– लिखित संविधान में प्रत्येक बात स्पष्ट रूप से लिखी जाती है, अतः उसमें अनिशिचतता अथवा संदिग्धता के लिये कोई स्थान नहीं होता।

(2) शासन प्रबन्ध में सुविधा– लिखित संविधान होने से शासन से सम्बन्धित प्रत्येक बात के सम्बन्ध में शासकों तथा नागरिकों को सही दिशा का ज्ञान रहता है, जिससे शासन-प्रबन्ध में बड़ी सुविधा रहती है और अनावश्यक मतभेद खड़े नहीं होते। संघात्मक शासन में इसकी उपयोगिता और बढ़ जाती है।

लिखित संविधान के गुण

1. स्पष्टता तथा निश्चितता
2. शासन प्रबन्ध में सुविधा
3. स्थिरता
4. नागरिकों के अधिकारों की रक्षा।

(3) स्थिरता– लिखित संविधान में चूँकि कोई भी परिवर्तन आसानी से नहीं किया जा सकता, अतः अलिखित संविधान की अपेक्षा उसमें स्थिरता का गुण पाया जाता है।

(4) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा– लिखित संविधान में नागरिकों के सभी अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख रहता है, अतः कोई भी सरकार आसानी से उनका अपहरण नहीं कर सकती। लिखित संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का पोषक व रक्षक होता है।

लिखित संविधान के दोष

लिखित संविधान के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं–

(1) देरी– लिखित संविधान का एक सामान्य दोष तो यह कहा जा सकता है कि समय तथा आवश्यकता के अनुसार यदि उसमें कोई परिवर्तन या संशोधन करने की आवश्यकता होती है, तो उसमें चूँकि एक निश्चित प्रक्रिया का पालन करना पड़ता है, अतः देर लगती है। इस देरी के कारण कभी-कभी राज्य के विकास की गति मन्द होने की सम्भावना हो जाती है।

(2) अशिक्षित जनता– दूसरे, यदि देश की जनता अशिक्षित है, तो वह लिखित संविधान का कोई लाभ नहीं उठा सकती। उसके लिये तो परम्पराओं पर आधारित अलिखित संविधान ही ठीक है।

(3) क्रांति का कारण– कई बार ऐसा होता है कि जटिल प्रक्रिया के कारण देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार लिखित संविधानों में परिवर्तन नहीं हो पाता, जिससे विद्रोह या क्रान्ति को पनपने का मौका मिलता है।

लार्ड मैकाले ने कहा था कि, **"क्रांति का सबसे प्रमुख कारण यह है कि जहाँ राष्ट्र उन्नति के पथ पर बढ़ते हैं, वहाँ संविधान पूर्ववत् वहीं के वहीं खड़े रहते हैं।**

अलिखित संविधान के गुण

अलिखित संविधान के मुख्य गुण इस प्रकार हैं–

(1) लचीलापन– अलिखित संविधान में लोचशीलता का गुण पाया जाता है, अतः उसमें समय तथा परिस्थितियों के अनुसार सरलता से परिवर्तन करना सम्भव है।

ब्राइस ने कहा है कि, **"अलिखित संविधान उसी प्रकार झुकाये या खींचे जा सकते हैं, जैसे वृक्ष के नीचे से गाड़ी गुजरने की स्थिति में उसकी डालियों को झुकाया या खींचा जा सकता है।"**

(2) अनुकूलता– अलिखित संविधान के अन्तर्गत चूँकि विभिन्न वातों का निर्धारण देश के रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं के आधार पर किया जाता है। अतः यह जनता के विचारों एवं भावनाओं के अधिक अनुकूल होता है जिसके कारण जनता उससे सन्तुष्ट रहती है।

(3) स्वयंचालित परिवर्तनशीलता– अलिखित संविधान का एक गुण यह है कि देश की बदलती हुई प्रथाओं तथा रीतियों के अनुसार इसमें स्वयं चालित रीति से परिवर्तन होते रहते हैं, अतः यह सदा समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप बना रहता है।

अलिखित संविधान के दोष

अलिखित संविधान के मुख्य दोष इस प्रकार हैं–

(1) अस्थिरता– अलिखित संविधान में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन होते रहते हैं, अतः उसमें स्थिरता नहीं पाई जाती। सिजविक ने ठीक ही कहा है कि, **"अलिखित संविधान के अन्तर्गत जन-विरोध के हल्के से झोंके से मूल्यवान सिद्धान्तों तथा संस्थाओं का क्षण भर में उन्मूलन हो जाता है।"**

(2) अलोकतन्त्रीय– अलिखित संविधान लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था के लिये उपयुक्त नहीं होता, अपितु एकतन्त्रीय शासन के लिये ठीक रहता है, क्योंकि न्यायालय तथा शासन उसे अपनी इच्छानुसार तोड़-मरोड़ करते रहते हैं।

(3) नागरिकों के अधिकारों का हनन– लिखित संविधान नागरिकों के अधिकारों की रक्षा की गारण्टी देता है, किन्तु अलिखित संविधान में कोई बात नहीं होती। इसमें जनता के अधिकारों की स्थिति बड़ी अनिश्चित होती है।

(4) शासन की शक्ति असीमित– अलिखित संविधान द्वारा शासन को अपरिमित शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वह निरंकुश शासन में परिवर्तित हो सकता है।

(5) विवाद– अलिखित संविधान देश की विभिन्न रीतियों व परम्पराओं पर आधारित होता है। इन रीति-रिवाजों व प्रथाओं में भिन्नता होने के कारण संविधान की व्याख्या के सम्बन्ध में दिन-प्रतिदिन विवाद उठते रहते हैं।

(2) परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील संविधान
या
नमनीय या अनमनीय संविधान
या
लचीला या कठोर संविधान
(Flexible and Rigid Constitution)

परिवर्तनशील या नमनीय लचीला संविधान उस संविधान को कहते हैं जिसके नियमों में उसी प्रकार सरलता में परिवर्तन किया जा सकता है, जिस प्रकार कि साधारण कानूनों में परिवर्तन किया जाता है अन्य शब्दों में, नमनीय संविधान वह होता है जिसके नियमों में कानून बनाने के सामान्य तरीकों द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। संविधान के संवैधानिक कानूनों में परिवर्तन भी उसी व्यवस्थापिका या संसद द्वारा किया जा सकता है जो साधारण कानूनों का निर्माण तथा उनमें परिवर्तन करती है। इंग्लैण्ड में ऐसा ही संविधान है।

इसके विपरीत, जिस संविधान के नियमों को साधारण तरीकों द्वारा नहीं बदला जा सकता तथा जिसमें परिवर्तन के लिये विशेष पद्धति अपनानी पड़ती है उसे **अपरिवर्तनशील** या अनमनीय

या कठोर संविधान कहा जाता है। ऐसे संविधान वाले देश में संविधान के कानूनों को साधारण कानूनों से ऊँचा तथा पवित्र माना जाता है। अमेरिका तथा भारत में ऐसे संविधान हैं।

परिवर्तनशील या लचीले संविधान के गुण

(1) समयानुकूलता– परिवर्तनशील संविधान का एक गुण यह होता है कि इसमें समय तथा परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन सरलता के साथ हो जाता है। ऐसा संविधान प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल सिद्ध होता है।

(2) जनता सन्तुष्ट– ऐसे संविधान के प्रति जनता अधिक सन्तुष्ट रहती है, क्योंकि इसमें उसकी इच्छानुसार यथासमय परिवर्तन होता रहता है।

(3) संकटकाल में– संकटकालीन परिस्थितियों के लिये भी अपने लचीलेपन के कारण यह संविधान ही उपयुक्त रहता है।

(4) स्वयमेव परिवर्तन– इस संविधान की एक विशेषता यह होती है कि इसमें समाज व सभ्यता की उन्नति के साथ ही साथ स्वयमेव परिवर्तन होता रहता है।

परिवर्तनशील संविधान के दोष

परिवर्तनशील संविधान के दोष निम्न प्रकार हैं–

(1) राजनीतिक दलों की कठपुतली– परिवर्तनशील संविधान का प्रमुख दोष यह है कि इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका या संसद को वहुत शक्ति प्राप्त हो जाती है। अतः डर यह रहता है कि संविधान राजनीतिक दलों के हाथ की कठपुतली न बन जाये और राजनीतिक दल अपने वहुमत के वल पर उसमें अपने दल के अनुकूल तथा समाज विरोधी परिवर्तन न कर लें।

(2) अशिक्षित जनता के लिये अनुपयुक्त– परिवर्तनशील संविधान उसी देश के लिये ठीक रहता है, जहाँ की जनता शिक्षित हो तथा राजनीतिक दृष्टि से जागृत हो। अशिक्षित जनता के लिये ऐसा संविधान उपयुक्त नहीं रहता।

(3) संघात्मक शासन के लिये अनुपयुक्त– संघात्मक शासन वाले देशों में केन्द्र व राज्यों के वीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन रहता है। अतः ऐसे देशों के लिये परिवर्तनशील संविधान उपयुक्त नहीं रहता, क्योंकि उस स्थिति में केन्द्र व राज्यों के बीच सदा अधिकारों की रस्साकशी होती रहती है।

अपरिवर्तनशील या कठोर संविधान के गुण

अपरिवर्तनशील या कठोर संविधान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं–

(1) निश्चितता– अपरिवर्तनशील संविधान में निश्चितता का गुण पाया जाता है। इसके सम्बन्ध में किसी भी नागरिक को कोई दुविधा या शंका नहीं रहती।

(2) स्थिरता– इस संविधान में स्थिरता का गुण भी पाया जाता है, क्योंकि इसमें परिवर्तन के लिये एक लम्बी तथा कठोर प्रक्रिया अपनाई जाती है।

(3) संसद की असीमित शक्ति– इस संविधान के अन्तर्गत व्यवस्थापिका या संसद को सीमित शक्ति ही प्राप्त होती है जिसके कारण शासन नागरिकों के अधिकारों व उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता।

(4) कठपुतली नहीं– ऐसा संविधान राजनीतिज्ञों या बहुमत वाले राजनीतिक दलों के हाथ की कठपुतली नहीं बन सकता।

(5) संघात्मक शासन के लिये उपयुक्त– ऐसा संविधान संघात्मक शासन के लिये उपयुक्त रहता है, क्योंकि इसके द्वारा केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों में स्थायित्व बना रहता है।

अपरिवर्तनशील या कठोर संविधान के दोष

अपरिवर्तनशील संविधान के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं–

(1) लोचशीलता का अभाव– अपरिवर्तनशील या अनमनीय संविधान का एक दोष यह है कि इसमें लोचशीलता का अभाव होता है जिसके कारण आवश्यकता या संकट के अवसरों पर इसमें सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

(2) उन्नति में बाधक– यह संविधान समाज तथा सभ्यता की प्रगति के साथ स्वयं को बदलकर अनुकूल नहीं बना पाता। अतः यह राष्ट्र की उन्नति में बाधक बन सकता है।

(3) राजनीतिक प्रगति में बाधक– अपरिवर्तनशील संविधान व्यक्ति के राजनीतिक विकास में भी बाधक सिद्ध होता है। जैसा कि गिलक्राइस्ट ने कहा है कि **"इतिहास के किसी भी एक काल में किसी एक दस्तावेज में राजनीतिक सिद्धान्तों का अन्तिम निर्धारण या विश्लेषण सम्भव नहीं है।"**

(4) न्यायालय की असीमित शक्ति– अपरिवर्तनशील संविधान के अन्तर्गत न्यायालय को असीमित शक्ति प्राप्त हो जाती है और वह किसी भी कानून को संविधान की व्याख्या के नाम पर अवैध घोषित कर सकती है। इस स्थिति में वे जनता की परिवर्तनशील आकांक्षाओं को भी अनदेखा कर सकते हैं।

जैसा कि लॉस्की ने कहा है कि, **"कठोर संविधान के अन्तर्गत न्यायाधीश इतने शक्तिशाली बन जाते हैं कि जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यवस्थापिका को भी पैरों तले रौंद सकते हैं।"**

(3) विकसित तथा निर्मित संविधान
(Evolved and Enacted Constitution)

विकसित संविधान उस संविधान को कहते हैं जिसका निर्माण कोई संसद या संविधान सभा किसी विशेष समय में नहीं करती, बल्कि उसका शनैः शनैः विकास होता है। इस प्रकार के संविधान को विकसित होने में सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। इसका निर्माण धीरे-धीरे रीति-रिवाजों व प्रथाओं के आधार पर होता रहता है। **इंग्लैण्ड के संविधान** का निर्माण इसी प्रकार हुआ और शनैः शनैः उसका बराबर विकास होता रहा है। इस प्रकार का संविधान इतिहास की उपज होता है।

इसके विपरीत, **निर्मित संविधान** उस संविधान को कहते हैं जिसका निर्माण किसी संविधान सभा या संसद द्वारा किसी समय विशेष में किया गया हो। ऐसे संविधान में एक बार में ही संविधान के लगभग सभी नियमों व कानूनों की रूपरेखा बना ली जाती है। भारत के संविधान का निर्माण इसी प्रकार एक संविधान सभा द्वारा 1949 में किया गया। निर्मित संविधान सदा ही लिखित होता है।

पर वास्तविकता यह है कि किसी भी देश का संविधान पूर्णतया निर्मित नहीं होता। आमतौर पर उसमें इन दोनों ही प्रकारों का न्यूनाधिक मात्रा में मिश्रण पाया जाता है।

(4) संघात्मक और एकात्मक संविधान
(Federal and Unitary Constitution)

सरकार के संगठन को आधार मानकार संघात्मक और एकात्मक रूप में भी संविधान का भेद किया जाता है। **संघात्मक संविधान** उस संविधान को कहते हैं जिसके अन्तर्गत बहुत से राज्य मिलकर एक संघ शासन की स्थापना कर लेते हैं। इसमें संघ तथा राज्यों के बीच कार्यों तथा अधिकारों का विभाजन हो जाता है। संघात्मक शासन के अन्तर्गत दो प्रकार की सरकारें होती

हैं– केन्द्र सरकार और राज्य सरकार। संविधान में इन दोनों के ही कार्यों, अधिकारों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्ट उल्लेख रहता है। ऐसा संविधान हमेशा लिखित ही होता है। राज्यों के न्यायालयों के अतिरिक्त देश में एक सर्वोच्च न्यायालय होता है जो संघ तथा राज्यों के पारस्परिक विवादों का निपटारा करता है। भारत में ऐसा ही संविधान लागू है।

इसके विपरीत, एकात्मक संविधान के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश का शासन केवल एक ही केन्द्र सरकार करती है। शासन में सुविधा की दृष्टि से केन्द्र सरकार यद्यपि कुछ कार्य तथा अधिकार प्रान्तीय एवं स्थानीय संस्थाओं को सौंप देती है, किन्तु उन पर केन्द्र सरकार का ही पूरा नियन्त्रण रहता है। संघात्मक शासन के विपरीत एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के लिये एक व्यवस्थापिका, एक कार्यपालिका एवं एक ही न्यायपालिका होती है।

संघात्मक संविधान के गुण

संघात्मक संविधान में अनेक गुण पाये जाते हैं–

(1) इससे देश के विभिन्न राज्य एकता के सूत्र में वँधे रहते हैं और राष्ट्रीय भावना का विकास होता है।

(2) संघ तथा राज्यों के कार्यों तथा अधिकारों का विभाजन होने से शासन के संचालन में वड़ी सुविधा रहती है।

(3) इस संविधान के अन्तर्गत राज्यों की जनता को अपना शासन स्वयं करने के अवसर उपलब्ध होते हैं और जनता में राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है।

(4) इसमें यह भी सम्भव होता है कि विभिन्न राज्यों की जनता की इच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार विभिन्न प्रकार के कानून बनाये जा सकें।

(5) इसके अन्तर्गत देश के सभी भागों (राज्यों) की जनता को वहुमुखी विकास के समान अवसर उपलब्ध होते हैं।

संघात्मक संविधान के दोष

संघात्मक संविधान में कुछ दोष भी पाये जाते हैं–

(1) संघ तथा राज्यों की सरकारों के वीच विभिन्न प्रश्नों पर प्रायः मतभेद खड़े हो जाते हैं, विशेषकर तव जवकि संघ तथा राज्य में अलग-अलग राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। भारत में गत वर्षों में संघ तथा तमिलनाडु; पश्चिमी वंगाल, आन्ध्र प्रदेश के मतभेद इसके प्रत्यक्ष उदाहरण रहे हैं।

(2) संघ सरकार राज्यों के असहयोग के कारण एक दृढ़ गृह एवं विदेश नीति का निर्माण करने में प्रायः असमर्थ रहती है।

(3) राज्यों के केन्द्र से पृथक् हो जाने का भय बना रहता है।

(4) केन्द्र तथा राज्यों के अनेक कानूनों में समानता न होने के कारण प्रायः विवाद उत्पन्न हो जाते हैं तथा जनता के समक्ष कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(5) विभिन्न राज्यों के लोगों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न नहीं होती और वे प्रान्तीयता की संकुचित भावना के शिकार हो जाते हैं। अनेक भारतीय राज्यों की जनता आज इस प्रान्तीयता की भावना से ग्रस्त है।

एकात्मक संविधान के गुण

(1) एकात्मक संविधान का सर्वप्रथम गुण यह है कि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के लिये एक से नियम तथा ऐसे ही कानून बनाये जाते हैं, अतः जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना बनी रहती है।

(2) इसके अन्दर शासन के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय अंगों में कोई मतभेद उत्पन्न नहीं होता।

(3) युद्ध जैसे संकटकाल के अवसरों पर संघ सरकार की अपेक्षा एकात्मक सरकार अधिक दृढ़ता एवं एकता से कार्य करने में समर्थ होती है।

(4) एकात्मक शासन में शासन-व्यय संघात्मक शासन की अपेक्षा क्रम होता है।

एकात्मक संविधान के दोष

इसके साथ ही साथ एकात्मक संविधान में कुछ दोष भी पाये जाते हैं–

(1) बड़े क्षेत्र वाले राज्यों के लिये यह संविधान उपयुक्त नहीं रहता है।

(2) इसके अन्तर्गत केन्द्रीय शासन पर शासन-कार्य का अत्यधिक भार हो जाता है जिससे शासन के कार्य-संचालन में ढिलाई आ जाती है।

(3) प्रजातन्त्र राज्यों के लिये ऐसा संविधान उपयुक्त नहीं रहता, क्योंकि इसमें जनता को शासन-कार्यों में भाग लेने के समुचित अवसर उपलब्ध नहीं होते।

(4) एकात्मक सरकार सार्वजनिक हित एवं विकास कार्यों के प्रति प्रायः उदासीन हो जाती है।

(5) लोकतन्त्रीय तथा अलोकतन्त्रीय संविधान
(Democratic and Undemocratic Constitution)

जिस संविधान के अन्तर्गत देश की जनता को प्रत्यक्ष या परोघ रूप से शासनं कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता है, उसे **लोकतन्त्रीय संविधान** कहा जाता है। इस संविधान के अनुसार, जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही देश का शासन करते हैं और शासन प्रजा के प्रति जिम्मेदार होता है। प्रजा चुनावों द्वारा अपनी इच्छानुसार सरकार को बदल सकती है। भारत का संविधान लोकतन्त्रीय है।

अलोकतन्त्रीय संविधान के अन्तर्गत जनता को शासन-प्रवन्ध में भाग लेने का अधिकार नहीं दिया जाता। ऐसे संविधान के अन्तर्गत शासन प्रजा की इच्छा का कोई ध्यान नहीं रखता और उसके अन्दर स्वेच्छाचारिता आ जाती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व जर्मनी में हिटलर ने और इटली में मुसोलिनी ने अलोकन्त्रीय संविधान के अन्तर्गत तानाशाही सरकारों की स्थापना की थी। वर्तमान युग में अलोकतन्त्रीय संविधान को कोई पसन्द नहीं करता और संसार के अधिकांश देशों में लोकतन्त्रीय संविधान ही लांगू है।

कौन-सा संविधान श्रेष्ठ है ?

संविधान के वर्गीकरण का अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न स्वभावतः ही सामने आता है कि आखिरकार किस संविधान को **सर्वश्रेष्ठ संविधान** कहा जाये ? वास्तविक बात यह है कि कोई भी एक संविधान सभी देशों के लिये श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। **जिस प्रकार एक ही प्रकार का वस्त्र सभी मनुष्यों के शरीर पर फिट नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई एक संविधान सभी देशों के लिये अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकता।**

संविधान की श्रेष्ठता की कसौटी किसी भी देश की आर्थिक, भौगोलिक एवं क्षेत्रीय परिस्थितियाँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिये; एक छोटे क्षेत्रफल वाले देश के लिये एकात्मक संविधान तथा विशाल क्षेत्रफल वाले देश के लिये संघात्मक संविधान श्रेष्ठ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, श्रेष्ठ संविधान की एक कसौटी यह है कि जनता की इच्छाओं का आदर किया गया हो और जनता को शासन-कार्यों में भाग लेने तथा विकास के समुचित अवसर प्रदान किये गये हों।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) संघात्मक संविधान की क्या विशेषतायें हैं ? यह एकात्मक संविधान से किस अर्थ में श्रेष्ठ है ? (1975)

(2) टिप्पणी लिखिये–

(i) लिखित संविधान (1973, 84)

(ii) लचीला संविधान (1976)

(iii) अच्छे संविधान के गुण (1977)

(iv) लिखित या अलिखित संविधान (1978)

(v) कठोर संविधान (1981, 87)

(3) संविधान से आप क्या समझते हैं ? संविधानों के वर्गीकरण के विभिन्न आधार बताइये। (1979)

(4) संविधान से आप क्या समझते हैं ? लचीले और कठोर संविधानों के मध्य अन्तर को स्पष्ट कीजिये। (1970, 74, 80)

(5) संविधान की परिभाषा कीजिये तथा इसके विभिन्न प्रकारों का विवेचन कीजिये। (1983, 88)

(6) संघात्मक व एकात्मक संविधानों का अन्तर स्पष्ट कीजिये और इन दोनों के गुण-दोषों का वर्णन कीजिये। (1986)

(7) संविधान की व्याख्या कीजिये। अच्छे संविधान के लिए किन बातों (गुणों) की आवश्यकता होती है ? (1991)

(8) संविधान की परिभाषा बताइये और उदाहरण देते हुए नमनीय और अनमनीय संविधान की व्याख्या कीजिये। (1991)

[संकेत– नमनीय व अनमनीय संविधान की व्याख्या में इनकी परिभाषा तथा गुण-दोषों की विवेचना कीजिये।]

(9) लचीले संविधान के गुण व दोषों की व्याख्या कीजिये। (1994)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– संविधान किसे कहते हैं ?

उत्तर– किसी देश की शासन व्यवस्था जिन सिद्धान्तों या नियमों के अनुसार निर्धारित या संचालित की जाती है, उन सिद्धान्तों या नियमों के संग्रह को ही उस देश का संविधान (Constitution) कहा जाता है।

चार्ल्स वोर्गीज के शब्दों में, "संविधान वह मौलिक कानून है जिनके अनुसार किसी राज्य की सरकार संगठित की जाती है और व्यक्तियों के समाज के साथ सम्बन्ध निश्चित किये जाते हैं।"

प्रश्न 2– किसी देश के लिए संविधान क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– संविधान राज्य तथा जनता दोनों के लिये एक प्रकाश स्तम्भ के रूप में मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। राज्य का संविधान होने से शासन के प्रत्येक अंग को अपने कार्य-क्षेत्र का ज्ञान होगा। नागरिक भी अपनी स्वतन्त्रता तथा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान का

संरक्षण प्राप्त कर सकते हैं। जैलिनेक के शब्दों में, "उस राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जिसका अपना संविधान न हो। संविधान-विहीन राज्य में अराजकता की स्थिति होगी।"

प्रश्न 3– संविधान कितने प्रकार के होते हैं ?

या

संविधान का वर्गीकरण किस-किस प्रकार किया जाता है ?

उत्तर– संविधानों का प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार है–

(क) लिखित व अलिखित संविधान

(ख) लचीला व कठोर संविधान

(ग) विकसित व निर्मित संविधान

(घ) संघात्मक व एकात्मक संविधान।

प्रश्न 4– एक अच्छे संविधान की चार विशेषतायें बताइये।

उत्तर– एक अच्छे संविधान की प्रमुख विशषेताएँ या लक्षण निम्न प्रकार हैं–

(क) **स्पष्टता–** संविधान की भाषा स्पष्ट तथा बोधगम्य होनी चाहिए।

(ख) **संक्षिप्तता–** संविधान पूर्ण एवं व्यापक होने के साथ-साथ संक्षिप्त भी होना चाहिये।

(ग) **परिवर्तनशीलता–** संविधान में परिवर्तनशीलता अथवा लचीलेपन का गुण भी होना चाहिये।

(घ) **विशिष्ट उल्लेख–** संविधान में अधिकारों व कर्त्तव्यों का विशेष रूप से उल्लेख होना चाहिए।

प्रश्न 5– विकसित संविधान किसे कहते हैं ?

उत्तर– विकसित संविधान उसे कहते हैं जिसका निर्माण कोई संसद या संविधान सभा किसी विशेष समय में नहीं करती, बल्कि उसका शनैः शनैः विकास होता है। इस प्रकार के संविधान को विकसित होने में सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। इसका निर्माण रीति-रिवाज व प्रथाओं के आधार पर शनैः शनैः होता है। इंग्लैण्ड का संविधान इसका उदाहरण है।

प्रश्न 6– निर्मित संविधान किसे कहते हैं ?

उत्तर– निर्मित संविधान उसे कहते हैं जिसका निर्माण किसी संविधान सभा या संसद द्वारा किसी समय-विशेष में किया गया हो। निर्मित संविधान सदा लिखित ही होता है। भारत के संविधान का निर्माण इसी प्रकार किया गया है।

प्रश्न 7– संविधानों में कौन-सा संविधान श्रेष्ठ है ?

उत्तर– जिस प्रकार एक ही नाप का वस्त्र सभी मनुष्यों के शरीरों पर फिट नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई एक संविधान सभी देशों के लिए अनुकूल तथा श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संविधान की श्रेष्ठता कसौटियाँ किसी भी देश की आर्थिक, भौगोलिक तथा क्षेत्रीय परिस्थितियाँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिये, एक छोटे क्षेत्रफल वाले देश के लिए एकात्मक संविधान तथा विशाल क्षेत्रफल वाले देश के लिए संघात्मक संविधान श्रेष्ठ माना जा सकता है।

प्रश्न 8– लिखित संविधान के गुण बताइये।

उत्तर– लिखित संविधान के प्रमुख गुण हैं–

(क) उसमें अनिश्चितता तथा संदिग्धता के लिए कोई स्थान नहीं होता।

(ख) लिखित संविधान में शासन-प्रवन्ध में बड़ी सुविधा रहती है।

(ग) हर चीज लिखित होने के कारण मतभेद खड़े नहीं होते।

(घ) नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख रहने से सरकार उनका अपहरण नहीं कर सकती।

प्रश्न 9– संविधान में परिवर्तन क्यों जरूरी होता है ?

उत्तर– यह आवश्यक है कि देश व काल की परिस्थितियों के अनुसार संविधान में परिवर्तन होते रहना चाहिये। मैकाले के अनुसार, "क्रान्ति का सबसे प्रमुख कारण यह है कि जहाँ राष्ट्र उन्नति के पथ पर बढ़ते जाते हैं, संविधान पूर्ववत् वहीं के वहीं खड़े रहते हैं।" डा० कश्यप के अनुसार, "किसी भी संविधान की महानता इसी में है कि नष्ट हुए विना उसे वदलती हुई सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप ढाला जा सके।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– भारत का संविधान किस प्रकार का है ?

उत्तर– भारत का संविधान लिखित, निर्मित तथा लोकतन्त्रीय संविधान है।

प्रश्न 2– संघात्मक संविधान का एक लक्षण बताइये।

उत्तर– संघात्मक संविधान में संघ तथा राज्यों के बीच कार्यों व अधिकारों का स्पष्ट विभाजन किया जाता है।

प्रश्न 3– अपरिवर्तनशील संविधान के किसी एक गुण का उल्लेख कीजिये।

उत्तर– अपरिवर्तनशील संविधान में निश्चितता का गुण पाया जाता है।

प्रश्न 4– संसार में सबसे बड़ा और लिखित संविधान किस देश का है ?

उत्तर– भारत का।

प्रश्न 5– संसार में सबसे छोटा व लिखित संविधान किस देश का है ?

उत्तर– संयुक्त राज्य अमेरिका का।

प्रश्न 6– भारत व इंग्लैण्ड के संविधान के बीच पाया जाने वाला एक प्रमुख अन्तर बताइये।

उत्तर– भारत का संविधान लिखित है और इंग्लैण्ड का अलिखित।

प्रश्न 7– परिवर्तनशील संविधान का एक गुण लिखिये। (1985)

उत्तर– इसमें परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन सरलता से हो जाता है।

प्रश्न 8– विकसित संविधान का सबसे विशिष्ट नमूना कौन-सा है ? (1990)

उत्तर– इंग्लैण्ड का संविधान।

प्रश्न 9– अच्छे संविधान के दो गुण या लक्षण बताइये। (1990)

उत्तर– (i) स्पष्टता, (ii) निश्चितता।

प्रश्न 10– किस राज्य में कठोर संविधान लागू है ?

उत्तर– भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में।

प्रश्न 11– संविधान की एक परिभाषा दीजिए। (1992)

उत्तर– आस्टिन के अनुसार, "संविधान उन नियमों का समूह है जो सर्वोच्च शासन के ढाँचे का निर्धारण करता है।"

प्रश्न 12– अलिखित संविधान के दो दोष लिखिये। (1992)

उत्तर– (i) अस्थिरता, (ii) विवाद।

प्रश्न 13– लिखित संविधान के दो गुण या विशेषतायें बताइये। (1994, 93)

उत्तर– (i) स्पष्टता व निश्चितता।

(ii) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा।

□□

हकूमत करनी है, तो इसकी किस्मों को परखिये :

17 सरकार के प्रकार– (i) राजतन्त्र व जनतन्त्र

(Forms of Government— (i) Monarchy and Democracy)

"जिस प्रकार सभी व्यक्तियों के लिये एक ही नाप का वस्त्र नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार सभी राज्यों के लिये एक ही प्रकार की सरकार नहीं बनाई जा सकती।" —गार्नर

"शासन के रूपों के लिये मूर्खों को झगड़ने दो। जो शासन सर्वोत्तम प्रकार से चले, वह सर्वश्रेष्ठ है।"[1] —पोप

इस अध्याय में क्या है ?

(1) सरकार का अर्थ और परिभाषा, (2) सरकारों का प्राचीन तथा आधुनिक वर्गीकरण, (3) अरस्तू का वर्गीकरण तथा आलोचना, (4) राजतन्त्र– परिभाषा, भेद, गुण तथां दोष, (5) अधिनायकतन्त्र या तानाशाही शासन– अर्थ, गुण तथा दोष, (6) कुलीनतन्त्र शासन– अर्थ, गुण तथा दोष, महत्व, (7) प्रजातन्त्र का अर्थ, भेद, गुण तथा दोष, (8) प्रजातन्त्र की सफलता की शर्तें, (9) भारत में ये शर्तें कहाँ तक विद्यमान हैं ? या प्रजातन्त्र की सफलता की बाधायें, (10) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (11) लघु उत्तरीय व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

सरकार का अर्थ और परिभाषा (Definition of Government)

सरकार राज्य के मौलिक तत्वों में से एक प्रमुख तत्व है। सरकार राज्य की वह शक्ति है जिसके द्वारा किसी देश का शासन-प्रवन्ध किया जाता है। अन्य शब्दों में, राज्य के विभिन्न कार्यों को करने वाले संगठन का नाम ही सरकार है।

गार्नर के शब्दों में, "राज्य की इच्छा की पूर्ति तथा उसके प्रशासन का कार्य जिस संगठन द्वारा होता है उसी का सामूहिक नाम सरकार है।"

"A Government is the organisation, through which the state manifests its will, issues its commands and conducts its affairs." —Garner

लॉस्की के अनुसार, "सरकार एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा राज्य अपने संकल्पों को प्रदर्शित करता है, आदेश देता है और कार्य संचालन करता है।"

बर्क के मत में, "सरकार मानव सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानवीय बुद्धि की एक रचना है।"

इस प्रकार सरकार वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य अपने कार्यों को सम्पन्न करता है। कोई राज्य विना सरकार के चल नहीं सकता। मानव-शरीर के लिए वस्त्रों का जो स्थान है वही स्थान राज्य रूपी शरीर के लिये सरकार का है। यदि कोई मनुष्य वस्त्रहीन (नंगा) होकर सड़क पर घूमने लगे, तो उसे असभ्य कहा जायेगा, इसी प्रकार सरकारविहीन राज्य भी असभ्य कहलायेगा। सरकार न होने का परिणाम अव्यवस्था, अराजकता और अशान्ति होती है।

व्यावहारिक जीवन में 'सरकार'

वैसे सरकार राज्य का एक प्रमुख अंग है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में कभी-कभी हम सरकार और 'राज्य' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि 'राज्य' को

1. *For forms of government, let the fools contest. Whatever is best administried, is best.* —Austin

बाढ़ नियन्त्रण के प्रभावी उपाय करने चाहियें, तब राज्य से हमारा तात्पर्य 'सरकार' से ही होता है। राज्य और सरकार समानार्थी नहीं हैं। 'सरकार' शब्द अपने विस्तृत अर्थ में राज्य के अध्यक्ष, मन्त्रि-परिषद् के सदस्य, राज्य के उच्च अधिकारी तथा सभी छोटे-बड़े शासकीय कर्मचारियों का बोध कराता है। अपने संकुचित अर्थ में सरकार उन व्यक्तियों से मिलकर बनती है जो राज्य की नीति का निर्धारण करते हैं। इसी अर्थ में कहा जाता है– 'जनता पार्टी सरकार' या 'काँग्रेस सरकार'।

सरकारों का प्राचीन तथा आधुनिक वर्गीकरण
(Classification of Government)

राज्यों का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि सभी राज्य समान होते हैं। प्रत्येक राज्य के चार तत्व होते हैं। वर्गीकरण केवल उन्हीं वस्तुओं का किया जाता है जो एक-दूसरे से कुछ बातों में समान होती हैं और कुछ बातों में भिन्न। वास्तव में राज्यों का आवश्यक तत्व सरकार ही एक ऐसा आधार है जिस पर राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रत्येक राज्य का संगठन भिन्न होता है। सरकार का रूप ही राज्यों के भेद का वास्तविक आधार है। शासन का वर्गीकरण वास्तव में कई प्रकार से राज्यों का ही वर्गीकरण है। सरकारों का वर्गीकरण वास्तव में कई आधारों पर किया जाता है। सरकारों के वर्गीकरण के मुख्य आधार निम्न हैं–

(1) सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर।

(2) विधानमण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों के आधार पर।

(3) केन्द्र और प्रादेशिक इकाइयों के सम्बन्धों के आधार पर।

(4) धर्म के आधार पर।

इसमें प्रथम वर्गीकरण प्राचीन वर्गीकरण कहलाता है और अन्तिम तीन वर्गीकरण आधुनिक वर्गीकरण कहलाते हैं।

इस अध्याय में हम सरकारों के प्रथम अर्थात् प्राचीन वर्गीकरण का ही अध्ययन करेंगे। शेष तीन वर्गीकरणों अर्थात् आधुनिक वर्गीकरण का अध्ययन अगले अध्याय में किया जायेगा।

(1) सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर सरकार का वर्गीकरण
या
सरकार का प्राचीन वर्गीकरण
या
अरस्तू का वर्गीकरण

अति प्राचीन काल में इस आधार पर कि राज्य की शासन-शक्ति कितने मनुष्यों के हाथों में है, अरस्तू ने सरकारों के तीन भेद किये थे–

(अ) एक व्यक्ति का शासन,

(ब) कुछ व्यक्तियों का शासन,

(स) बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन।

अरस्तू ने पुनः सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर उपरोक्त प्रकार से वर्गीकृत सरकार के तीन रूपों को पुनः दो प्रकार के शासन में विभाजित किया–

(1) शासन की साधारण दशा या शुद्ध रूप।

(2) शासन का विकृत या भ्रष्ट रूप।

साधारण दशा में शासक प्रजा के हित का ध्यान रखते हैं, जबकि विकृत दशा में सरकार

अत्याचारी होती है और केवल शासकगण अपने ही हितों को आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार सत्ताधारियों की संख्या और शासन की भावना के अनुसार अरस्तू ने कुल मिलाकर सरकारों को 6 भागों में वर्गीकृत किया था।

निम्नांकित सारणी द्वारा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सरकारों का भेद दिखाया गया है–

अरस्तू का वर्गीकरण

शासकों की संख्या	शुद्ध रूप	विकृत रूप
(1) एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
(2) कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	अल्पतन्त्र या वर्गतन्त्र (Oligarchy)
(3) बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	बहुतन्त्र या सवैधानिक तन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र (Democracy)

इन विभिन्न शासन-व्यवस्थाओं से अरस्तू का आशय निम्न प्रकार था–

(1) राजतन्त्र (Monarchy)— इस प्रकार के राज्य में शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होती है। अरस्तू के मतानुसार, यह व्यक्ति अनिवार्यतः सामान्य हित का ध्यान रखते हुए ही शासन कार्य करता है।

(2) निरंकुशतन्त्र (Tyranny)– यह राजतन्त्र का विकृत रूप है। इसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में होती है किन्तु वह व्यक्ति शासन की शक्ति का प्रयोग सामान्य हित में न करके अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करता है।

(3) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)— अरस्तू के अनुसार, कुलीनतन्त्र में शासन की सत्ता कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती है और वे इस सत्ता का उपयोग सामान्य हित को दृष्टिगत रखकर करते हैं।

(4) अल्पतन्त्र या वर्गतन्त्र (Oligarchy)— यह कुलीनतन्त्र का विकृत रूप है। इसके अन्तर्गत शासन की सम्पूर्ण सत्ता एक वर्ग विशेष, मुख्यतः धनिक वर्ग के हाथों में केन्द्रित रहती है। ये लोग शासन की शक्ति का उपयोग सामान्य हित में न करके वर्ग-विशेष के हित में ही करते हैं।

सरकारों का वर्गीकरण

प्राचीन वर्गीकरण :

1. सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर
- (क) राजतन्त्र
- (ख) कुलीनतन्त्र
- (ग) प्रजातन्त्र

आधुनिक वर्गीकरण :

2. विधानमण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों के आधार पर–
- (क) संघात्मक सरकार
- (ख) अध्यक्षात्मक सरकार

3. केन्द्र और प्रादेशिक इकाइयों के सम्बन्धों के आधार पर–
- (क) एकात्मक सरकार
- (ख) संघात्मक सरकार

4. धर्म के आधार पर–
- (क) धर्म सापेक्ष सरकार
- (ख) धर्म निरपेक्ष सरकार।

(5) बहुतन्त्र (Polity)— इस प्रकार के शासन में शासन की शक्ति बहुसंख्यक लोगों के हाथों में होती है जो उसका उपयोग सामान्य हित की वृद्धि के लिए करते हैं। अरस्तू के मत में, बहुसंख्यक लोगों में मध्यम वर्ग के लोगों की प्रधानता होती है।

(6) प्रजातन्त्र (Democracy)— यह बहुतन्त्र का विकृत रूप है। इसमें भी शासन की शक्ति तो बहुसंख्यक लोगों के हाथों में ही रहती है किन्तु ये लोग शासन की शक्ति का उपयोग

सामान्य हित में कम और अपने वर्ग या दल के हित में अधिक करते हैं। इन बहुसंख्यक लोगों में उच्च, मध्यम व निम्न तथा शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी वर्गों के लोग होते हैं।

आलोचना (Criticism)—

आधुनिक युग में इतनी नई प्रकार की सरकारें स्थापित हो गई हैं कि अरस्तू का वर्गीकरण उन पर लागू नहीं होता। नये आधारों पर उनका वर्गीकरण होना आवश्यक है। दूसरे, अरस्तू का वर्गीकरण एक प्रकार से शासन का न होकर राज्यों का वर्गीकरण है। इसको स्वीकार करने पर राज्य और शासन में कोई भेद नहीं रह जाता है। तीसरे, अरस्तू ने बहुतन्त्र के लिए 'पोलिटी' (Polity) तथा भीड़तन्त्र के लिए, 'डेमोक्रेसी' शब्द का प्रयोग किया है, उसने प्रजातन्त्र को भीड़तन्त्र का पर्यायवाची माना है, जबकि वर्तमान समय में प्रजातन्त्र (Democracy) को सर्वोत्तम शासन माना जाता है। चौथे, अरस्तू का वर्गीकरण गुणों पर आधारित न होकर संख्या पर आधारित है।

(1) राजतन्त्र तथा एकतन्त्र शासन
(Monarchy)

राजतन्त्र क्या है ?

शासन का वह रूप है जिसमें राज्य की सर्वोपरि सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में हो और शासन के मामले में उस एक ही व्यक्ति की इच्छा चलती हो तथा राज्य की सारी शक्तियों का प्रयोग वही करता हो, राजतन्त्र कहलाता है। भले ही सत्तावान् व्यक्ति चाहे किसी प्रकार पदारूढ़ हुआ है और उसका कार्यकाल कितना भी हो।

राजतन्त्र शासन की एक अति प्राचीन प्रणाली है। सभ्यता के आदिकाल में यही प्रणाली सम्भव और लाभकारी हो सकती थी।

गैलेट ने कहा है कि, **"ऐसा शासन जिसमें सर्वोच्च और अन्तिम सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथों में होती है, राजतन्त्र कहलाता है।"**

ब्राइस के शब्दों में, **"राजतन्त्र का तात्पर्य उस राज्य से होता है जिसमें राजा की व्यक्तिगत इच्छा अन्तिम रूप से निर्णायक तत्व का काम करती है।"**

राजतन्त्र के भेद

राजप्राप्ति के विचार से राजतन्त्र के दो भेद किये जा सकते हैं–

(i) वंशानुगत राजतन्त्र– इसमें उत्तराधिकारी के नियम से पिता की मृत्यु पर ज्येष्ठ सन्तान को राजपद की प्राप्ति होती है। इंग्लैण्ड, नेपाल, हॉलैंड, जापान आदि देशों में वंशानुगत राजतन्त्र (Hereditary Monarchy) पाया जाता है।
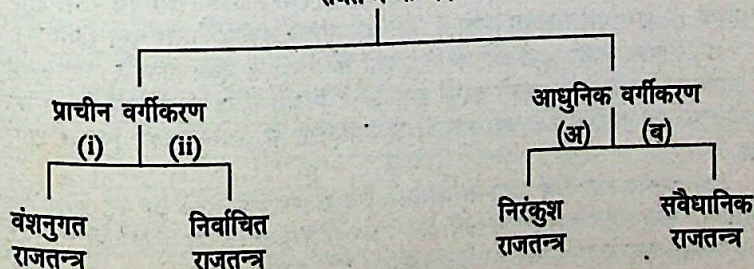
(ii) निर्वाचित राजतन्त्र– राजा की मृत्यु पर जनता या किसी विशेष वर्ग द्वारा उसके उत्तराधिकारी का चुनाव किया जाता है। भारत में हर्षवर्धन को मन्त्रिपरिषद् द्वारा राजा बनाया गया था। यह प्रणाली आजकल नहीं अपनाई जाती।

आधुनिक विद्वानों ने राजा की शक्तियों के आधार पर राजतन्त्र के पुनः दो भेद किये हैं-

(अ) निरंकुश राजतन्त्र– इसमें राजा सर्वेसर्वा होता है। वही शासन की सभी शक्तियों का स्रोत होता है। वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और उस पर कोई बन्धन नहीं होता। वह अपनी शक्तियों का मनमाना प्रयोग कर सकता है। मुगल काल में भारत के इस्लामी शासक इसके उदाहरण हैं। आज के युग में निरंकुश राजतन्त्र का कोई स्थान नहीं रह गया है। निरंकुश राजतन्त्र का सबसे अच्छा उदाहरण फ्रांस लुई चौदहवाँ था जो यह कहता था– "मैं ही राज्य हूँ।" सभ्यता तथा राजनैतिक चेतना के कारण अब निरंकुश राजतन्त्र समाप्त-प्रायः है।

(ब) संवैधानिक राजतन्त्र– राजा शासन का नाममात्र का प्रधान होता है। **"वह राज्य करता है, पर शासन नहीं करता।"** शासन के सारे काम उसके नाम पर किये जाते हैं, हर शासन की शक्ति निर्वाचित प्रतिनिधियों में निहित होती है। राजा की शक्तियाँ संविधान द्वारा मर्यादित होती हैं। अब राजतन्त्र शासन-प्रणाली सवैधानिक राजतन्त्र के रूप में ही विकसित हो रही है। इंग्लैण्ड संवैधानिक राजतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

राजतन्त्र अथवा एकतन्त्र शासन के गुण

राजतन्त्र के भेदों की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि सवैधानिक राजतन्त्र और प्रजातन्त्र में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में ही शासन की वास्तविक शक्ति प्रजा के हाथों में होती है। अतः यहाँ हम सवैधानिक राजतन्त्र के गुण व दोषों की विवेचना करके अन्य सभी प्रकार के राजतन्त्रों के गुण व दोषों का अध्ययन करेंगे। निरंकुश, स्वेच्छाचारी, वंशपरम्परागत या निर्वाचित राजतन्त्र के गुण निम्न प्रकार हैं–

(1) शक्तिशाली, स्थायी व सरल शासन– राजतन्त्र शासन में शासन की सारी शक्ति चूँकि राजा के हाथ में होती है, अतः वह शासन दृढ़, शक्तिशाली तथा स्थायी होता है। साथ ही इस शासन का संगठन जटिल न होकर सरल ही होता है।

(2) कानून-निर्माण व निर्णयों में शीघ्रता– राजतन्त्र में शासन राज्य की आवश्यकता के अनुसार तुरन्त ही कानून का निर्माण कर लेता है। साथ ही विवाद का निर्णय करने में अदालतों को आजकल जहाँ वर्षों लग जाते हैं, वहाँ राजतन्त्र में राजा तुरन्त ही विवादों का निपटारा कर देता है।

(3) कानूनों का पालन– राजतन्त्र शासन में श्रद्धा अथवा भय के कारण प्रजा कानून का अधिक ईमानदारी व दृढ़ता से पालन करती है।

(4) प्रशासनिक संगठन की कुशलता– राजा अपनी इच्छा के अनुसार कर्मचारियों को रख सकता है जो अपने कार्यों के लिए राजा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसलिये राजा और उसके कर्मचारियों के बीच पूर्ण सहयोग रहता है और प्रशासनिक संगठन कुशल वना रहता है।

(5) निष्पक्ष शासन– राजा राजनैतिक दलों के प्रभाव से मुक्त होता है। वह सबसे ऊपर और स्वतन्त्र होता है। उसे अपने कार्यों द्वारा अपने निर्वाचकों या जनता को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं होती। अतः वह सरलता से समाजहित में संलग्न रहकर निष्पक्ष शासन कर सकता है।

(6) असभ्य जीवन में उपयुक्त शासन– जब समाज कम सभ्य था उस समय जनता में राजनैतिक चेतना बहुत कम थी। उसमें अपना प्रबन्ध स्वयं करने की क्षमता भी नहीं थी। ऐसे समाज में राजतन्त्र ने लोगों को राजनैतिक जीवन का अभ्यस्त बनाया।

इसलिये मिल ने ठीक ही कहा है कि "असभ्य एवं बर्बर जातियों पर शासन करने के लिये निरंकुश राजतन्त्र ही उपयुक्त शासन-प्रणाली है।"

(7) जन-हितकारी शासन– राजा व्यक्तिगत स्वार्थों, दलबन्दी एवं पक्षपात की भावना से ऊपर होता है। अतः यह जो निर्णय लेता है वह प्रजा के व्यापक हितों को ध्यान में रखकर तथा समाज के कमजोर और निर्बल वर्गों को दृष्टि में रख कर लेता है। फ्रेडरिक के शब्दों में, "राजतन्त्र ने सदैव ही निर्धनों के मित्र के रूप में गौरवपूर्ण कार्य किया है।" ह्यूम के अनुसार, "नरेश प्रजाजनों में ऐसे ही रहता है, जैसे पिता अपनी सन्तान के मध्य।"

(8) संस्कृति और सभ्यता का उन्नायक– राजतन्त्र से साहित्य, कला और सामाजिक सुधारों को बढ़ावा मिलता है। शासकगण प्रायः गुण्यों के पारखी होते हैं और वे ऊँचे कलाकारों, संगीतज्ञों, साहित्यकारों को आश्रय देते रहकर प्रोत्साहित करते रहते हैं। ब्राइस के अनुसार, "17 वीं और 18 वीं सदी में विविध यूरोपीय देशों में अनेक ऐसे सुधार सम्पन्न हुए जिन्हें एक जबर्दस्त राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति सम्पन्न नहीं कर सकती थी।"

राजतन्त्र के गुण

1. शक्तिशाली, स्थायी व सरल शासन
2. कानून-निर्माण व निर्णयों में शीघ्रता
3. कानूनों का पालन
4. प्रशासनिक संगठन की कुशलता
5. निष्पक्ष शासन
6. असभ्य जीवन में उपयुक्त शासन
7. जनहितकारी शासन
8. संस्कृति व सभ्यता का उन्नायक
9. शासन में स्थायित्व और दृढ़ता
10. कम खर्चीला शासन
11. एकता का जनक
12. समान न्याय।

(9) शासन में स्थायित्व और दृढ़ता– राजतन्त्र में राज्य से सम्बन्धित सभी कार्यों में चाहे उनका स्वरूप किसी भी प्रकार का हो, राजा ही अन्तिम, सर्वोपरि एवं निर्णायक शक्ति होता है। शासन की इस एकता से सरकारी नीति में स्थायित्व बना रहता है, जिससे आर्थिक और सामाजिक जीवन की उन्नति होती है और औद्योगिक विकास को बल मिलता है।

(10) कम खर्चीला शासन– सब शक्ति राजा के हाथों में होने के कारण तथा शासन के संगठन की सरलता के कारण शासन का व्यय कम होता है।

(11) एकता का जनक– राजतन्त्र शासन देश की सम्पूर्ण जनता को एकता के सूत्र में बाँधे रखता है और जनता में राज्य की आज्ञा पालन करने की भावना उत्पन्न कर उसको वैधानिक शासन-व्यवस्था के लिये तैयार करता है।

(12) समान न्याय– राजतन्त्र शासन में जनता को बिना किसी भेद-भाव के सस्ता, निष्पक्ष एवं सामान्य न्याय दिया जाता है।

राजतन्त्र या एकतन्त्र शासन के दोष

वास्तविक बात यह है कि एक निरंकुश राजतन्त्र में उपर्युक्त गुणों में से बहुत कम गुण पाये जाते हैं। इसके विपरीत इसमें निम्नलिखित दोषों का भण्डार मिलता है–

(1) स्वेच्छाचारिता को बढ़ावा– निरंकुश राजतन्त्र में सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है। वह शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार करता है। "शक्ति भ्रष्ट करती है और असीमित शक्ति सर्वथा भ्रष्टकारी होती है।" निरंकुश राजा प्रजा पर अत्याचार करके अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। इस प्रकार यह शासन स्वेच्छाचारी हो जाता है।

(2) भ्रष्ट और स्वार्थपरक शासन– जब राजा भ्रष्ट और अत्याचारी हो जाता है, तो उसके नियुक्त किये कर्मचारी भी मनमानी करने लगते हैं और अपने क्षुद्र स्वार्थों को जन-कल्याण की तुलना में प्राथमिकता देते हैं। फलस्वरूप पूरा शासन-तन्त्र जनहित को त्याग देता है जिससे जनता इस भ्रष्ट और स्वार्थपरक शासन में दुःखी रहती है।

राजतन्त्र के दोष

1. स्वेच्छाचारिता को बढ़ावा
2. भ्रष्ट और स्वार्थपरक शासन
3. वर्तमान समय के लिये अनुपयुक्त
4. वंशानुगत प्रथा का अनौचित्य
5. राजनैतिक अधिकारियों का अभाव
6. राजनैतिक चेतना का अभाव
7. जनक्रान्ति का भय
8. षड्यन्त्रों व रक्तपात का जनक।

(3) वर्तमान समय के लिये अनुपयुक्त– बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना के तथा लोकतन्त्र के वर्तमान युग के लिये राजतन्त्र शासन-व्यवस्था बिल्कुल भी उपयुक्त नहीं है।

(4) वंशानुगत प्रथा का अनौचित्य– यह आवश्यक नहीं कि योग्य शासक का पुत्र भी सदा योग्य ही हो। इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जबकि योग्य शासकों के अयोग्य पुत्र हुए। योग्य तथा अनुभवी राजा की सन्तान विलासी, निकम्मी, दुराचारी यहाँ तक कि अशिक्षित भी हो सकती है। इस पद्धति में योग्य शासक का होना एक संयोग की बात है। वंशानुगत प्रथा के कारण कभी-कभी अवयस्क व्यक्ति भी पदारूढ़ हो जाते हैं और अनुभवहीनता के कारण वे शासन की जटिलता को समझ पाने में असमर्थ होते हैं।

जेफरसन ने तो यहाँ तक कहा है कि, **"राजाओं की किसी जाति ने बीसियों पीढ़ियों में से एक भी अधिक असाधारण बुद्धि वाला व्यक्ति उत्पन्न नहीं किया है।"**

(5) राजनैतिक अधिकारों का अभाव– निरंकुश राजशासन में जनता के केवल कर्त्तव्य होते हैं। उन्हें कोई राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं होता। इसीलिये नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता। इसमें दासता की मनोवृत्ति पनपती है और स्वतन्त्रता का ह्रास होता है।

(6) राजनैतिक चेतना का अभाव– राजतन्त्र में जनता को शासन-कार्यों में भाग लेने का कोई अवसर नहीं मिलता। जनता का राजनैतिक जीवन नागरिक-चेतना के विना निष्प्राण रहता है।

(7) जनक्रान्ति का भय– जनता भय के कारण राजा के आदेशों का पालन करती है। राजतन्त्र का प्रमुख आधार शक्ति है। अतः अवसर मिलते ही जनक्रान्ति व विद्रोह का प्रादुर्भाव होता है। रूस व फ्रांस की राजक्रान्ति इसका उदाहरण है।

(8) षड्यन्त्रों व रक्तपात का जनक– राजसत्ता प्राप्त करने के लिये षड्यन्त्र तथा खून-खराबा होता है। राजसिंहासन को प्राप्त करने के लिये भाई-भाई पर, पुत्र पिता पर और मन्त्री राजा पर वार करने से नहीं चूकता। मुगल शासन का इतिहास प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(2) अधिनायकतन्त्र या तानाशाही शासन
(Dictatorship)

राजतन्त्र की भाँति अधिनायकतन्त्र में भी सम्पूर्ण सत्ता एक ही व्यक्ति में निहित होती है। राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र में मुख्य अन्तर शासक द्वारा सत्ता प्राप्त करने की विधि में निहित होता है। राजतन्त्र में शासक आमतौर पर वंशानुगत रूप में सत्ता प्राप्त करता है किन्तु अधिनायकतन्त्र में सेना या किसी प्रमुख राजनीतिक दल का नेता होने के कारण वह सत्ता प्राप्त करता है। **उसकी शक्ति का प्रमुख आधार सैनिक शक्ति होता है।** एक वार जो दल शासन सत्ता हथिया लेता है, उसका नेता अधिनायक बन जाता है। अधिनायक में राष्ट्र की सामान्य इच्छा निहित मानी जाती है। नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर उसका पूर्ण अधिकार होता है। **प्रायः अधिनायक जनता या किसी दल की पसन्द से भी सत्ता में आते हैं और फिर तानाशाही के ढंग से शासन को अपनी पसन्द के अनुसार चलाते हैं।**

तानाशाही शासन के गुण (Merits of Dictatorship)

तानाशाही शासन में निम्नलिखित गुण होते हैं–

(1) शान्ति और व्यवस्था में सहायक– अधिनायक में सारी शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में होती है। वह शान्ति और व्यवस्था कायम करने के लिये शीघ्र और प्रभावकारी कदम उठा सकता है।

(2) संकटकाल में दृढ़ता– अधिनायकतन्त्र का आधार सैनिक होता है। इस कारण यह शासन संकट का दृढ़ता से सामना कर सकता है।

(3) शासन कार्य में कुशलता– एक सत्ता सम्पन्न व्यक्ति राज्य के कर्मचारियों पर कठोरता से नियन्त्रण करके उनमें व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर कर सकता है। इससे शासन में कुशलता आ जाती है।

(4) कम खर्चीला शासन– तानाशाही सरकार एक व्यक्ति का ही शासन है। इस कारण शासन का संगठन अत्यन्त सरल है। इससे शासन का खर्च कम होता है।

(5) दलबन्दी का अभाव– तानाशाही शासन में केवल एक दल रहता है। अन्य दलों को शासन करने की आज्ञा नहीं होती। इसमें दलबन्दी के दोषों से सरकार मुक्त रहती है।

(6) नीति का स्थायित्व– अधिनायकतन्त्र में शासन की नीति अधिनायक की इच्छा पर निर्भर रहने के कारण, शासन की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(7) राष्ट्र का विकास– सत्ता का केन्द्रीयकरण होने के कारण अधिनायकतन्त्र में राष्ट्र का तीव्र विकास होता है।

जैक्सन के अनुसार, **"अधिनायक के अधीन व्यापार और उद्योग समृद्ध हुए हैं, कृषि फली-फूली है और श्रम संकट दूर हुआ है।"**

तानाशाही शासन के दोष (Demerits)

तानाशाही में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं–

(1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव– तानाशाही शासन में नागरिकों को अपने विचार प्रकट करने की या सभा करने की स्वतन्त्रता नहीं होती। इससे लोकमत का निर्माण नहीं होता। सम्पूर्ण जनता अधिनायकतन्त्र रूपी कारागार में बन्द रहती है।

(2) जनता के हितों की उपेक्षा– तानाशाह जनता की भावना और इच्छा का आदर न करके स्वयं मनमाना शासन करते हैं।

(3) साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन– तानाशाह निर्बल राज्यों की स्वतन्त्रता का हनन करके अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न कर देते हैं। इससे साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) प्रचार को महत्व– तानाशाह जनता को झूठे प्रचार से गुमराह करके अपनी जड़ें जमाता है।

(5) सेना पर व्यय– तानाशाही शासन का आधार अपरिमित सैन्य शक्ति होने के कारण सेना सदैव युद्ध की स्थिति में रखी जाती है। इस कार्य में अनावश्यक व्यय किया जाता है। फ्रैडमैन ने ठीक ही लिखा है कि **"मानव इतिहास बताता है कि मानव जाति के बीच सभी भीषण युद्ध किसी न किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही प्रारम्भ किये गये।"**

(6) भ्रष्ट शासन– तानाशाही की अपरिमित शक्ति उसे शीघ्र ही भ्रष्ट और अत्याचारी बना देती है।

(3) कुलीनतन्त्र शासन
(Aristocracy)

अर्थ तथा परिभाषा (Meaning)

कुलीनतन्त्र शासन में सत्ता की बागडोर किसी एक वर्ग-विशेष के हाथों में रहती है। अन्य शब्दों में, कुलीनतन्त्र वह व्यवस्था है जिसमें शासन थोड़े से बड़े व्यक्तियों के हाथों में रहता है। ये 'वड़े' कई दृष्टि से बड़े हो सकते हैं– धन में वड़े, जन्म से वड़े, वुद्धि से बड़े, शारीरिक शक्ति में बड़े अथवा आचार-विचार में बड़े। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसे शासन पर आमतौर पर कुछ थोड़े से धनियों या उच्चकुल के लोगों का अधिकार रहता है जो अपने वर्ग के हित में शासन करते हैं। वैसे संसार में अव यह प्रथा प्रचलित नहीं है। किन्तु अवशेष अभी भी कहीं-कहीं विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये; इंग्लैंड में लार्ड सदन (House of Lords), प्रजातन्त्र देशों में भी विधान-परिषद् (उच्च सदन) की स्थापना में इसी के तत्व पाये जाते हैं जिसमें कि देश के धनियों, पूँजीपतियों, विद्वानों, कलाकारों को मनोनीत किया जाता है।

अरस्तू ने शासन के इस रूप का प्रतिपादन करके 'दार्शनिक राजा' के सिद्धान्त की व्याख्या की है।

विभिन्न लेखकों ने कुलीनतन्त्र की परिभाषा निम्न प्रकार की है–

(1) गेटेल के शब्दों में, **"कुलीनतन्त्र में राजनीतिक शक्ति जनता के छोटे से भाग के हाथों में निहित रहती है।"**

(2) गार्नर के अनुसार, **"कुलीनतन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें राजनीतिक शक्ति का प्रयोग थोड़े से लोगों द्वारा होता है।"**

(3) ब्राइस के शब्दों में, **"कुलीनतन्त्र सबसे उत्तम सरकार है जिसमें कुछ थोड़े से उच्च शिक्षा प्राप्त और जन-सेवी व्यक्ति सरकार के कार्य का संचालन करते हैं।**

कुलीनतन्त्र के गुण (Merits of Aristocracy)

(1) संख्या की अपेक्षा योग्यता पर बल– शासन-कार्य एक ऐसी कला है जिसमें देश के कुछ लोग निपुण होते हैं। कुलीनतन्त्र शासन-कला में निपुण थोड़े से व्यक्तियों का ही शासन है। कार्लाइल के शब्दों में, **"मूर्खों का यह चिरस्थायी अधिकार है कि बुद्धिमान उन पर शासन किया करें।"** रूसो के मत में, **"सर्वाधिक बुद्धिमान बहुतों का शासन करें, यह सबसे अधिक श्रेष्ठ और सबसे अधिक प्राकृतिक है।"**

गार्नर के शब्दों में, **"कुलीनतन्त्र शासन विशेष प्रतिभाशालियों को उचित सम्मान प्रदान करके उन्हें जन-सेवा के लिये आकर्षित करता है।"**

(2) संयमित शासन– कुलीनतन्त्र में शासक वर्ग सदैव वहुमत द्वारा विद्रोह किये जाने की सम्भावना के प्रति सचेत रहता है। यह भय उनमें संयम का गुण ला देता है और वे शक्ति का प्रयोग वहुत ही सावधानी से उचित और अनुचित का ध्यान रखते हुए करते हैं। मान्टेस्क्यू ठीक ही कहता है– "गुण पर आधारित परिमितता कुलीनतन्त्र की आत्मा है।"

(3) स्थायी एवं कार्य-कुशल शासन– कुलीनतन्त्र में शासन की शक्ति उन लोगों के स्थायी मत के अनुसार चलती है जो शासन-कार्य में कुशल होते हैं। शासकों का यह मत राजनैतिक दलों की शक्ति में परिवर्तनों से अप्रभावित रहता है, क्योंकि शासक राजनीति से अलग रहकर ईमानदारी और प्रतिष्ठापूर्वक शासन-कार्य कर सकते हैं। नीति के स्थायित्व के कारण सर्वतोमुखी उन्नति सम्भव होती है।

(4) सरल एवं कम खर्चीला शासन– कुलीनतन्त्र शासन में राजाओं की विलासिता,

लोकतन्त्रीय चुनाव और अपव्यय में समाज की रक्षा होती है। इसका संगठन भी लोकतन्त्र की तुलना में सरल होता है।

(5) अनुभवों की सुरक्षा– कुलीनतन्त्र शासन में प्रत्येक नया शासक अपने पूर्वजों के अनुभवों से लाभ उठाते हुए शासन-प्रबन्ध का कार्य अच्छी प्रकार से कर सकता है। इस प्रकार इस शासन में पूर्व अनुभव सुरक्षित रहते हैं।

(6) सोचे-समझे निर्णय– कुलीनतन्त्र में प्रभावशाली, अनुभवी और बुद्धिमान शासक न तो शासन में कोई क्रांतिकारी प्रयोग करते हैं और न वे जल्दबाजी में निर्णय लेते हैं। केवल आवश्यकता पड़ने पर ही धीरे-धीरे परिवर्तन लाये जाते हैं।

कुलीनतन्त्र के गुण

1. संख्या की अपेक्षा योग्यता पर बल
2. संयमित शासन
3. स्थायी एवं कार्यकुशल शासन
4. सरल एवं कम खर्चीला शासन
5. अनुभवों की सुरक्षा
6. सोचे-समझे निर्णय
7. एकतन्त्र व लोकतन्त्र के गुणों का समन्वय
8. भ्रष्टाचार से मुक्त शासन
9. संस्कृति एवं सभ्यता का विकास।

(7) एकतन्त्र व लोकतन्त्र के गुणों का समन्वय– एकतन्त्र में शासक वर्ग की स्वेच्छाचारिता जन-विद्रोह को जन्म देती है। लोकतन्त्र में भावावेश और संख्या की उपासना होती है। कुलीनतन्त्र इन दोषों से मुक्त जनता के हित में कार्य करने वाला एक मर्यादित शासन है।

(8) भ्रष्टाचार से मुक्त शासन– कुलीनतन्त्र के शासक सब प्रकार से सम्पन्न होते हैं। इसीलिये लोकतन्त्र की तरह रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार कुलीनतन्त्र में नहीं पनपने पाता।

(9) संस्कृति एवं सभ्यता का विकास– गुणसम्पन्न व्यक्तियों का शासन होने के कारण कुलीनतन्त्र में शासक वर्ग संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और ललित कलाओं की उन्नति को प्रोत्साहन देता है।

मेन के शब्दों में, **"विश्व का इतिहास बताता है कि मानवीय प्रगति स्पष्ट रूप से कुलीनतन्त्र के कारण ही हुई है।"**

कुलीनतन्त्र के दोष (Demerits)

कुलीनतन्त्र शासन में निम्नलिखित दोष हैं–

(1) सर्वोत्तम व्यक्तियों के चुनाव में कठिनाई– कुलीनतन्त्र में योग्यता का आधार शिक्षा, कुल, धर्म, सैन्यबल या इनमें से कुछ को माना जाता है। इन आधारों में से कौन-सा आधार सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, इसका निश्चय करना कठिन कार्य है। प्रशासनिक योग्यता का कोई अलग मानदण्ड नहीं है जिसके आधार पर कुलीनतन्त्र के सर्वोत्तम रूप का निर्धारण किया जा सके।

(2) प्रगति का विरोधी शासन– कुलीनतन्त्र में शासन ऐसे लोगों के हाथों में होता है जो रूढ़िवादी, पुराणपंथी एवं प्रगति-विरोधी होते हैं। शासन-व्यवस्था में जनता की आकांक्षाओं के अनुसार परिवर्तन नहीं हो पाते हैं। यह शासन सभी परम्परागत संस्थाओं को बनाये रखना चाहता है।

(3) भ्रष्ट होने की आशंका– जिस प्रकार शक्ति पाकर राजा भ्रष्ट हो सकता है, एक वर्ग या श्रेणी भी उसी प्रकार भ्रष्ट हो सकती है। अत्यन्त नेक-नीयत वाले कुलीन पुरुषों द्वारा भी विभिन्न वर्गों के हितों की अवहेलना सम्भव है।

(4) असमानता का पोषक– कुलीनतन्त्र एक विशेष श्रेणी या वर्ग का शासन होने के कारण वह वर्ग-विशेष अहंकारी हो जाता है। इससे असमानता का पोषण तथा वर्गीय विरोध की भावना का जन्म होता है।

(5) नागरिक चेतना के विकास में बाधक– इस शासन व्यवस्था में जनता का शासन में कोई भाग न होने के कारण जनता में नागरिक चेतना तथा राजनैतिक जागरूकता की भी भावना का विकास नहीं होता। ऐसा शासन जनता में राज्य के कार्यों के प्रति रुचि और नागरिक भावना को प्रोत्साहित न करे, अच्छा शासन नहीं कहा जा सकता।

(6) सामान्य व्यक्तियों की प्रतिभा का अनादार– कुलीनतन्त्र में शासन से जनसाधारण से पृथक् रहने के कारण अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों की प्रतिभा का शासन-कार्य के लिये उपयोग नहीं हो पाता। उनकी योग्यता एवं प्रतिभा व्यर्थ जाती है।

कुलीनतन्त्र के दोष

1. सर्वोत्तम व्यक्तियों के चुनाव में कठिनाई
2. प्रगति का विरोधी शासन
3. भ्रष्ट होने की आशंका
4. असमानता का पोषक
5. नागरिक चेतना के विकास में बाधक
6. सामान्य व्यक्तियों की प्रतिभा का अनादर
7. धनियों का प्रभुत्व
8. उत्तराधिकारी प्रथा।

(7) धनियों का प्रभुत्व– ऐसे शासन में आमतौर पर धनी लोगों का ही प्रभुत्व बना रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि धनी व्यक्ति योग्य होंगे ही। फिर धनी निर्धनों की चिन्ता न कर अपने वर्ग के हित के लिये ही कार्य करते हैं।

(8) उत्तराधिकारी प्रथा– कुलीनतन्त्र शासन में प्रायः यही होता है कि शासकों के वंशज ही शासन के उत्तराधिकारी बन जाते हैं, चाहे वे योग्य हों अथवा नहीं।

कुलीनतन्त्र का महत्व– शासन की व्यवस्था का रूप चाहे कोई भी हो, शासन शक्ति का प्रयोग सदैव ही कुछ व्यक्तियों द्वारा अथवा व्यक्तियों की एक श्रेणी विशेष द्वारा ही किया जाता है। प्राचीनकाल में राजतन्त्र में राजा अपने सलाहकारों को उचित महत्व दिया करते थे। आज के लोकतन्त्र में भी व्यवहार में शासन शक्ति का वास्तविक प्रयोग कुछ व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार कुलीनतन्त्र की उपयोगिता स्वतः ही-स्पष्ट है।

(4) प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र या जनतन्त्र
(Democracy)

अर्थ व परिभाषा (Meaning)

जनतन्त्र या लोकतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र सरकार की व्यवस्था प्राचीन काल में भी प्रचलित थी और वर्तमान युग की भी यह सर्वाधिक लोकप्रिय शासन-व्यवस्था है। प्रजातन्त्र का अर्थ है प्रजा अथवा जनता का शासन। प्रजातन्त्र शासन के अन्तर्गत जनता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता है। जनता के हाथों में ही शासन की सर्वोच्च सत्ता निहित होती है। जनता को सरकार बदलने का पूरा अधिकार होता है।

प्रजातन्त्र की परिभाषा अनेक विद्वानों ने निम्न प्रकार की है–

(1) अरस्तू के अनुसार, "प्रजातन्त्र सरकार राज्य के बहुसंख्यक लोगों की सरकार है।"

(2) प्रो० सीले के शब्दों में, "प्रजातन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमें सभी का हिस्सा होता है।"

"Democracy is a Government in which every one has a share." —Seeley

(3) डायसी के मत में, "प्रजातन्त्र शासन सरकार का वह स्वरूप है जिसमें प्रजा का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासन करता है।"

"Democracy is a form of Government in which governing body is comparatively large fraction of the entire nation." —Dicey

(4) हीराडोटस के शब्दों में, "प्रजातन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण समाज के हाथों में होती है।"

"Democracy is that form of government in which the supreme power of the state is in the community as a whole."

—Herodotus

(5) ब्लेचफर्ड के अनुसार, "प्रजातन्त्र उस शासन को कहते हैं जो चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा जनता को इच्छानुसार चलाता है।"

(6) मेजिनी के शब्दों में, "सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्तियों के नेतृत्व में सबके द्वारा सबकी प्रगति का नाम ही प्रजातन्त्र है।"

(7) इब्राहम लिंकन के शब्दों, "प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसमें शासन जनता का, जनता के लिये तथा जंनता द्वारा होता है।" *(Democracy is the Government of the people, for the people and by the people.)*

उपर्युक्त परिभाषाओं में अब्राहम लिंकन की परिभाषा सर्वश्रेष्ठ है। यह परिभाषा प्रजातन्त्र सरकार के भावों को व्यक्त करती है।

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ

वर्तमान युग में प्रजातन्त्र का अर्थ अत्यन्त व्यापक दृष्टि से किया जाता है। परन्तु हमें यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि प्रजातन्त्र का अर्थ केवल सरकार की व्यवस्था से ही नहीं है, अपितु समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था से भीं है। किसी राज्य की प्रजा को मताधिकार या चुनाव का अधिकार प्राप्त हो जाने मात्र से वहाँ राज्य को प्रजातन्त्र राज्य नहीं कहा जा सकता।

प्रजातन्त्र शासन का अर्थ है कि जनता को राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने के साथ ही साथ सामाजिक क्षेत्र में भी सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाये। जाति-पाँति, छुआछूत तथा ऊँच-नीच का कोई भेद न हो। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य को अपने आर्थिक विकास के लिये समान अवसर तथा समान सुविधायें प्राप्त हों। अपना व्यवसाय चुंनने की स्वतन्त्रता हो। देश में किसानों व मजदूरों का शोषण न हो।

यह भी आवश्यक है कि स्वतन्त्रता व समानता को प्रजातन्त्र का आधार बनाया जाये। जिस राज्य में जनता के सभी वर्गों को अपने विकास के लिये समान रूप से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, उस शासन् को कभी भी प्रजातन्त्र शासन नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, वर्तमान युग में प्रजातन्त्र का अंर्थ संकुचित दायरे से बाहर निकलकर अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण से किया जाता है।

प्रजातन्त्र के तत्व या विशेषतायें (Elements)

लोकतन्त्र की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर सामान्य रूप से लोकतन्त्र की निम्न विशेषतायें बताई जा सकती हैं–

(1) **जनता का प्रतिनिधित्व–** लोकतन्त्र में जनता की प्रतिनिधि सरकार द्वारा शासन किया जाता है। इस प्रकार शासन का आधार दैवीय न होकर, लौकिक होता है।

(2) **जनता के हितों का रक्षण–** लोकतन्त्रीय शासन का आधारभूत मूलतत्व जनता के हितों का रक्षण होता है। लोकतन्त्र में सरकार सदैव एक साधन के रूप में होती है, जिसके सामने जनकल्याण का दायित्व होता है।

(3) **जनता के प्रति उत्तरदायित्व–** लोकतन्त्र में शासक अपने कार्यों के लिये जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यदि शासक अपनी शक्तियों का प्रयोग जनता के हितों के विरुद्ध करते हैं, तो सर्व-साधारण द्वारा शासन में परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रजातन्त्र के प्रकार या भेद
(Kinds of Democracy)

जनतन्त्र या लोकतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र में भेद निम्नलिखित दो आधारों पर किया जाता है–

(क) जीवन प्रद्धति के आधार पर

(ख) शासन पद्धति के आधार पर

अद हम इन्हीं दोनों आधारों पर किये जाने वाले जनतन्त्र के प्रकारों की विवेचना करेंगे।

(क) जीवन पद्धति के आधार पर जनतन्त्र के प्रकार

वर्तमान समय में जनतन्त्र का स्वरूप काफी विस्तृत हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जनतन्त्र को केवल एक राजनीतिक सिद्धान्त माना जाता था। किन्तु आजकल जनतन्त्र को एक जीवन-पद्धति माना जाता है। फलतः लोकतन्त्र में जीवन के राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक, सभी पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है। अतः इस आधार पर जनतन्त्र के निम्नलिखित तीन भेद किये जाते हैं–

(1) राजनीतिक लोकतन्त्र (Political Democracy)— राजनीतिक लोकतन्त्र वह व्यवस्था है जिसमें जनता प्रत्यक्ष रूप से अथवा एक निश्चित अवधि के लिये निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन करती है। इस व्यवस्था में नागरिकों को राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये; हमारे देश में 15 अगस्त 1947 को गुलामी समाप्त हुई और राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना हुई।

(2) सामाजिक लोकतन्त्र (Social Democracy)— सामाजिक लोकतन्त्र से आशय है कि समाज का संगठन समानता एवं भाईचारे की भावना पर आधारित हो। लोगों में ऊँच-नीच व छुआछूत आदि का भेद-भाव न हो। धर्म, वंश, रंग या लिंग के आधार पर लोग एक-दूसरे को छोटा वड़ा न समझें। चरित्र और योग्यता के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को महत्व प्राप्त हो। समाज के सभी वर्गों को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों।

उदारण के लिये; हमारे देश में राजनीतिक लोकतन्त्र तों स्थापित है, परन्तु सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिये हमें अभी बहुत कुछ करना है। हमारे समाज का संगठन लोकतन्त्र विरोधी भावनाओं पर आधारित है। संयुक्त राज्य अमेरिका भी यद्यपि राजनीतिक लोकतन्त्र का गढ़ है, किन्तु वहाँ भी नीग्रो जाति के नागरिकों का सामाजिक जीवन में शोचनीय स्थान है। इसके विपरीत पश्चिमी एशिया में अनेक मुस्लिम देश हैं, जहाँ सामाजिक लोकतन्त्र तो है, परन्तु राजनीतिक लोकतन्त्र नहीं है।

(3) आर्थिक लोकतन्त्र (Economic Democracy)— आर्थिक लोकतन्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक को अपने विकास के लिये समान रूप से आर्थिक सुविधायें उपलब्ध हों। लोगों के बीच धन तथा आय की अधिक विषमता न हो और कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का आर्थिक शोषण न कर सके। देश में गरीवी और वेरोजगारी न हो।

हमारे देश में आर्थिक लोकतन्त्र लाने के लिये भरसक प्रयास किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश से गरीवी व वेरोजगारी दूर करने के लिये पग उठाये जा रहे हैं। कुछ भी हो, आर्थिक प्रजातन्त्र लाने के लिये अभी हमें कठोर श्रम करना होगा।

जनतन्त्र के प्रकार

(क) जीवन पद्धति के आधार पर
1. राजनीतिक लोकतन्त्र
2. सामाजिक लोकतन्त्र
3. आर्थिक लोकतन्त्र

(ख) शासन पद्धति के आधार पर
1. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र
2. अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र

(ख) शासन पद्धति के आधार पर

शासन पद्धति के आधार पर जनतन्त्र या लोकतन्त्र के दो भेद किये जाते हैं–

(1) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy)– प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य की जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्यों में भाग लेती है, नीति निर्धारित करती है, कानून वनाती है तथा अधिकारियों की नियुक्ति करती है। राज्य के सभी वयस्क नागरिक सभा के रूप में एकत्र होकर ये सव कार्य सम्पन्न करते हैं।

इस प्रकार का लोकतन्त्र प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में प्रचलित था। स्विट्जरलैंड के कुछ जिलों में आज भी यह प्रणाली विद्यमान है। किन्तु प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की यह प्रणाली केवल उन्हीं राज्यों में सफल हो सकती है, जहाँ की जनसंख्या बहुत कम हो। भारत व चीन जैसे विशाल जनसंख्या वाले देशों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की स्थापना कदापि सम्भव नहीं हो सकती।

(2) अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Indirect or Representative Democracy)– अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र की व्यवस्था में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन के कार्यों में भाग नहीं लेती, वल्कि अपने प्रतिनिधि चुनकर उनके माध्यम से शासन कार्यों में भाग लेती है। ये चुने हुए प्रतिनिधि एम० एल० ए० या एम० पी० कहलाते हैं और वे विधान सभा व लोक सभा में कानून वनाते हैं।

हर्नशा के शव्दों में, **"यह प्रतिनिधि के माध्यम से सर्वोच्च सत्तावान जनता का शासन होता है।"**

इस लोकतन्त्र को **प्रतिनिधि लोकतन्त्र (Representative Democracy)** भी कहा जाता हैं। भारत में तथा विश्व में सर्वत्र अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र की प्रणाली ही प्रचलित है।

प्रजातन्त्र के गुण (Merits of Democracy)

(1) जन-कल्याण की भावना– लोकतन्त्र में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि जनता की इच्छाओं, भावनाओं और आवश्यकताओं से पूर्णतः परिचित होते हैं। जनता के प्रति उत्तरदायी होने के कारण वे सदैव जनता के हितों के प्रति सजग रहते हैं। लोकतन्त्र शासन आवश्यक रूप से जन-कल्याण के लिये होता है।

(2) कुशल शासन– इस शासन में सबसे अधिक, शीघ्रतापूर्वक तथा आवश्यक रूप से जनता के हित में कार्य किये जाते हैं। गार्नर ठीक ही कहता है– **"लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियन्त्रण, लोकप्रिय उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण लोकतन्त्र किसी भी अन्य शासन व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल होता है।"**

(3) श्रेष्ठ शिक्षण– वर्न्स कहता है– **"सभी साधन शिक्षा के साधन होते हैं, किन्तु अच्छी शिक्षा स्वशिक्षा है। इसलिये सबसे अच्छा शासन स्वशासन है जिसे लोकतन्त्र कहते हैं।"**[1] लोकतन्त्र केवल शासन का प्रकार ही नहीं है, वह एक जीवन पद्धति है। गैटल लोकतन्त्र को **"नागरिकता की शिक्षा प्रदान करने वाला स्कूल कहते हैं।"**

(4) मनौवैज्ञानिक शासन– डॉ० आर्शीवादम् कहते हैं– **"लोकतन्त्र में सरकार और जनता के वीच एक सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होता है। इसमें व्यक्ति एक मौन स्वीकृति देने वाले के स्थान पर एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है।"** व्यक्ति को आत्मिक सन्तोष मिलता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार वनाये गये कानूनों द्वारा शासित है। इसका मानवीय मस्तिष्क पर स्वस्थ प्रभाव पड़ता है।

---

1. *"All Government is a method of education but the best education is a self education; therefore, the best Government is self-government which is democracy."* **— Burns**

प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र के गुण

1. जन-कल्याण की भावना
2. कुशल शासन
3. श्रेष्ठ शिक्षण
4. मनोवैज्ञानिक शासन
5. जनता का नैतिक उत्थान
6. देशभक्ति की भावना का उदय
7. क्रान्ति से वचाव
8. समानता व स्वतन्त्रता पर आधारित
9. श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्राप्ति
10. विश्व शान्ति का समर्थक
11. वैज्ञानिक उत्कर्ष को प्रोत्साहन
12. भावी शासक वर्ग का निर्माण।

(5) जनता का नैतिक उत्थान– लोकतन्त्र में जनता को मिली राजनैतिक शक्ति व्यक्ति में गरिमा, आत्मसम्मान तथा आत्म-निर्भरता का विकास करती है। मिल कहता है– **"लोकतन्त्र किसी भी अन्य शासन की अपेक्षा उच्च और श्रेष्ठ राष्ट्रीय चरित्र का विकास करता है।"** *"It promotes a better and higher form of national character than any other polity whatever—J.S. Mill."* ब्राइस कहता है– **"राजनैतिक अधिकारों से मनुष्य के व्यक्तित्व की शान बढ़ जाती है।"**

(6) देशभक्ति की भावना का उदय– राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति से जनता शासन और राज्य के प्रति एक प्रकार का लगाव अनुभव करती है। इससे देशभक्ति की भावना का उदय होता है। मिल कहता है– **"लोकतन्त्र लोगों की देशभक्ति को बढ़ाता है, क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार उन्हीं की है और अधिकारी स्वामी न होकर सेवक हैं।"**

"Democracy strengthens the love of country because citizens feel that the Government is their own creation and majistrates are their servants rather than masters." —Mill

(7) क्रांति से बचाव– लोकतन्त्र में शासक वर्ग लोकतन्त्र के अनुसार ही शासन का संचालन करता है। यदि शासक अनुचित कार्य करते हैं, तो जनता उन्हें शांतिपूर्ण निर्वाचनों के द्वारा अपदस्थ कर सकती है। इससे क्रान्ति की सम्भावना कम हो जाती है। गिलक्राइस्ट कहता है– **"लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है। अतः स्वभाव से वह क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।"**

"Pupular Government is a Government by common consent from its very nature; therefore it is not likely to be revolutionary."

(8) समानता व स्वतन्त्रता पर आधारित शासन– लोकतन्त्र का आधार व्यक्तियों की समानता का आदर्श है। यह प्रणाली जाति, धर्म, वर्ण, लिंग और सम्पत्ति के भेद को महत्व न देते हुए मानव समाज की आधारभूत समानता का विश्वास रखती है। इस प्रणाली में सबको व्यक्तित्व के विकास के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता तथा उसके समान अवसरों की प्राप्ति सुलभ कराई जाती है। किसी अन्य शासन प्रणाली में यह सम्भव नहीं है।

(9) श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्राप्ति– देश की शासन व्यवस्था नागरिकों के व्यवहार पर वहुत अधिक प्रभाव डालती है। लोकतन्त्र में नागरिक सहिष्णुता, उदारता, सहानुभूति, स्नेह, सहयोग, विचार-विनिमय और समझौते की भावना को प्रदर्शित करते हुए श्रेष्ठ सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

(10) विश्व शांति का समर्थक– लोकतन्त्रीय सरकारें समानता और स्वतन्त्रता पर आधारित होने के कारण सहअस्तित्व एवं शान्तिपूर्ण बातचीत द्वारा विवादों को सुलझाने में विश्वास रखती हैं। वर्न्स ने ठीक ही कहा है– **लोकतन्त्रीय आन्दोलन शांति का आन्दोलन रहा है। लोकतन्त्र से विश्व शांति की सम्भावनायें शक्तिशाली हुई हैं।"**

(11) वैज्ञानिक उत्कर्ष को प्रोत्साहन– स्वतन्त्रता के अभाव में विज्ञान का विकास सम्भव नहीं होता। विज्ञान और लोकतन्त्र दोनों के एक से नैतिक मूल्य होते हैं। दोनों ही अभिव्यक्ति और प्रयोग को सत्य तक पहुँचाने का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। मेयो कहता है– "एक स्वतंत्र समाज में वैज्ञानिक विकास की बहुत अधिक सम्भावनायें हैं।"

(12) भावी शासक वर्ग का निर्माण– प्रजातन्त्र शासन में छोटे से छोटे गाँव में रहने वाली जनता से लेकर नगरों तथा देशों की राजधानी में रहने वाली जनता के प्रत्येक वर्ग का चुनाव, स्वायत शासन तथा पंचायतों आदि की गतिविधियों में भाग लेना होता है। इस प्रकार वे प्रारम्भ से ही शासन-कार्य की ट्रेनिंग प्राप्त करने लगते हैं और आगे चलकर देश की बागडोर सम्भालते हैं।

प्रजातन्त्र के दोष (Demerits of Democracy)

प्रजातन्त्र सरकार में सर्वोच्च गुण होने के वावजूद अनेक आलोचकों ने समय-समय पर इस पर अनेक आक्रमण किये हैं और इसके अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोषों पर प्रकाश डाला है। इनमें से कुछ दोष निम्न प्रकार हैं–

(1) अयोग्यता का सम्मान– योग्यता की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान नहीं होते। फिर भी, लोकतन्त्र सभी व्यक्तियों को एक मत का अधिकार देता है। कॉर्लाइस के अनुसार– **"विश्व में एक योग्य व्यक्ति के साथ 9 मूर्ख होते हैं।"** सभी को समान राजनैतिक शक्ति देने का परिणाम मूर्खों की सरकार की स्थापना होती है। इस प्रकार लोकतन्त्र में गुण की अपेक्षा संख्या पर बल दिया जाता है। एच० जी० वेल्स लोकतन्त्र को **"बुद्धिहीन अज्ञानियों का शासन"** कहते हैं।

(2) दल प्रणाली का हानिकारक प्रभाव– लोकतन्त्र शासन के लिये राजनैतिक दल एक अनिवार्य आवश्यकता होती है। ये राजनैतिक दल वास्तव में, चाहे जिस तरह से भी हो, शासन-शक्ति प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं। कॉर्लाइस कहते हैं– **"राजनैतिक दल कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिये अनेकों का पागलपन है। इनके कारण धूर्त और बकवासी व्यक्तियों के हाथों में शासन की सत्ता आ जाती है।"** इस प्रकार प्रजातन्त्र वास्तव में दलतन्त्र और उसमें भी नेतातन्त्र हो जाता है।

प्रजातन्त्र के दोष
1. अयोग्यता का सम्मान
2. दल प्रणाली का हानिकारक प्रभाव
3. भ्रष्टाचार को बढ़ावा
4. धन और समय का अपव्यय
5. धन की विजय
6. अनुत्तरदायी शासन
7. मतदाताओं की उदासीनता
8. पेशेवर राजनीतिज्ञों का जन्म
9. संकट का सामना करने में असमर्थ
10. नीति की अस्थिरता
11. गुटबन्दी को प्रोत्साहन
12. समानता, केवल ढोंग
13. झूठ की अधिकता
14. योग्य व्यक्ति चुनाव से दूर
15. साहित्य व कला का विकास नहीं
16. दलवदल की गन्दगी।

(3) भ्रष्टाचार को बढ़ावा– सत्तारूढ़ दल के सदस्य शासन से अनेक प्रकार के अनुचित लाभ प्राप्त करते हैं। जनता के प्रतिनिधि भी निर्वाचित होने के लिये तरह-तरह के हथकण्डे और भ्रष्ट तरीकों का प्रयोग करते हैं। ब्राइस ठीक ही कहता है– **"ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिसमें निर्वाचकों, विधायकों तथा प्रशासकीय अधिकारियों तक ने धन के आगे सिर झुका दिया।"** बोफोर्स काण्ड तथा शेयर घोटाला काण्ड इसके उदाहरण हैं।

(4) धन और समय का अपव्यय– लोकतन्त्र में कानून के निर्माण में इतना अधिक समय लग जाता है कि अनेक बार तो कानून

पारित होने तक कालातीत हो जाते हैं। ब्राइस कहता है– **"लोकतन्त्र एक ऐसी समिति के अनुरूप है जिसके सात सदस्य सात दिन में उतना काम करते हैं जो एक व्यक्ति एक दिन में काम करता है।"** चुनावों में सार्वजनिक धन का बहुत अपव्यय होता है।

(5) धन की विजय– लोकतन्त्र में निर्धन व्यक्ति चुनाव में खड़े होने और जीतने की कल्पना भी नहीं कर सकता। धनी लोग निर्धनों के मत खरीद लेते हैं। प्रचार के साधनों पर धनिकों का अधिकार होता है।

(6) अनुत्तरदायी शासन– सबके प्रति उत्तरदायी होने का अर्थ है, किसी के भी प्रति उत्तरदायी न होना। प्रजातन्त्र में लोग एक-दूसरे पर अपना उत्तरदायित्व टाल देते हैं।

(7) मतदाताओं की उदासीनता– व्यवहार में यह देखने में आया है कि मतदाताओं का एक बहुत बड़ा भाग अपने मताधिकार का प्रयोग तक नहीं करता। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे राजनैतिक दल सत्ता प्राप्त कर लेते हैं जिनको अल्पसंख्यक मतदाताओं का समर्थन मिला होता है। ऐसी सरकार जनभावना का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती है ?

(8) पेशेवर राजनीतिज्ञों का जन्म– प्रायः योग्य, कुशल और ईमानदार व्यक्ति चुनावों के प्रति इतने उदासीन हो जाते हैं कि या तो वे चुनावों में खड़े नहीं होते अथवा धूर्त, कपटी, अपराधी प्रवृत्ति के बकवासी व्यक्तियों से हार जाते हैं। इससे पेशेवर राजनीतिज्ञों का एक वर्ग बन जाता है।

(9) संकट का सामना करने में असमर्थ शासन– देश पर जिस समय संकट काल होता है, जब शीघ्र निर्णय करने की आवश्यकता होती है। लेकिन लोकतन्त्र में सत्ता में एकीकरण के स्थान पर सत्ता का फैलाव होने के कारण शीघ्र निर्णय नहीं किये जा सकते।

(10) नीति की अस्थिरता– लोकतन्त्र में शासन आज एक दल का होता है और कल दूसरे दल का। शासक दल बदलने के साथ-साथ शासन की नीतियाँ भी बदलती हैं। इस प्रकार लोकतन्त्रीय शासन की नीति अस्थिर रहती है।

(11) गुटबन्दी को प्रोत्साहन– प्रजातन्त्र शासन में अनेक राजनीति दल चुनाव में भाग लेते हैं। फिर जो भी दल सत्तारूढ़ होता है, वह देशहित की अपेक्षा दल-हित को प्रमुखता देने लगता है। अगले चुनाव में जीतने के लिये वह अपनी जड़ें मजबूत करने में शासन का दुरुपयोग करता है। यही नहीं, एक दल के अन्दर भी अनेक गुट उत्पन्न हो जाते हैं जो परस्पर झगड़ते रहते हैं।

(12) समानता, केवल ढोंग– समानता को प्रजातन्त्र का एक मुख्य आधार बताया जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि संसार के अधिकांश प्रजातन्त्रीय देशों की जनता में आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भारी असमानतायें पाई जाती हैं। धनी, धनी होते जा रहे हैं तथा गरीब और गरीब हो रहे हैं।

(13) झूठ की अधिकता– प्रजातन्त्रीय में बातूनी और झूठे लोग धुँआधार भाषण देकर तथा झूठे-सच्चे वायदे करके सत्तारूढ़ हो जाते हैं। इससे शासन में बातें तथा झूठ अधिक और काम कम होता है।

(14) योग्य व्यक्ति चुनाव से दूर– प्रजातन्त्र में चुनाव के समय असत्य भाषणों, झूठे आश्वासनों तथा भारी व्यय के कारण सच्चरित्र एवं योग्य व्यक्ति चुनाव में खड़े ही नहीं होते। परिणामस्वरूप योग्य, ईमानदार एवं ऊँचे चरित्र वाले व्यक्ति शासन में नहीं पहुँचते और बेईमान, धूर्त, मक्कार, डाकू तथा चरित्रहीन लोग शासन कर कब्जा कर लेते हैं।

(15) साहित्य व कला का विकास नहीं– प्रजातन्त्र शासन में विद्वानों, साहित्यकारों व कलाकारों को वह सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होता जो राजनीतिज्ञों को होता है। परिणामस्वरूप, ऐसे शासन में साहित्य व कला आदि का यथोचित विकास नहीं हो पाता।

(16) दलबदल की गन्दगी– प्रजातन्त्र शासन का रूप तब तो बहुत विकृत हो जाता है, जब राजनीति सेवा-पथ से हटकर सत्ता-पथ की ओर अग्रसर हो जाती है। परिणामस्वरूप, सत्ता के लोभ में अन्धे होकर एम० एल० ए० या एम० पी० एक-एक दिन में कई-कई वार दलबदल करते हैं जिससे राजनीति वेश्या-नीति बन जाती है और सरकार हर समय अधर में लटकी रहती है।

निष्कर्ष : (प्रजातन्त्र एक आदर्श व्यवस्था है) (Conclusion)

अनेक विद्वानों की आलोचनाओं के बावजूद, वर्तमान युग में प्रजातन्त्र शासन ही सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था है। कई आलोचकों ने प्रजातन्त्र में अनेक दोष तो निकाले हैं, परन्तु यह नहीं वताया है कि कौन-सी शासन-व्यवस्था पूर्णतया दोषरहित है जिसे सर्वोत्तम कहा जा सके। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रजातन्त्र में अनेक गुणों की विद्यमानता के वावजूद आज अनेक दोष आ गये हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि ये दोष सैद्धान्तिक नहीं हैं वल्कि प्रजातन्त्र को गलत रूप से प्रयोग करने के कारण उत्पन्न हुए हैं। कोई कारण नहीं है कि ये दोष सरलता से दूर न किये जा सकें।

सच्चाई यह है कि मानव की **अनैतिकता एवं राष्ट्रीय चरित्रहीनता तथा अशिक्षा ही प्रजातन्त्र के समस्त दोषों की जड़ है।** मानव के इन दोषों के दूर होने पर प्रजातन्त्र की कमियाँ स्वयं ही दूर हो जायेंगी।

आज यदि हम निरंकुश राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, तानाशाही, साम्यवाद आदि अन्य सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं से प्रजातन्त्र की तुलना करें, तो हमें स्पष्ट हो जायेगा कि अनेक दृष्टियों से **प्रजातन्त्र शासन ही अन्य सभी शासन प्रणालियों से श्रेष्ठ है।** प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों में कोई कमी नहीं है। यदि कोई कमी है तो वह या तो प्रयोग करने के ढंग में है अथवा स्वयं प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में है जो कि आसानी से दूर की जा सकती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि **प्रजातन्त्र शासन ही सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्श शासन-व्यवस्था है और इसका भविष्य उज्ज्वल है।**

प्रजातन्त्र की सफलता की शर्तें या दशायें
(Necessary Conditions for the Success of Democracy)

ऊपर यह वताया जा चुका है कि **प्रजातन्त्र सरकार सिद्धान्त रूप से सर्वोत्तम सरकार है,** किन्तु इनको व्यवहार में लाने में कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन कठिनाइयों के कारण प्रजातन्त्र शासन संसार के सभी देशों में समान रूप से सफल नहीं हुआ है। अभी पिछले दस वर्षों में ही संसार के कई देशों में प्रजातन्त्र शासन में व्याप्त दलवन्दी व अन्य कठिनाइयों के कारण वहाँ सैनिक तानाशाही की स्थापना हो गई है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रजातन्त्र शासन वुरा होता है अथवा सफल नहीं हो सकता।

वास्तव में बात यह है कि इसकी सफलता के लिये एक विशेष वातावरण या कुछ विशेष दशाओं अथवा शर्तों की आवश्यकता होती है जिनकी विद्यमानता में प्रजातन्त्र सरकार पूर्णतः सफल होती है। ये दशायें अथवा शर्तें निम्नलिखित हैं–

(1) शिक्षित एवं जागृत जनता– शिक्षित जनता ही लोकतन्त्र की सफलता का सर्वप्रथम आधार है। यदि राज्य की अधिकांश जनता शिक्षित एवं जागृत नहीं है, तो लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। शिक्षा से नागरिकों का चरित्र उन्नत होता है, उनका दृष्टिकोण विशाल वनता है तथा उनमें अनेक गुणों का समावेश होता है। अशिक्षित जनतंत्र को एक निकृष्ट अथवा मूर्खों का शासन कहा जाता है। इस प्रकार यदि जनता जागृत नहीं होती और शासन-कार्यों में सक्रिय रूप से भाग तथा रुचि नहीं लेती, तो भी जनतन्त्र की सफलता संदिग्ध हो जाती है।

महात्मा गाँधी के शब्दों में, "प्रजातंत्र ऐसा राज्य नहीं होता, जिसमें जनता भेड़ों के समान कार्य करे। इसमें जनता को जागरूक रहना होता है।"

"Democracy is not a state in which people act like sheep, the people is to be alert."

—M. Gandhi

(2) चरित्रवान नागरिक– शिक्षित होने के साथ-साथ यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के सभी नागरिक ईमानदार, देशभक्त, सेवाभावी तथा चरित्रवान हों। यदि नागरिकों में ये गुण नहीं होंगे, तो प्रजातन्त्र शासन में भी अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

(3) प्रेस तथा लेखन की स्वतन्त्रता– यह आवश्यक है कि प्रजातन्त्र में जनता को विचार प्रकट करने तथा लेखन आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता हो और समाचार-पत्रों पर कोई प्रतिवन्ध न हो, ताकि लोग आवश्यकतानुसार सरकार की आलोचना कर उसमें सुधार कर सकें।

(4) राजनीतिक दलों की संख्या कम– प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि राजनीतिक दलों की संख्या कम हो। राजनीतिक दलों की संख्या अधिक होने से गुटबन्दी वढ़ जाती है, दलबदल की बीमारी उत्पन्न हो जाती है और विभिन्न दल राष्ट्रहित को भूलकर अपने दलीय स्वार्थों में उलझे रहते हैं।

प्रजातन्त्र शासन की सफलता की शर्तें अथवा दशायें

1. शिक्षित एवं जागृत जनता
2. चरित्रवान नागरिक
3. प्रेस व लेखन की स्वतन्त्रता
4. राजनीतिक दलों की संख्या कम
5. अधिकारों के प्रति सजगता
6. कर्त्तव्य-पालन की भावना
7. समानता का होना
8. सहिष्णुता, देश-प्रेम व व्यापक दृष्टिकोण
9. शान्ति व सुरक्षा
10. लिखित संविधान
11. शासन कार्यों में रुचि
12. स्थानीय स्वशासन
13. न्यायप्रिय वहुमत और सहनशील अल्पमत
14. बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व
15. योग्य व निष्पक्ष नागरिक सेवायें।

(5) अधिकारों के प्रति सजगता– प्रजातन्त्र में यह आवश्यक है कि जनता अपने अधिकारों के प्रति सजग हो, अन्यथा प्रजातन्त्र शासन नौकरशाही का रूप धारण कर लेगा और जनता की उन्नति के अवसर उपलब्ध नहीं होंगे।

(6) कर्त्तव्य-पालन की भावना– जनतन्त्र की असफलता का एक मुख्य कारण यह होता है कि लोग अपने अधिकारों के लिये तो चिल्लाते हैं और आन्दोलन करते हैं, किन्तु अपने पड़ोसी, समुदाय तथा राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य के पालन के प्रति उदासीन रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि अधिकार और कर्त्तव्य प्रजातन्त्र रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं।

(7) समानता का होना– प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में सम्पूर्ण नागरिकों के समान व्यवहार किया जाये और उनको समान अधिकार प्राप्त हों। यदि राजनीतिक क्षेत्र में अल्पसंख्यकों से पक्षपात किया जाता है, यदि सामाजिक क्षेत्र में छुआछूत व जाति-पाँति के कारण लोग सामाजिक अधिकारों से वंचित हैं अथवा यदि आर्थिक क्षेत्र में विषमता विद्यमान है और जनता को आर्थिक विकास के लिये समान सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं, तो जनता के असहयोग तथा असन्तोष के कारण प्रजातन्त्र असफल हो जायेगा।

(8) सहिष्णुता, देशभक्ति व व्यापक दृष्टिकोण– यह भी आवश्यक है कि नागरिकों में

संकुचित भावनायें तथा साम्प्रदायिक असहिष्णुता न हो। वे हर समस्या पर देशभक्ति की भावना एवं व्यापक व उदार दृष्टिकोण से विचार करें।

(9) शांति व सुरक्षा– यदि राज्य में हर समय युद्ध तथा अशान्ति का वातावरण बना रहेगा, तो प्रजातन्त्र की जड़ें हिल जायेंगी और उसका स्थान सैनिक शासन ले लेगा।

(10) लिखित संविधान– प्रजातन्त्र में लिखित संविधान का होना अत्यन्त आवश्यक है। लिखित संविधान के अभाव में प्रतिदिन नागरिकों तथा राज्य के बीच और परस्पर नागरिकों के बीच विवाद उत्पन्न होते रहेंगे जिससे प्रजातन्त्र में कई दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

(11) शासन कार्यों में रुचि– प्रजातन्त्र सरकार की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति चुनाव, स्वायत्त शासन तथा अन्य शासकीय प्रबन्ध के कार्यों में रुचि से भाग ले और शासन में उसे यदि कोई कमी दिखाई दे, तो उस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करे।

(12) स्थानीय स्वशासन– प्रजातन्त्र में स्थानीय स्वशासन का बहुत अधिक महत्व है। स्थानीय स्वशासन में जनता में नागरिक कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। लॉस्की स्थानीय स्वशासन का महत्व बताते हुए यहाँ तक कहते हैं कि– **"राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की सदस्यता के लिये स्थानीय संस्थाओं के कार्य का अनुभव एक अनिवार्य योग्यता निश्चित कर दी जानी चाहिये।"** अल्फ्रेड स्मिथ कहता है– **"प्रजातन्त्र के सभी रोगों का निदान अधिक प्रजातन्त्र के द्वारा ही हो सकता है।"**

"All the evils of democracy can be cured be more democracy."

—Alfrad Smith

(13) न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमत– व्यवहार में लोकतन्त्र बहुमत का शासन होता है। बहुमत को अपनी न्यायप्रियता से अल्पमत का भय विश्वास में बदल देना चाहिये जिससे लोकतन्त्र को 'बहुमत का अत्याचार' न कहा जा सके। इसी प्रकार अल्पमत में भी संविधान और कानून का सम्मान करने की भावना होनी चाहिये। अल्पमत को शान्तिपूर्ण तरीकों से स्वयं को बहुमत में बदलने का प्रयास करना चाहिये, पर हड़ताल, अनशन, सत्याग्रह आदि से दूर रहना चाहिये।

(14) बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व– प्रजातन्त्र तभी सफल हो सकता है, जबकि नेताओं में उचित निर्णय-शक्ति, साहस, योग्यता तथा जागरूकता की भावना हो । जनता को भी नेताओं पर विश्वास रखना चाहिये।

(15) योग्य और निष्पक्ष नागरिक सेवायें– लोकतन्त्र में सरकारी सेवा में लगे व्यक्ति योग्य, निष्पक्ष और कार्य-कुशल होंगे, तो शासकों द्वारा निर्धारित नीतियों का कार्यान्वयन शीघ्र और व्यवस्थित ढंग से होगा। यदि सरकारी सेवा में लगे व्यक्ति पक्षपाती एवं भ्रष्ट होंगे, तो अच्छी से अच्छी शासन नीति का लाभ भी जनता तक नहीं पहुँच पायेगा।

यदि उपर्युक्त शर्तें पूरी हो जायें तो लोकतन्त्र शक्तिशाली बनकर जनता की भारी सेवा कर सकता है और उसकी जड़ें मजबूत हो सकती हैं। विपरीत स्थिति में लोकतन्त्र गरीब कीचड़ में फँस जायेगा और उसकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जायेगी।

भारत में प्रजातन्त्र की ये दशायें कहाँ तक विद्यमान हैं (India and Democracy)

या

प्रजातन्त्र की सफलता की बाधायें

प्रश्न यह उठता है कि लोकतन्त्र को सफल बनाने वाली ये दशायें भारत में कहाँ तक विद्यमान हैं। भारत की स्थिति का निरीक्षण करने से पता चलता है कि भारत में इन दशाओं में से कुछ का अभाव है, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है—

(1) भारत की 48 प्रतिशत जनता अशिक्षित है। यह अशिक्षा भारत में लोकतन्त्र की सफलता की सबसे बड़ी बाधा है।

(2) भारत के नागरिकों में नैतिक व राष्ट्रीय चरित्र का अभाव है। इसलिये चोर-बाजारी, मिलावट, रिश्वत तथा भ्रष्टाचार का जोर है।

(3) यहाँ राजनीतिक दलों की भरमार है। सभी दल सत्ता प्राप्ति के लिये जनता को गुमराह करते रहते हैं। ये राष्ट्रहित के मुकाबले दल-हित को प्रमुखता देते हैं।

(4) भारत के नागरिक अधिकारों के लिये तो दिन-रात गला फाड़ते हैं किन्तु कर्त्तव्य-पालन के नाम से उन्हें साँप सूँघ जाता है।

(5) आर्थिक असमानता भारतीय प्रजातन्त्र की प्रमुख बाधा है। इससे राजनीतिक प्रजातन्त्र खोखला होता जा रहा है।

(6) साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद भारी प्रयासों के बावजूद अभी भी जीवित है। अनेक साम्प्रदायिक व जातिवादी राजनीतिक दल नागरिकों की इस भावना को उभारते रहते हैं।

किन्तु वर्तमान में इन सभी बाधाओं को दूर करने के लिये भरसक प्रयास किये जा रहे हैं। यही कारण है कि भारत का प्रजातन्त्र सदा हर संकट में सफल होकर ही सामने आया है। हमें आशा करनी चाहिये कि भारत का प्रजातन्त्र संसार के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करेगा।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है)

(1) प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता की आवश्यक दशायें क्या हैं ? ये भारत में कहाँ तक विद्यमान हैं ? (1966)

(2) प्रजातन्त्र के गुणों तथा दोषों का विवेचन कीजिये। (1967)

(3) टिप्पणी लिखिये—

(i) अधिनायकतन्त्र (1991, 90, 89, 71)

(ii) कुलीनतन्त्र (1953)

(iii) अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण (1992, 80)

(iv) राजतन्त्र (1990)

(4) राजतन्त्र के गुणों व दोषों की व्याख्या कीजिये। (1975)

(5) लोकतन्त्र के गुणों व दोषों की विवेचना कीजिये। (1990, 82, 77)

(6) लोकतन्त्र पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। (1990, 83)

(7) अरस्तू के राज्यों (सरकारों) के वर्गीकरण का परीक्षण कीजिये। (1994, 90)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– अरस्तू ने सरकार का वर्गीकरण किस प्रकार किया है ?

उत्तर– अरस्तू ने सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर सरकार के निम्न तीन भेद किये हैं–

(क) एक व्यक्ति का शासन। (राजतन्त्र)

(ख) कुछ व्यक्तियों का शासन। (कुलीनतन्त्र)

(ग) वहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन। (बहुतन्त्र)

प्रश्न 2– राजतन्त्र किसे कहते हैं ?

उत्तर– गैटेल के अनुसार, "ऐसा शासन जिसमें सर्वोच्च सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथों में होती है, राजतन्त्र कहलाता है।"

राजतन्त्र शासन की अति प्राचीन प्रणाली है। सभ्यता के आदिकाल में यही प्रणाली संभव तथा लाभकारी थी।

प्रश्न 3– संवैधानिक राजतन्त्र क्या है ?

उत्तर– सवैधानिक राजतन्त्र में राजा शासन का नाम-मात्र का प्रधान होता है। 'वह राज्य करता है, पर शासन नहीं करता।' शासन के सारे कार्य उसके नाम पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किये जाते हैं। आजकल राजतन्त्र शासन प्रणाली सवैधानिक राजतन्त्र के रूप में ही विकसित हो रही है। इंग्लैण्ड इस प्रणाली का प्रमुख उदाहरण है।

प्रश्न 4– अधिनायकतंत्र या तानाशाही शासन क्या है ?

अथवा

राजतन्त्र और अधिनायकतंत्र में क्या अन्तर है ?

उत्तर– राजतन्त्र की भाँति अधिनायकतन्त्र में भी सम्पूर्ण सत्ता एक ही व्यक्ति में निहित होती है। राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र में मुख्य अन्तर शासक द्वारा सत्ता प्राप्त करने के तरीके में निहित होता है। राजतन्त्र में शासक आमतौर पर वंश परम्परा से सत्ता प्राप्त करता है किन्तु अधिनायकतन्त्र में सेना या किसी प्रमुख राजनीतिक दल का नेता होने के कारण वह सत्ता प्राप्त कर अधिनायक या तानाशाह बन जाता है।

प्रश्न 5– कुलीनतन्त्र क्या है ?

उत्तर– कुलीनतन्त्र शासन में सत्ता की बागडोर किसी एक वर्ग-विशेष के हाथों में रहती है। अन्य शव्दों में, "कुलीनतन्त्र वह व्यवस्था है जिसमें शासन थोड़े से बड़े (धन से, जन्म से, वुद्धि से या वल से बड़े) व्यक्तियों के हाथों में रहता है।"

प्रश्न 6– प्रजातन्त्र का क्या अर्थ है ?

उत्तर– प्रजातन्त्र उस शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसमें राज्य का शासन किसी व्यक्ति या वर्ग के हाथ में न होकर पूरी जनता के हाथ में रहता है। प्रजातन्त्र से जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि जनता की इच्छानुसार ही देश पर शासन करते हैं। भारत में प्रजातन्त्र शासन है।

प्रश्न 7– प्रजातन्त्र की सफलता की चार शर्तें बताइये।

उत्तर– प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि– (1) नागरिक चरित्रवान तथा शिक्षित हों, (2) देश में आर्थिक व सामाजिक समानता हो, (3) स्वस्थ एवं जिम्मेवार राजनीतिक दल हों, (4) योग्य एवं ईमानदार सार्वजनिक सेवायें हों।

प्रश्न 8– आर्थिक लोकतन्त्र क्या है ?

उत्तर– आर्थिक लोकतन्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक को अपने-अपने आर्थिक व व्यावसायिक विकास के लिये समान रूप से आर्थिक सुविधायें प्राप्त हों। लोगों के बीच आय तथा धन की अधिक विषमता न हो। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का शोषण न कर सके।

प्रश्न 9– प्रजातन्त्र शासन के चार गुण बताइये।

उत्तर– प्रजातन्त्र शासन के चार गुण हैं–

(क) शासन सदा जनता के हितों के प्रति जागरूक रहता है।

(ख) लोकतन्त्रीय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है। अतः वह स्वभाव से क्रान्तिकारी नहीं होता।

(ग) यह शासन समानता व स्वतन्त्रता पर आधारित होता है।

(घ) इसमें जनता का नैतिक व सामाजिक उत्थान सम्भव होता है।

प्रश्न 10– भारत में प्रजातन्त्र की सफलता की बाधायें कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर– भारत में प्रजातन्त्र की सफलता के बीच में आने वाली बाधायें निम्न हैं– (i) अशिक्षा, (ii) साम्प्रदायिकता, (iii) नेताओं की सत्तालोलुपता, (iv) राष्ट्रीय चरित्र का अभाव, (v) आर्थिक असमानता।

प्रश्न 11– सरकार किसे कहते हैं ?

उत्तर– सरकार वह व्यवस्था या तन्त्र है जिसके द्वारा राज्य अपने कार्यों को पूरा करता है। गार्नर के शब्दों में, "राज्य की इच्छा की पूर्ति जिस संगठन द्वारा होती है, उसी का नाम सरकार है।"

प्रश्न 12– सरकार के भेद बताओ।

उत्तर– सरकार के भेद ये हैं– (1) राजतन्त्र, (2) कुलीनतन्त्र, (3) प्रजातन्त्र, (4) संसदात्मक, (5) अध्यक्षात्मक, (6) एकात्मक, (7) संघात्मक, (8) तानाशाही।

प्रश्न 13– राज्य और सरकार में क्या अन्तर है ?

उत्तर– राज्य में रहने वाले नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं, सरकार के नहीं। राज्य का निश्चित भू-भाग होता है, सरकार का नहीं। राज्य स्थायी तथा प्रभुता-सम्पन्न होता है, किन्तु सरकार नहीं।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– कुलीनतन्त्र की एक परिभाषा दीजिये।

उत्तर– "कुलीनतन्त्र में राजनीतिक शक्ति जनता के छोटे से भाग के हाथों में निहित रहती है।" —गैटेल

प्रश्न 2– राजतन्त्र व प्रजातन्त्र शासन वाले एक-एक देश का नाम बताइये।

उत्तर– लीबिया में राजतन्त्र व भारत में प्रजातन्त्र शासन है।

प्रश्न 3– प्रजातन्त्र की एक प्रमुख परिभाषा दीजिये। (1991)

उत्तर– "प्रजातन्त्र जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिये शासन है।" —इब्राहम लिंकन

प्रश्न 4– विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्रीय देश का नाम बताइये।

उत्तर– भारत।

प्रश्न 5– अधिनायकतन्त्र या तानाशाही का एक गुण लिखिये। (1985, 87)

उत्तर– संकटकाल के लिये सर्वश्रेष्ठ।

प्रश्न 6– अधिनायकतन्त्र के दो दोष लिखिये। **(1988, 93)**

उत्तर– (i) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव।
(ii) सेना पर भारी व्यय।

प्रश्न 7– प्रजातन्त्र के दो गुण लिखिये।

उत्तर– (i) जनकल्याण की भावना, (ii) समानता व स्वतन्त्रता पर आधारित।

प्रश्न 8– प्रजातन्त्र की सफलता की दो शर्तें लिखिये।

उत्तर– (i) शिक्षित व जागृत जनता, (ii) शक्ति व सुरक्षा का होना।

प्रश्न 9– भारत में सफल प्रजातन्त्र के मार्ग की दो बाधायें बताइये।

उत्तर– (i) साम्प्रदायिकता, (ii) आर्थिक असमानता।

प्रश्न 10– भारत में सफल प्रजातन्त्र की वर्तमान दशाओं में से दो का उल्लेख कीजिये।

उत्तर– (i) प्रेस व लेखन की स्वतन्त्रता, (ii) अधिकारों के प्रति सजगता।

प्रश्न 11– लोकतन्त्र में समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है ? कोई एक कारण बताइये।

उत्तर– ताकि समाचार-पत्र सरकार की आलोचना कर उसे गलत कार्य करने से रोकें।

प्रश्न 12– प्रजातन्त्र के दो दोष बताइये। **(1990, 87)**

उत्तर– ये हैं– (i) भ्रष्टाचार को बढ़ावा, (ii) गुटबन्दी का जोर।

प्रश्न 13– उस देश का नाम लिखिए जहाँ सरकार लोकतान्त्रिक है किन्तु वह गणतन्त्रात्मक नहीं है। **(1992)**

उत्तर– इंग्लैण्ड।

□□

18

सरकार के प्रकार (ii)
आधुनिक शासन प्रणालियाँ
[Forms of Government (ii)]

"यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सी सरकार सभी परिस्थितियों में उत्तम होगी। किसी निश्चित समय में किसी देश के लिये कौन-सी सरकार सबसे उत्तम होगी, यह देश की परिस्थितियों पर निर्भर रहता है।"

—डॉ० बेनीप्रसाद

इस अध्याय में क्या है ?

(1) सरकार का आधुनिक वर्गीकरण, (2) संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार की विशेषतायें, गुण तथा दोष, (3) अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषतायें, गुण तथा दोष, (4) संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक सरकार में भेद, (5) संसदात्मक या अध्यक्षात्मक सरकार में कौन उत्तम ? (6) एकात्मक सरकार की विशेषतायें, गुण तथा दोष, (7) संघात्मक सरकार के लक्षण, गुण तथा दोष, (8) एकात्मक व संघात्मक सरकार में अन्तर, (9) संघात्मक व एकात्मक सरकार में कौन उत्तम ? (10) धर्मसापेक्ष सरकार, (11) धर्मनिरपेक्ष सरकार– अर्थ व लक्षण, (12) क्या भारत में धर्मनिरपेक्ष शासन है ? (13) नौकरशाही सरकार, (14) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (15) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)

सरकार का आधुनिक वर्गीकरण
(Modern Classification of Government)

विगत अध्याय में हमने सत्ताधारियों की संख्या के आधार पर अरस्तू द्वारा किये गये सरकार या शासन के प्राचीन वर्गीकरण का अध्ययन किया। सरकारों के आधुनिक वर्गीकरण में अपने विकसित रूप में प्रजातन्त्र तो सम्मिलित है ही, साथ ही विभिन्न आधारों पर बनाई गई सरकार की आधुनिक प्रणालियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है–

(1) विधानमण्डल तथा कार्यपालिका के सम्बन्धों के आधार पर–

(क) संसदात्मक तथा मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार,

(ख) अध्यक्षात्मक सरकार।

(2) केन्द्र और प्रादेशिक इकाइयों के सम्बन्ध के आधार पर–

(क) संघात्मक सरकार,

(ख) एकात्मक सरकार।

(3) धर्म के आधार पर–

(क) धर्मसापेक्ष सरकार,

(ख) धर्मनिरपेक्ष सरकार।

अब हम इन सभी प्रकार की सरकारों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करेंगे।

(1) विधान-मण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों के आधार पर सरकार के भेद

विधान-मण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों के आधार पर सरकारें दो प्रकार की हो सकती हैं–

(क) संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार।
(ख) अध्यक्षात्मक सरकार।

(क) संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार
(Parliamentary or Cabinet Form of Government)

सरकार की इस पद्धति के अन्तर्गत देश का शासन एक मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। यह मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल या संसद के सदस्यों में से चुनकर वनाया जाता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। अन्य शब्दों में, इस शासन-व्यवस्था में शासन की वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में होती है और मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिये संसद या विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।

गार्नर के शब्दों में, **"संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों के लिये वैधानिक और तात्कालिक रूप में व्यवस्थापिका अथवा उसके लोकप्रिय सदन के प्रति और अन्तिम रूप से निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।"**

सरकार के निर्माण की पद्धति यह होती है कि चुनाव में अनेक राजनीतिक दल लोकसभा या विधान सभा के चुनाव में अपने प्रतिनिधि खड़े करते हैं और अपने कार्यक्रमों के आधार पर जनता से वोट माँगते हैं। चुनाव में जिस राजनीतिक दल के सबसे अधिक प्रतिनिधि लोक सभा या विधान सभा में पहुँच जाते हैं, उसी दल का नेता प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री बनता है और अपने दल के सदस्यों में से मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। कभी-कभी एक दल का बहुमत न होने पर कई राजनीतिक दल मिलकर मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं।

प्रत्येक मन्त्री को अलग-अलग विभाग सौंप दिये जाते हैं जिनके कार्यों के लिये वे उत्तरदायी होते हैं। सरकार की नीति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण निर्णय सामूहिक रूप से किये जाते हैं। सभी मन्त्री संयुक्त रूप से लोकसभा या विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्री लोकसभा में उपस्थित रहते हैं। सरकारी नीति तथा कार्यों की रूपरेखा जन-प्रतिनिधियों के सम्मुख रखते हैं और उनके प्रश्नों व आलोचनाओं का उत्तर देते हैं। प्रधानमन्त्री दल का नेता होता है। प्रधानमन्त्री किसी भी मन्त्री को त्याग-पत्र देने के लिये विवश कर सकता है।

इस सरकार के अन्तर्गत चूँकि मन्त्रिमण्डल ही देश का सम्पूर्ण शासन कार्य चलाता है, अतः इसे **मन्त्रिमण्डल सरकार** कहते हैं। चूँकि यह मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है और संसद यदि चाहे तो अपने बहुमत से मन्त्रिमण्डल को बदल सकती है, अतः इसे **संसदात्मक सरकार** भी कहते हैं।

ऐसी शासन-व्यवस्था में कभी-कभी राजा या राष्ट्रपति को कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान भी वना दिया जाता है। यह राजा या राष्ट्रपति या तो वंश-परम्परा से होता है जैसा कि इंग्लैण्ड में है, अथवा जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है जैसा कि भारत का राष्ट्रपति है। यह वैधानिक प्रधान केवल नाममात्र का शासक होता है। यद्यपि राज्य के सारे कार्य उसके नाम से किये जाते हैं, किन्तु शासक की वास्तविक सत्ता मन्त्रिमण्डल तथा संसद में ही निहित होती है। **भारत तथा इंग्लैण्ड में ऐसी पद्धति की सरकार स्थापित है।**

संसदात्मक सरकार की विशेषतायें या लक्षण
(Characteristics of Parliamentary Form of Government)

संसदात्मक शासन में निम्न विशेषतायें पाई जाती हैं–

(1) विधानमण्डल की सर्वोच्चता– इस शासन में विधानमण्डल को सरकार के अन्य दोनों

अंगों से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इसका कारण यह है कि शासन के शेष दोनों अंगों में से कार्यपालिका या मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व विधानमण्डल की इच्छा पर निर्भर करता है। विधानमण्डल जब चाहे मन्त्रिमण्डल को अविश्वास का प्रस्ताव पास करके हटा सकता है। वैसे भी, मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिये विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। शासन का एक तीसरा अंग न्यायपालिका भी व्यवस्थापिका द्वारा घोषित कानूनों के अनुसार ही न्याय करती है।

(2) विधानमण्डल और कार्यपालिका की एकता– कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका में से ही चुने जाते हैं। वे वास्तव में व्यवस्थापिका के भी प्रभावशाली नेता होते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका और विधानमण्डल के बीच अटूट सम्बन्ध रहता है।

(3) सामूहिक और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व– कार्यपालिका अथवा मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रत्येक मन्त्री अपने कार्यों के लिये स्वयं उत्तरदायी होता है। साथ ही, प्रत्येक मन्त्री के कार्यों के लिये पूरा मन्त्रिमण्डल भी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। इसलिये जब व्यवस्थापिका किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है, तो केवल उसी मन्त्री को त्यागपत्र नहीं देना पड़ता, वरन् पूरे मन्त्रिमण्डल को ही पद छोड़ना पड़ता है। कहा गया है कि, **"मन्त्रि-मण्डल शासन में मन्त्री एक साथ तैरते तथा एक साथ डूबते हैं।"**

(4) गोपनीयता– मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को मन्त्री के रूप में प्राप्त की गई जानकारी को गुप्त रखना होता है। वह किसी पर भी उनको प्रकट नहीं कर सकता। मन्त्रिमण्डल के निर्णय पूरे मन्त्रिमण्डल के निर्णय समझे जाते हैं। निर्णय लिये जाने के समय मन्त्री उन पर अपने मतभेद स्पष्ट कर सकते हैं। पर, एक बार निर्णय हो जाने पर उसकी आलोचना नहीं की जा सकती, जब तक कि आलोचना करने वाला मन्त्री अपने पद से पहले त्यागपत्र देकर मुक्त न हो जाये।

संसदात्मक शासन प्रणाली की विशेषतायें

1. विधानमण्डल की सर्वोच्चता
2. विधानमण्डल और कार्यपालिका की एकता
3. सामूहिक और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व
4. गोपनीयता
5. अवधि की अनिश्चितता
6. कार्यपालिका के दो रूप
7. बहुमत वाले दल की सरकार
8. प्रधानमन्त्री की प्रमुखता।

(5) अवधि की अनिश्चितता– संसदात्मक सरकार का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। वह एक निर्वाचन से दूसरे निर्वाचन तक भी बनी रह सकती है और कभी-कभी एक ही दिन में कई बार सरकारें बनती हैं और बिगड़ती हैं, क्योंकि सरकार का अपने पद पर बने रहना विधानमण्डल के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करता है। विधानमण्डल किसी भी समय सरकार को गिरा सकता है। फ्रांस में एक ही दिन में लगातार कई बार सरकारें बनी और बिगड़ी हैं।

(6) कार्यपालिका के दो रूप– इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका के दो रूप होते हैं। राज्य का प्रधान केवल नाममात्र का शासक होता है। उसे मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही कार्य करना होता है। वह राज्य का प्रधान होते हुए भी कार्यपालिका का प्रधान नहीं होता। शासन के सारे काम उसके नाम पर किये जाते हैं। फिर भी, शासन की वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में होती है। मन्त्रिमण्डल ही वास्तविक कार्यपालिका होती हैं, उसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होता है जो उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है।

(7) बहुमत वाले दल की सरकार– इस पद्धति में जिस राजनीतिक दल का लोकसभा या विधानसभा में बहुमत होता है, वही अपना मन्त्रिमण्डल बनाता है।

(8) प्रधानमन्त्री की प्रमुखता– संसदात्मक सरकार में प्रधानमन्त्री के नेतृत्व तथा नियन्त्रण में ही सारे मन्त्रिगण कार्य करते हैं। वह शासन तथा नीति की एकता को बनाये रखता है। प्रधानमन्त्री ही मन्त्रियों में कार्यों का वितरण करता है तथा उनके कार्यों का निरीक्षण करता है।

संसदात्मक सरकार के गुण (Merits)

संसदात्मक सरकार के गुण निम्न प्रकार हैं–

(1) संसद तथा मन्त्रिमण्डल में सहयोग– चूँकि मन्त्री संसद के सदस्य होते हैं, अतः शासन के इन दोनों अंगों में मेल-जोल व सहयोग वना रहता है और मतभेदों की गुंजायश कम ही रहती है।

(2) उत्तरदायी सरकार– इस शासन में सरकार जनप्रतिनिधि संस्था (संसद) के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि सरकार लोकमत के विरुद्ध कार्य करती है, तो संसद द्वारा उसको हटाकर नई सरकार स्थापित कर दी जाती है।

(3) लोचशीलता– संसदात्मक सरकार की पद्धति ऐसी होती है कि इसमें आवश्यकता अथवा परिस्थितियों के अनुसार मन्त्रिमण्डल को सरलता से वदला जा सकता है।

(4) लोकतन्त्रीय व्यवस्था– संसदात्मक सरकार एक पूर्ण लोकतन्त्रीय सरकार होती है। इसमें जनता की इच्छा सर्वोपरि होती है। जनता ही सरकार का निर्माण करती है और असन्तुष्ट होने पर जनता ही इसको हटा देती है।

इसीलिये डायसी ने ठीक ही कहा है कि, **"संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल को जनमत के प्रति अत्यधिक सचेत रहना पड़ता है, क्योंकि उसी पर उसका अस्तित्व निर्भर रहता है।"**

(5) नाममात्र के प्रधान की व्यवस्था– यह प्रणाली उन देशों के लिये भी ठीक है जो नाममात्र के राजा का पद वनाये रखना चाहते हैं, किन्तु व्यवहार में लोकतन्त्र को अपनाना चाहते हैं। इसीलिये लास्की ने कहा है कि, **"इसी प्रणाली के अन्तर्गत राजतन्त्र को लोकतन्त्र के हाथों में उसे प्रतीक के रूप में बेच दिया गया है।"**

संसदात्मक सरकार के गुण

1. संसद तथा मन्त्रिमण्डल में सहयोग
2. उत्तरदायी सरकार
3. लोचशीलता
4. लोकतन्त्रीय व्यवस्था
5. नाममात्र के प्रधान की व्यवस्था
6. योग्य व्यक्ति शासन में
7. संकटकाल के लिये उपयुक्त
8. राजनैतिक शिक्षा

(6) योग्य व्यक्ति शासन में– इस पद्धति में चुनाव द्वारा योग्य से योग्य व्यक्ति ही संसद में पहुँचते हैं। अतः देश के शासन की वागडोर योग्य एवं अनुभवी लोगों के हाथों में रहती है।

(7) संकटकाल के लिये उपयुक्त– यह सरकार संकटकाल के लिये भी उपयुक्त रहती है, क्योंकि ऐसे अवसरों के लिये एक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना आसान होता है।

(8) राजनैतिक शिक्षा– व्यवस्थापिका में मन्त्रीगण पूर्ण योग्यता से अपनी नीति और कार्यों का प्रतिपादन करते हैं। व्यवस्थापिका में विभिन्न विभागों के कार्यों की आलोचना जनता रुचिपूर्वक पढ़ती है और सार्वजनिक समस्याओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करती है। इस प्रकार जनता का राजनैतिक शिक्षण हो जाता है।

(9) सबल विरोधी दल– संसदात्मक शासन में विरोधी दल सरकार को जनता की आँखों में गिरा देने के लिये निरन्तर जागरूक रहता है, जिससे मन्त्रिमण्डल अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सदा तत्पर रहता है तथा अच्छे और उपयोगी कानूनों का निर्माण करता है। यदि मन्त्रिमण्डल की पराजय हो जाये तो विरोधी दल तुरन्त नई सरकार वना सकने की स्थिति में होता है।

संसदात्मक सरकार के दोष (Demerits)

संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार में कई दोष भी पाये जाते हैं। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं–

(1) स्थिर सरकार– इस व्यवस्था में संसद में अनेक दलों के सदस्य होते हैं। अतः सरकार में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता है। कभी-कभी ऐसे परिवर्तन से सरकार की नीतियों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है जिससे जनता में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है।

(2) दलीय प्रधानता– इस व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल चूँकि बहुमत वाले राजनीतिक दल का होता है, अतः वही दल संसद पर छाया रहता है।

लास्की ने इसीलिये कहा है कि, **"यह प्रणाली निश्चित रूप से कार्यपालिका को अत्याचारपूर्ण शासन का अवसर प्रदान करती है।"**

संसदात्मक सरकार के दोष

1. अस्थिर सरकार
2. दलीय प्रधानता
3. दलबन्दी को प्रोत्साहन
4. मन्त्रियों का समय संसद में
5. योग्य व्यक्तियों से रहित सरकार
6. गोपनीय बातों के प्रकट होने का भय
7. शक्ति-विभाजन का अभाव
8. राष्ट्रीय संकट के लिये अनुपयुक्त
9. जनमत की खुशामद
10. निर्वल शासन
11. नीति की अस्थिरता
12. प्रशासन-कार्य की उपेक्षा
13. खर्चीला शासन।

(3) दलबन्दी को प्रोत्साहन– संसद में अनेक दलों के सदस्य होते हैं। वे सत्तारूढ़ होने के लिये एक-दूसरे का अनावश्यक विरोध करते हैं। परिणामस्वरूप वे दलीय हितों को ही प्रमुखता देते हैं और रचनात्मक कार्य नहीं करते।

(4) मन्त्रियों का समय संसद में– मन्त्रियों को काफी समय संसद में देना होता है, अतः वे अपने विभाग की समुचित रूप से देख-भाल नहीं कर पाते।

(5) योग्य व्यक्तियों से रहित सरकार– इस व्यवस्था का एक दोष यह है कि योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति यदि विरोधी दल द्वारा चुनकर संसद में पहुँचते हैं, तो मन्त्रिमण्डल में उनका उपयोग नहीं हो पाता।

(6) गोपनीय बातों के प्रकट होने का भय– चूँकि मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों को सरकारी गोपनीय बातों का ज्ञान रहता है, अतः किसी भी मन्त्री द्वारा उनके प्रकट किये जाने का सदा ही भय बना रहता है।

(7) शक्ति-विभाजन का अभाव– इस व्यवस्था का एक दोष यह है कि इसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल तथा संसद के बीच कार्यों का विभाजन नहीं होता। मन्त्रिमण्डल ही संसद से कानून पास करवाता है और वही उन्हें लागू भी करता है। अतः इस स्थिति में जनता के अधिकारों के अपहरण का भय रहता है।

(8) राष्ट्रीय संकट के लिये अनुपयुक्त– ऐसी सरकार को संकटकाल के अवसरों के लिये अनुपयुक्त समझा जाता है, क्योंकि ऐसे अवसरों पर मन्त्रिमण्डल में प्रायः मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं और शीघ्र निर्णय नहीं हो पाते।

(9) जनमत की खुशामद– इस व्यवस्था में यह देखा जाता है कि मन्त्री लोग अपने चुनाव की दृष्टि से जनमत को प्रसन्न करने में ही लगे रहते हैं और अपने विभागीय कार्यों की ओर प्रायः कम ध्यान देते हैं।

(10) निर्बल शासन– संसदात्मक शासन में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिसके हाथ में शासन की सम्पूर्ण शक्ति हो और वह राज्य प्रशासन के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी हो। शासन

की निर्बलता के कारण आवश्यक निर्णय करने में काफी समय लग जाता है। राज्य का प्रधान नाममात्र का शासक होता है, मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के अंकुश में रहता है और व्यवस्थापिका जनमत को टटोलती है। अतः आवश्यक निर्णय त्वरित नहीं हो सकते।

(11) नीति की अस्थिरता– जब एक सरकार हार जाती है और दूसरे दल की सरकार मन्त्रिमण्डल का निर्माण करती है, तो आने वाली सरकार अपने दल के कार्यक्रम के अनुसार पहली सरकार की नीतियों में परिवर्तन करती है। इससे शासन में कठिनाई, गत्यावरोध तथा विरोधाभास उत्पन्न होता है।

(12) प्रशासन-कार्य की उपेक्षा– मन्त्रियों का बहुत-सा समय कानून-निर्माण के कार्य में चला जाता है। उन्हें अपने निर्वाचकों को सन्तुष्ट करने के लिये तथा दल की लोकप्रियता कायम रखने के लिये बहुत दौरे करने पड़ते हैं। इस प्रकार प्रशासन सम्बन्धी कार्यों पर मन्त्री अधिक ध्यान नहीं दे पाते और लाल फीताशाही को प्रोत्साहन मिलता है।

(13) खर्चीला प्रशासन– मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार व्यवस्थापिका के विश्वास के सहारे चलती है। मन्त्री विधायकों को प्रश्न रखने के लिये अनेक क्षेत्रों में अनावश्यक योजनायें चलवाते हैं। चुनाव, वेतन और भत्तों में धन का बहुत अपव्यय होता है। आजकल मन्त्रिमण्डल का आकार भी इतना बढ़ गया है जिससे प्रशासनिक व्यय बहुत बढ़ गया है।

(ख) अध्यक्षात्मक सरकार
(Presidential Form of Government)

अध्यक्षात्मक या राष्ट्रपति प्रणाली की शासन-व्यवस्था में शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को लागू किया जाता है और कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं। राज्य का प्रधान एक अध्यक्ष या राष्ट्रपति होता है जिसका निर्वाचन जनता द्वारा एक निश्चित अवधि के लिये किया जाता है। राष्ट्रपति या अध्यक्ष अपनी सहायता के लिये कुछ मन्त्रियों की नियुक्ति करता है जो कि उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं।

राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्री, दोनों ही व्यवस्थापिका के प्रति जिम्मेदार नहीं होते। राष्ट्रपति ही मन्त्रियों को अपदस्थ भी कर सकता है। व्यवस्थापिका का निर्वाचन भी एक निश्चित काल के लिये जनता द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति पर व्यवस्थापिका का कोई नियन्त्रण नहीं होता। यह भी आवश्यक नहीं होता कि मन्त्री व्यवस्थापिका के ही सदस्य हों। व्यवस्थापिका का कार्य होता है कानूनों व नियमों को बनाना और राष्ट्रपति के नेतृत्व में कार्यपालिका उन्हें लागू करती है।

डॉ० आशीर्वादी लाल के शब्दों में, **"अध्यक्षात्मक सरकार उस शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसमें कार्यपालिका अपने कार्यकाल के लिये व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है और अपनी नीतियों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती।"**

संयुक्त राज्य अमेरिका में इसी प्रकार की सरकार स्थापित है।

अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषतायें
(Characteristics of Presidential Form of Government)

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली की निम्न विशेषतायें हैं–

(1) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में पृथक्करण– राष्ट्रपति और उसका मन्त्रि-मण्डल विधान-मण्डल के सदस्यों में से नहीं बनाया जाता। राष्ट्रपति और मन्त्रि-मण्डल के सदस्य विधान-मण्डल की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते और अपने कार्यों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते।

(2) निश्चित अवधि– इस शासन-प्रणाली में विधान-मण्डल और राष्ट्रपति दोनों ही संविधान द्वारा निर्धारित अवधि के लिये जनता द्वारा चुने जाते हैं। सिद्धान्त और व्यवहार में एक का दूसरे पर नियन्त्रण नहीं होता। दोनों ही अंग एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं।

(3) वास्तविक शक्ति-सम्पन्न कार्यपालिका– जिस अवधि के लिये राष्ट्रपति निर्वाचित होता है, उस अवधि में वह कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति का उपभोग करता है। वह कुछ व्यक्तियों को अपने परामर्शदाताओं के रूप में मन्त्रि-मण्डल का सदस्य मनोनीत करता है। पर वास्तव में इसे मन्त्रि-मण्डल कहना उचित न होगा, क्योंकि उनकी नियुक्ति और पदों पर बने रहना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है। वे राष्ट्रपति को जो भी परामर्श देते हैं उसे मानने को राष्ट्रपति वाध्य नहीं है। **मन्त्रि-मण्डल वास्तव में राष्ट्रपति की छाया मात्र है।**

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषतायें

1. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में पृथक्करण
2. निश्चित अवधि
3. वास्तविक शक्ति सम्पन्न कार्यपालिका
4. महाभियोग।

(4) महाभियोग– राष्ट्रपति को विधानमण्डल केवल एक जटिल 'महाभियोग' की प्रक्रिया द्वारा ही उसकी निश्चित समयावधि से पहले हटा सकता है।

अध्यक्षात्मक सरकार के गुण (Merits)

(1) प्रशासन में स्थिरता– इस प्रणाली में राष्ट्रपति का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। इसलिये राष्ट्रपति निश्चित होकर शासन सम्वन्धी नीतियों का निर्धारण करके उन्हें कार्यान्वित कराता है। उसके कार्यकाल में प्रशासन में स्थिरता बनी रहती है।

(2) स्वतन्त्र दृष्टिकोण से प्रशासनिक कार्यों पर ध्यान– राष्ट्रपति और उसके द्वारा नियुक्त किये गये मन्त्रियों को विधानमण्डल के कार्यों में भाग नहीं लेना पड़ता। इस कारण महत्वपूर्ण प्रशासनिक कार्यों पर वे अपना अधिकांश समय दे सकते हैं और विधानमण्डल के नियन्त्रण से मुक्त होने के कारण मूल समस्याओं पर स्वतन्त्र दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं।

(3) प्रशासन में एकता तथा शीर्घ निर्णय– इस व्यवस्था में शासन की सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्रपति में ही निहित होती है। इसलिये प्रशासन में एकवद्धता रहती है और संकटकाल में राष्ट्रपति तुरन्त निर्णय लेकर उसे कार्यान्वित करता है।

(4) अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त का पालन– इस व्यवस्था में सरकार के तीनों अंगों की शक्ति अलग-अलग बँटी होती हैं तथा वे अंग एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहकर कार्य करते हैं।

(5) योग्यतम व्यक्तियों के अनुभव का लाभ– राष्ट्रपति अपने मन्त्रि-मण्डल में देश के योग्य व्यक्तियों को, जो अपने-अपने क्षेत्र में ख्याति-प्राप्त हों, सम्मिलित करके अपने अनुभव और ज्ञान का लाभ प्रशासन को दे सकता है क्योंकि मन्त्रियों के लिये विधान-मण्डल का सदस्य होना या वहुमत प्राप्त दल का सदस्य होना आवश्यक नहीं है।

इसीलिये श्री बी० एम० नेहरू ने कहा है कि, **"राष्ट्रपति योग्यतम व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकता है।"**

अध्यक्षात्मक शासन के गुण

1. प्रशासन में स्थिरता
2. स्वतन्त्र दृष्टिकोण से प्रशासनिक कार्यों पर ध्यान
3. प्रशासन में एकता व शीर्घ निर्णय
4. अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त का पालन
5. योग्यतम व्यक्तियों के अनुभव का लाभ
6. वहुदलीय प्रणाली के लिये उपयुक्त
7. कार्यपालिका की तानाशाही असम्भव
8. दलबन्दी की बुराइयाँ कम।

(6) बहुदलीय प्रणाली के लिये उपयुक्त– जहाँ अनेक दल हों वहाँ मन्त्रिमण्डल मण्डलात्मक शासन नहीं चल सकता, क्योंकि सरकारें वहुत जल्दी-जल्दी वदलती हैं। ऐसी परिस्थिति में अध्यक्षात्मक शासन अधिक उपयुक्त रहता है।

(7) कार्यपालिका की विधान-मण्डल पर तानाशाही सम्भव नहीं– मन्त्रिमण्डलात्मक सरकार के मन्त्रियों ने, जो अपने दल के सम्मानित नेता होते हैं तथा देश में भी लोकप्रिय होते हैं, व्यवस्थापिका को अपनी दासी बना लिया है। वे विधानमण्डल से अपनी मर्जी के अनुसार कार्य कराते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका स्वतन्त्रतापूर्वक कानून-निर्माण का कार्य कर सकती है, क्योंकि राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य विधान-मण्डल की कार्यवाहियों में भाग नहीं ले सकते।

(8) दलबन्दी की बुराइयाँ कम– निर्वाचन हो जाने के पश्चात् क्योंकि निश्चित कालावधि तक व्यवस्थापिका और राष्ट्रपति एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहकर कार्य कर सकते हैं अतः आरोप-प्रत्यारोप और सत्ता को हथियाने की होड़ समाप्त हो जाती है।

अध्यक्षात्मक सरकार के दोष (Demerits)

उपरोक्त वर्णित गुणों के होते हुए भी आलोचकों ने इस शासन प्रणाली में अनेक दोषों का होना भी वताया है। वे दोष निम्न प्रकार से हैं–

(1) प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त का विरोध– प्रशासन भी मनुष्य के शरीर की तरह एक है। जिस प्रकार शरीर के हाथ, पाँव, आँख, कान अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुये भी, यदि एक-दूसरे के साथ मिलकर कार्य न करें तो जीवन नहीं चल सकता। उसी प्रकार सरकार के तीन अंग यदि परस्पर तालमेल न रखकर एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र होकर कार्य करें, तो शासन का कार्य नहीं चल सकता। शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त एक मिथ्या धारणा है।

(2) सहयोग का अभाव– इस प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में एक-दूसरे से कोई तालमेल न होने के कारण न तो अच्छे कानून वन पाते हैं और न ही अच्छा प्रशासन चल पाता है। प्रशासन अच्छे कानूनों का निर्माण व्यवस्थापिका से नहीं करा पाता और व्यवस्थापिका प्रशासन की कठिनाई को नहीं समझ पाती। यदि संयोग से राष्ट्रपति एक दल का हो और विधानमण्डल में एक-दूसरे दल का वहुमत हो, तो शासन में गत्यावरोध उत्पन्न हो जाता है।

(3) कम राजनीतिक शिक्षा– अध्यक्षात्मक-शासन में विधान-मण्डल प्रशासन के कार्यों की आलोचना नहीं कर सकता और प्रशासन को अपने कार्यों का औचित्य विधान-मण्डल के समक्ष नहीं रखना होता। इसलिये कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्य-कलापों तथा राष्ट्रीय प्रश्नों पर जनता को अधिक जानकारी नहीं मिलने पाती।

अध्यक्षात्मक शासन के दोष

1. प्रशासनिक एकता के सिद्धांत का विरोध
2. सहयोग का अभाव
3. कम राजनैतिक शिक्षा
4. निरंकुशता की आशंका
5. परिवर्तनशीलता का अभाव
6. उत्तरदायित्व की अनिश्चितता
7. जनमत की उपेक्षा
8. नागरिक अधिकारों के छिनने का भय।

(4) निरंकुशता की आशंका– एक वार निर्वाचित हो जाने पर राष्ट्रपति न तो जनता के और न जनता के प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रहता है, क्योंकि निश्चित अवधि से पूर्व हटाये जाने का उसे भय नहीं रहता। इसलिये वहुत सीमा तक राष्ट्रपति निरंकुश हो जाता है। अमेरिका के कई राष्ट्रपति इसके उदाहरण हैं।

(5) परिवर्तनशीलता का अभाव– अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के लिये वैजहाट कहता है– "आप अपनी सरकार को पहले से निश्चित कर देते हैं। वह आपके लिये उपयुक्त है

या नहीं, आपकी इच्छा के अनुकूल है या नहीं, यह ठीक प्रकार से कार्य करती है या नहीं, कानून के अनुसार इसे आपको रखना ही पड़ेगा।" यदि जनता चाहे भी तो अपने अयोग्य शासक से सत्ता लेकर किसी योग्य व्यक्ति को नहीं सौंप सकती। इस प्रकार अध्यक्षात्मक सरकार में लचक और परिवर्तनशीलता नहीं होती।

(6) उत्तरदायित्वों की अनिश्चितता– यदि प्रशासन में कोई बुराई उत्पन्न होती है, तो विधानमण्डल उसे कार्यपालिका पर और कार्यपालिका उसे विधानमण्डल पर टालती है। उत्तरदायित्व को टालने की इस प्रवृत्ति से राज्य के हितों को हानि पहुँचती है।

इसीलिये एजमीन ने कहा है कि, **"यह प्रणाली स्वेच्छाचारी, अनुत्तरदायी और हानिकारक है।"**

(7) जनमत की उपेक्षा– एक बार चुने जाने पर राष्ट्रपति जन-भावना के प्रति उदासीन हो जाता है।

(8) नागरिक अधिकारों के छिनने का भय– इस व्यवस्था में चूँकि अध्यक्ष या राष्ट्रपति के हाथों में सम्पूर्ण शक्ति स्थायी रूप से केन्द्रित होती है अतः प्रायः यह भय बना रहता है कि कहीं वह नागरिक अधिकारों में कटौती न कर दे।

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन में भेद या अन्तर
(Distinction between Parliamentary and Presidential Forms of Government)

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन में निम्न भेद किये जा सकते हैं–

(1) प्रधान– संसदात्मक शासन-प्रणाली में राज्य का प्रधान नाममात्र का प्रधान होता है। वह कार्यपालिका का प्रधान नहीं होता। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में राज्य का प्रधान वास्तविक शासक होता है और वही कार्यपालिका का भी प्रधान होता है।

(2) सम्बन्ध– संसदात्मक शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थपिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में दोनों एक-दूसरे से पृथक् रहती हैं। दूसरे शब्दों में, मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था प्रशासन की एकता में विश्वास करती है, जबकि अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली शक्तियों के पृथक्करण पर अधारित है।

(3) सदस्य– संसदात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका के भी सदस्य होते हैं, जबकि अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में कार्यपालिका के सदस्यों का व्यवस्थापिका के सदस्य होना जरूरी नहीं है।

(4) उत्तरदायित्व– संसदात्मक शासन-प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं होता।

(5) संघर्ष– संसदात्मक शासन-प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच किसी प्रकार का संघर्ष होने का भय नहीं रहता, क्योंकि मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने दल के भी सम्मानित नेता होते हैं और व्यवस्थापिका से अपने निर्णयों का समर्थन ले सकने में सफल रहते हैं। लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच तालमेल नहीं रहता और कभी-कभी तो जब राष्ट्रपति एक दल का तथा विधान-मण्डल में दूसरे दल का बहुमत हो तो शासन में गत्यावरोध आ जाता है।

(6) उपयुक्तता– संसदात्मक शासन-प्रणाली शांतिकाल के लिये तथा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली संकटकाल के लिये अधिक उपयुक्त है।

(7) नियन्त्रण– संसदात्मक या मन्त्रि-मण्डलात्मक पद्धति में कार्यपालिका नियन्त्रित रहती है, पर अध्यक्षात्मक पद्धति में कार्यपालिका को निरंकुश हो जाने के अनेक अवसर मिलते हैं।

(8) कार्यकाल– संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित रहता है। विधान-मण्डल किसी भी समय कार्यपालिका को अविश्वास का प्रस्ताव पास करके या दल-बदल कर हट जाने को बाध्य कर सकता है लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका और विधान-मण्डल दोनों का ही कार्यकाल संविधान से निश्चित होता है।

(9) विरोधी दल– संसदात्मक शासन में विरोधी दल चुनाव के पश्चात् भी आलोचना-प्रत्यालोचना करके सत्ता हथियाने को प्रयत्नशील रहता है लेकिन अध्यक्षात्मक-शासन में विरोधी दलों की गतिविधियाँ आगामी चुनावों तक मन्द पड़ जाती हैं।

(10) उत्तरदायित्व– संसदात्मक शासन में शासन का उत्तरदायित्व मंत्रियों में बँटा होता है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन में शासन का सारा उत्तरदायित्व राष्ट्रपति में निहित होता है।

(11) शिक्षण– संसदात्मक शासन में जनता का अधिक राजनैतिक शिक्षण होता है। वैसा अध्यक्षात्मक शासन में नहीं होता।

संसदात्मक या अध्यक्षात्मक सरकार में कौन उत्तम ?

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की सरकारों में से प्रत्येक देश के लिये किसी एक सरकार को उत्तम कह सकना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ, साधन तथा दशायें एक समान नहीं होतीं। अतः भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं दशाओं के अनुसार किसी देश के लिये एक किस्म की सरकार उत्तम हो सकती है, तो दूसरे देश के लिये अन्य किस्म की।

सामान्यतः अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा संसदात्मक सरकार ही अधिक लोकप्रिय होती है। संसार के अधिकांश देशों ने संसदात्मक सरकार की पद्धति को ही अपनाया है। अध्यक्षात्मक प्रणाली या तो युद्धकाल के लिये उपयुक्त रहती है अथवा विशाल क्षेत्रफल एवं विभिन्न वर्गों एवं जातियों वाले देशों के लिये ठीक रहती है, किन्तु शान्ति काल में संसदात्मक सरकार ही अध्यक्षात्मक सरकार से श्रेष्ठ होती है। यह राष्ट्र को योग्य एवं कुशल प्रशासन देती है। द्वितीय महायुद्ध के समय में कई देशों की संसदात्मक सरकारों ने भी अत्यन्त कुशलता के साथ अपना कार्य सम्पन्न किया था। अतः इसके अनेक गुणों तथा लोकतन्त्रीय स्वरूप के कारण सामान्यतः संसदात्मक सरकार की व्यवस्था को ही उत्तम माना जाता है।

संसदात्मक सरकार की श्रेष्ठता की ओर संकेत करते हुए डॉ० अम्बेडकर ने भारतीय संविधान सभा में कहा था कि **"संसदात्मक व्यवस्था शासन के दैनिक और साथ ही सामयिक मूल्यांकन का भी अवसर प्रदान करती है।"**

"Parliamentary system provides a daily, as well as a periodic assessment of the government."

—Dr. Ambedkar

(2) केन्द्र और प्रादेशिक इकाइयों के सम्बन्धों के आधार पर सरकारों का वर्गीकरण

इस दृष्टि से सरकार के दो भेद किये जाते हैं–

(क) एकात्मक शासन (Unitary Government)

(ख) संघात्मक शासन (Federal Government)

(क) एकात्मक सरकार
(Unitary Government)

एकात्मक सरकार की व्यवस्था के अन्तर्गत देश का सम्पूर्ण शासन केवल एक सरकार के ही हाथों में रहता है जिसे केन्द्र सरकार कहा जाता है। केन्द्र सरकार शासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य को कई भागों में बाँट लेती है और प्रत्येक भाग के शासन के लिये कुछ संस्थाओं का निर्माण कर उन्हें अधिकार सौंप देती है केन्द्र सरकार अपनी इच्छानुसार उनसे ये अधिकार वापस भी ले सकती है।

सम्पूर्ण देश में केवल एक व्यवस्थापिका तथा एक कार्यपालिका होती है। न्यायपालिका की व्यवस्था भी सरल होती है। शासन की सभी प्रान्तीय तथा स्थानीय संस्थायें केन्द्र सरकार के पूर्ण नियन्त्रण में कार्य करती हैं। देश में केन्द्र सरकार को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है। एकात्मक सरकार एक शक्तिशाली सरकार होती है। एकात्मक सरकार सामान्यतः पंचायतों जैसी छोटी-छोटी संस्थाओं को शासन का कार्य सौंपती है परन्तु सम्पूर्ण शक्ति अपने ही पास रखती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि एकात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को सौंप दी जाती हैं।"

फाइनर के शब्दों में, **"एकात्मक सरकार में समस्त सत्ता एवं शक्तियाँ एक केन्द्र में निहित रहती हैं और उसकी इच्छा तथा उसके कर्मचारी समस्त क्षेत्र पर सर्वशक्तिमान होते हैं।"**

"Unitary government is one in which all authority and power lodged in a single centre whose will and agents are legally omnipotent over the whole area."

—Finer

डायसी के मतानुसार, **"एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च विधायी सत्ता का उपयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"**

"Unitary government is the habitual exercise of superme legislative authority by one central power." **—Dicey**

इंग्लैण्ड, जापान, हालैण्ड तथा इटली में एकात्मक शासन पाया जाता है।

एकात्मक शासन की विशेषतायें या लक्षण
(Characteristics of Unitary Government)

एकात्मक शासन की विशेषतायें निम्न प्रकार हैं-

(1) सत्ता का मूल स्रोत- समस्त सत्ता का मूल स्रोत केन्द्रीय सरकार में निहित होता है। केन्द्र तथा इकाइयों के बीच अधिकारों का विभाजन संविधान द्वारा नहीं होता।

(2) स्थानीय सरकारों की केन्द्र पर निर्भरता- स्थानीय सरकारों का स्वरूप और शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करती हैं। इनका पूर्ण अस्तित्व केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करता है। इनकी अपनी कोई पृथक् और स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती। केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट के तौर पर स्थानीय सरकारें कार्य करती हैं।

(3) केन्द्र का पूर्ण नियन्त्रण- इकाइयों की सरकार पर केन्द्र का पूर्ण नियन्त्रण रहता है, केन्द्रीय सरकार इकाइयों के अधिकार अपनी मर्जी के अनुसार घटा-बढ़ा सकती है।

एकात्मक शासन की विशेषतायें

1. सत्ता का मूल स्रोत
2. स्थानीय सरकारों की केन्द्र पर निर्भरता
3. केन्द्र का पूर्ण नियन्त्रण
4. इकहरी नागरिकता
5. एक ही कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका।

(4) इकहरी नागरिकता– केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित पूरे प्रदेश में इकहरी नागरिकता प्रदान की जाती है। स्थानीय सरकारों का अपने प्रभाव क्षेत्र में अलग और पृथक् नागरिकता देने का अधिकार नहीं होता।

(5) एक ही कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका– सारे देश में एक ही कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका शासन के कार्यों की देखभाल करती है।

एकात्मक शासन के गुण (Merits)

एकात्मक शासन में निम्न गुण पाये जाते हैं–

(1) प्रशासनिक एकरूपता– सम्पूर्ण राज्य में एक से कानून होते हैं और इन कानूनों पर केन्द्रीय शासन अमल करता है। इसीलिये राज्य में प्रशासन और नीति की एकरूपता बनी रहती है। सभी निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जाते हैं। इसलिये राज्य के प्रशासन में कुशलता आती है।

एकात्मक शासन के गुण

1. प्रशासनिक एकरूपता
2. दृढ़ता
3. विदेशी सम्बन्धों का कुशल संचालन
4. संकटकाल के लिये उपयुक्त
5. संगठन की सरलता
6. राष्ट्रीय एकता
7. मितव्ययिता
8. छोटे देशों के लिये उपयुक्त।

(2) दृढ़ता– इस प्रणाली में चूँकि केन्द्रीय सरकार राज्य के सर्वोपरि हितों को देखकर निश्चय करती है, इसलिये सरकार के निर्णय शीघ्र और दृढ़ होते हैं। कोई शक्ति का झगड़ा, उत्तरदायित्व की अस्पष्टता या क्षेत्राधिकार का उलझाव नहीं होता।

(3) विदेशी सम्वन्धों का कुशल संचालन– युद्ध, समझौते और व्यापार तथा अन्य सन्धियों को कार्यान्वयन करने में एकात्मक सरकार अधिक कुशल होती है, क्योंकि संघात्मक शासन के समान इसमें इन मामलों के विषय में कोई मतभेद उत्पन्न नहीं होता।

(4) संकटकाल के लिये उपयुक्त– संकट के समय शीघ्र निर्णय करने, उन्हें गुप्त रखने और उन निर्णयों पर अविलम्ब प्रभावी अमल करने के लिये एकात्मक शासन अधिक उपयुक्त होता है, क्योंकि इसमें शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है।

(5) संगठन की सरलता– शासन बहुत सरल होता है। सारी शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होने के कारण केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में व्यर्थ वाद-विवाद नहीं होता।

(6) राष्ट्रीय एकता– सभी देशवासी एक जैसी परिस्थितियों में ही रहते हैं। इस कारण उनमें राष्ट्रीयता के वन्धन दृढ़ होकर देश-भक्ति की भावना का उदय होता है। उनमें प्रान्तीयता नहीं पनपती।

(7) मितव्ययिता– केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के दोहरे कर्मचारी नियुक्त करने की आवश्यकता न पड़ने के कारण एकात्मक शासन प्रणाली में अनावश्यक व्यय नहीं होता। यह व्यवस्था कम खर्चीली है।

(8) छोटे देशों के लिये उपयुक्त– एकात्मक शासन छोटे देशों के लिये अधिक उपयुक्त होता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सव भेदभाव समाप्त होकर संगठन और एकता की भावना का उदय होता है।

एकात्मक शासन के दोष (Demerits)

(1) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय– एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होती है। शक्ति के केन्द्रीयकरण का स्वाभाविक परिणाम निरंकुशता की प्रवृत्ति को वढ़ावा देना है। शक्ति पर नियन्त्रण न रहने के कारण सरकार मनमानी कर सकती है।

(2) शासन की अक्षमता– राज्य के किसी एक विशेष स्थान पर स्थित केन्द्रीय सरकार को देश के विभिन्न भागों की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। प्रान्तीय या स्थानीय सरकारें पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होने के कारण वे भी ठीक प्रकार शासन की समस्याओं का निदान करने में अक्षम रहती हैं।

(3) राजनैतिक जागरण उत्पन्न करने में असमर्थ– एकात्मक शासन में जनता को शासन कार्यों में भाग लेने का अधिक अवसर नहीं मिलता। इससे जनता की सार्वजनिक कार्यों में रुचि कम हो जाती है।

एकात्मक शासन के दोष

1. निरंकुशता का भय
2. शासन की अक्षमता
3. राजनैतिक जागरण उत्पन्न करने में असमर्थ
4. स्थानीय स्वशासन में बाधा
5. नौकरशाही का शासन
6. बड़े राज्यों के लिये अनुपयुक्त
7. केन्द्र सरकार पर अधिक भार।

इसीलिये गार्नर ने कहा है कि "एकात्मक शासन के अन्तर्गत स्थानीय जनता में अपनी ओर से कार्य करने की रुचि कम हो जाती है और सार्वजनिक कार्यों के प्रति उत्साहहीनता दृष्टिगोचर होती है।"

(4) स्थानीय स्वशासन में बाधा– एकात्मक शासन-व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार का बहुत अधिक नियन्त्रण होने के कारण और शक्ति तथा आय के पर्याप्त व स्वतन्त्र साधन न होने से स्थानीय स्वशासन में बाधा पड़ती है।

(5) नौकरशाही का शासन– एकात्मक शासन में जनता को सभी स्तरों पर भाग लेने का अवसर नहीं मिलता, जिसके फलस्वरूप शासन-शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इससे नौकरशाही का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो जाता है।

(6) बड़े राज्यों के लिये अनुपयुक्त– बड़े क्षेत्रफल और अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में जहाँ कई भाषायें, धर्म, नस्ल और संस्कृतियाँ हों, एकात्मक शासन सफल नहीं हो सकता।

(7) केन्द्र सरकार पर अधिक भार– इस शासन-व्यवस्था का एक दोष यह है कि स्थानीय शासन का भार भी केन्द्र सरकार के कन्धों पर ही रहता है जिससे उसका कार्य भार बढ़ जाता है।

(ख) संघात्मक सरकार
(Federal Government)

संघात्मक सरकार की स्थापना विभिन्न राज्यों वाले देशों में की जाती है। इसमें सत्ता विकेन्द्रित रहती है और शासन के समस्त अधिकार संघ तथा राज्यों के बीच बंटे रहते हैं। संघ सरकार के जिम्मे कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से होता है। अन्य कार्य विभिन्न राज्यों या प्रान्तों की सरकारों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। दोनों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग होते हैं। संघ की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका अलग होती है और प्रत्येक राज्य की अलग।

संघात्मक सरकार में दोहरा शासन कार्यशील होता है और नागरिकों को भी दोहरी नागरिकता ही प्राप्त होती है– एक तो संघ अथवा केन्द्र की और दूसरे अपने राज्य की। संघ सरकार पूर्ण प्रभुता सम्पन्न होती है। संघात्मक सरकार में एक लिखित संविधान होता है जिसमें संघ तथा राज्यों के कार्यों एवं उनकी शक्तियों के विभाजन का विस्तृत रूप से उल्लेख रहता है।

गार्नर के अनुसार, **"संघ सरकार उस शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसमें केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने निश्चित क्षेत्रों में, जो संविधान द्वारा उनके लिये निर्धारित कर दिया जाता है, स्वतन्त्र होती हैं।"**

फ्रीमैन के शब्दों में, **"संघात्मक शासन वह व्यवस्था है जो अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध के आधार पर तो राज्य हो, किन्तु आन्तरिक शासन की दृष्टि से अनेक राज्यों का योग हो।"**

उपर्युक्त लक्षणों के कारण ही संसार के अनेक देशों में संघात्मक सरकार को पसन्द किया जाता है। **संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, कनाडा आदि देशों में संघात्मक शासन है।**

संघीय शासन की विशेषतायें

(Characteristics of Federal Government)

संघ शासन की विशेषताओं को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) प्रभुत्व शक्ति का दुहरा प्रयोग– संघात्मक राज्य के अन्तर्गत दो प्रकार की सरकारें होती हैं– (अ) केन्द्र सरकार या संघ सरकार और (ब) प्रान्तीय या स्थानीय सरकार। ये दोनों ही प्रकार की सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में प्रभुत्व शक्ति का उपयोग करती हैं। यह प्रभुत्व शक्ति दोनों को संविधान से प्राप्त होती है।

संघीय शासन की विशेषतायें

1. प्रभुत्व शक्ति का दुहरा प्रयोग
2. शक्तियों का विभाजन
3. संविधान की सर्वोच्चता
4. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
5. दोहरी नागरिकता
6. लिखित संविधान
7. द्विसदनीय व्यवस्थापिका।

(2) शक्तियों का विभाजन– संविधान द्वारा केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्रीय सरकार के सुपुर्द किये जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय इकाइयों की सरकारों को सौंप दिये जाते हैं।

(3) संविधान की सर्वोच्चता– संघ शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है। यह समझौता संविधान में निहित होता है। यह संविधान की शक्ति का स्रोत होता है। केन्द्रीय राज्य की सरकारें संविधान के प्रतिकूल किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकतीं।

(4) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता– संघात्मक राज्यों में एक ऐसे अधिकार-सम्पन्न स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना की जाती है, जिसका कार्य संविधान की व्याख्या करना होता है। यह न्यायालय संविधान का भाष्यकार एवं संरक्षक है। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के आपसी विवादों को भी स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय निपटाता है और इसके निर्णय अन्तिम तथा सभी के द्वारा पालनीय होते हैं। सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के किसी भी संविधान-विरोधी कार्य को रद्द कर सकता है।

(5) दोहरी नागरिकता– संघ राज्यों के अन्तर्गत एक व्यक्ति केन्द्रीय सरकार का और उस राज्य सरकार का, जिसके क्षेत्र में वह निवास करता है, नागरिक होता है। वह दोनों के प्रति भक्ति रखता है। पर दोहरी नागरिकता होना संघ शासन की अनिवार्य शर्त नहीं है। भारत में संघीय शासन व्यवस्था होते हुए भी केवल एक ही नागरिकता है।

(6) लिखित संविधान– संघात्मक शासन की एक विशेषता यह होती है कि उसका संविधान लिखित और प्रायः अपरिवर्तनशील होता है। ऐसा इसलिये होता है ताकि केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के बीच कार्यों का विभाजन स्पष्ट व स्थायी रूप से हो जाये और कोई विवाद उत्पन्न न हो।

(7) द्विसदनीय व्यवस्थापिका– संघीय शासन वाले देशों में प्रायः दो सदनों वाली व्यवस्थापिका होती है। प्रथम सदन अर्थात् निम्न सदन में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं, जैसे हमारे यहाँ लोक सभा और द्वितीय सदन अर्थात् उच्च सदन में प्रान्तों तथा विशिष्ट वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं, जैसे हमारे देश में राज्य सभा।

संघात्मक सरकार के गुण (Merits)

(1) राष्ट्रीय एकता की जनक– संघात्मक सरकार विभिन्न प्रान्तों (राज्यों) को एक सूत्र में बाँधे रखती है। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की जनक व पोषक होती है। डायसी ने ठीक ही लिखा है कि, "संघीय शासन व्यवस्था एक ऐसी प्रशासन योजना है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न करना होता है।

"A federal state is nothing but a political contrivance intended to reconcile national unity."

—Diecy

संघात्मक सरकार के गुण
1. राष्ट्रीय एकता की जनक
2. स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा
3. शासन कार्य में कुशलता
4. पूर्ण प्रजातन्त्रीय सरकार
5. विशाल देशों के लिये उपयुक्त
6. योजनाबद्ध विकास
7. संघ सरकार के भार का वितरण
8. प्रतिष्ठा व ख्याति में वृद्धि
9. राजनैतिक चेतना
10. विश्व सरकार की स्थापना की ओर कदम।

(2) स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा– इस शासन पद्धति में विभिन्न राज्यों तथा स्थानों की जनता को अपना शासन स्वयं करने का अवसर मिलता है। इससे नागरिकों में शासन कार्यों के प्रति रुचि और अनुभव में वृद्धि होती है।

(3) शासन कार्य में कुशलता– शासन के विभिन्न कार्य चूँकि संघ तथा राज्य सरकारों के बीच बँटे रहते हैं, अतः दोनों ही सरकारों के कार्यों में कुशलता बनी रहती है।

(4) पूर्ण प्रजातन्त्रीय सरकार– संघात्मक सरकार में देश के कोने-कोने में निवास करने वाले नागरिकों की इच्छाओं के अनुसार शासन-कार्य चलता है। सभी नागरिकों को चुनावों व शासन के कार्यों में भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं समानता प्राप्त होती है। इसी कारण संघात्मक सरकार को पूर्ण प्रजातन्त्रीय सरकार कहा जाता है।

(5) विशाल देशों के लिये उपयुक्त– जो देश विशाल क्षेत्रफल वाले होते हैं तथा जिनमें जनसंख्या अधिक होती है, उनके लिए यह शासन-व्यवस्था उपयुक्त रहती है।

(6) योजनाबद्ध विकास– इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संघ तथा राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुसार योजनायें बनाकर विकास कार्यक्रम लागू कर सकती हैं।

(7) संघ-शासन के भार का वितरण– शक्ति का विभाजन होने के कारण राज्यों की समस्याओं को सुलझाने का भार मुख्यतया राज्य सरकारों पर ही रहता है। अतः इस भार से मुक्त होकर संघ अथवा केन्द्र-शासन अपना ध्यान तथा अपनी शक्ति राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ओर लगाता है।

(8) प्रतिष्ठा व ख्याति में वृद्धि– संघ शासन के पीछे सभी राज्यों का वल रहता है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र के सम्मान, प्रतिष्ठा व ख्याति में भारी वृद्धि होती है।

(9) राजनैतिक चेतना– संघ शासन में प्रशासन का जाल कई स्तरों पर फैला होता है और प्रत्येक नागरिक को किसी न किसी स्तर पर शासन कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता है। इससे शासन के कार्यों में जनसाधारण की रुचि जागती है और व्यक्ति राष्ट्रीय व स्थानीय समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने में कार्यशील रहता है।

(10) विश्व सरकार की स्थापना की ओर एक कदम– छोटे राज्यों को विशाल राज्यों में संगठित करके भविष्य में एक विश्व सरकार की स्थापना को संघवाद ने नई आशा प्रदान की है। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थायें संघवाद के सिद्धान्त पर ही चल रही हैं।

संघात्मक सरकार के दोष (Demerits)

संघात्मक सरकार में अनेक दोष पाये जाते हैं जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं–

(1) कमजोर शासन– एकात्मक सरकार के मुकाबले संघात्मक सरकार को कमजोर माना जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें शक्ति संघ सरकार तथा राज्य सरकारों में विभक्त रहती है।

(2) शासन कार्य में ढिलाई– शासन-कार्य चूँकि संघ तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बँटा होता है अतः विचारों में मतभेदों एवं कानूनों की विभिन्नताओं के कारण शासन-कार्य शीघ्रता से सम्पन्न नहीं हो पाता और उसमें शिथिलता आ जाती है।

संघात्मक सरकार के दोष

1. कमजोर शासन
2. शासन-कार्य में ढिलाई
3. गुटबन्दी व दल-बदल
4. अपव्यय
5. संघ व राज्यों के बीच संघर्ष
6. शासन की रचना जटिल
7. दृढ़ नीति का अभाव
8. दोहरी नागरिकता
9. असमान कानूनों से कठिनाई
10. प्रान्तीयता की भावना

(3) गुटबन्दी व दल-बदल– संघात्मक शासन-व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों के विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता-प्राप्ति के लिये परस्पर भारी संघर्ष करते हैं और अन्य दलों की सरकारों को गिराने के लिये उनके विधायकों को प्रलोभन द्वारा तोड़ लेते हैं। इससे शासन का नैतिक स्तर गिर जाता है।

(4) अपव्यय– दोहरी शासन-व्यवस्था की पद्धति के कारण संघ शासन में केन्द्र तथा सभी राज्यों में पृथक्-पृथक् व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का निर्माण करना होता है, जिस पर भारी धन व्यय करना पड़ता है। उधर चुनावों में भी अत्यधिक धन का अपव्यय होता है।

(5) संघ व राज्यों के बीच संघर्ष– संघ तथा राज्य सरकारों के बीच अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं, विशेष रूप से तब जबकि केन्द्र तथा राज्यों में पृथक्-पृथक् राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। उदाहरण के लिये, भारत में केन्द्र सरकार तथा पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, कश्मीर, तमिलनाडु आदि राज्यों की सरकारों के बीच अनेक मतभेद पाये जाते हैं। इन मतभेदों के कारण राष्ट्र की प्रगति में बाधा पड़ती है।

(6) शासन की रचना जटिल– संघीय शासन चूँकि संघ तथा राज्यों के बीच बँटा होता है, अतः संगठन तथा रचना की दृष्टि से सम्पूर्ण शासन बड़ा जटिल तथा पेचीदा बन जाता है।

(7) दृढ़ नीति का अभाव– संघीय शासन में संघ सरकार की गृह तथा विदेश नीति में दृढ़ता नहीं रह पाती। इसका कारण यह है कि गृह नीति से सम्बन्धित अनेक मामले राज्य सरकारों के अधीन रहते हैं और विदेश नीति के निर्धारण में प्रायः संघ सरकार को राज्यों का सहयोग नहीं मिलता।

(8) दोहरी नागरिकता– संघीय शासन का एक दोष यह है कि इसमें नागरिकों को दोहरी नागरिकता का पालन करना होता है। उनकी राजभक्ति संघ तथा राज्यों में बँट जाती है। कभी-कभी उनके सामने यह दुविधा उत्पन्न हो जाती है कि संघ सरकार के आदेशों का पालन करे या राज्य सरकार के।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि **भारत में संघीय शासन होते हुए भी दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं है।** भारत में सभी नागरिकों को केवल संघ की ही नागरिकता प्राप्त होती है, किसी भी राज्य की नहीं।

(9) असमान कानूनों से कठिनाई– विभिन्न राज्य एक-सी ही समस्याओं को हल करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के कानून बनाते हैं जिससे जनता को बड़ी कठिनाई होती है और प्रान्तीय व्यापार में बाधा उत्पन्न होती है।

(10) प्रांतीयता की भावना– संघीय शासन का एक प्रमुख दोष यह है कि विभिन्न राज्यों या प्रान्तों में रहने वाले नागरिक तथा नेता हर समस्या पर सम्पूर्ण राष्ट्र की दृष्टि से न सोचकर अपने प्रान्तीय हित की दृष्टि से विचार करते हैं और पानी तथा राज्य की सीमाओं जैसे छोटी-छोटी बातों पर लड़ते हैं। यही नहीं, वे प्रान्तों को और भी छोटे-छोटे प्रान्तों में विभाजित करने के लिये आन्दोलन करते हैं। प्रान्तीयता की इस संकुचित भावना से संघीय शासन के छिन्न-भिन्न होने तथा देश के टुकड़े होने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। **भारत की वर्तमान स्थिति इसका उदाहरण है।**

संघात्मक शासन की सफलता के लिए आवश्यक दशायें

संघात्मक शासन की सफलता के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है–

(1) भौगोलिक समीपता– संघात्मक शासन की स्थापना तथा उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सम्मिलित होने वाले राज्य एक-दूसरे के निकट स्थित हों अर्थात् उनकी भौगोलिक सीमायें परस्पर मिलती हों। दूरस्थ राज्यों के संघशासन की जनता में न तो एकता की भावना का विकास होता है, न उनकी रक्षा हो पाती है। पाकिस्तान के एक दूरस्थ भाग (पूर्वी पाकिस्तान) की रक्षा इसीलिये सम्भव न हो सकी।

(2) इकाई राज्यों में समानता– संघ शासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संघ के इकाई राज्यों में आकार, जनसंख्या, आर्थिक स्थितिं और सांस्कृतिक बातों में काफी समानता हो। इसीलिये **गिलक्राइस्ट** ने कहा है कि **"एक आदर्श संघ-शासन के लिए राज्यों के आकार तथा शक्ति की पूर्ण समानता वांछनीय है।"**

उदाहरण के लिए, सोवियत संघ के मध्य एशिया के राज्य पिछड़े थे। अनेक राज्य बहुत छोटे हैं। रूस राज्य सबसे बड़ा है। इसीलिये वहाँ संघ शासन सफल नहीं हुआ। **आज सोवियत संघ की टूटन इसका प्रमाण है।** भारत में भी इकाई राज्यों के बीच भारी असमानता पाई जाती है। इसीलिये पंजाब, कश्मीर, असम, नागालैंड आदि संघ से अलग होने को बेचैन रहते हैं और भारत में संघात्मक शासन के स्थान पर राष्ट्रपति शासन (एकात्मक शासन) की आवाज उठने लगी है।

(3) भाषा, संस्कृति आदि की एकता– संघ शासन की सफलता के लिए आवश्यक है कि उसमें सम्मिलित होने वाले राज्यों की भाषा एक हो, अन्यथा उनके बीच राष्ट्र भाषा के लिए झगड़ा चलेगा और प्रशासन में कठिनाइयाँ आयेंगी। **भारत इसका ज्वलन्त उदाहरण है।**

धर्म और संस्कृति की समानता भी संघ की सफलता के लिए आवश्यक है। भारत के मुस्लिम बहुसंख्या वाले राज्य सन् 1947 में इसीलिये भारत से अलग हो गये और उन्होंने पाकिस्तान बना लिया।

(4) आर्थिक व राजनैतिक हितों की समानता– संघ-शासन की सफलता के लिये राज्यों के बीच आर्थिक व राजनैतिक हितों की समानता का होना आवश्यक है। इन असमानताओं के कारण ही उत्तरी व दक्षिणी कोरिया अलग हुए। सीरिया व मिस्र का संघ असफल हुआ। उत्तरी व दक्षिणी वियतनाम की भी यही स्थिति है।

(5) राजनीतिक चेतनां व योग्यता– संघ-शासन की सफलता के लिए नागरिकों में राजनीतिक चेतना व योग्यता का होना आवश्यक है। योग्य नागरिक ही दोहरी नागरिकता की जिम्मेदारियों को निभा सकते हैं।

एकात्मक और संघात्मक शासन में अन्तर
(Distinction between Unitary and Federal Government)

एकात्मक सरकार (Unitary Government)	संघात्मक सरकार (Federal Government)
(1) एकात्मक शासन में एक राज्य होता है।	(1) संघात्मक शासन में कई राज्यों के बीच समझौते से संघात्मक शासन का उदय होता है।
(2) एकात्मक शासन में शासन-यन्त्र इकहरा होता है।	(2) संघात्मक शासन में शासन-यन्त्र दोहरा होता है।
(3) एकात्मक सरकार का संविधान अलिखित, विकसित और परिवर्तनशील होता है।	(3) संघात्मक राज्य का संविधान लिखित, निर्मित और अपरिवर्तनशील होता है।
(4) एकात्मक सरकार में व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है।	(4) संघात्मक सरकार में संविधान सर्वोच्च होता है।
(5) एकात्मक सरकार में स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय का होना आवश्यक है।	(5) संघात्मक शासन में सर्वाधिकार सम्पन्न स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय का होना अनिवार्य है।
(6) एकात्मक शासन कम खर्चीला है।	(6) संघात्मक शासन अधिक खर्चीला है।
(7) एकात्मक शासन अधिक दृढ़ और कुशल होता है।	(7) संघात्मक शासन निर्बल और ढीला होता है।
(8) एकात्मक शासन में सारी शक्ति केन्द्र सरकार में होती है।	(8) संघात्मक शासन में शक्तियों का केन्द्र और प्रदेश में बँटवारा होता है।

संघात्मक तथा एकात्मक शासन में कौन उत्तम ?

वास्तव में यह कहना कठिन है कि संघात्मक तथा एकात्मक शासन में से कौन-सा शासन उत्तम है। सच्चाई यह है कि प्रत्येक देश के लिये किसी भी एक शासन-व्यवस्था को उत्तम नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि प्रत्येक देश की भौगोलिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशायें एक समान नहीं होतीं। अतः भिन्न-भिन्न परिस्थितियों व दशाओं के अनुसार एक देश के लिए संघात्मक शासन उत्तम हो सकता है, तो दूसरे के लिये एकात्मक।

अनेक लोगों का यह कहना है कि एकात्मक शासन एक दृढ़ एवं शक्तिशाली शासन होता है और संघात्मक शासन तो शक्तियों का विभाजन होने के कारण कमजोर पड़ जाता है। आज हमारे देश में भी सभी राष्ट्रवादी शक्तियाँ केन्द्रीय शासन को मजबूत करने पर जोर दे रही हैं। किन्तु कई कमियों के वावजूद भी वर्तमान युग में संघात्मक शासन-प्रणाली ही अधिक लोकप्रिय हो रही है।

संसार के अनेक देशों ने संघात्मक शासन-प्रणाली को ही अपनाया है। विशाल क्षेत्रफल वाले, वड़ी जनसंख्या वाले तथा विभिन्न वर्गों व जातियों वाले देशों के लिए संघात्मक शासन ही ठीक रहता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को संघात्मक सिद्धान्तों के आधार पर सरलता से सुलझाया जा सकता है। फिर, संघ सरकार के दोषों को अनेक उपायों द्वारा दूर कर इसे और भी अधिक उपयोगी वनाया जा सकता है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि संघात्मक शासन का भविष्य उज्ज्वल है।

(3) धर्म के आधार पर सरकार का वर्गीकरण

धर्म के आधार पर हम सरकार को निम्नलिखित दो भागों में बाँट सकते हैं–

(क) धर्म सापेक्ष सरकार।

(ख) धर्म निरपेक्ष सरकार।

(क) धर्म-सापेक्ष राज्य या सरकार
(Theoretic Government)

यह वह शासन होता है, जिसमें राजनीति धर्म पर आश्रित होती है। राज्य का एक विशेष धर्म होता है। उसी के अनुसार शासन की नीति का संचालन किया जाता है। अन्य धर्मों के अनुयायी ऐसे शासन में द्वितीय श्रेणी के नागरिक समझे जाते हैं। राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर राजधर्म को मानने वाले व्यक्ति ही नियुक्त किये जा सकते या चुने जा सकते हैं।

धर्म-तन्त्र या धर्मसापेक्ष शासन के अन्तर्गत धर्म और राजनीति में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है। इस राज्य में शासन पर पण्डितों, मौलवियों तथा पादरियों आदि का प्रभाव अधिक रहता है। सरकार एक धर्म-विशेष के नियमों के अधीन कार्य करती हैं। सरकार के कानून भी धार्मिक नियमों के अनुसार बनाये जाते है। सरकार अपने धर्म-विशेष का प्रचार करती है। पाकिस्तान में ऐसी ही सरकार है। ऐसी सरकार के अन्तर्गत राजकीय धर्म के अनुयायियों का ही बोलबाला रहता है और अन्य धर्म वालों के साथ प्रायः न्याय नहीं हो पाता। प्राचीन काल में भी अधिकतर राज्य धर्म-प्रभावित हुआ करते थे। वर्तमान युग में ऐसे शासन को पसन्द नहीं किया जाता।

(ख) धर्म-निरपेक्ष राज्य या सरकार
(Secular State or Government)

'धर्म-निरपेक्ष सरकार' तथा 'धर्म-निरपेक्ष राज्य'– ये वर्तमान युग के अत्यन्त प्रचलित शब्द हैं। एक ओर जहाँ प्रजातन्त्रीय शासन का धर्म-निरपेक्षता से अटूट सम्बन्ध होता है, वहाँ दूसरी ओर कई लोगों के मन में 'धर्म-निरपेक्षता' या 'धर्म-निरपेक्ष सरकार' के वारे में काफी भ्रम भी विद्यमान रहता है। यहाँ हम इन शब्दों की स्पष्ट विवेचना करेंगे और देखेंगे कि धर्म-निरपेक्षता से क्या आशय है ? धर्म-निरपेक्ष राज्य के क्या लक्षण होते हैं और क्या भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है ?

(1) धर्मनिरपेक्षता या धर्मनिरपेक्ष राज्य से आशय

'शासन में धर्म निरपेक्षता' से अथवा 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' से आशय यही है कि राज्य का अपना कोई विशेष धर्म नहीं होगा। राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान होंगे और राज्य विभिन्न धर्मावलम्बियों के साथ कोई भेदभाव नहीं करेगा।

धर्मनिरपेक्ष राज्य में किसी भी धर्म को राजकीय धर्म नहीं घोषित किया जाता। राज्य किसी धर्मविशेष से अपना लगाव नहीं रखता और न किसी धर्म का विरोध करता है, अपितु वह तटस्थ भाव रखते हुए सभी धर्मों के अनुयायियों को समान संरक्षण तथा स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

श्री वेंकटरमण के शब्दों में, 'धर्म-निरपेक्ष राज्य न धार्मिक होता है न धर्म-विरोधी, अपितु यह धार्मिक क्रियाओं और मत-मतान्तरों से सर्वथा पृथक् होता है, और इस प्रकार यह धार्मिक मामलों में पूर्णतया तटस्थ रहता है।

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार, "धर्म-निरपेक्ष राज्य होने का तात्पर्य न तो धर्म के विरुद्ध होना है और न धार्मिक दृष्टि से संकुचित होना, वरन् इसका तात्पर्य यही है कि राज्य सभी व्यक्तियों की धार्मिक निष्ठा का आदर करता है।"

डॉ० स्मिथ के अनुसार, "धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जो व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय धर्म को बीच में नहीं लाता, संवैधानिक रूप से किसी धर्म से सम्बन्धित नहीं होता। वह न किसी धर्म की उन्नति की चेष्टा करता है और न ही किसी धर्म के मामले में हस्तक्षेप करता है।" धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म का पालन करने का अधिकार होता है और अन्य धर्मों को हानि पहुँचाये विना अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता होती है। अधिकारों की नियुक्ति, चुनाव, सहायता का वितरण, संस्थाओं का गठन, कानून व न्याय के मामलों में धर्म के आधार पर कोई पक्षपात या भेदभाव नहीं करता।

(2) धर्म-निरपेक्ष राज्य के लक्षण (Characteristics)

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि एक-एक धर्म-निरपेक्ष राज्य के निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

(1) धार्मिक तटस्थता– धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी धर्म-विशेष पर आधारित नहीं होता। वह सभी धर्मों के प्रति समान रूप के तटस्थ भाव रखता है और किसी भी धर्म का पक्ष नहीं लेता।

(2) धर्म-विरोधी नहीं– धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो धर्म-विरोधी होता है और अनैतिक व अधार्मिक। यह किसी धर्म-विशेष से सम्बंद्ध तो नहीं होता, किन्तु सर्वसम्मत उच्च नैतिक मान्यताओं की साधना कर सकता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य के लक्षण

1. धार्मिक तटस्थता
2. धर्म विरोधी नहीं
3. धार्मिक सहिष्णुता
4. लोकतन्त्रीय भावना
5. स्वतन्त्रता

(3) धार्मिक सहिष्णुता– जब राज्य में अनेक धर्म प्रचलित होते हैं, तो राज्य धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाता है। इसी धार्मिक सहनशीलता का दूसरा नाम धर्म-निरपेक्षता है। अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक सहिष्णुता का होता है।

(4) लोकतन्त्रीय भावना– धर्मनिरपेक्षता के अभाव में लोकतन्त्र का कोई मूल्य नहीं होता। धर्मनिरपेक्ष राज्य में ही सच्चे लोकतन्त्र का निवास होता है। अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य लोकतन्त्रीय भावना पर आधारित होता है।

(5) स्वतन्त्रता– धर्म-निरपेक्ष राज्य व्यक्ति के धार्मिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। वह धार्मिक मामलों में सभी धर्मों के अनुयायियों को समान रूप से स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

(3) क्या भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है ?
(Is India a Secular State)

प्राचीन भारत– प्राचीन भारत में हिन्दू काल में राज्य पर धर्म का प्रभाव था। मुस्लिम काल में भी, धर्म राज्य पर दृढ़ता से हावी रहा। इसके बाद ब्रिटिश शासन में भी भारत में धार्मिक भेदभाव की नीति अपनाई गई जिसके परिणामस्वरूप भारत के विभिन्न धर्मावलम्बियों में मतभेदों की खाई चौड़ी होती गई। धार्मिक भेदभाव की इस नीति ने राष्ट्रीय एकता को बड़ी क्षति पहुँचाई।

स्वतन्त्र भारत– किन्तु स्वतन्त्र होने के बाद भारत के संविधान-निर्माताओं ने इस बात को अच्छी प्रकार समझ लिया था कि धर्म-विशेष पर आधारित राजनीति देश को कितनी क्षति पहुँचाती है, अतः उन्होंने भारतीय संविधान में भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया।

संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को अपने विश्वास के अनुसार धर्म व पूजा की स्वतन्त्रता देने का उल्लेख किया गया है। नागरिकों के मूल अधिकारों के अन्तर्गत संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकारों का उल्लेख किया गया है। ये अनुच्छेद धर्म-निरपेक्षता की ही विशद् व्याख्या करते हैं। इनके अन्तर्गत, भारत का अपना कोई राजधर्म नहीं है। नागरिकों को अपने धर्म के पालन व प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

संविधान में कहा गया है कि **"सार्वजनिक व्यवस्था सदाचार तथा स्वास्थ्य के नियमों के अधीन रहते हुए सभी नागरिकों को अपने अन्तःकरण के अनुसार धर्म को मानने, आचरण करने तथा उसका प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।"**

संविधान के अनुसार, सरकारी स्कूलों में किसी भी धर्म की शिक्षा नहीं दी जायेगी। मान्यता प्राप्त गैर-सरकारी स्कूलों में भी किसी व्यक्ति को किसी धर्म-विशेष की शिक्षा ग्रहण करने को बाध्य नहीं किया जायेगा। इसके साथ ही संविधान ने धार्मिक अल्पमतों को उनके धर्म, संस्कृति व भाषा की रक्षा का आश्वासन दिया है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि भारत पूर्णतया एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है।

आलोचना (Criticism)— कुछ आलोचकों का यह कहना है कि धर्म-निरपेक्षता के नाम पर धर्मप्राण भारत को एक धर्म-विरोधी राज्य बना दिया गया है। उनका यह भी कहना है कि राज्य का धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद होने का परिणाम है कि देश का नैतिक स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है।

निष्कर्ष (Conclusion)— परन्तु धर्मनिरपेक्षता के प्रति यह दृष्टिकोण सही नहीं है। जैसा कि पीछे भी बताया जा चुका है कि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्मविरोधी कदापि नहीं है, अपितु इसका अर्थ **'सर्वधर्मसमभाव'** है। किसी भी धर्मविशेष से लगाव न रखते हुए राज्य सर्वसम्मत नैतिक मान्यताओं की साधना कर सकता है। इसीलिये भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा था कि, **"भारत एक ऐसा धर्म-निरपेक्ष राज्य है जो और सभी धर्मों के साथ मानव धर्म में विश्वास करता है।"**

जैसा कि डॉ० कश्यप ने कहा है कि **"भारत जैसे विशाल देश में जहाँ अनेक धर्म जन्मे हैं और आज भी फल-फूल रहे हैं, धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त विशेष महत्व रखता है। हमारे देश के धार्मिक अल्पसंख्यकों के हित में धर्म-निरपेक्षता की नीति सबसे बड़ा कारगर संरक्षण है।"**

किन्तु यहाँ हमें धर्म-निरपेक्षता के दो खतरों का भी सदा ध्यान रखना होगा ये खतरे हैं– **साम्प्रदायिकता और जातिवाद।** जैसा कि डॉ० लक्ष्मी मल सिंधवी ने कहा है कि, **"हमने धर्म-निरपेक्ष राज्य को अपना लिया है, किन्तु धर्म-निरपेक्षता अभी सामाजिक जीवन का अंग नहीं बन पाई है। वास्तव में यही लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने के लिये हम सभी को प्रयत्न करना है।"**

नौकरशाही सरकार
(Bureaucratic Government)

नौकरशाही सरकार उस सरकार को कहते हैं जिसमें देश का शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा नहीं बल्कि विशेष रूप से शिक्षित सरकारी कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। इसमें सरकारी कर्मचारियों की नीचे से ऊपर तक एक लम्बी श्रृंखला विद्यमान होती है; जैसे– लेखपाल, कानूनगो, नायब तहसीलदार, तहसीलदार, डिप्टी कलक्टर, कलक्टर, कमिश्नर, गवर्नर तथा राष्ट्रपति। यद्यपि शासन की श्रृंखला प्रजातन्त्र शासन में भी विद्यमान होती है, किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि प्रजातन्त्र शासन में ये सभी कर्मचारी जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं, किन्तु नौकरशाही में नहीं। **इस प्रकार नौकरशाही सरकार के अन्तर्गत दफ्तरों के कर्मचारी तथा अफसर ही शासन की गाड़ी को चलाते हैं।**

गुण व दोष (Merits and Demerits)

इस शासन-व्यवस्था का गुण यह है कि इसमें शासन-कार्य में प्रशिक्षण प्राप्त एवं निपुण व्यक्तियों द्वारा शासन का संचालन किया जाता है। अतः कार्य में कुशलता का ऊँचा स्तर बना है।

परन्तु नौकरशाही में कई दोष पाये जाते हैं। यह एक रूढ़िवादी तथा अपरिवर्तनशील शासन पद्धति है जो नये-नये परिवर्तनों की विरोधी होती है। दूसरे, यह पद्धति मशीन की तरह कार्य करती है। यह जनता के सुख-दुःख को अनुभव करने एवं उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता से शून्य होती है। तीसरे, चूँकि सरकारी कर्मचारी प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, अतः वे जनता के हितों की कोई चिन्ता नहीं करते। चौथे, इसमें दफ्तरी कार्यवाही तथा लालफीताशाही का जोर रहता है। अतः काम में बड़ी देरी होती है। पाँचवें, सरकारी कर्मचारी तथा अफसर स्वयं को जनता का सेवक नहीं समझते तथा घमण्डी हो जाते हैं और जनता के साथ बड़ा कठोर व्यवहार करते हैं। छठे, कर्मचारियों में भ्रष्टाचार व रिश्वतखोरी खूब पनप जाती है जिससे जनता का शोषण होता है।

भारत में, स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व नौकरशाही शासन-व्यवस्था विद्यमान थी और आजादी के पश्चात् भी वही व्यवस्था चलती रही। फलतः देश में प्रजातन्त्र शासन होने के बावजूद भी सरकारी मशीनरी में नौकरशाही के अनेक दोष विद्यमान हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

1. संसदात्मक सरकार की विशेषतायें बताइये। क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि यह अध्यक्षात्मक व्यवस्था से अधिक प्रजातान्त्रिक है ? कारण सहित लिखिये। **(1970)**

2. संघात्मक सरकार से आप क्या समझते हैं ? इसकी एकात्मक शासन से तुलना कीजिये। **(1991)**

3. संघात्मक सरकार की क्या विशेषतायें हैं ? यह एकात्मक व्यवस्था से किस अर्थ में श्रेष्ठ है ?

4. टिप्पणी लिखिये— (i) संसदात्मक कार्यकारिणी **(1967, 69)**; (ii) एकात्मक सरकार **(1968, 75, 83)**; (iii) संघात्मक सरकार **(69, 89, 90)**; (iv) धर्म-निरपेक्ष राज्य **(1982)**; (v) अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली **(1994, 88)**।

5. संसदीय प्रणाली की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिये। अध्यक्षात्मक प्रणाली से यह किस अर्थ में श्रेष्ठ है ?

6. एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों के मध्य क्या अन्तर है ? संघात्मक सरकार की सफलता की क्या आवश्यक दशाये हैं ? **(1977)**

7. संसदात्मक शासन व्यवस्था के गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिये। इसकी सफलता के लिये क्या आवश्यक दशायें हैं ? **(1978)**

8. एकात्मक शासन प्रणाली के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए। **(1979)**

9. संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में क्या अन्तर है ? आप इनमें किसे अच्छा समझते हैं और क्यों ? **(1973, 80)**

10. सरकार की अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण-दोषों का वर्णन कीजिये। **(1984)**

11. संसदात्मक सरकार की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये। इसके गुण व दोषों पर प्रकाश डालिये। **(1985, 90)**

12. अध्यक्षात्मक सरकार की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए। **(1987)**

13. संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताओं का वर्णन कीजिये तथा इसका अध्यक्षात्मक शासन में अन्तर बताइये। **(1989)**

14. एकात्मक शासन प्रणाली के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये। (1990)

15. संघात्मक शासन से आप क्या समझते हैं ? इसकी सफलता की क्या आवश्यक दशायें हैं ? (1991)

16. संघात्मक शासन की क्या विशेषतायें हैं ? इसकी एकात्मक शासन से तुलना कीजिये। (1993)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— संसदात्मक सरकार की चार विशेषतायें बताइये।

उत्तर– (1) संसदात्मक सरकार में कार्यपालिका के सम्पूर्ण अधिकार मन्त्रिपरिषद् के हाथ में होते हैं। (2) मन्त्रि-परिषद अपने सभी कार्यों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। (3) व्यवस्थापिका को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। (4) मन्त्रि-परिषद के सदस्य व्यवस्थापिका में से ही चुने जाते हैं।

प्रश्न 2— अध्यक्षात्मक सरकार की चार विशेषतायें बताइये।

उत्तर– अध्याक्षात्मक सरकार उसे कहते हैं (1) जिसमें कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होती हैं, (2) राष्ट्रपति अपनी नीतियों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, (3) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को एक दूसरे पर नियन्त्रण नहीं होता, (4) राष्ट्रपति और मन्त्रि-मण्डल के सदस्य विधान मण्डल की कार्यवाही में भाग नहीं लेते।

प्रश्न 3— एकात्मक सरकार के चार लक्षण बताइये।

उत्तर– (1) एकात्मक शासन में शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्र सरकार में निहित होती हैं। (2) शासन की अन्य संस्थाओं को अधिकार केन्द्र से ही प्राप्त होते हैं। (3) पूरे देश में इकहरी नागरिकता लागू होती है। (4) देश में एक ही व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका होती है।

प्रश्न 4— संघीय शासन के चार लक्षण बताइये।

उत्तर– (1) संघीय शासन में राज्य की शक्तियाँ केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच बँटी होती हैं। (2) इसमें संविधान तथा न्यायपालिका को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। (3) नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है। (4) संघ और राज्य सरकारें संविधान के द्वारा प्राप्त प्रभुत्व-शक्ति का उपयोग करती हैं।

प्रश्न 5— संसदात्मक सरकार में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किन रीतियों से नियन्त्रण रखती है ?

उत्तर– संसदात्मक सरकार में व्यवस्थापिका के सदस्य कार्यपालिका के विभिन्न विभागों के कार्यों के बारे में प्रशन पूछकर, निन्दा प्रस्ताव पास करके, काम रोको प्रस्ताव प्रस्तुत करके, कटौती प्रस्ताव रख कर तथा मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश करके कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखते हैं।

प्रश्न 6— संसदात्मक सरकार के चार गुण बताइये।

उत्तर– संसदात्मक सरकार के चार गुण निम्न प्रकार हैं—

(क) इस शासन व्यवस्था में संसद तथा मन्त्रि-मण्डल के बीच सहयोग रहता है।

(ख) संसदात्मक सरकार पूर्णतः लोकतन्त्रीय सरकार होती है।

(ग) इसमें शासन व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी होता है।

(घ) इसमें योग्यतम, अनुभवी तथा लोकप्रिय व्यक्तियों द्वारा शासन किया जाता है।

प्रश्न 7— संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकार के चार अन्तर बताइये।

उत्तर– संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकार में चार अन्तर निम्नलिखित हैं–

(क) संसदात्मक शासन में राज्य का प्रधान नाममात्र का शासक होता है किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में वह वास्तविक शासक होता है।

(ख) संसदात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में नहीं।

(ग) संसदात्मक शासन शान्तिकाल के लिये अधिक उपयुक्त रहता है किन्तु अध्यक्षात्मक शासन संकटकाल के लिये।

(घ) संसदात्मक शासन में कार्यपालिका नियन्त्रित रहती है किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में उसके निरंकुश होने का भय रहता है।

प्रश्न 8— संघात्मक सरकार के चार गुण बताइये।

उत्तर– संघात्मक सरकार के चार गुण निम्नलिखित हैं–

(क) संघीय सरकार राष्ट्रीय एकता की जनक व पोषक होती है।

(ख) इसमें विभिन्न राज्यों व क्षेत्रों में स्वशासन को वढ़ावा मिलता है।

(ग) यह विशाल क्षेत्रफल वाले देशों के लिये विशेष उपयुक्त रहती है।

(घ) संघ व राज्य सरकारों में कार्य का वितरण होने के कारण शासन में कुशलता बनीं रहती है।

प्रश्न 9— एकात्मक व संघात्मक सरकार में प्रमुख अन्तर बताइये।

उत्तर– एकात्मक व संघात्मक सरकार में प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार हैं–

(क) एकात्मक शासन में एक राज्य होता है किन्तु संघात्मक शासन में राज्यों का समूह होता है।

(ख) एकात्मक सरकार में व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है किन्तु संघात्मक शासन में संविधान सर्वोच्च होता है।

(ग) एकात्मक शासन में सारी शक्ति केन्द्र सरकार में निहित होती है। किन्तु संघात्मक शासन में शक्तियों का केन्द्र व राज्यों के वीच वितरण रहता है।

प्रश्न 10— धर्म-निरपेक्ष शासन क्या है ?

उत्तर– धर्मनिरपेक्ष राज्य या शासन से आशय है कि राज्य का अपना कोई विशेष धर्म नहीं होता। राज्य विभिन्न धर्मों व धर्मावलम्वियों के साथ कोई भेदभाव नहीं करता और सभी को समान संरक्षण तथा स्वतन्त्रता प्रदान करता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक क्रियाओं व मत-मतान्तरों से सर्वथा पृथक् एवं तटस्थ रहता है। किन्तु धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्म विरुद्ध होना नहीं है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1— धर्म-निरपेक्ष व धर्म-सापेक्ष शासन वाले एक-एक देश का नाम बताइये।

उत्तर– भारत में धर्म-निरपेक्ष सरकार है और पाकिस्तान में धर्म-सापेक्ष सरकार है।

प्रश्न 2— संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन वाले एक-एक देश का नाम बताइये।

उत्तर– भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली है और संयुक्त राज्य अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली है।

प्रश्न 3— किस शासन प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, किसमें नहीं ?

उत्तर– संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में नहीं।

प्रश्न 4— किस शासन प्रणाली में राष्ट्रपति जनता द्वारा चुना जाता है ?

उत्तर– अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में।

प्रश्न 5— किस शासन-व्यवस्था में मन्त्रियों के लिये संसद की सदस्यता अनिवार्य होती है, किसमें नहीं।

उत्तर– संसदात्मक शासन प्रणाली में मन्त्रियों के लिये संसद की सदस्यता अनिवार्य होती है, अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में नहीं।

प्रश्न 6— एकात्मक शासन के दो दोष लिखिये। (1985, 89, 91)

उत्तर– (i) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने का भय, (ii) बड़े राज्यों के लिए अनुपयुक्त।

प्रश्न 7— अध्यक्षात्मक शासन का एक दोष लिखिये। (1985, 90)

उत्तर– इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच तालमेल तथा सहयोग का अभाव रहता है।

प्रश्न 8— संसदात्मक सरकार का एक गुण तथा एक दोष लिखिये।

उत्तर– गुण– संसद तथा मन्त्रियों में सहयोग।
दोष– दलवन्दी को प्रोत्साहन।

प्रश्न 9— संघात्मक शासन के दो गुण तथा दो दोष लिखिये। (1990)

उत्तर– गुण– (i) बड़े राज्यों के लिये उपयुक्त (ii) स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा।
दोष– (i) कमजोर शासन (ii) संघ व राज्यों में संघर्ष।

प्रश्न 10— एकात्मक सरकार की एक विशेषता बताइये।

उत्तर– शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्र सरकार के हाथ में होती हैं।

प्रश्न 11— अध्यक्षात्मक शासन के दो गुण बताइये। (1989)

उत्तर– (i) प्रशासन में स्थिरता, (ii) योग्यतम व्यक्तियों के अनुभव का लाभ।

प्रश्न 12– संघात्मक शासन की कोई एक विशेषता बताइये। (1994)

उत्तर– शक्तियों का विभाजन।

□□

19

व्यवस्थापिका
(Legislature)

"जिस प्रकार दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें अधिक देख सकती हैं; उसी प्रकार व्यवस्थापिका के एक सदन की अपेक्षा दो सदन किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर अच्छी तरह से विचार कर सकते हैं।"

—ब्लंशली

"यदि दूसरे सदन का पहले सदन से मतभेद है, तो यह उसकी दुष्टता है और यदि वह उससे सहमत है, तो उसका अस्तित्व अनावश्यक है और चूँकि वह या तो सहमत होगया या असहमत, अतः उसका अस्तित्व किसी भी दशा में लाभकारी नहीं है।"

—अबेसीज

इस अध्याय में क्या है ?

(1) सरकार के अंग– कौन-कौन ? (2) व्यवस्थापिका का अर्थ व महत्व, (3) व्यवस्थापिका के प्रकार व उनका संगठन, (4) एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका का संगठन, (5) द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का संगठन, (6) कौन-सी व्यवस्थापिका उपयोगी ? एक-सदनात्मक या द्वि-सदनात्मक, (7) एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण व दोष, (8) द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका क्यों ? (9) द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण-दोष या पक्ष-विपक्ष में तर्क, (10) कौन-सी व्यवस्थापिका प्रणाली श्रेष्ठ ? (11) व्यवस्थापिका के कार्य, (12) व्यवस्थापिका के दोनों सदनों का पारस्परिक सम्बन्ध, (13) व्यवस्थापिका के ह्रास के कारण, (14) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (15) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

विगत दो अध्यायों में हमने विभिन्न प्रकार की सरकारों और उनके गुण-दोषों का विवेचन किया। अब इस अध्याय में तथा आगे के दो अध्यायों में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि सरकार के मुख्य अंग कौन-कौन से हैं ? उनके कार्य क्या हैं ? तथा उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

सरकार के अंग– कौन-कौन ? (Organs of Government)

सरकार राज्य की वह मशीनरी है जिसके द्वारा राज्य का सम्पूर्ण शासनकार्य चलाया जाता है। राज्य के सभी कार्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सरकार (1) विधि अर्थात् कानून बनाती है; (2) कानून का पालन कराती है, और (3) कानून का पालन न करने वालों को दण्ड देती है अर्थात् न्याय करती है। इन तीनों प्रकार के कार्यों को सरकार अपने तीन अंगों– अर्थात् (1) विधानमण्डल (2) कार्यपालिका व (3) न्यायपालिका द्वारा सम्पन्न करती है।

ईश्वर की सरकार के अंग–

इस विषय को एक पौराणिक कथन के द्वारा अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। कहा जाता है कि भगवान सर्वव्यापी हैं। सम्पूर्ण विश्व पर शासन करते हैं। उनकी भी अपनी सरकार है और उस सरकार के तीन अंग हैं। भगवान अपनी सरकार के तीनों अंगों के माध्यम से विश्व पर शासन करते हैं। भगवान की सरकार के ये तीन अंग हैं त्रिदेव अर्थात्–

(1) ब्रह्मा– कहा जाता है कि ब्रह्मा ने जो भाग्य में लिखा है, वह अटल है। ब्रह्मा विधि का निर्माण करते हैं। इसीलिये वे विधाता कहे जाते हैं।

(2) विष्णु– विष्णु सर्वोच्च कार्यपालिका अधिकारी हैं। उनका कार्य ब्रह्मा द्वारा बनाई गई विधियों के अनुसार संसार का पालन करना है।

(3) महेश– अर्थात् शिवजी जो विधियों का पालन न करने वालों तथा अत्याचार करने वालों को दण्ड देते हैं तथा न्याय करते हैं।

वर्तमान सरकार के अंग–

इस प्रकार, वर्तमान समय में राज्य के उद्देश्यों एवं कार्यों की पूर्ति के लिए सरकार के तीन अंग होते हैं–

(1) विधान मण्डल या व्यवस्थापिका– यह अंग राज्य के लिये आवश्यक कानून या विधि का निर्माण करता है।

(2) कार्यपालिका– यह अंग कानूनों का पालन कराता है तथा देश पर शासन करता है।

(3) नयायपालिका– यह अंग कानूनों को तोड़ने वाले को दण्ड देता है तथा न्याय करता है।

अब हम इस अध्याय में तथा आगे के दो अध्यायों में सरकार के इन तीनों अंगों के संगठन, उद्देश्यों एवं कार्यों पर क्रमशः विचार करेंगे।

व्यवस्थापिका (Legislature)

व्यवस्थापिका का अर्थ व महत्व
(Meaning and Importance of Legislature)

सरकार का वह अंग जो राज्य की इच्छा को अभिव्यंक्त करके जनता के हित और कल्याण की दृष्टि से राज्य की नीति का निर्माण करता है और राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति कानून बनाकर करता है, **व्यवस्थापिका, विधायिका, संसद या विधानमण्डल** कहलाता है।

अन्य दोनों अंगों की तुलना में व्यवस्थापिका का कार्य अधिके महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका द्वारा न्याय प्रदान करने का कार्य किया जाता है। इस प्रकार जिन आधारों पर कार्यपालिका और न्यायपालिका को अपना कार्य करना होता है, वह आधार व्यवस्थापिका द्वारा ही प्रदान किया जाता है। व्यवस्थापिका प्रशासन की नीति का भी निश्चय करती है।

व्यवस्थापिका के प्रकार तथा उनका संगठन
(Kinds and Organisation of Legislature)

व्यवस्थापिका का या तो एक सदन होता है या दो सदन। जिस व्यवस्थापिका में एक सदन होता है, उसे **एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका** और जिसमें दो सदन होते हैं, उसे **द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका** कहते हैं।

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Uni–cameral Legislature) का संगठन– एक सदनात्मक व्यवस्थापिका में केवल एक ही सदन होता है जिसे **प्रथम सदन या निम्न सदन** कहा जाता है। केन्द्र में इसे **लोक सभा** तथा राज्यों में **विधान सभा** के नाम से पुकारा जाता है। व्यवस्थापिका के इस प्रथम या निम्न सदन का निर्माण जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए प्रतिनिधियों को मिलाकर किया जाता है।

देश को जनसंख्या के आधार पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता है। सभी प्रगतिशील देशों में प्रत्येक वयस्क पुरुष या स्त्री को मत देने का अधिकार होता है। व्यवस्थापिका के प्रथम या निम्न सदन का चुनाव विभिन्न देशों में 3, 5 या 6 वर्ष के लिये किया जाता है।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi–Cameral Legislature) का संगठन– द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं– **प्रथम सदन या निम्न सदन** एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के

समान ही होता है। द्वितीय सदन को उच्च सदन भी कहा जाता है। हमारे देश में इस सदन को केन्द्र में राज्य सभा और राज्यों में विधान परिषद् के नाम से पुकारा जाता है।

केन्द्र में, व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन (राज्य सभा) संघ के राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इसके सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से राज्यों की विधान सभाओं द्वारा किया जाता है। राज्यों में, व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन (विधान परिषद्) के सदस्यों का चुनाव विधान सभा द्वारा, स्थानीय संस्थाओं द्वारा, स्नातकों द्वारा, माध्यमिक अध्यापकों द्वारा किया जाता है।

द्वितीय सदन एक स्थायी सदन होता है, जो कभी भंग नहीं होता। इसके 1/3 सदस्य हर दो वर्ष बाद अलग हो जाते हैं और इतने ही नये सदस्य निर्वाचित कर लिये जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष तक बना रहता है। द्वितीय सदन का चुनाव आनुपातिक निर्वाचित प्रणाली के द्वारा होता है और इसमें विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। द्वितीय सदन में कुछ सदस्य राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जाते हैं।

कौन सी व्यवस्थापिका उपयोगी– एक सदनात्मक या द्वि-सदनात्मक ?

यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Uni–cameral Legislature) तथा द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi–cameral Legislature) में कौन अधिक उपयोगी है ? वास्तव में व्यवस्थापिका की इन दोनों पद्धतियों में अनेक गुण तथा दोष पाये जाते हैं। उनका अध्ययन करके ही हम उनकी उपयोगिता का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। दोनों ही पद्धतियों के गुण दोषों का विवरण निम्न प्रकार है–

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण अथवा पक्ष में तर्क
(Merits or Arguments in favour of Uni-Cameral Legislature)

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण अथवा उसके पक्ष में दिये जाने वाले तर्क निम्न प्रकार हैं–

(1) कानूनी सत्ता का विभाजन नहीं– व्यवस्थापिका को कानून बनाने की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है। एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका में यह सत्ता विभाजित रहती है। अतः कानूनों के निर्माण में मतभेद या अड़ंगे लगने की सम्भावना नहीं रहती।

अबेसीज ने ठीक ही कहा है कि, "कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है। जहाँ कहीं भी व्यवस्थापिका के दो सदन होंगे, वहाँ मतभेद और विरोध अनिवार्य होगा तथा जनता की इच्छा निष्क्रियता का शिकार बन जायेगी।"

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण
1. कानूनी सत्ता का विभाजन नहीं
2. व्यय में कमी
3. कार्य में विलम्ब नहीं
4. जनता की प्रतिनिधि
5. प्रगति में बाधा नहीं।

(2) व्यय में कमी– एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका की पद्धति में व्यय बहुत कम होता है। द्वितीय सदन रखने से उसके सदस्यों के वेतन व भत्तों का अतिरिक्त भुगतान करना पड़ता है। एक व्यवस्थापिका में उक्त व्यय की बचत होती है।

(3) कार्य में विलम्ब नहीं – एक-सदनात्मक पद्धति में कार्य शीघ्र सम्पन्न होता है तथा कानूनों के निर्माण में विलम्ब नहीं होता।

(4) जनता की प्रतिनिधि– एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका जनता की सच्ची प्रतिनिधि होती है। द्वितीय सदन के समान इसमें धनिकों व पूँजीपतियों आदि का प्रभुत्व नहीं रहता।

(5) प्रगति में बाधा नहीं– द्वितीय सदन में आमतौर पर प्रतिक्रियावादियों का बहुमत रहता है जो कि प्रथम सदन के प्रगतिशील कार्य में बाधा डालते रहते हैं। एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका इस दोष से मुक्त रहती है।

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष (Demerits)

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका में अग्रलिखित दोष भी पाये जाते हैं–

(1) नियन्त्रणहीनता– एक सदन की स्थिति में उस पर किसी भी उच्च सत्ता का नियन्त्रण नहीं होता जिससे उसके निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी बनने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

इसीलिये लेकी ने कहा है कि, **"किसी अन्य प्रकार से शासन व्यवस्था उतनी बुरी होने की सम्भावना नहीं है, जितनी बुरी सर्वशक्तिमान लोकतन्त्रीय एक सदनात्मक व्यवस्थापिका हो सकती है।"**

एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष

1. नियन्त्रणहीनता
2. कामों में जल्दबाजी
3. अल्पसंख्यकों की उपेक्षा
4. कानून में शीघ्र परिवर्तन
5. कार्यपालिका पर कड़ा नियन्त्रण
6. उत्तेजना व जोश।

(2) कामों में जल्दबाजी– एक सदन की व्यवस्थापिका अनेक अवसरों पर कानूनों के निर्माण में जल्दबाजी कर जाती है। परिणामस्वरूप कानूनों में अनेक कमियाँ रह जाती हैं।

(3) अल्पसंख्यकों की उपेक्षा– एक सदन की व्यवस्थापिका में बहुसंख्यकों का ही प्रतिनिधित्व रहता है, अतः अल्पसंख्यकों के हितों को प्रायः हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

(4) कानूनों में शीघ्र परिवर्तन– अपने ऊपर कोई नियन्त्रण न होने के कारण एक सदन कानूनों में शीघ्रता के साथ परिवर्तन करता है। राजनीतिक दलों के बहुमत में परिवर्तन के साथ ही सत्तारूढ़ दल अपनी इच्छानुसार कानूनों में भी बदल करते रहते हैं।

(5) कार्यपालिका पर कड़ा नियन्त्रण– एक सदन कार्यपालिका पर अपना कड़ा नियन्त्रण रखता है जिससे कार्यपालिका स्वतन्त्रता के साथ कार्य नहीं कर सकती।

(6) उत्तेजना व जोश– एक सदन में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। ये लोग उत्तेजना तथा जोश में प्रायः अनेक कानून ऐसे पास कर देते हैं जो हानिकारक सिद्ध होते हैं।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका क्यों ?

संसार के अधिकांश सभ्य देशों ने आजकल द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका को ही अपनाया है। चुनाव की जटिल व्यवस्था, राजनैतिक तनाव, सामाजिक दबाव आदि के कारण जनता के चुने हुए प्रतिनिधि, कानून निर्माण के कार्य में आवेश, जल्दबाजी, अदूरदर्शिता, भावुकता और अनुभवहीनता से काम ले सकते हैं, जिसका परिणाम यह होगा कि देश प्रगति के स्थान पर अवनति के मार्ग पर चला जायेगा।

इसलिये यह उपयुक्त समझा गया कि एक दूसरा सदन नियन्त्रक, सुधारक, विचारक एवं समीक्षक की भाँति प्रथम सदन द्वारा सम्पन्न कार्यों का पुनर्मूल्यांकन करे। भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, रूस, कनाडा आदि देशों में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका कार्यरत है जबकि एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका अधिकतर धर्मप्रधान देशों तथा सर्वाधिकारवादी और सैनिक तानाशाही वाले देशों में पाई जाती है।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण या पक्ष में तर्क
(Merits of Arguments in Favour of Bi-cameral Legislature)

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण तथा पक्ष में दिये जाने वाले तर्क निम्न प्रकार हैं–

(1) प्रथम सदन की स्वेच्छाचारिता पर रोक– व्यवस्थापिका के सदस्य अत्याचारी, भ्रष्ट व स्वेच्छाचारी न होने पायें इसके लिये दो सदन होने आवश्यक हैं। बिना किसी प्रतिबन्ध के दी हुई शक्ति मनुष्यों को नितान्त भ्रष्ट करती है। द्वितीय सदन प्रथम सदन की मनमानी पर अंकुश

रखता है, जिसके अभाव में वह नितान्त भ्रष्ट हो जायेगा। एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के विषय में लैकी कहता है– **"शासन के उन सब रूपों में, जो मनुष्य के लिये सम्भव हैं, मैं किसी ऐसे शासन को नहीं जानता जो एक अकेले सर्वशक्तिमान लोकतन्त्रीय सदन के शासन से बुरा हो।"**

(2) जल्दबाजी व कुविचारपूर्ण कानून पर रोक– जनता के प्रतिनिधि भावुक, क्रान्तिकारी, अव्यावहारिक तथा जोशीले होते हैं। कभी-कभी वे ऐसे कानून बना सकते हैं जो आगे चलकर हानिकारक सिद्ध हों। द्वितीय सदन ऐसे अविचारपूर्ण कानूनों के ऊपर रोक लगाता है। लैकी कहता है– **"नियन्त्रक, संशोधक और बाधक प्रभाव के रूप में द्वितीय सदन की आवश्यकता ने एक सर्वमान्य तथ्य का स्थान ले लिया है।"**

"The necessity of a second chamber to exercise a controlling, modifying and retarding influence has acquired almost the position of an axiom." **—Lecky**

एक अन्य लेखक ब्लंटशली कहता है– **"दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छा देखती हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका के एक सदन की अपेक्षा दो सदन किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर अधिक अच्छी तरह से विचार कर सकते हैं।"**

"It is clear that four eyes see better than two, especially when a subject may be considered from different stand points." **—Bluntschlli**

(3) सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व– प्रथम सदन में केवल शक्तिशाली राजनैतिक हितों का ही प्रतिनिधित्व हो सकता है जबकि द्वितीय सदन में विभिन्न वर्गों और हितों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। लोकतन्त्र की इससे बड़ी हित साधना और हो भी क्या सकती है कि कानून निर्माण में सभी के हितों की दृष्टि से विचार किया जाये। अल्पसंख्यक, अनुभवी तथा विद्वान् व्यक्तियों को दूसरे सदन में भेजकर कानून पूर्ण और व्यापक बनाये जा सकते हैं।

(4) व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता में वृद्धि– व्यवस्थापिका में दो सदन से बढ़े हुये कार्य का बँटवारा किया जा सकता है जिससे व्यवस्थापिका की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है। प्रथम सदन अपना ध्यान विशेष महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर लगा सकता है। कुछ विशेष कार्य द्वितीय सदन को सौंपे जा सकते हैं।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण

1. स्वेच्छाचारिता पर रोक
2. जल्दबाजी व कुविचारपूर्ण कानूनों पर रोक
3. सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व
4. कार्य-कुशलता में वृद्धि
5. लोकमत निर्माण में सहायक
6. कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की सुरक्षा
7. संघात्मक राज्यों के लिये आवश्यक
8. अनुभवी लोगों का सदन
9. पुनर्विचार व त्रुटि-सुधार
10. ऐतिहासिक अनुभव।

(5) लोकमत निर्माण में सहायक– जब तक कोई कानून एक सदन द्वारा पारित होकर दूसरे सदन में आता है, तब तक उसके विषय में जनता को भी बहुत जानकारी मिल जाती है और निर्वाचक मण्डल को भी अपना मत प्रकट करने का अवसर मिल जाता है, जिसके अनुसार दूसरे सदन में कानूनों का संशोधन किया जा सकता है।

(6) कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की सुरक्षा– कई बार प्रथम सदन में मन्त्रियों को अपनी नीति के लिये पर्याप्त समर्थन नहीं मिलता। लेकिन दूसरे सदन के विचारशील व्यक्ति पर्याप्त समर्थन देकर स्थिति सुधार देते हैं। गैटेल कहता है– **"दो सदन एक-दूसरे पर रुकावट का काम करके कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। अन्त में इससे लोकहित की बढ़ोत्तरी होती है।"**

(7) संघात्मक राज्य के लिये आवश्यक– संघ राज्य की विभिन्न इकाइयों में क्षेत्रफल और

जनसंख्या की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर होता है इस कारण दूसरा सदन इकाइयों की स्थापना के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करके संघ में सम्मिलित राज्यों की सन्तुष्टि करता है।

(8) अनुभवी लोगों का सदन– सामान्य निर्वाचनों में देश के अनुभवी, परिपक्व, गम्भीर और विद्वान् व्यक्तियों को स्थान कम मिलते हैं। इनकी सेवाओं से लाभ उठाने का एकमात्र तरीका इनको द्वितीय सदन में प्रवेश करा देना है। ऐसे लोगों से गठित द्वितीय सदन अच्छे कानूनों का निर्माण करने में एक अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका का पालन कर सकते हैं।

(9) पुनर्विचार व त्रुटि सुधार– उच्च सदन निम्न सदन द्वारा बनाये गये नियमों व कानूनों पर पुनर्विचार करता है। इससे उनमें रहने वाली त्रुटियों का सुधार हो जाता है। आमतौर पर यह होता है कि निम्न सदन में विभिन्न दलों के तीव्र विचारों वाले व्यक्ति चुनकर आते हैं जो भावनाओं में बहकर लोकहित विरोधी कानूनों का निर्माण कर बैठते हैं। उच्च सदन अर्थात् द्वितीय सदन के अनुभवी तथा योग्य सदस्य उनकी कमियों को दूर कर देते हैं।

(10) ऐतिहासिक अनुभव– इंग्लैण्ड व अमेरिका जैसे महान् प्रजातन्त्री देशों में पहले एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका का संगठन किया गया था। फ्रांस में भी ऐसा ही हुआ। एक सदनीय व्यवस्थापिका के अनुभव ने इन देशों में भी कालान्तर में दूसरे सदन की स्थापना कर दी।

मैरियट ने कहा है कि– "इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि विभिन्न राज्यों के अनुभव दूसरे सदन के पक्ष में अधिक हैं।"

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष या विपक्ष में तर्क

(Demerits and Arguments against....)

बहुत से विद्वान् द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में दिये गये तर्कों से सहमत नही हैं। वे एक-सदनात्मक व्यवस्यपिका को ही श्रेष्ठ समझते हैं। वे निम्न आधारों पर द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का विरोध करते हैं।

(1) अलोकतन्त्रात्मक– लोकतन्त्र का सिद्धान्त है कि प्रभुता जनता में निवास करती है। जनता द्वारा निर्वाचित एक सदन ही जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। दूसरा सदन होना शुद्ध रूप से प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक अवेसीज कहता है– **"किसी विषय पर लोकमत केवल एक ही हो सकता है। इसलिये जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक ही सदन होना चाहिये, दो नहीं। यदि दूसरा सदन पहले का विरोध करता है, तो दुष्ट है और यदि सहमत हो जाता है, तो व्यर्थ है।"**

"If the second chamber agrees with the first, it is superflous and if it disagrees, it is mischievous."

—Abbie Sieyes

(2) कानूनों पर पुनर्विचार आवश्यक नहीं– आज के कानून न तो जल्दवाजी में पास होते हैं और न वे कुविचारित होते हैं। प्रत्येक विधेयक, विवाद और विश्लेषण की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद कानून का रूप धारण करता है। अतः द्वितीय सदन के पक्ष में दिया गया यह तर्क कि वह प्रथम सदन की जल्दवाजी और कुविचारता को रोकता है, भ्रामक है। लास्की कहते हैं– **जल्दबाजी के व्यवस्थापन को रोकने के लिये राजनीति की वर्तमान दशा में द्वितीय सदन का महत्व अत्यन्त कम हो गया है।"**

(3) गतिरोध की आशंका– दोनों सदनों में प्रायः सदैव ही गतिरोध बना रहता है जिसका शासन-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अमेरिकी लेखक और विचारक बैंजामिन फ्रैंकलीन के अनुसार– **"दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है, जैसे एक गाड़ी के दोनों घोड़े जोत दिये जायें और वे विरोधी दिशा में गाड़ी को खींचने लगें।"**

"To have two chambers is like a cart with a horse hiched to each side and both pulling opposite direction."

—Benjamin Franklin

(4) **रूढ़िवादिता का गढ़–** प्रायः द्वितीय सदन अप्रत्यक्ष निर्वाचन, मनोनयन या उत्तराधिकार के आधार पर गठित होते हैं। अतः वे रूढ़िवादिता के गढ़ बन जाते हैं तथा प्रत्येक प्रगतिशील कार्य में रुकावट डालते हैं। ऐसे रूढ़िवादी तत्वों को प्रोत्साहन देना राष्ट्रहित में नहीं होता।

लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि, **"अत्यन्त महत्वपूर्ण सुधारों में द्वितीय सदन को देर लगाने का अवसर देना सम्भवतः कालान्तर में विनाश को निमंत्रण देना है।"**

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष

1. अलोकतन्त्रात्मक
2. कानूनों पर पुनर्विचार आवश्यक नहीं
3. गतिरोध की आशंका
4. रूढ़िवादिता का गढ़
5. अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक नहीं
6. संगठन की समस्या
7. अपव्यय
8. संघ राज्यों के लिये भी आवश्यक नहीं।

(5) **अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक नहीं–** दूसरे सदन के पक्ष में दिया जाने वाला यह तर्क कि इससे अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है, प्रभावशाली नहीं है। संविधान मं अन्य उपायों द्वारा; जैसे स्थान सुरक्षित रखकर, उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। भारतीय संविधान में एंग्लो-इण्डियन व अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

(6) **द्वितीय सदन के संगठन की समस्या–** द्वितीय सदन के संगठन के विषय में भी भिन्न-भिन्न विचारधारायें हैं। यही असहमति द्वितीय सदन के विरुद्ध एक प्रबल तर्क है। यदि यह मनोनयन के द्वारा गठित हो, तो केवल शासन-समर्थकों की एक भीड़-मात्र रह जायेगा। यदि वह कुलीनता के आधार पर गठित हो, तो यह अपने के अतिरिक्त किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करेगा। यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर इसे गठित किया गया, तो यह प्रथम सदन की पुनरावृत्ति मात्र ही होगा। यदि इसमें अप्रत्यक्ष निर्वाचन कराया जाये, तो इसे भ्रष्टता का जनक ही कहा जायेगा।

(7) **अपव्यय–** द्वि-सदनात्मक व्यवस्था में प्रत्येक विषय पर दो-दो बार विचार होता है जिससे समय और धन की अपार क्षति होती है। दूसरे सदन को व्यर्थ में बनाये रखना, जबकि एक ही सदन द्वारा व्यवस्थापन कार्य हो सकता है, राजकोष और जनता पर अनावश्यक बोझ है।

(8) **संघ राज्यों के लिये भी आवश्यक नहीं–** लॉस्की ने कहा है– "यह गलत है कि संघ की रक्षा के लिये दूसरा सदन प्रभावशाली गारण्टी है।" दूसरे सदन के सदस्य भी इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने के स्थान पर उन राजनीतिक दलों का ही अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके टिकट पर वे चुने जाते हैं। दलीय अनुशासन उन्हें बाँधे रखता है। इकाइयों के हितों की रक्षा संवैधानिक संरक्षणों और स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा अधिक होती है न कि दूसरे सदन के अस्तित्व के कारण।

एक-सदनात्मक या द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका में कौन-सी प्रणाली श्रेष्ठ है

उपर्युक्त दोषों के आधार पर अनेक विद्वानों का यह कहना है कि द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका बिल्कुल व्यर्थ है। प्रजातन्त्र शासन में तो दो सदनों की स्थापना झगड़े की जड़ सिद्ध होती है। वास्तव में एक जनतन्त्र शासन में द्वितीय सदन की स्थापना से जनता पर भारी आर्थिक बोझ पड़ता है। द्वितीय सदन आमतौर पर प्रगति एवं सुधार के कार्यों में रोड़े अटकाता है। भारत में यद्यपि द्वि-सदनात्मक प्रणाली चालू है, किन्तु पश्चिमी बंगाल तथा पंजाब जैसे राज्यों ने द्वितीय सदन को समाप्त कर दिया है।

परन्तु इस सबके बावजूद, आज संसार के अधिकांश देशों में द्वि-सदनात्मक प्रणाली को ही अपनाया गया है और काफी समय से ही इस प्रणाली को परम्परागत रूप से स्वीकार कियां जा रहा है। अतः कहा जा सकता है कि द्वि-सदनात्मक प्रणाली अपने अनेक गुणों के कारण आज भी लोकप्रिय है तथा उसकी श्रेष्ठता असंदिग्ध है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की टिप्पणियाँ इस प्रकार हैं–

(1) सर हेनरी मैन के शब्दों में, "किसी भी दूसरे सदन का होना उसके न होने से सदैव अच्छा होता है।"

(2) पायली के अनुसार, "द्वितीय सदन एक निरर्थक या दिखावे का सदन नहीं है, अपितु शासन का एक आवश्यक अंग है।"

(3) फाइनर के शब्दों में, "यदि दोनों सदन परस्पर सहमत हैं, तो कानून की न्यायोचितता एवं अच्छाई में हमारा विश्वास बढ़ाने के लिये यह अच्छी बात है और यदि वे असहमत हैं, तो इसका अर्थ यह है कि कानून निर्माताओं को अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करना चाहिये।"

व्यवस्थापिका के कार्य
(Functions of the Legislature)

व्यवस्थापिका के कार्य बहुत कुछ शासन के रूप पर निर्भर करते हैं। जहाँ लोकतन्त्रात्मक राज्यों में व्यवस्थापिका की शक्ति और महत्व बहुत होता है, वहाँ एकतन्त्र, अधिनायकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र में इतना महत्व व्यवस्थापिका को प्राप्त नहीं होता। सामान्य रूप से **लोकतन्त्रात्मक राज्यों में व्यवस्थापिका, विधान-मण्डल या संसद निम्नलिखित कार्य करती है–**

(1) कानूनों का निर्माण– देश में शान्ति व सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये व्यवस्थापिका, विधानमण्डल या संसद विभिन्न कानूनों का निर्माण करती है। जनता के प्रतिनिधि, समय और जनता की आवश्यकताओं के अनुसार पुराने कानूनों को रद्द करते हैं, उनमें संशोधन करते हैं तथा नये कानून बनाते हैं।

(2) बजट पारित करना– व्यवस्थापिका राज्य का बजट पास करके देश की आय तथा व्यय पर नियन्त्रण रखती है, विभिन्न करों का निर्धारण करती है एवं आर्थिक योजनाओं का अनुमोदन करती है।

(3) संविधान में संशोधन– जिन देशों में परिवर्तनशील या नमनीय संविधान लागू होते हैं, वहाँ की व्यवस्थापिका सभा निर्धारित विधि के अनुसार संविधान में संशोधन का कार्य भी करती है। भारत में संसद इस कार्य को सम्पन्न करती है।

(4) कार्यपालिका पर नियन्त्रण– संसदात्मक सरकार की पद्धति में मन्त्रिमण्डल के सभी मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका का विश्वास बने रहने तक ही वे सत्तारूढ़ रहते हैं। अध्यक्षात्मक सरकार की व्यवस्था के अन्तर्गत भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका के अनेक कार्य पर नियन्त्रण रखती है।

(5) नीति का निर्धारण– व्यवस्थापिका राज्य की नीतियों का निर्धारण करके सरकार के समक्ष कार्यों की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। कार्यपालिका को उन नीतियों का अनुसरण करना होता है।

(6) लोकमत का प्रतिनिधित्व– व्यवस्थापिका के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। व्यवस्थापिका में अनेक प्रश्नों एवं प्रस्तावों द्वारा जनता की इच्छा को प्रकट करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका सरकारी कार्यों की दिशा निर्धारण करती है।

(7) प्रस्ताव स्वीकार या अस्वीकार करना– व्यवस्थापिका में विभिन्न दलों के सरकारी तथा गैर-सरकारी सदस्यों के द्वारा अनेक प्रस्ताव रखे जाते हैं। व्यवस्थापिका उन पर विचार करके अपने बहुमत से उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करती है। कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर भी व्यवस्थापिका अपना निर्णय देती है।

(8) निर्वाचक कार्य– अनेक देशों की व्यवस्थापिकायें कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिये; भारत की व्यवस्थापिका राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेती है तथा विधान-परिषद् के कुछ सदस्यों का भी निर्वाचन करती है।

व्यवस्थापिका, संसद अथवा विधानमण्डल के कार्य

1. कानूनों का निर्माण
2. बजट पारित करना
3. संविधान में संशोधन
4. कार्यपालिका पर नियन्त्रण
5. नीति का निर्धारण
6. लोकमत का प्रतिनिधित्व
7. प्रस्ताव स्वीकार या अस्वीकार करना
8. निर्वाचकीय कार्य
9. न्याय सम्बन्धी कार्य
10. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण।

(9) न्याय सम्बन्धी कार्य– कुछ देशों में व्यवस्थापिका न्याय सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करती है। भारत में व्यवस्थापिका के सदन यदि सदन में नियमों या अनुशासन का उल्लंघन करते हैं, व्यवस्थापिका उन्हें दण्डित करती है। इंग्लैण्ड में द्वितीय सदन (लार्ड सभा) अपील सुनने के सर्वोच्च न्यायालय का कार्य सम्पन्न करता है। अमेरिका में सीनेट भी संविधान का उल्लंघन करने पर राष्ट्रपति को दण्ड दे सकती है।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण– व्यवथापिका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की रूपरेखा का भी निर्धारण करती है। प्रजातन्त्रीय देशों में सन्धि, युद्ध या विदेशी समझौते के लिये व्यवस्थापिका की स्वीकृति लेनी होती है।

व्यवस्थापिका के दोनों सदनों का पारस्परिक सम्बन्ध
(Relation between Two Chambers of Legislature)

इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध होता है ? कुछ देशों में दोनों ही सदनों को बराबर अधिकार प्रदान किये जाते हैं। प्रथम सदन में चूँकि जनता के वास्तविक प्रतिनिधि होते हैं, अतः अनेक देशों में प्रथम सदन को अधिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं और धन विधेयकों पर विचार करने का अधिकार केवल प्रथम सदन को ही होता है। किन्तु अन्य विधेयकों को तब तक कानून का रूप प्राप्त नहीं होता, जब तक कि उस विधेयक को दोनों सदनों की स्वीकृति न प्राप्त हो जाये।

कभी-कभी प्रथम सदन द्वारा पास किये गये किसी विधेयक (Bill) को यदि द्वितीय सदन द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है तो दोनों में विरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसे मतभेद को निम्नलिखित उपयों द्वारा सुलझाया जा सकता है–

(1) विवादग्रस्त विधेयक को समाप्त करके।

(2) दोनों सदनों के सदस्यों की एक संयुक्त समिति बनाकर और उसके निर्णय को मानकर। यह रीति अमेरिका में प्रचलित है।

(3) दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाकर और उससे निर्णय कराकर। यह रीति भारत में प्रचलित है।

(4) एक निश्चित अवधि के बाद प्रथम सदन द्वारा उस विधेयक को दुबारा या तिबारा पारित करके। यह रीति इंग्लैण्ड में प्रचलित है।

व्यवस्थापिका के ह्रास के कारण

सरकार के तीन अंगों में व्यवस्थापिका का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका द्वारा न्याय प्रदान करने का कार्य किया जाता है। अन्य शब्दों में, जिन आधारों पर कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को अपना कार्य करना होता है, वह आधार व्यवस्थापिका द्वारा ही तैयार किया जाता है।

शासन में व्यवस्थापिका को इसलिये भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है, क्योंकि यह जनता द्वारा चुनी हुई संस्था होती है और जन आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करती है।

किन्तु इस महत्वपूर्ण स्थान के बावजूद, वर्तमान समय में यह देखा जा रहा है कि व्यवस्थापिका का सम्मान तथा गरिमा घट रही है और उसके महत्व का ह्रास हो रहा है। व्यवस्थापिका के ह्रास के निम्नलिखित कारण हैं—

(1) योग्य प्रतिनिधियों का चुनाव नहीं– राजनीतिक दलों में अपना प्रभाव होने के कारण अयोग्य व्यक्ति और पेशेवर राजनीतिबाज तथा अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति व्यवस्थापिका में चुनकर पहुँच जाते हैं। योग्य व्यक्ति चुनाव-प्रपंचों में न पड़ने के कारण व्यवस्थापिका में नहीं पहुँचते। ये अयोग्य व्यक्ति अपने कार्यों व आचरण से व्यवस्थापिका की गरिमा को गिराते हैं।

(2) सदन में अनुशासनहीनता– व्यवस्थापिका के सदस्य सदन की बैठकों में अभद्र आचरण तथा अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करते हैं। कभी-कभी तो मार्शल सदस्यों को जबरदस्ती उठाकर सदन से बाहर निकालता है। इससे जनता की दृष्टि में व्यवस्थापिका की प्रतिष्ठा गिरती है।

(3) चुनाव में भारी व्यय– चुनाव में भारी मात्रा में व्यय होने के कारण योग्य व चरित्रवान व्यक्ति व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं बनते। इससे व्यवस्थापिका में अयोग्य लोगों का बहुमत हो जाता है।

(4) राजनीतिक दलों की भरमार– राजनीतिक दलों की संख्या अधिक होने से सभी दलों के थोड़े-थोड़े प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में पहुँचते हैं। ये सभी सत्ता की भूख से बेचैन रहते हैं और जनकल्याण की बजाय व्यवस्थापिका की बैठकों में सत्ता-प्राप्ति के जोड़-तोड़ में ही उलझे रहते हैं।

(5) मताधिकार का सदुपयोग नहीं– अशिक्षा तथा गरीबी के कारण मतदाता प्रायः अपना मत बेच देते हैं और उसका सदुपयोग नहीं करते। फलतः पूँजीपति व भ्रष्ट राजनीतिज्ञ व्यवस्थापिका में पहुँच जाते हैं। फिर ये लोग व्यवस्थापिका को अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बना लेते हैं।

व्यवस्थापिका के ह्रास के कारण

1. योग्य प्रतिनिधियों का चुनाव नहीं
2. सदन में अनुशासनहीनता
3. चुनाव में भारी व्यय
4. राजनीतिक दलों की भरमार
5. मताधिकार का सदुपयोग नहीं
6. दल-बदल
7. मन्त्रिमण्डल हावी
8. साम्प्रदायिकता
9. नेताओं में व्यक्ति पूजा।

(6) दल-बदल– व्यवस्थापिका में चुने गये सदस्य पैसे या सत्ता के लोभ में दल-बदल करते रहते हैं। इससे वे अपना स्वार्थ तो पूरा कर लेते हैं, किन्तु व्यवस्थापिका के माध्यम से जन आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाते। इससे व्यवस्थापिका की गरिमा का ह्रास होता है।

(7) मन्त्रिमण्डल हावी– वैसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण व्यवस्थापिका में से ही किया जाता है और व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखती है। वह मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर उसे हटा सकती है। मन्त्रिमण्डल को व्यवस्थापिका के निर्देशों व नीतियों का पालन करना होता है।

किन्तु व्यवहार में, अपने बहुमत के बल पर तथा दलीय अनुशासन के नाम पर सत्तारूढ़ मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका पर हावी रहता है। मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका को, अपने दल के बहुमत के कारण, अपनी इच्छानुसार चलाने लगता है। इससे व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल की एक कठपुतली मात्र बन जाती है और अपनी गरिमा खो देती है।

(8) साम्प्रदायिकता– साम्प्रदायिक भावना के कारण विभिन्न जातियों के लोग जाति या धर्म के आधार पर ही व्यवस्थापिका के सदस्यों का चुनाव करते हैं। ऐसे प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में भी इसी दृष्टि से आचरण करते हैं। इस स्थिति में व्यवस्थापिका वर्गीय स्वार्थों के संघर्ष का अखाड़ा बन जाती है।

(9) नेताओं में व्यक्ति पूजा– जब सत्तारूढ़ या अन्य राजनैतिक दलों में कुछ व्यक्ति-विशेष अधिक प्रभावशाली व शक्तिशाली हो जाते हैं, तो सदस्य व्यवस्थापिका की उपेक्षा करके नेताओं की व्यक्ति-पूजा में ही उलझे रहते हैं और सदन में भी उन्हीं की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हैं और चापलूसी करते हैं। इससे भी व्यवस्थापिका की प्रतिष्ठा का ह्रास होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) व्यवस्थापिका या विधायिका के मुख्य कार्य क्या हैं ? द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण बताइये। (1973, 75, 90)

(2) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष तथा विपक्ष में दिये गये तर्कों का मूल्यांकन कीजिये। (1976)

(3) व्यवस्थापिका के कार्यों की व्याख्या कीजिये। वर्तमान युग में व्यवस्थापिका के ह्रास के क्या कारण हैं ? (1978)

(4) टिप्पणी लिखिये– (i) एक-सदनीय व्यवस्थापिका के गुण (1979)

(ii) व्यवस्थापिका के कार्य ; (1985)

(iii) द्वितीय सदन (1987)

(iv) विधानमण्डल के कार्य। (1992)

(5) सरकार के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिये। (1969, 81)

(6) दो सदनों वाली व्यवस्थापिका के गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिये। (1982)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– सरकार के तीन प्रमुख अंग कौन-से हैं ? प्रत्येक अंग का प्रमुख कार्य क्या है ?

उत्तर– सरकार के तीन अंग हैं– (1) व्यवस्थापिका या विधायिका, जो कानून बनाती है, (2) दूसरा अंग कार्यपालिका है जो कानूनों को लागू कराती है, (3) तीसरा अंग है न्यायपालिका जो कानूनों का पालन न करने वालों को दण्ड देती है।

प्रश्न 2– व्यवस्थापिका या विधायिका या विधानमण्डल के चार कार्य बताइये।

उत्तर– कानून बनाना, नीति निर्धारण करना, कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना, सरकार के आय-व्यय पर नियन्त्रण रखना आदि। (प्रत्येक पर दो-दो वाक्य बना दीजिये)।

प्रश्न 3– व्यवस्थापिका कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर– दो प्रकार की– (1) एकसदनी व्यवस्थापिका, जिसमें केवल निम्न सदन होता है जिसे केन्द्र में लोक सभा और राज्यों में विधान सभा कहा जाता है। और (2) द्विसदनी व्यवस्थापिका जिसमें निम्न सदन तथा उच्च सदन होते हैं। उच्च सदन को केन्द्र में राज्य सभा और राज्य में विधान परिषद् कहा जाता है।

प्रश्न 4– द्विसदनी व्यवस्थापिका या विधानमण्डल क्या होता है ?

उत्तर– इस व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं–

(1) निम्न या प्रथम सदन– जो जनता द्वारा निर्वाचित होता है, जैसे केन्द्र में लोक सभा और राज्यों में विधान सभा।

(2) उच्च या द्वितीय सदन– इसमें नियुक्ति, मनोनीत या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित जनता के कुछ विशेष वर्गों (शिक्षकों, कलाकारों, लेखकों आदि) के प्रतिनिधि होते हैं। जैसे केन्द्र में राज्य सभा और राज्यों में विधान परिषद्।

प्रश्न 5– द्विसदनी व्यवस्थापिका या उच्च सदन के चार लाभ बताइये।

उत्तर– द्विसदनीय व्यवस्थापिका में निम्न सदन के अलावा उच्च सदन भी होता है। (1) उच्च सदन निम्न अथवा प्रथम सदन की भूलों को सुधारता है। (2) उनकी निरंकुशता को रोकता है। (3) उच्च सदन द्वारा योग्य व्यक्तियों की सेवायें कानून निर्माण के लिये मिल जाती हैं। (4) उच्च सदन जनमत निर्माण में सहायक होता है।

प्रश्न 6– व्यवस्थापिका सभा में प्रथम (या निम्न) सदन का सगठन किस प्रकार होता है ?

उत्तर– व्यवस्थापिका सभा में प्रथम या निम्न सदन का गठन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने गये प्रतिनिधियों को मिलाकर किया जाता है। देश को जनसंख्या के आधर पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। फिर जनता वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्येक क्षेत्र से एक सदस्य का चुनाव करती है। इस प्रकार प्रथम सदन सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रश्न 7– व्यवस्थापिका सभा में द्वितीय (या उच्च) सदन का संगठन किस प्रकार होता है ?

उत्तर– व्यवस्थापिका सभा के द्वितीय या उच्च सदन का गठन केन्द्र में तो विधानसभाओं के सदस्यों द्वारा और राज्य में विधान सभा के सदस्यों, स्थानीय संस्थाओं, स्नातकों व अध्यापकों द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के आधार पर किया जाता है। द्वितीय सदन के 1/3 सदस्य हर दो वर्ष वाद अलग हो जाते हैं। कुछ सदस्य राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा मनोनीत भी किये जाते हैं। द्वितीय सदन जनता के विशिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रश्न 8– वर्तमान में व्यवस्थापिका के ह्रास के चार कारण बताइये।

उत्तर– व्यवस्थापिका के गरिमा के ह्रास के प्रमुख कारण निम्न हैं–

(क) हिंसा एवं तिकड़मों के वल पर चुनाव में योग्य व्यक्तियों के स्थान पर पेशेवर राजनीतिवाज व्यवस्थापिका में चुन लिये जाते हैं।

(ख) राजनीतिक दलों की भरमार होने के कारण सभी दलों के थोड़े-थोड़े प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में पहुँचने के कारण वे गठजोड़ व सत्ता प्राप्ति के जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं।

(ग) व्यवस्थापिका में चुने गये सदस्य पैसे या सत्ता के लोभ में दल-वदल करते रहते हैं।

(घ) सदस्य व्यवस्थापिका में अभद्र आचरण व अनुशासनहीनता करते हैं।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– व्यवस्थापिका का कौन-सा सदन जनता द्वारा चुना जाता है ?

उत्तर– व्यवस्थापिका का प्रथम या निम्न सदन, जिसे केन्द्र में लोक सभा तथा राज्यों में विधान सभा के नाम से जाना जाता है।

प्रश्न 2– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के दो दोष या विपक्ष में दो तर्क लिखिये। **(1984, 90)**

उत्तर– ये हैं– (i) दोनों सदनों में परस्पर प्रतिरोध की आशंका, (ii) रूढ़िवादिता का गढ़।

प्रश्न 3– सरकार के तीन अंगों के नाम बताइये। **(1988, 91)**

उत्तर– सरकार के तीन अंग हैं– (i) व्यवस्थापिका, (ii) कार्यपालिका, और (iii) न्यायपालिका।

प्रश्न 4– व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन को किस नाम से पुकारा जाता है ?

उत्तर– व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन को केन्द्र में राज्य-सभा और राज्यों में विधान परिषद् के नाम से पुकारा जाता है।

प्रश्न 5– द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के दो गुण या पक्ष में दो तर्क दीजिये। **(1985)**

उत्तर– ये हैं– (i) प्रथम सदन की स्वेच्छाचारिता पर रोक, (ii) सभी वर्गों के अनुभवी लोगों का सदन।

प्रश्न 6– एक सदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष या विपक्ष में दो तर्क बतलाइये।

उत्तर– ये हैं– (i) कामों में जल्दवाजी, (ii) सदस्यों में उत्तेजना व जोश अधिक।

प्रश्न 7– व्यवस्थापिका के दो मुख्य कार्य बताइये। **(1988, 90)**

उत्तर– ये हैं– (i) कानूनों का निर्माण, (ii) कार्यपालिका पर नियन्त्रण।

प्रश्न 8– व्यवस्थापिका या विधान मण्डल के दो सदनों के नाम बताइये।

उत्तर– (i) विधान सभा और (ii) विधान परिषद्।

□□

20 कार्यपालिका (Executive)

"कार्यपालिका शासन का वह अंग है जो कानून के रूप में व्यक्त जनता की इच्छा को लागू करता है।"
—गिलक्राइस्ट

"व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में शक्तियों का बँटवारा हो चुकने के बाद शेष शक्तियाँ कार्यपालिका के पास रहती हैं।"
—फाइनर

इस अध्याय में क्या है ?

(1) कार्यपालिका या कार्यकारिणी का अर्थ व महत्व, (2) कार्यपालिका के प्रकार, (3) कार्यपालिका के संगठन या नियुक्ति की विधियाँ, (4) कार्यपालिका की अवधि, (5) कार्यपालिका या कार्यकारिणी के कार्य, (6) व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के बीच सम्बन्ध, (7) कार्यपालिका के बढ़ते महत्व के कारण, (8) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (9) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

कार्यपालिका या कार्यकारिणी का अर्थ व महत्व (Meaning and Importance of Executive)

कार्यपालिका या कार्यकारिणी सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों को कार्यान्वित करती है और सरकार के सम्पूर्ण प्रशासन का संचालन करती है। इस प्रकार कार्यपालिका सरकार का दैनिक कार्य चलाने वाली व्यापक मशीनरी का नाम है–

व्यापक अर्थ में, कार्यपालिका के अन्तर्गत कार्यपालिका का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति या राजा, उनके मन्त्रीगण व सम्पूर्ण सरकारी कर्मचारी आ ज़ाते हैं। इस अर्थ में गाँव के चौकीदार तथा लेखपाल से लेकर राष्ट्रपति पद के सभी अधिकारी कार्यपालिका के ही अंग माने जाते हैं।

इसके विपरीत, संकुचित अर्थ में, कार्यपालिका के अन्तर्गत केवल उसके प्रधान तथा मन्त्रियों को ही सम्मिलित किया जाता है। साधारणतया कार्यपालिका को संकुचित अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है। इस अर्थ में भारत में कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति तथा उसके सब मन्त्री आते हैं। ब्रिटेन में कार्यपालिका में राजा तथा उसका केविनेट (मन्त्रि-मण्डल) सम्मिलित होता है। अमेरिका में भी राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रियों को कार्यपालिका में सम्मिलित किया जाता है।

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में व्यक्त जनता की इच्छा को लागू करता है।"

महत्व (Importance)

कार्यपालिका वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासन यन्त्र घूमता है। कार्यपालिका का महत्व इस बात से भी स्पष्ट है कि यद्यपि कार्यपालिका शासन का केवल एक अंग मात्र है, फिर भी व्यवहार में "सरकार" शब्द का प्रयोग कार्यपालिका के लिये ही किया जाता है।

जहाँ तक कार्यपालिका की शक्तियों का सम्बन्ध है, फाइनर के शब्दों में, "व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में शक्तियों का बँटवारा हो चुकने के बाद शेष सभी शक्तियाँ कार्यपालिका के पास ही रहती हैं।"

कार्यपालिका के प्रकार (Kinds of Executive)

कार्यपालिका के प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं–

(1) नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)– मन्त्रिमण्डलात्मक सरकारों में कार्यपालिका दो प्रकार की होती है। राज्य का प्रधान कार्यपालिका का प्रधान नहीं होता। वह राज्य करता है, शासन नहीं करता। देश के सारे कार्य उसी के नाम से चलाये जाते हैं, पर वास्तव में सारी शक्तियाँ उसके पास न होकर मन्त्रिमण्डल में निवास करती हैं। इस प्रकार राज्य के प्रधान को हम नाममात्र की कार्यपालिका और मन्त्रि-मण्डल को वास्तविक कार्यपालिका कह सकते हैं। मन्त्रि-मण्ड़ल जिसके हाथों में शासन की सभी सत्ता होती है अपने कार्यों के लिये व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत में राष्ट्रपति को हम नाममात्र की कार्यपालिका तथा मन्त्रि-मण्डल को वास्तविक कार्यपालिका कह सकते हैं।

कार्यपालिका के प्रकार
1. वास्तविक और नाममात्र की कार्यपालिका
2. मन्त्रिमण्डलात्मक और अध्यक्षात्मक कार्यपालिका
3. एकल या वहुल कार्यपालिका।

(2) मन्त्रिमण्डलात्मक तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Parliamentary and Presidential Executive)– जहाँ कार्यपालिका अपने कार्यों के लिये जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होती है वहाँ उसे उत्तरदायी या मन्त्रिमण्डलात्मक या संसदनात्मक कार्यपालिका कहते हैं। भारत में ऐसी ही कार्यपालिका है। जव वास्तविक शासन जनप्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, तव उसे अध्यक्षात्मक कार्यपालिका कहते हैं ऐसी कार्यपालिका संयुक्त राज्य अमेरिका में है।

(3) एकल या वहुल कार्यपालिका (Single and Plural Executive)– जव शसन की सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में निहित होती है, तो उसे एकल तथा जव यह अनेक व्यक्तियों के वीच वितरित होती है, तव उसे वहुल कार्यपालिका कहते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में एकल कार्यपालिका है और स्विट्ज़रलैण्ड में वहुल कार्यपालिका है, जहाँ की कार्यपालिका की शक्तियाँ सात सदस्यों की एक "संघीय परिषद्" के हाथों में रहती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका का सर्वेसर्वा होता है। यद्यपि उसकी भी एक मन्त्रि-परिषद् होती है किन्तु परिषद् के सदस्य पूर्णतः उसी के अधीन होते हैं। वह उन्हें नियुक्त करता है तथा निकाल सकता है। उन्हें उसका अभिकर्त्ता (एजेन्ट) या सलाहकार कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इसके विपरीत, स्विट्ज़रलैण्ड की वहुल कार्यपालिका में शक्ति 'संघीय परिषद्' के हाथों में रहती है जिसका चुनाव व्यवस्थापिका के दोनों सदन मिलकर करते हैं। परिषद् का एक सभापति होता है किन्तु शासन के सम्वन्ध में उसे विशेष अधिकार नहीं मिले होते। कार्यपालिका के कार्य सम्पूर्ण परिषद् के कार्य ही माने जाते हैं, सभापति के नहीं।

गुण व दोष– एकल कार्यपालिका राष्ट्रीय संकट के समय अधिक उपयुक्त मानी जाती है। इसमें राजनैतिक गुटवन्दी नहीं पाई जाती। इसमें एकता, दृढ़ता तथा शीघ्र निर्णय करने की क्षमता पाई जाती है। इसका दोष यही है कि कभी-कभी यह निरंकुश हो जाती है।

वहुल कार्यपालिका को अधिक लोकतन्त्रीय माना जाता है। इसमें अनेक योग्य व्यक्तियों के अनुभव का लाभ कार्यपालिका को मिलता है। वहुल कार्यपालिका के निरंकुश होने का भय नहीं रहता।

कार्यपालिका के संगठन या नियुक्ति की विधियाँ
(Methods of Appointment of Executive)

संसार के विभिन्न देशों से कार्यपालिका का गठन अथवा उसकी नियुक्ति निम्नलिखित चार प्रकार से की जाती है:–

(1) उत्तराधिकार द्वारा गठित या वंशानुगत कार्यपालिका– शासक की मृत्यु, पद-त्याग और पद-रिक्त होने पर उसका उत्तराधिकारी ही शासन के पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। ब्रिटेन में इसी प्रकार की कार्यपालिका है। वहाँ इस समय रानी एलिज़ाबेथ सिंहासनारूढ़ हैं। यह कार्यपालिका निर्वाचन के दोषों से मुक्त होती है। इसमें स्थायित्व का गुण भी पाया जाता है।

(2) जनता द्वारा निर्वाचित कार्यपालिका– राज्य के सर्वोच्च अधिकारी की नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिये जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्वाचन के द्वारा किये जाने पर ऐसी कार्यपालिका को निर्वाचित कार्यपालिका कहते हैं। यह प्रथा अमेरिका तथा भारत में पाई जाती है।

कार्यपालिका की नियुक्ति की विधियाँ

1. उत्तराधिकार द्वारा गठित कार्यपालिका
2. जनता द्वारा निर्वाचित कार्यपालिका
3. व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित कार्यपालिका
4. मनोनीत कार्यपालिका।

(3) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित कार्यपालिका– इस विधि में जनता स्वयं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका का चुनाव नहीं करती, वरन् कार्यपालिका का चुनाव जनता के प्रतिनिधियों से गठित व्यवस्थापिका में से वने एक निर्वाचन मण्डल द्वारा किया जाता है। भारत में राष्ट्रपति का चुनाव इसी प्रकार से होता है।

(4) मनोनीत कार्यपालिका– जब राज्य का प्रधान अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को अपनी पसन्द और इच्छा के आधार पर मनोनीत करता है और वे मनोनीत सदस्य अपने पद, कार्य और अवधि के सम्वन्ध में राष्ट्रपति की इच्छा पर आधारित रह कर उनके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, तो ऐसी कार्यपालिका को हम मनोनीत कार्यपालिका कहते हैं। अमेरिका में राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल को मनोनीत करता है।

कार्यपालिका अवधि (Duration of Executive)

कार्यपालिका की अवधि के इस विषय में भी विभिन्न देशों में अलग-अलग नियम हैं, किन्तु आमतौर पर यह अवधि 1 से 5 साल तक होती है। **अमेरिका में,** राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्री 4 साल तक कार्य करते हैं। इसके पूर्व राष्ट्रपति को महाभियोग लगाये बिना कोई पद से हटा नहीं सकता। राष्ट्रपति चाहे तो मन्त्रियों को उनके पद से हटा सकता है। **इंग्लैण्ड में,** कार्यपालिका का प्रधान वंशपरम्परागत राजा होता है जो अपने जीवन काल तक कार्यपालिका प्रधान बना रहता है।

भारत में, राष्ट्रपति को पाँच वर्ष की अवधि के लिये प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। संसद तथा व्यवस्थापिकाओं के सदस्य राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। राष्ट्रपति लोकसभा में वहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है। मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है, किन्तु लोकसभा अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिमण्डल को पाँच वर्ष से पूर्व वदल सकती है।

कार्यपालिका या कार्यकारिणी के कार्य
(Functions of the Executive)

कार्यपालिका सरकार के शासन की धुरी होती है। इस पर शासन का भारी उत्तरदायित्व रहता है, अतः विद्वानों ने कार्यपालिका के कार्यों का अग्र प्रकार वर्गीकरण किया है–

(1) राजनयिक कार्य (Diplomatic Functions)— इसके अन्तर्गत राजनीति, कूटनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय आते हैं, जिनमें विदेशों से सन्धि करना, युद्ध की घोषणा करना, अन्य देशों में राजदूत तथा वाणिज्यदूतों की नियुक्ति करना, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में प्रतिनिधि भेजना, विदेशी व्यापार सम्बन्धी समझौता करना आदि सम्मिलित हैं।

(2) विधायी कार्य (Legislative Functions)— कार्यपालिका के विधायी कार्यों में व्यवस्थापिका से सम्बन्धित कार्यों की गणना की जाती है। इन कार्यों में व्यवस्थापिका या संसद की बैठक बुलाना, उसे विसर्जित करना, भंग करना, कानून का रूप निर्धारण करना, व्यवस्थापिका में विधेयक रखना, अध्यादेश (Ordinance) जारी करना तथा कानूनों के अन्तर्गत उपनियम बनाना आदि मुख्य हैं।

(3) सैनिक कार्य (Military Functions)— कार्यपालिका का प्रधान ही प्रायः देश की जल, थल व नभ सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति होता है। वह ही सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता है। युद्धकाल में कार्यपालिका के देश-रक्षा सम्बन्धी कार्य काफी बढ़ जाते हैं।

(4) प्रशासन सम्बन्धी कार्य (Administrative Functions)— कार्यपालिका के प्रशासन सम्बन्धी कार्य बड़े व्यापक होते हैं। इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका के बनायें गये कानूनों को लागू करना, जनता से उनका पालन करवाना, देश में शान्ति बनाये रखना, सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति करना, उन्हें निलम्बित या पदच्युत करना व कर वसूल करना आदि सम्मिलित हैं।

कार्यपालिका के कार्य

1. राजनीतिक कार्य
2. विधायी कार्य
3. सैनिक कार्य
4. प्रशासन सम्बन्धी कार्य
5. न्याय सम्बन्धी कार्य
6. विकास सम्बन्धी कार्य
7. धन सम्बन्धी कार्य
8. लोकहित के अन्य कार्य।

(5) न्याय सम्बन्धी कार्य (Judicial Functions)— कार्यपालिका अनेक न्याय सम्बन्धी कार्य भी करती है। यह न्यायालयों का संगठन तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है। यह न्यायालयों द्वारा दण्ड पाये हुए अपराधियों को क्षमा भी कर सकती है। इंग्लैण्ड में तो लार्ड सभा ही सर्वोच्च न्यायालय के रूप में कार्य करती है।

(6) विकास सम्बन्धी कार्य (Developmental Functions)— कार्यपालिका देश की कृषि व उद्योग के विकास से सम्बन्धित अनेक कार्य सम्पन्न करती है। वह देश के विकास के लिये पंचवर्षीय योजनायें लागू करती है, बाँध बनवाती है, बिजली तथा सिंचाई का प्रबन्ध करती है, कृषि तथा वन सम्बन्धी अनुसन्धान करती है तथा सरकारी क्षेत्र में कारखानों का भी संचालन करती है।

(7) धन सम्बन्धी कार्य— कार्यपालिका को जनता के धन का संरक्षण करना होता है। प्रत्येक वर्ष के अन्त में कार्यपालिका संसद के समक्ष पूरे वर्ष का वास्तविक आय-व्यय प्रस्तुत करती है। वह आने वाले वर्ष के लिये अनुमानित आय-व्यय प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार, कर प्रस्ताव भी कार्यपालिका संसद के समक्ष रखती है।

(8) लोकहित के अन्य कार्य (Public Welfare Functions)— उपर्युक्त कार्यों के अलावा कार्यपालिका सार्वजनिक हित के अनेक कार्य सम्पन्न करती है। जैसे— सड़कें बनवाना, पुल बनवाना, सार्वजनिक भवन बनवाना, जन-स्वास्थ्य व सफाई सम्बन्धी कार्य करना, शिक्षा का प्रचार व प्रसार करना, स्कूल खोलना, व्यापार के विकास के लिये सुविधायें प्रदान करना, डाक-तार व टेलीफोन की सुविधायें उपलब्ध करना, अस्पताल खोलना, अल्पसंख्यकों व परिगणित तथा पिछड़ी जातियों को विकास के लिये सुविधायें प्रदान करना, मजदूरों के कल्याण के लिये अनेक नियम बनाना, छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर करना आदि।

व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में सम्बन्ध
(Relation between Legislature and Executive)

व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों ही सरकार के महत्वपूर्ण अंग हैं। शासन का सम्पूर्ण कार्य मुख्यतः इन दोनों के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अतः इस नाते दोनों ही अंगों में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।

कार्यपालिका सामान्यतः दो प्रकार की होती है– एक तो संसदात्मक सरकार की कार्यपालिका और दूसरी अध्यक्षात्मक सरकार की कार्यपालिका। प्रथम किस्म की कार्यपालिका का द्वितीय किस्म की कार्यपालिका की अपेक्षा व्यवस्थापिका से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहता है।

(1) संसदात्मक कार्यपालिका या कार्यकारिणी से सम्बन्ध

संसदात्मक कार्यपालिका (Parliamentary Executive) के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्यों में से ही चुने जाते हैं। यह कार्यपालिका व्यवस्थापिका के विश्वास तक ही अपने पद पर बनी रह सकती है। व्यवस्थापिका अनेक प्रस्ताव पास कर तथा कानून वनाकर कार्यपालिका का मार्ग-दर्शन करती है और उसके कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है। व्यवस्थापिका के सदस्य कार्यपालिका के कार्यों की आलोचना कर सकते हैं और अपने बहुमत द्वारा कार्यपालिका के किसी भी कार्य को अस्वीकृत अथवा रद्द कर सकते हैं।

दूसरी ओर, अनेक स्थितियों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका को प्रभावित करती है तथा कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका की बैठक बुलाती है। उसे विसर्जित करती है तथा भंग भी कर सकती है। आवश्यकता पड़ने पर कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधिवेशन की अवधि बढ़ा सकती है। व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किये जाने वाले अधिकांश कानूनों की रूपरेखा कार्यपालिका ही तैयार करती है। व्यवस्थापिका द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक (Bill) तव तक कानून नहीं वनता, जब तक कि कार्यपालिका का प्रधान उस पर अपनी स्वीकृति नहीं दे देता। वह व्यवस्थापिका द्वारा पास विधेयक को अस्वीकार कर सकता है। कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका द्वारा वनाये गये कानूनों को राज-पत्र (गजट) में प्रकाशित कर जनता की जानकारी में लाती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका तथा संसदात्मक सरकार की कार्यपालिका पूर्णतया एक-दूसरे पर निर्भर रहकर ही कार्य करती है।

(2) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के सम्बन्ध

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Presidential Executive) तथा व्यवस्थापिका के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्यों में से नहीं चुने जाते और न ही वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे व्यवस्थापिका की सभा में भाग भी नहीं ले सकते। किन्तु कार्यपालिका को यहाँ भी अनेक वातों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका की स्वीकृति लेनी पड़ती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका के प्रधान पर महाभियोग लगा सकती है। व्यवस्थापिका द्वारा वजट पास करने के वाद ही कार्यपालिका कर लगाने या धन व्यय करने का कार्य कर सकती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्वन्धित हैं और ये एक-दूसरे पर अवलम्वित रहते हुए ही अपना कार्य सम्पन्न करती हैं।

कार्यपालिका के बढ़ते हुए महत्व के कारण
या
कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि के कारण

सरकार के तीनों अंगों में व्यवस्थापिका का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता रहा है क्योंकि व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही कार्यपालिका शासन करती है। इसके अतिरिक्त, व्यवस्थापिका का निर्वाचन चूँकि जनता करती है अतः जनप्रतिनिधि संस्था होने के कारण भी व्यवस्थापिका को अधिक महत्व दिया जाता रहा है।

किन्तु इस सबके बावजूद, वर्तमान समय में यह देखा जा रहा है कि व्यवस्थापिका का सम्मान तथा गरिमा घट रही है और कार्यपालिका का महत्व तथा प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

कार्यपालिका अथवा मन्त्रि-परिषद् के बढ़ते महत्व के कारण निम्नलिखित हैं–

(1) लोकसभा में बहुमत वाले दल का समर्थन– कार्यपालिका अथवा मन्त्रि-परिषद् को लोकसभा में बहुमत वाले अपने दल का पूर्ण समर्थन प्राप्त होता है। अतः उसके द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक विधेयक पास हो जाता है। लोकसभा उसे तब तक अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा अपदस्थ भी नहीं कर सकती जब तक कि उसे अपने बहुमत वाले दल का समर्थन प्राप्त होता है।

इस समर्थन के कारण ही कार्यपालिका या मन्त्रि परिषद् लोकसभा पर हावी रहती है।

(2) लोकसभा को भंग करने की शक्ति– कार्यपालिका या मन्त्रि-परिषद् के पास लोकसभा को भंग करने की शक्ति होती है। जब मन्त्रिपरिषद् यह देखती है कि लोकसभा में उसका बहुमत नहीं रहा तो प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति से लोकसभा को भंग करने की सिफारिश कर सकता है। इस स्थिति में पुनः चुनाव होते हैं। पुनः चुनाव के भय से उसके दल के सदस्य मन्त्रि-परिषद् का पूर्ण समर्थन करते रहते हैं। फलतः मन्त्रि-परिषद् प्रभावी बनी रहती है।

(3) दलीय अनुशासन– बहुमत वाले दल के सदस्यों पर कठोर दलीय अनुशासन के कारण भी लोकसभा के सदस्य मन्त्रि-परिषद् के हर कार्य का समर्थन करते हैं जिससे मन्त्रिपरिषद् हावी रहती है।

(4) सदस्यों की अनुभवहीनता– व्यवस्थापिका के अधिकांश सदस्य अनुभवहीन होते हैं। अतः कानून-निर्माण का कार्य मुख्यतः कार्यपालिका ही करती है। सदस्य तो कार्यपालिका की नीतियों व कार्यों का समर्थन मात्र करते हैं। इससे भी कार्यपालिका का प्रभाव बढ़ा है।

(5) जनकल्याण व नियोजन कार्य– वर्तमान समय में सरकार द्वारा जनकल्याण के कार्यों तथा आर्थिक नियोजन के कार्यों को अधिक करने के कारण भी कार्यपालिका का प्रभाव बढ़ा है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के मध्य उचित सम्बन्धों की विवेचना कीजिये। (1994)

(2) टिप्पणी लिखिये– (i) संसदात्मक कार्यकारिणी (1967, 69)

(ii) बहुल कार्यपालिका।

(3) सरकार के भिन्न-भिन्न अंगों के कार्यों का वर्णन कीजिये। (1969)

(4) कार्यपालिका का महत्व समझाइये तथा इसके विविध रूपों का उल्लेख कीजिये। (1974)

(5) कार्यपालिका से आप क्या समझते हैं ? इसके विविध रूपों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (1977, 81)

(6) कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिये। (1983)

(7) कार्यपालिका के मुख्य कार्यों का उल्लेख कीजिये तथा व्यवस्थापिका से इसका सम्बन्ध बताइये। (1984)

(8) आधुनिक राज्यों में पाई जाने वाली कार्यपालिका के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिये। (1992)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– कार्यपालिका के चार प्रमुख कार्य बताइये।

उत्तर– कार्यपालिका के प्रमुख कार्य हैं–

(i) विधायी कार्य– जैसे व्यवस्थापिका की बैठक बुलाना, उसे भंग करना, कानून का रूप निर्धारण करना, व्यवस्थापिका में विधेयक रखना, अध्यादेश जारी करना।

(ii) प्रशासनिक कार्य– जैसे कानून को लागू करना व करवाना, देश में शान्ति बनाये रखना, कर्मचारियों की नियुक्ति।

(iii) राजनयिक कार्य– जैसे विदेशों से सन्धि, राजदूतों की नियुक्ति, विदेशी समझौते आदि।

(iv) धन सम्बन्धी कार्य– वार्षिक बजट व्यवस्थापिका में रखना।

प्रश्न 2– एकल व बहुल कार्यपालिका में क्या अन्तर है ?

उत्तर– जब शासन की सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथों में निहित होती है तो उसे एकल कार्यपालिका कहते हैं और जब वह अनेक व्यक्तियों के बीच वितरित होती है तो बहुल कार्यपालिका कहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में एकल और स्विट्ज़रलैंड में बहुल कार्यपालिका है।

प्रश्न 3– कौन-सी कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और कौन-सी नहीं ? ऐसी कार्यपालिका वाले एक-एक देश का नाम बताइये।

उत्तर– संसदात्मक कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है किन्तु अध्यक्षात्मक कार्यपालिका नहीं। भारत में संसदात्मक और संयुक्त राज्य अमेरिका में अध्यक्षात्मक कार्यपालिका है।

प्रश्न 4– कार्यपालिका के बढ़ते महत्व के चार कारण बताइये।

उत्तर– कार्यपालिका के बढ़ते महत्व के प्रमुख कारण हैं–

(i) व्यवस्थापिका को भंग करने की शक्ति, (ii) व्यवस्थापिका के सदस्यों पर दलीय अनुशासन, (iii) कार्यपालिका को व्यवस्थापिका में बहुमत वाले दल का समर्थन, (iv) कार्यपालिका द्वारा जन-कल्याण व आर्थिक नियोजन के कार्य करने के कारण भी उसके महत्व में वृद्धि हुई है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– कार्यपालिका के निर्माण की दो रीतियाँ बताइये।

उत्तर– कार्यपालिका का निर्माण, (i) जनता द्वारा किये निर्वाचन से तथा (ii) राज्य के प्रधान द्वारा किये मनोनयन से किया जाता है।

प्रश्न 2– भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में निम्न में से किस प्रकार की कार्यपालिका पाई जाती है ?

(i) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका।

(ii) मन्त्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका।

उत्तर– भारत में मन्त्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका और संयुक्त राज्य अमेरिका में अध्यक्षात्मक कार्यपालिका पाई जाती है।

प्रश्न 3– भारत में कार्यपालिका का कार्यकाल कितना होता है ?

उत्तर– भारत में कार्यपालिका का कार्यकाल अधिकतम 5 वर्ष तक अथवा उससे पूर्व व्यवस्थापिका के विश्वास तक रहता है।

प्रश्न 4– कौन-सी कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती ?

उत्तर– अध्यक्षात्मक कार्यपालिका।

प्रश्न 5– कार्यपालिका के दो प्रमुख कार्य बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) विधायी कार्य, (ii) विकास सम्बन्धी कार्य।

प्रश्न 6– कार्यपालिका के बढ़ते महत्व के दो कारण बताइये।

उत्तर– (i) लोकसभा में बहुमत वाले दल का समर्थन, (ii) लोकसभा को भंग करने की शक्ति।

प्रश्न 7– नाममात्र की कार्यपालिका का एक उदाहरण दीजिये। **(1987)**

उत्तर– भारत में राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है और केन्द्रीय परिषद् वास्तविक कार्यपालिका।

प्रश्न 8– केन्द्र में अध्यादेश कौन जारी करता है ? **(1990)**

उत्तर– कार्यपालिका।

□□

21 न्यायपालिका (Judiciary)

"यदि किसी देश में बहुत अच्छी व्यवस्थापिका और कुशल कार्यपालिका है, परन्तु एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका नहीं है तो उसके संविधान का कोई महत्व नहीं होगा।" —डॉ० ए० लाल

"बिना न्यायपालिका के एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।" —गार्नर

इस अध्याय में क्या है ?

न्यायपालिका का अर्थ (Meaning of Judiciary)

न्यायपालिका सरकार का वह अंग है जो आवश्यकतानुसार व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों की व्याख्या करता है तथा कोई व्यक्ति यदि इनका उल्लंघन करता है, तो उसे उचित दण्ड देता है।

वर्तमान समय में व्यक्तियों द्वारा व्यक्तियों पर शासन किया जाता है और इस बात की आशंका रहती है कि शासन अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करने लगे। ऐसी स्थिति में सदैव ही एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता रहती है जो व्यक्तियों के विवादों को हल कर सके और शासक वर्ग को अपनी सीमाओं में रहने के लिये बाध्य कर सके। इस कार्य को जो सत्ता करती है उसे न्यायपालिका कहते हैं।

न्यायपालिका का महत्व (Importance of Judiciary)

व्यक्तियों को न्याय देने के कार्य का सदैव ही महत्त्व रहा है। कितने भी अच्छे कानून बनें और कितनी ही चुस्ती और मुस्तैदी से उनका क्रियान्वयन हो, यदि न्याय-व्यवस्था में पक्षपात, विलम्ब या अनावश्यक व्यय होता है, तो जन-जीवन सुखी नहीं रह सकता। डॉ० गार्नर कहते हैं- "न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।" न्याय विभाग के महत्व को ब्राइस ने इन शब्दों में व्यक्त किया है– "न्याय विभाग की कुशलता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की और कोई कसौटी नहीं है।"

"There is no better test of the excellence of a government than the efficiency of its judicial system." —Bryce

किसी अन्य चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उसकी इस जानकारी से कि वह एक ऐसे न्याय-प्रशासन पर निर्भर कर सकता है जो निश्चित, त्वरित और पक्षपात रहित है। कानून को कुटिलतापूर्वक लागू किये जाने से यह समझना चाहिये कि नमक ने अपना स्वाद खो दिया है। जब न्याय के दीपक को अन्धकार से आवृत्त कर दिया जाता है तो व्यवस्था की आशा उसी समय समाप्त हो जाती है।

प्रजातन्त्र में जब तक न्याय की उचित व्यवस्था नहीं होती, तब तक जनता का शासन एक मिथ्या धारणा बनकर रह जाता है। यद्यपि आजकल नागरिकों को मौलिक अधिकार दिये जाने के बाद यह आशा की जाती है कि इन अधिकारों में शासन किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। फिर भी, न्यायपालिका द्वारा इन अधिकारों की रक्षा की समुचित व्यवस्था होनी नितान्त आवश्यक है। एक संघात्मक शासन में तो न्यायपालिका का महत्व और भी बढ़ जाता है। वह अपने सामान्य न्यायिक कार्य के अतिरिक्त संविधान की व्याख्या और रक्षा करने का कार्य भी करती है। वह संघ और राज्यों को उनके निश्चित अधिकार-क्षेत्र में रखने का प्रयत्न करती है तथा उनके द्वारा किये गये संविधान-विरोधी कार्यों को अवैध घोषित कर सकती है।

न्यायपालिका का संगठन
(Organisation of Judiciary)

सरकार के इस अंग (न्यायपालिका) के अन्तर्गत राज्य में अनेक न्यायालयों की स्थापना की जाती है। देश के सब न्यायालयों के ऊपर एक उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) होता है। यह देश के अन्य सभी न्यायालयों के निर्णयों की अपीलों पर सुनवाई करता है। न्यायालयों का संगठन एक क्रमिक आरोही शृंखला के समान होता है। साधारणतया हम न्यायालयों को निम्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं--

(1) दीवानी न्यायालय– यह न्यायालय पारस्परिक लेन-देन सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा करता है।

(2) फौजदारी न्यायालय– यह न्यायालय चोरी, डकैती, हत्या, लूटमार आदि अपराधों के सम्बन्ध में निर्णय देता है।

(3) माल न्यायालय– इस न्यायालय में कर आदि न देने वाले व्यक्तियों के मुकदमों या वित्त सम्बन्धी विवादों का निपटारा किया जाता है।

इसके अतिरिक्त सैनिक विवादों या अपराधों का निर्णय करने के लिये सैनिक न्यायालय भी होते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति की पद्धतियाँ
(Methods of Appointment of Judges)

विभिन्न देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के निम्नलिखित तीन तरीके अपनाये जाते हैं–

(1) व्यवस्थापिका द्वारा चुनाव– इस पद्धति में न्यायाधीशों की नियुक्ति व्यवस्थापिका करती है। स्विट्जरलैंड में यह प्रणाली अपनाई जाती है। इस प्रणाली का दोष यह है कि इसमें न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ राजनीतिक दलबन्दी के आधार पर की जाती हैं। इस स्थिति में न्यायाधीश निष्पक्ष होकर कार्य नहीं कर सकते।

(2) जनता द्वारा चुनाव– यह पद्धति संयुक्त राज्य अमेरिका के कई राज्यों में प्रचलित है। यह प्रथा भी दोषपूर्ण है। प्रथम तो, योग्य व्यक्ति चुनाव में भाग ही नहीं लेते। अतः अयोग्य व्यक्ति न्यायाधीशों के पदों पर पहुँच जाते हैं। दूसरे, विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा खड़े किये गये उम्मीदवार जब न्यायाधीश बनेंगे तो वे न्याय करते समय दलबन्दी से अप्रभावित नहीं रह सकते हैं।

लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि, **"न्यायाधीशों की नियुक्ति की समस्त पद्धतियों में जनता द्वारा निर्वाचित पद्धति, निर्विवाद रूप में, सबसे बुरी है।"**

"Of all the methods of appointment, the election by the people at large is, without exception the worst."
—Laski

(3) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति– इस प्रणाली में कार्यपालिका ही योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियों की न्यायाधीशों के पदों पर नियुक्ति करती है। नियुक्ति की यह प्रणली सबसे अच्छी प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तर्गत नियुक्त किये गये न्यायाधीश विधिशास्त्र के ज्ञाता होते हैं। भारत में यही प्रणाली अपनाई जाती है।

कौनसी पद्धति उत्तम ?– तीनों पद्धतियों में अन्तिम पद्धति न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये अधिक महत्वपूर्ण है। कार्यपालिका नियुक्तियों को न्यायालय के परामर्श के अनुसार तथा प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर करती है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि न्यायाधीश अपनी योग्यता एवं कुशलता से ही यह पद ग्रहण करने का अधिकारी होगा और वह अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होगा।

जनता द्वारा निर्वाचित पद्धति में निर्वाचन की जो बुराइयाँ हैं वे बनी रहती हैं, अर्थात् सार्वजनिक मत पर चुने गये न्यायाधीश अपने समर्थकों को ही प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं, निष्पक्ष न्याय नहीं करते। **विधान मण्डल द्वारा निर्वाचन की पद्धति** में दलगत समस्यायें आती हैं जो न्याय के लिये ठीक नहीं हैं।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका का अध्यक्ष या राष्ट्रपति करता है। मुख्य न्यायाधीशों की योग्यता संविधान द्वारा निश्चित्त है।

यह उचित ही है कि नियुक्ति के बाद न्यायाधीशों का कार्यपालिका से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। उनके कार्यकाल की निश्चित अवधि तथा वेतन एवं उन्नति की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। साथ ही, देश के विभिन्न न्यायालयों के अधिकारों की सीमा निश्चित होनी चाहिये। सीमा निश्चित होने से अनावश्यक संघर्ष नहीं होता।

न्यायाधीशों की योग्यता

न्यायाधीश के पद पर ऐसे व्यक्ति ही नियुक्त किये जाने चाहियें जो उस पद के लिये हर प्रकार से योग्य हों। एक योग्य न्यायाधीश में निम्नलिखित योग्यता होनी चाहिये–

(1) न्यायाधीश कानूनी ज्ञान में पारंगत, निष्पक्ष और तीव्र बुद्धि वाला होना चाहिये।

(2) वह ईमानदार और निर्लोभी होना चाहिये।

(3) उसे अपने विचारों में स्वतन्त्र होना चाहिये तथा बाहरी विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहिये। उसमें निर्भीकता से निर्णय देने की क्षमता होनी चाहिये।

(4) उसका शरीर और मस्तिष्क स्वस्थ होना चाहिये।

भारत में न्यायपालिका का संगठन

भारत में न्यायपालिका का सबसे बड़ा एवं प्रमुख अंग उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) है। यह भारत की राजधानी नई दिल्ली में स्थित है। इसके अतिरिक्त भारत के प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय (High Court) होता है। यह राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय कहलाता है। राज्य के प्रत्येक जिले में दीवानी, फौजदारी तथा माल– तीनों ही प्रकार के न्यायालय होते हैं। इनके अतिरिक्त मुन्सिफ का न्यायालय, सैशन न्यायालय, प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के न्यायालय होते हैं।

जिले के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्च नयायालयों में और उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता है, किन्तु उसके द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड के लिये क्षमा की अपील राष्ट्रपति से की जा सकती है।

न्यायपालिका के कार्य
(Functions of Judiciary)

न्यायपालिका के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं–

(1) मुकदमों का निर्णय– न्यायपालिका के अधीन बने हुए न्यायालय दीवानी, फौजदारी तथा माल से सम्बन्धित मुकदमों का फैसला देश के कानूनों के अनुसार करते हैं।

(2) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा– यदि सरकार या अन्य कोई व्यक्ति नागरिकों के संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अपहरण करते हैं, तो न्यायालय नागरिकों को संरक्षण एवं न्याय प्रदान करता है।

(3) संविधान विरोधी कानून को रद्द करना– यदि व्यवस्थापिका ऐसे कानून बनाती है जो देश के संविधान के नियमों के विरुद्ध होते हैं तो न्यायालय उन कानूनों को अवैध घोषित कर देते हैं।

(4) कानूनों की व्याख्या करना– व्यवहार में आने पर यदि कोई कानून अपूर्ण होते हैं या उनकी भाषा अस्पष्ट होती है अथवा उनकी भाषा के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो इस सम्बन्ध में न्यायालय अपना स्पष्टीकरण देते हैं। न्यायालय के ये स्पष्टीकरण नजीरें बन जाती हैं जो भविष्य के मुकदमों में काम आती हैं।

(5) संघ व राज्यों के पारस्परिक विवादों का निपटारा करना– संघ तथा राज्यों के बीच अथवा विभिन्न राज्यों के बीच संविधान के किसी नियम के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद होता है अथवा अधिकार या कर्त्तव्य सम्बन्धी अन्य कोई झगड़ा होता है, तो देश का उच्चतम न्यायालय उस सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है।

न्यायपालिका के कार्य

1. मुकदमों का निर्णय
2. नागरिकों के अधिकारों की रक्षा
3. संविधान विरोधी कानूनों को रद्द करना
4. कानूनों की व्याख्या करना
5. संघ व राज्यों के पारस्परिक विवादों को निपटाना
6. व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को कानूनी परामर्श देना
7. अपराधियों को दण्डित करना
8. निषेधाज्ञा जारी करना
9. ट्रस्टी तथा संरक्षक नियुक्त करना
10. कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति करना।

(6) व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को कानूनी परामर्श देना– व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को यदि किसी वैधानिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, तो न्यायालय उसको उचित कानूनी परामर्श देता है।

(7) अपराधियों को दण्डित करना– जो व्यक्ति देश के कानूनों को तोड़ते हैं, हत्या, चोरी, लूटमार आदि करते हैं, देश-द्रोह करते हैं या अन्य कोई लोकहित-विरोधी कार्य करते हैं, तो न्यायालय ऐसे अपराधियों को दण्डित करता है।

(8) निषेधाज्ञा आदि जारी करना– यदि सरकार किसी नागरिक को अनुचित रूप से गिरफ्तार कर लेती है या कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति आदि को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता है, तो न्यायालय उन कार्यवाहियों को बन्दी प्रत्यक्षीकरण या निषेधाज्ञा जारी करके उस समय तक के लिये तुरन्त रोक देने का आदेश देता है, जब तक कि उस सम्बन्ध में अदालत अपना निर्णय न दे दे।

(9) ट्रस्टी तथा संरक्षक नियुक्त करना– न्यायालय नाबालिगों की सम्पत्ति के लिये ट्रस्टी तथा संरक्षक आदि की नियुक्ति करता है।

(10) कर्मचारी वर्ग को नियुक्त करना– न्यायालय अपने अधीन कार्य करने वाले कर्मचारी वर्ग की नियुक्तियाँ भी करता है।

स्वतन्त्र न्यायालय की आवश्यकता तथा महत्त्व
(Necessity and Importance of the Independence of Judiciary)

अर्थ– 'न्यायपालिका की स्वतन्त्रता' से मतलब है कि देश के न्यायालय व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त हों और जनता को स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता के साथ न्याय प्रदान कर सकें। यह जरूरी है कि नियुक्ति के बाद न्यायाधीशों का कार्यपालिका से कोई सम्बन्ध न रहे। कार्यपालिका उन पर कोई दबाव न डाल सके। न्यायाधीशों का वेतन, उनकी सेवा की शर्तें तथा अवधि निश्चित तथा सन्तोषजनक हो। कार्यपालिका उन्हें मनमाने ढंग से पद से न हटा सके।

आवश्यकता व महत्त्व

डॉ० ए० लाल ने लिखा है कि, "यदि किसी देश में बहुत अच्छी व्यवस्थापिका और कुशल कार्यपालिका है, परन्तु एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका नहीं है तो उसके संविधान का कोई महत्त्व नहीं होता।"

यदि देश की न्यायपालिका स्वतन्त्र नहीं होगी तो वह पीड़ितों को सच्चा न्याय नहीं प्रदान कर सकेगी। **स्वतन्त्र न्यायपालिका के समर्थन में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं–**

(1) निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति– व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त होकर ही न्यायालय निष्पक्ष रूप से विवादों एवं मुकदमों का निर्णय कर सकते हैं।

(2) निरंकुशता पर नियन्त्रण– स्वतन्त्र न्यायपालिका ही व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये लोकहित-विरोधी कानूनों पर तथा कार्यपालिका द्वारा कानूनों को गलत रूप से प्रयुक्त किये जाने पर नियन्त्रण लगाकर उनको निरंकुश होने से रोक सकती है।

(3) संविधान की रक्षक– स्वतन्त्र न्यायपालिका दो प्रकार से संविधान की रक्षा करती है। एक तो, यह व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये संविधान-विरोधी कानूनों को रद्द करती है और दूसरे, संविधान के अनेक नियमों का सही स्पष्टीकरण करती है। केवल स्वतन्त्र न्यायपालिका ही यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर सकती है।

(4) नागरिक अधिकारों की रक्षा– सरकार या अन्य कोई समुदाय यदि नागरिकों के अधिकारों को छीनने का प्रयास करते हैं तो स्वतन्त्र न्यायपालिका ही उन्हें ऐसा करने से रोक सकती है।

कैण्ट ने कहा है कि, "अधिकारों की रक्षा के लिये यदि कोई स्वतन्त्र न्याय-विभाग नहीं है तो शासन नष्ट हो जायेगा अथवा अन्य विभाग इतने शक्तिशाली हो जायेंगे कि नागरिक स्वाधीनता खतरे में पड़ जायेगी।"

(5) लोकतन्त्र की रक्षा– लोकतन्त्र के दो प्रमुख आधार हैं– स्वतन्त्रता और समानता। प्रजातन्त्र में कानून सभी नागरिकों को एक समान समझता है और समान रूप से उन्हें अधिकार तथा स्वतन्त्रता प्रदान करता है। व्यवहार रूप में यह स्थिति कायम रखी जा सकती है, जबकि देश में स्वतन्त्र न्यायपालिका विद्यमान हो।

(6) कुशलता व न्याय का उच्च स्तर– व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के नियन्त्रण एवं दबाव से मुक्त रहकर ही न्यायपालिका अपने कार्य-क्षेत्र में कुशलता का ऊँचा स्तर कायम रख सकती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही सच्चा न्याय प्रदान कर सकती है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को दृढ़ करने के उपाय
(Means to Strengthen the Independence of Judiciary)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को वनाये रखने तथा उसे दृढ़ करने के लिये निम्न उपाय अपनाये जाने चाहियें–

(1) नियुक्ति का आधार– न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल उनके चरित्र, गुणें और कानूनी योग्यता के आधार पर की जानी चाहिये। उनके राजनैतिक विचारों का न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किये जाते समय कोई सम्वन्ध नहीं रहना चाहिये।

इसलिये गार्नर ने कहा है कि **"यदि न्यायाधीशों में बुद्धिमत्ता, सत्यशीलता और निर्णय की स्वतन्त्रता का अभाव है, तो जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये न्याय व्यवस्था स्थापित की गई है वे प्राप्त नहीं हो सकते।"**

***"If the judges lack wisdom, probity and freedom of decision, the high purposes, for which the judiciary is established, can not be realised."* —Garner**

(2) संगठन– उच्च स्तर के न्यायाधीशों का चुनाव राज्य के अध्यक्ष द्वारा कानूनी विशेषज्ञों या अन्य न्यायाधीशों की सलाह के आधार पर किया जाना चाहिए। अन्य स्तर के न्यायाधीश खुली प ,तियोगिता द्वारा ली गई परीक्षा के आधार पर भर्ती किये जाने चाहियें।

जनता या व्यवस्थापिका द्वारा उनका निर्वाचन नहीं होना चाहिये। इसीलिंये गार्नर ने कहा है कि, **"निर्वाचन से न्यायाधीशों का चारित्रिक पतन होता है और न्यायाधीश राजनीतिक नेता बन जाता है।"**

स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना के उपाय
1. नियुक्ति का आधार
2. संगठन
3. पदावधि की सुरक्षा
4. ऊँचे वेतन और भत्ते
5. नियम और प्रक्रिया वनाने का अधिकार
6. सार्वजनिक आलोचना पर नियन्त्रण
7. अवकाश के वाद व्यवसाय पर प्रतिवन्ध।

(3) पदावधि की सुरक्षा– न्यायाधीश तभी स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्याय दे सकते हैं, जवकि उन्हें उनके पद पर कार्य करते रहने की सुरक्षा और गारन्टी हो। उन्हें आजीवन या 65 या 70 वर्ष तक अपने पद पर कार्य करने का अधिकार होना चाहिये। इस वीच तव तक, वे अपने पद पर कार्य करने के अधिकारी होने चाहियें जव तक कि मानसिक और शरीरिक अक्षमता तथा सिद्ध कदाचार के कारण उन्हें पद से हटाया नहीं जाता।

(4) ऊँचे वेतन और भत्ते– न्यायाधीशों के वेतन इतने पर्याप्त होने चाहियें कि वे भ्रष्टाचार से दूर रह सकें। उनके कार्यकाल में उनके वेतन और भत्तों में कमी नहीं की जानी चाहिये। न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते और पेन्शन संसद के मतदान से परे रखे जाने चाहियें।

हैमिल्टन ने लिखा है कि, **"मानव का यह स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से निश्चिन्त और सम्पन्न है उसके पास संकल्प-शक्ति का भी बड़ा बल होता है।"**

(5) नियम व प्रक्रिया निश्चित करने का आधार– न्यायपालिका को अपनी कार्यविधि का संचालन करने के लिये नियम वनाने का, कार्य की प्रक्रिया निश्चित करने का तथा अपने कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार होना चाहिये।

(6) सार्वजनिक आलोचना पर नियन्त्रण– न्यायाधीशों के निर्णय और आचरण को विधान-मण्डल, समाचार-पत्र तथा सभाओं आदि में आलोचना का विषय नहीं वनाया जाना चाहिये।

(7) अवकाश के बाद व्यवसाय पर प्रतिबन्ध– यह भी प्रतिवन्ध लगाया जाना चाहिये कि सेवानिवृत्त होने के वाद न्यायाधीश वकालत, नौकरी या कोई व्यवसाय न करें। इसके लिये आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त पेन्शन मिले।

क्या भारतीय न्यायापालिका को स्वतन्त्र बनाया गया है ?
(Is Indian Judiciary Independent ?)

संविधान द्वारा इस वात की यथेष्ट व्यवस्थायें की गई हैं कि सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रहकर निष्पक्ष रूप से कार्य कर सके। उच्चतम न्यायालय को स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये जो प्रवन्ध किये गये हैं उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं–

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति– न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है जोकि दलबन्दी व राजनीति से दूर होता है। यदि न्यायाधीशों की नियुक्ति आम चुनाव द्वारा की जाती, तो न्यागाधीश किसी दल-विशेष से सम्बन्धित रहते और निष्पक्ष रूप से कार्य नहीं कर पाते।

(2) वेतन व भत्ते– न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन व भत्ते दिये जाते हैं। साथ ही उनका वेतन भारत की संचित निधि से दिया जाता है। अतः वित्तीय संकटकाल को छोड़कर संसद उसमें कोई कटौती नहीं कर सकती।

(3) सुरक्षा– मन्त्रि-परिषद् सामान्यतः न्यायाधीशों को हटा नहीं सकती। वे 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर वने रह सकते हैं। संसद द्वारा उनकी पदच्युति की विधि भी अत्यन्त कठोर है जिसे आसानी से व्यवहार में नहीं लाया जा सकता।

(4) अवकाश के वाद प्रतिबन्ध– न्यायाधीशों पर यह प्रतिवन्ध लगाया गया है कि वे सेवानिवृत्त होने के वाद किसी भी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते। ऐसा इसलिये किया जाता है, ताकि न्यायाधीश अपने कार्यकाल में निष्पक्ष रहें और किसी भावी आशा से अपने पद का दुरुपयोग न करें। रिटायर होने के वाद उन्हें जीवनयापन के लिये अच्छी पेंशन मिलती है।

(5) पुनः निरीक्षण का अधिकार– सर्वोच्च न्यायालय अपने निर्णयों का पुनः निरीक्षण कर सकता है। यह उच्चतम न्यायालय की स्वतन्त्रता का वहुत वड़ा प्रमाण है।

(6) आलोचना नहीं– सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों की आलोचना नहीं की जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय अपने अपमान के लिये लोगों को दण्डित कर सकता है। न्यायालय में विचाराधीन मामलों पर अथवा उसके निर्णयों पर संसद में भी वाद-विवाद नहीं किया जा सकता।

भारतीय न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की व्यवस्थायें

1. न्यायाधीशों की नियुक्ति
2. वेतन व भत्ते
3. नौकरी की सुरक्षा
4. अवकाश के बाद प्रतिबन्ध
5. पुनः निरीक्षण का अधिकार
6. आलोचना नहीं
7. अधीनस्थ न्यायालयों पर प्रभाव
8. संविधान की व्याख्या का अधिकार।

(7) अधीनस्थ न्यायालयों पर प्रभाव– उच्चतम न्यायालय ही अपने अधीनस्थ न्यायालयों के लिये नियम बनाता है तथा कार्य-प्रणाली का निर्धारण करता है। वह अपने अधिकारों की नियुक्ति स्वयं करता है। इससे न्यायपालिका कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्ति रहती है।

(8) संविधान की व्याख्या का अधिकार– उच्चतम न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार है। अतः संविधान के विरुद्ध होने पर वह संसद के किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय न्यायपालिका को पूर्ण स्वतन्त्र व निष्पक्ष बनाये रखने के लिये भरसक प्रयास किये गये हैं।

व्यवस्थापिका व न्यायपालिका में सम्बन्ध
(Relation between Legislature and Judiciary)

व्यवस्थापिका व न्यायपालिका भी एक ही सरकार के तीन अंगों मे से दो प्रमुख अंग हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध को हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(1) न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा वनाये गये कानूनों के अनुसार ही निर्णय देती है।

(2) न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा वनाये गये कानूनों के गुणों या अवगुणों पर विचार नहीं करती।

(3) न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा वनाये गये कानूनों की व्याख्या करने में स्वतन्त्र होती है।

(4) न्यायपालिका व्यवस्थापिका के किसी भी कानून को संविधान के विरुद्ध होने पर अवैध घोषित कर सकती है।

(5) न्यायपालिका के निर्णयों पर व्यवस्थापिका वाद-विवाद नहीं कर सकती।

(6) व्यवस्थापिका अक्षमता या दुराचरण का आरोप सिद्ध होने पर किसी भी न्यायाधीश को अलग कर सकती है।

कार्यपालिका व न्यायपालिका में सम्बन्ध
(Relation between Executive and Judiciary)

सैद्धान्तिक रूप से सरकार के इन दोनों अंगों का कार्य पृथक्-पृथक् होता है परन्तु व्यावहारिक रूप में सरकार के इन दोनों अंगों के बीच घनिष्ठ सहयोगात्मक सम्वन्ध बना रहता है जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के अध्यक्ष द्वारा की जाती है।

(2) कार्यपालिका व्यवस्थापिका के कानूनों को लागू करती है और जो लोग उन कानूनों का उल्लघन करते हैं उनके मामले दण्ड के लिये न्यायपालिका को सौंपती है।

(3) न्यायपालिका जव अपराधियों को दण्डित करती है तो इस दण्ड को कार्यान्वित करने की व्यवस्था भी कार्यपालिका ही करती है।

(4) न्यायपालिका कार्यपालिका के सदस्यों को भी अपराध करने पर दण्डित कर सकती है।

(5) कार्यपालिका के सदस्य न्यायपालिका के निर्णयों की आलोचना नहीं कर सकते।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

1. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ? प्रजातन्त्र में इसके क्या महत्व हैं ? **(1967, 72)**

2. सरकार के भिन्न-भिन्न अंगों के कार्यों का वर्णन कीजिये। **(1969)**

3. टिप्पणी लिखिये—

(i) स्वतन्त्र न्यायपालिका का महत्व (1978); (ii) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (1980); (iii) स्वतन्त्र न्यायपालिका (1983, 88, 90); (iv) न्यायपालिका का महत्व (1994)

4. न्यायपालिका के कार्यों की व्याख्या कीजिये। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक मानी जाती है ? **(1976, 82, 88, 90)**

लघु उत्तरीय प्रश्न
(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– न्यायपालिका के प्रमुख कार्य क्या हैं ?

उत्तर– न्यायपालिका के प्रमुख कार्य हैं–

(1) कानूनों की व्याख्या करना, (2) जनता को न्याय देना, (3) संविधान की व्याख्या तथा रक्षा करना, (4) केन्द्र व राज्य के विवादों को निपटाना, (5) संविधान विरोधी कानूनों को रद्द करना, (6) अपराधियों को दण्डित करना, (7) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना।

प्रश्न 2– न्यायाधीशों की नियुक्ति की कितनी पद्धतियाँ हैं ? भारत में कौन-सी पद्धति प्रचलित है ?

उत्तर– न्यायाधीशों की नियुक्ति की पद्धतियाँ हैं– (i) व्यवस्थापिका द्वारा चुनाव, (ii) जनता द्वारा चुनाव, (iii) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति। भारत में कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की पद्धति प्रचलित है। इनमें यही पद्धति सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न 3– न्यायपालिका को व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रखना क्यों आवश्यक है ? दो कारण बताइये।

अथवा

न्यायपालिका का स्वतन्त्र रहना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– न्यायपालिका को व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहना इसलिये आवश्यक है ताकि वह (i) निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सके, (ii) सरकार के संविधान विरोधी कार्यों को रोक सके, (iii) संविधान और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सके, (iv) न्याय का उच्च स्तर कायम रख सके।

प्रश्न 4– भारत की न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाया गया है। चार प्रमाण दीजिये।

उत्तर– भारतीय न्यायपालिका स्वतन्त्रता से कार्य करती है। इसके प्रमाण हैं– (i) न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, (ii) न्यायाधीशों के निर्णय की आलोचना नहीं की जा सकती, (iii) न्यायाधीशों के वेतन व सेवा काल में कटौती नहीं की जा सकती, (iv) न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या का अधिकार प्राप्त है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– न्यायाधीशों को ऊँचे वेतन क्यों दिये जाते हैं ? कोई एक कारण बताइये।

उत्तर– ताकि वे भ्रष्टाचार से दूर रह सकें।

प्रश्न 2– स्वतन्त्र न्यायपालिका से क्या आशय है ?

उत्तर– व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त होकर जनता को स्वतन्त्र व निष्पक्ष रूप से न्याय प्रदान करने वाली न्यायपालिका 'स्वतन्त्र न्यायपालिका' कहलाती है।

प्रश्न 3– न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिये कोई एक साधन या उपाय बताइये।

उत्तर– जनता या व्यवस्थापिका द्वारा उनका चुनाव नहीं होना चाहिये।

प्रश्न 4– न्यायाधीशों का निर्वाचन क्यों नहीं किया जाता ?

उत्तर– इसलिये ताकि वे स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकें।

प्रश्न 5– न्यायपालिका के दो कार्य (क्षेत्राधिकार) बताइये। (1984, 90)

उत्तर– (i) कानूनों की व्याख्या करना, (ii) अपराधियों को दण्डित करना

प्रश्न 6– न्यायपालिका की नियुक्ति की तीन विधियाँ बताइये।

उत्तर– (i) जनता द्वारा निर्वाचन, (ii) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन, (iii) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति।

प्रश्न 7– एक देश का नाम लिखिये जहाँ न्यायपालिका निर्वाचित होती है। (1991)

उत्तर– संयुक्त राज्य अमेरिका।

□□

22

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त
अथवा
अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त
(Theory of Separation of Powers)

"एक ही व्यक्ति के हाथों में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्तियों का एकीकरण निरंकुश शासन की पूरी-पूरी परिभाषा है।"

—जेम्स मेडिसन

"शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के अन्तर्गत शासन की दशा, कभी प्रलाप (बकवास) की और कभी बेहोशी की सी हो जाती है।"

—फाइनर

इस अध्याय में क्या है ?

(1) सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध, (2) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, (3) सिद्धान्त की व्याख्या, (4) सिद्धान्त के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क अथवा गुण-दोष, (5) निष्कर्ष, (6) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (7) लघु उत्तरीय व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध

विगत अध्यायों में हमने पढ़ा कि सरकार के तीन अंग होते हैं : (1) व्यवस्थापिका, (2) कार्यपालिका, तथा (3) न्यायपालिका। व्यवस्थापिका कानून बनाती है, कार्यपालिका उन कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है।

सरकार के इन तीनों अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होना चाहिये ? यह प्रश्न प्राचीनकाल से ही जहाँ महत्वपूर्ण बना रहा है, वहाँ विवादग्रस्त भी रहा है। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने समय-समय पर अपने पृथक्-पृथक् विचार प्रकट किये हैं और उसके विषय में पृथक-पृथक् सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

इन सिद्धान्तों में **मान्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति-पृथक्करण** सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त
(Theory of Separation of Powers)

सिद्धान्त की पृष्ठभूमि
(Background of the Theory)

प्राचीनकाल में जबकि समाज का पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ था, राजा ही राज्य का एकमात्र शासक हुआ करता था। शासन की सारी शक्ति केवल उसी के हाथों में केन्द्रित रहा करती थी। वही कानून बनाता था, वही कानूनों को लागू करता था और वही कानून भंग करने वालों को दण्डित किया करता था। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका, सरकार के तीनों ही अंगों का कार्य राजा स्वयं ही किया करता था। इसका परिणाम यह होता था कि राजा मनमाना आचरण करता था और स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासक का रूप धारण कर लेता था। अतः विद्वानों ने इस व्यवस्था का विरोध किया और शक्ति-पृथक्करण अथवा अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। **प्राचीनकाल में सर्वप्रथम अरस्तू ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया।**

आगे चलकर सिसरो, बोदां तथा लॉक ने इस सिद्धान्त के समर्थन में अपने विचार प्रकट किये। इस सिद्धान्त की अत्यन्त प्रभावशाली तथा वैज्ञानिक व्याख्या 18वीं शताब्दी में माण्टेस्क्यू ने की।

सिद्धान्त की व्याख्या
(Explanation of the Theory)

शक्ति-पृथक्करण या अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि कानून बनाने, उनको लागू करने तथा कानून भंग करने वालों को दण्ड देने के ये तीनों कार्य किसी एक व्यक्ति या संगठन के हाथों में नहीं होने चाहियें। कानूनों के निर्माण के लिये एक व्यवस्थापिका की स्थापना होनी चाहिये। कानूनों को लागू करने तथा जनता से उनका पालन करवाने का कार्य पृथक् रूप से कार्यपालिका द्वारा किया जाना चाहिये। इसी प्रकार कानून भंग करने वाले व्यक्तियों को सजा देने का कार्य एक स्वतन्त्र न्यायपालिका को सम्पन्न करना चाहिये।

कानून बनाने, उनको लागू करने तथा अपराधियों को दण्ड देने के ये तीनों अथवा इनमें से कोई भी दो कार्य यदि किसी एक व्यक्ति या संस्था को सौंप दिये जायेंगे तो उससे नागरिकों की स्वतन्त्रता छिन जायेगी और उनके साथ न्याय न हो सकेगा। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि सरकार के तीनों ही अंगों को एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र रहकर कार्य करना चाहिये। **ऐसी दशा में शासन के किसी भी अंग के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी होने का भय नहीं रहेगा।**

माण्टेस्क्यू ने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा था कि, **"यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय तीनों काम करने लगे अर्थात् कानून बनाये, उन्हें लागू करे और विवादों का निर्णय करने लगे, तो स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जायेगी और राज्य मनमानी करने लगेगा।"**

जेम्स मेडिसन ने कहा है कि **"एक ही व्यक्ति के हाथों में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्ति का एकीकरण निरंकुश अथवा अत्याचारी शासन की पूरी परिभाषा है।"**

"The accumulation of all powers—legislative, executive and judicial in the same hands, may justly be pronounced the very definition of tyranny."

—J. Madison

इस सिद्धान्त का समर्थन इस आधार पर भी किया जाता है कि सरकार के तीनों अंगों के कार्यों को करने के लिये पृथक् -पृथक गुण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और यह असम्भव है कि वे सभी गुण किसी एक व्यक्ति में हों। अतः यह आवश्यक है कि सरकार के तीनों अंगों के कार्य पृथक-पृथक् संस्थाओं को सौंपे जाने चाहियें।

गेटन ने भी कहा है कि, **"सरकार का कार्य कानून बनाना, कानूनों का पालन कराना और अपराधियों को दण्डित करना होता है। ये कार्य भिन्न-भिन्न संस्थाओं को करने चाहियें। प्रत्येक विभाग को अपने ही कार्यक्षेत्र के अन्दर रहना चाहिये और उस कार्यक्षेत्र के अन्दर उसे स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान होना चाहिये।"**.

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के गुण या पक्ष में तर्क
(Merits and Arguments in Favour of the Theory)

राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों ने निम्न गुणों के आधार पर इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

(1) नागरिकों के जीवन, धन व अधिकारों की रक्षा– यदि कानून बनाने, उनको लागू करने तथा न्याय करने के ये तीनों कार्य किसी एक संगठन या व्यक्ति को सौंपे गये, तो वह संगठन

निरंकुश बन जायेगा। परिणामस्वरूप, नागरिकों का जीवन तथा उनका धन आदि सभी असुरक्षित हो जायेंगे और उनके अधिकारों व स्वतन्त्रता का भी अपहरण हो जायेगा। नागरिकों को सच्चा न्याय भी न मिल सकेगा।

सिद्धान्त के गुण

1. नागरिकों के जीवन, धन व अधिकारों की रक्षा
2. कार्यों का बंटवारा
3. कुशलता एवं तत्परता
4. अधिकारों की खींच-तान नहीं।

माण्टेस्क्यू ने कहा है कि, **"जहाँ कहीं भी कानून बनाने, उसको पालन करवाने तथा न्याय कराने की शक्तियाँ परस्पर पृथक् नहीं होतीं, तो वहाँ का जीवन, धन तथा स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकते।"**

(2) कार्यों का बँटवारा– आजकल सरकार के कार्यों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई कि उसके तीनों अंगों के कार्य कोई भी एक संस्था सम्पन्न नहीं कर सकती। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार उन कार्यों का विभिन्न संगठनों के बीच बंटवारा न्यायोचित एवं तर्कपूर्ण है।

(3) कुशलता एवं तत्परता– कार्यों का विभाजन होने से सरकार के तीनों ही अंग स्वतन्त्र रहते हुए अपने-अपने कार्यों को कुशलता एवं तत्परता से सम्पन्न कर सकते हैं। यदि ये तीनों **कार्य एक ही व्यक्ति को सौंपे गये, तो उसे विधि-निर्माता, प्रशासक तथा न्यायाधीश–तीनों के कार्य सम्पन्न करने होंगे और यह कम ही सम्भव है कि इन तीनों के गुण किसी एक व्यक्ति में एकत्र हों।**

(4) अधिकारों की खींच-तान नहीं– सरकार के कार्य तीन संगठनों में पृथक्-पृथक् विभाजित हो जाने के कारण शासन में अधिकारों की खींच-तान नहीं होती और संघर्ष का वातावरण उत्पन्न नहीं होता।

शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के दोष या विपक्ष में तर्क या आलोचना या सीमायें (Arguments against the Theory)

शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त के आलोचकों ने निम्नलिखित दोषों के आधार पर इसकी आलोचना की है–

(1) अधिकारों का पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक– आलोचकों का कहना है कि सरकार के तीनों अंगों के कार्यों तथा अधिकारों का पूर्णरूप से विभाजन करना न तो व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है और न ही उपयोगी। सरकार के तीनों ही अंग एक-दूसरे पर निर्भर रहते हुए अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। वे पूर्ण रूप से पृथक् रहकर कार्य नहीं कर सकते।

इसीलिए गार्नर ने लिखा है कि, **"संकुचित दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त शासन के तीनों अंगों को एक-दूसरे से पृथक् करता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में शासन में एक प्रकार की आंगिक एकता बनी रहती है। अतः तीनों अंगों का पूर्णरूप से विभाजन असम्भव है।"**

(2) परस्पर सहयोग व सम्बन्ध आवश्यक– सरकार के तीनों अंग एक मशीन के विभिन्न पुर्जों की भाँति हैं। जिस प्रकार मशीन के पुर्जे एक-दूसरे से पृथक् होकर मशीन का कार्य नहीं कर सकते, उसी प्रकार सरकार के ये अंग भी परस्पर पृथक् होकर सरकार का कार्य पूरा नहीं कर सकते। उनमें परस्पर सहयोग तथा सम्बन्ध बने रहना आवश्यक होता है।

(3) न्यायपालिका के चुनाव के दोष– तीनों अंगों के पूर्ण पृथक् होने का परिणाम यह होगा कि न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ भी चुनाव द्वारा होंगी। इससे न्यायपालिका दूषित तथा दलबन्दी से प्रभावित हो जायेगी और निष्पक्ष न्याय नहीं कर सकेगी।

(4) शक्ति का विभाजन समान नहीं– यह सिद्धान्त सरकार के तीनों अंगों के बीच शक्ति का समान विभाजन नहीं करता है, जबकि वास्तविकता यह है कि व्यवस्थापिका तीनों अंगों में

सिद्धान्त के दोष

1. अधिकारों का पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक
2. परस्पर सहयोग आवश्यक
3. न्यायपालिका के चुनाव में दोष
4. शक्ति का विभाजन समान नहीं
5. निरंकुशता का भय
6. पारस्परिक मनमुटाव
7. कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की समाप्ति।

सर्वाधिक शक्तिशाली होती है। इसके वनाये हुए कानूनों को ही कार्यपालिका लागू करती है और न्यायपालिका अपना न्यायिक कार्य सम्पन्न करती है।

(5) निरंकुशता का भय– इस सिद्धान्त के अनुसार यदि सरकार के तीनों अंगों को पूर्णतया पृथक् कर दिया गया, तो पारस्परिक सम्वन्धों तथा पारस्परिक नियन्त्रण के अभाव में सम्भव है कि तीनों ही अंग निरंकुश व स्वेच्छाचारी वन जायें।

(6) पारस्परिक मनमुटाव– सरकार के तीनों अंगों के पूर्णतः पृथक् होने से प्रत्येक अंग स्वयं को स्वतन्त्र समझकर कार्य करेगा। इससे परस्पर कार्यों में टकराव उत्पन्न होगा तथा वैमनस्य व मनमुटाव वढ़ेगा। इससे शासन की दशा बड़ी ढुलमुल हो जायेगी।

जैसा कि फाइनर ने कहा है कि, **"शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के अन्तर्गत शासन की दशा कभी प्रलाप (बकवास) की और कभी वेहोशी (निष्क्रियता) की सी हो जायेगी।"**

"The theory of separation of powers throws the government into alternating-conditions of Coma and convulsions."
—Finer

(7) कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की समाप्ति– सरकार के तीनों अंगों के पूर्ण पृथक् होने से कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न रहेगी और न व्यवस्थापिका उस पर नियन्त्रण ही रख सकेगी। इस स्थिति में कार्यपालिका जन-आकांक्षाओं की प्रतिनिधि संस्था व्यवस्थापिका की कोई परवाह नहीं करेगी और मनमाना आचरण करेगी।

निष्कर्ष (Conclusion) या
क्या पूर्णरूपेण शक्ति-पृथक्करण सम्भव या वांछनीय है ?

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार के तीनों अंगों के वीच शक्ति का विभाजन हो। सरकार को आजकल इतने अधिक कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं कि उन सभी कार्यों को एक ही व्यक्ति या संगठन सम्पन्न नहीं कर सकता। अतः शक्ति का विभाजन आवश्यक है। **परन्तु तीनों अंगों के कार्यों व अधिकारों के बीच कोई दीवार खींचना सम्भव नहीं है। अधिकारों के विभाजन के बावजूद उनमें परस्पर सम्बन्ध अवश्य बना रहना चाहिये।** ताकि तीनों ही अंग एक-दूसरे को निरंकुश होने से रोक सकें और परस्पर सहयोग से अपने कार्य करते हुए जनता को कुशल शासन प्रदान कर सकें। **अतः उचित होगा कि इस सिद्धान्त को व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से प्रयोग में लाया जाये।**

उदाहरण– शरीर तथा उसके अंगों के पारस्परिक सम्वन्धों के उदाहरण से हम सही निष्कर्ष पर आसानी से पहुँच सकते हैं। आँख, हाथ तथा पैर शरीर के तीन प्रमुख अंग हैं। यदि ये तीनों अंग एक-दूसरे से कतई सम्पर्क न रखते हुए पूर्णतः पृथक् रहते हुए कार्य करें, तो शायद शरीर का काम नहीं चल सकता। **पृथकता की स्थिति में सिर पर आक्रमण होगा, तो हाथ कह देगा कि यह मेरा कार्य-क्षेत्र नहीं है।** प्रत्येक अंग दूसरे अंग के साथ तालमेल न रखकर मनमानी करने लगेगा। इस स्थिति में वेचारे शरीर की हालत दयनीय हो जायेगी।

होना यह चाहिये कि शरीर के सभी अंग परस्पर सम्वन्ध तथा नियन्त्रण रखते हुए सहयोग से अपना कार्य करें और यही होता भी है। **आँखें आक्रमणकारी को देखती हैं, मस्तिष्क आदेश देता है, तो हाथ आक्रमण का प्रतिरोध करते हैं और पैर भागने को तैयार हो जाते हैं।**

ऐसा ही तालमेल सरकार के अंगों के बीच रहना आवश्यक है। वास्तव में प्रत्येक अंग का कार्य निश्चित हो और सभी अंग एक-दूसरे पर नियन्त्रण तथा सन्तुलन बनाये रखते हुए सहयोग से अपना-अपना कार्य करें एक-दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप न करें।

अतः सरकार के अंगों का पूर्ण पृथक्करण जहाँ व्यावहारिक नहीं है, वहाँ यह भी उचित नहीं है कि सरकार के सभी अंगों का कार्य एक ही व्यक्ति या समुदाय करे।

जैसा कि लास्की ने कहा है कि, "सरकार के कार्यों को पृथक् करना आवश्यक है परन्तु इसका अर्थ सरकार के अंगों के संचालकों को पृथक् करना नहीं है। सरकार के कार्यों को इस प्रकार पृथक् करना शासन में सुविधा के लिये आवश्यक है।"

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) शक्ति-पृथक्करण से आप क्या समझते हैं ? इसके पक्ष और विपक्ष में अपना मत प्रकट कीजिए। (1970)

(2) "एक ही व्यक्ति के हाथों में व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्यायिक शक्तियों का संयुक्तिकरण निरंकुश शासन की पूरी-पूरी परिभाषा है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (1972)

(3) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त क्या है ? शक्ति-पृथक्करण की क्या आवश्यकता है और किस सीमा तक यह वांछनीय है ? संक्षेप में लिखिये। (1975)

(4) शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये। इसके पक्ष तथा विपक्ष में क्या तर्क दिये जाते हैं ? (1978)

(5) टिप्पणी लिखिये– शक्ति-पृथक्करण। (1969, 81, 83, 90)

(6) शक्ति-पृथक्करण का क्या अर्थ है ? क्या पूर्णरूपेण शक्ति-पृथक्करण सम्भव और वांछनीय है ? (1986)

(7) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा इस सिद्धान्त की सीमाओं की विवेचना कीजिए। (1989)

(8) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (1993)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त क्या है ? उसका महत्व बताइये।

उत्तर– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ यह है कि कानून बनाने, उनको लागू करने तथा कानून भंग करने वालों को दण्ड देने के ये तीनों कार्य किसी एक व्यक्ति या संगठन के हाथों में नहीं होने चाहियें। अन्यथा नागरिकों की स्वतन्त्रता छिन जायेगी और उन्हें न्याय प्राप्त नहीं होगा और शासन स्वेच्छाचारी हो जायेगा।

प्रश्न 2– क्या शक्ति का पूर्ण पृथक्करण संभव या वांछनीय है ?

उत्तर– शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त आवश्यक होते हुए भी सरकार के तीनों अंगों के कार्यों व अधिकारों के बीच कोई दीवार खींचना सम्भव नहीं है। अधिकारों के विभाजन के बावजूद उनमें परस्पर सम्बन्ध व तालमेल बना रहना चाहिये ताकि तीनों अंग एक-दूसरे को निरंकुश होने से रोक सकें।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये, प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर– शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ है कि कानून बनाने, उसको लागू करने तथा कानून भंग करने वालों को दण्ड देने के ये तीनों कार्य किसी एक व्यक्ति या संगठन के हाथों में नहीं होने चाहियें।

प्रश्न 2– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका के कार्य एक ही व्यक्ति या संस्था को सौंपने से क्या हानि है ?

उत्तर– ऐसा करने से शासन निरंकुश हो जायेगा।

प्रश्न 3– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के पक्ष में दो तर्क दीजिये।

उत्तर– (i) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा, (ii) शासन के कार्यों का बंटवारा न्यायोचित।

प्रश्न 4– शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के दो दोष या विपक्ष में तर्क दीजिये।

उत्तर– (i) अधिकारों का पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक, (ii) पारस्परिक मनमुटाव।

प्रश्न 5– क्या शक्ति का पूर्ण विभाजन या पृथक्करण सम्भव है ?

उत्तर– नहीं, अधिकारों के विभाजन के साथ ही, सरकार के तीनों अंगों में परस्पर सम्बन्ध व तालमेल अवश्य बना रहना चाहिये।

प्रश्न 6– शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन थे ? (1987, 90)

उत्तर– अरस्तू व माण्टेस्क्यू।

प्रश्न 7– एक ऐसे देश का नाम बताइये जहाँ शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त मुख्यतः कार्यशील है।

उत्तर– संयुक्त राज्य अमेरिका।

□□

23

जनमत या लोकमत
(Public Opinion)

"जनमत की उपेक्षा करने वाली सरकार, चाहे कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, क्षणभर में धराशायी हो जाती है।"
—जैन एण्ड सेठी

इस अध्याय में क्या है ?

(1) जनमत का शाब्दिक तथा व्यापक अर्थ, (2) जनमत की कुछ परिभाषायें, (3) जनमत के तत्व, (4) जनमत का महत्व, (5) जनमत के निर्माण या प्रकटीकरण के मुख्य साधन, (6) आदर्श जनमत, (7) आदर्श व स्वस्थ जनमत के निर्माण की शर्तें, (8) आदर्श जनमत के निर्माण की प्रमुख बाधायें, (9) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (10) लघु व अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

जनमत या लोकमत का अर्थ (Meaning of Public Opinion)

शाब्दिक अर्थ– जनमत दो शब्दों से मिलकर बना है– जन + मत। 'जन' का अर्थ है जनता और 'मत' का अर्थ है विचार या राय। इस प्रकार 'जनमत' का शाब्दिक अर्थ हुआ– जनता के विचार या जनता की राय।

नागरिकशास्त्र में अर्थ– नागरिकशास्त्र में 'जनमत' शब्द का अर्थ जरा व्यापक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया जाता है। वास्तव में जनमत का तात्पर्य यह नहीं है कि देश की सम्पूर्ण जनता किसी विषय पर एकमत हो; क्योंकि यह असम्भव है कि किसी भी विषय पर सम्पूर्ण जनता एकमत हो जाये।

देश की बहुसंख्यक जनता के मत को भी जनमत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुसंख्यक जनता झूठे प्रचार से गुमराह हो सकती है अथवा धर्म, जाति या स्वार्थ से प्रभावित हो सकती है अथवा बहुसंख्यक जनता ऐसा मत भी प्रकट कर सकती है जो अल्पसंख्यकों के हितों के प्रतिकूल हो। ऐसे मतों को बहुमत तो कहा जा सकता है, जनमत नहीं।

किन्तु बहुमत उस समय जनमत का रूप धारण कर लेता है, जब अल्पसंख्यक वर्ग उससे सहमत न होते हुए भी उसे सच्चे मान एवं विश्वास से इस कारण स्वीकार कर ले, क्योंकि उस बहुमत में सम्पूर्ण समाज का सामान्य हित छिपा हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि जनमत बहुसंख्यक जनता के उस विवेकपूर्ण मत को कहते हैं जो सार्वजनिक हित या सम्पूर्ण जनता के हित में प्रकट किया गया हो।

जनमत की कुछ परिभाषायें
(Some Definitions of Public Opinion)

जनमत की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं–

(1) ब्राइस के शब्दों में, "जनमत जनता के उस विवेकपूर्ण मत को कहते हैं जिसका उद्देश्य किसी वर्ग-विशेष का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज का कल्याण या हित करना हो।"

(2) डॉ० बेनी प्रसाद के अनुसार, "वही मत वास्तव में जनमत है जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित होता है।"

(3) लॉवेल के शब्दों में, "जनमत के लिये बहुमत होना ही काफी नहीं है, और न इसके

लिये सर्वसम्मति की ही आवश्यकता है। किन्तु मत ऐसा होना चाहिये कि चाहे अल्पसंख्यकों ने इसमें भाग न लिया हो पर वे उसे भय से नहीं, अपितु विश्वास से मानने को तैयार हों।"

"A majority is not enough and unanimity is not required but the opinion must be such that while the majority may not share it, they feel bound by conviction and by fear to accept it."

—Lowell

(4) चटर्जी के अनुसार, **"जनमत किसी महत्वपूर्ण विषय पर प्रकट किया गया जनता का ऐसा मत है जो तर्क पर आधारित हो और जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण जन-समुदाय का हित करना हो।"**

(5) पुन्ताम्बेकर के शब्दों में, **"लोकमत वह शक्ति है जो राज्य के संगठन के लिये मार्गदर्शक एवं निर्देशक का काम करती है। सरकार लोकमत के प्रति ही उत्तरदायी होती है।"**

जनमत के तत्व या विशेषतायें
(Elements of Public Opinion)

ऊपर की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जनमत के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं–

(1) बहुसंख्यक जनता का मत– किसी वर्ग-विशेष या कुछ लोगों के मत, को जनमत नहीं कहा जा सकता, जब कि जनता का काफी बड़ा भाग उस मत से सहमत न हो। विलोवी ने कहा भी है कि, **"किसी भी मत को तब तक जनमत नहीं कहा जा सकता जब तक कि समाज का बड़ा भाग प्रमुख रूप से उससे सहमत न हो।"**

(2) सम्पूर्ण समाज का हित– किसी विशेष वर्ग के हित का विचार जनमत नहीं कहा जा सकता। बहुसंख्यक जनता के उसी विचार को जनमत कहा जायेगा जो सम्पूर्ण जनता के हित से प्रेरित हो।

इसीलिये डॉ० बेनी प्रसाद ने कहा है कि, **"वही मत वास्तविक जनमत होता है जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो।"**

जनमत के तत्व
1. बहुसंख्यक जनता का मत
2. सम्पूर्ण समाज का मत
3. अल्पसंख्यकों के हितों का रक्षण
4. विवेक और नैतिकता पर आधारित।

(3) अल्पसंख्यकों के हितों का रक्षण– यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि अल्पसंख्यक वर्ग सदा ही बहुसंख्यक जनता द्वारा लोकहित में प्रकट किये गये विचार से सहमत हो, किन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि जनमत लोकहित के साथ ही अल्पसंख्यकों के हितों के विरुद्ध न हो।

(4) विवेक और नैतिकता पर आधारित– सच्चा जनमत उसे ही कहा जा सकता है जो आवेश या क्षणिक भावनाओं पर आधारित न होकर विवेक व नैतिकता की भावना पर आधारित हो।

लोकतन्त्र में जनमत का महत्व या भूमिका
(Importance of Public Opinion)

वर्तमान युग में जनमत का भारी महत्व है। आजकल राज्य तथा अन्य समुदायों के कार्यों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि यदि उन्हें जनमत का भय न हो, तो ये संस्थायें मनमाना आचरण करने लगें और निरंकुश हो जायें। **जनमत के भय के कारण ही राज्य तथा अन्य विभिन्न समुदाय अपने निर्धारित मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते।** जनमत उनको अनुशासन में रखता है। जनमत के भय के कारण ही राज्य सरकार जनता की इच्छा के अनुसार शासन-कार्य चलाती है। **वर्तमान समय में अग्रलिखित कारणों से जनमत की आवश्यकता एवं महत्ता में निरन्तर वृद्धि हो रही है–**

(1) सामाजिक संस्थाओं पर नियन्त्रण– जनमत अनेक सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं के कार्यों को नियन्त्रित एवं अनुशासित रखता है। जनमत के भय से ये संस्थायें सार्वजनिक हित के विरुद्ध कार्य करने से घबराती हैं।

(2) सरकार पर नियन्त्रण– जनमत के द्वारा ही सरकार के कार्यों की अच्छाइयाँ या बुराइयाँ प्रकट होती हैं। सरकार अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार जनमत सरकार के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है।

इसलिये ह्यूम ने कहा है कि, **"सभी सरकारें, चाहे वे कितनी भी बुरी क्यों न हों, अपनी सत्ता के लिये जनमत पर निर्भर होती हैं।"**

"All governments, however bad, depend for their authority upon public opinion."

—Hume

(3) नागरिक अधिकारों का संरक्षण– जनमत के अभाव में सरकार प्रायः नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा उनके अधिकारों की चिन्ता नहीं करती। इस प्रकार जनमत नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा उनके अधिकारों के अपहरण को रोककर संरक्षण प्रदान करता है।

(4) परतन्त्रता में भी जनमत का महत्व– विदेशी शासन परतन्त्र देश की जनता के हितों की चिन्ता न करके सामान्यतः अपने ही हितों की परवाह करते हैं। किन्तु जनता की संगठित इच्छा तथा संगठित जनमत उनको भी लोकहित विरोधी कार्य करने से रोकता है। ऐसी स्थिति में संगठित तीव्र जनमत ही देश-भक्ति का रूप धारण करके विदेशी शासन को उखाड़ कर भी फेंक देता है।

लोकतन्त्र में जनमत का महत्व

1. सामाजिक संस्थाओं पर नियन्त्रण
2. सरकार पर नियन्त्रण
3. नागरिक अधिकारों का संरक्षण
4. परतन्त्रता में भी महत्व
5. तानाशाही में जनमत
6. प्रजातन्त्र में जनमत का विशेष महत्व।

(5) तानाशाही में जनमत– वैसे आमतौर पर तानाशही शासन में जनता की इच्छा को काई महत्व प्रदान नहीं किया जाता। जनता को विचार, भाषण व लेखन आदि की स्वतन्त्रता नहीं होती। तानाशाह की इच्छा ही वहाँ सर्वोपरि होती है और उसी के अनुसार वह मनमानी रीति से देश का शासन करता है।

किन्तु तानाशाह की स्वेच्छाचारिता एवं अत्याचारों में अधिक वृद्धि हो जाने पर एक दिन ऐसा आता है, जबकि हृदयों के अन्दर पनप रहा जनमत एकदम ज्वालामुखी की भाँति फूट पड़ता है और तानाशाही शासन को उखाड़कर उसके स्थान पर जनतन्त्र की स्थापना कर देता है। इस प्रकार, तानाशाही शासन में भी जनमत को कुछ समय तक बदाकर भले ही रखा जा सकता हो, किन्तु अन्त में विजय जनमत की ही होती है। फिलीपाइन देश की जनता द्वारा 1986 में दीर्घकालीन तानाशाही शासन को उखाड़ फेंकना इसका प्रमुख उदाहरण है।

(6) प्रजातन्त्र में जनमत का महत्व (Importance of Public Opinion in Democracy)– प्रजातन्त्र शासन की स्थापना तो जनता द्वारा ही की जाती है। जनता अपनी इच्छानुसार अपने प्रतिनिधियों को चुनती है जो सरकार का निर्माण करते हैं। अतः प्रजातन्त्र शासन जनता की इच्छा के अनुसार ही चलता है और उसमें जनमत को भारी महत्व प्रदान किया जाता है जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है–

(i) दलों पर नियन्त्रण– प्रजातन्त्र शासन में जनमत का प्रकटीकरण अनेक दृष्टियों से लाभप्रद होता है। प्रजातन्त्र शासन में अनेक राजनीतिक दल होते हैं। दलवन्दी के कारण कभी-कभी शासन में पक्षपात, स्वार्थ आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जनमत इस गन्दगी को दूर करता है।

(ii) सरकार का मार्गदर्शन– प्रजातन्त्र शासन में जनमत के प्रकटीकरण से इस बात का पता रहता है कि जनता की इच्छा क्या है ? वह उसके किन कार्यों को पसन्द करती है और किन-किन को नहीं। इस प्रकार विभिन्न कार्यों के सम्बन्ध में जनमत सरकार का मार्ग-दर्शन करता है।

(iii) हर स्थिति में आवश्यक– प्रजातन्त्र शासन में यदि सरकार जनता की इच्छानुसार चलती है, तो उसे स्थायी बनाये रखने के लिये और यदि सरकार जनता की इच्छा के विरुद्ध चलती है, तो उसे बदलने के लिये भी जनमत की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार, **जनमत प्रजातन्त्र शासन की लगाम है। यदि प्रजातन्त्र शासन एक कार है तो, जनमत उसका हैंडिल है।** प्रजातन्त्र शासन में सरकार सदा ही जनमत का आदर करती है और जनमत की इच्छाओं के अनुसार ही शासन-तन्त्र में परिवर्तन कर लेती है। इस प्रकार जनमत का महत्व असंदिग्ध एवं निर्विवाद है।

इसीलिये डॉ० आशीर्वादम ने कहा है कि, **"जागरूक और विवेकपूर्ण जनमत प्रजातन्त्र शासन की प्रथम आवश्यकता है।"**

"An elert and intelligent public opinion is the first essentiality of democracy."

—Dr. Ashirvadam

जनमत के निर्माण या प्रकटीकरण के मुख्य साधन

(Means of Formation and Expression of Public Opinion)

जनमत के निर्माण के लिये अनेक साधन काम में लाये जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं–

(1) प्रेस या समाचार-पत्र– जनमत का निर्माण करने में समाचार-पत्र महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। समाचार-पत्रों के द्वारा ही जनता को विभिन्न घटनाओं एवं समस्याओं की जानकारी मिलती है। **समाचार-पत्रों के सम्पादकीय लेखों का जनमत के निर्माण पर काफी प्रभाव पड़ता है। समाचार-पत्र सरकार के कार्यों की निर्भीक आलोचना करके जनमत का नेतृत्व करते हैं।** परन्तु यहाँ यह आवश्यक है कि समाचार-पत्र जनता का सही मार्ग-दर्शन करें और जनमत का सही रूप में ही प्रकटीकरण करें। परन्तु समाचार-पत्र तथा प्रेस इस दिशा में तभी महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं जबकि उन्हें सरकार की ओर से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

यह भी देखा जाना आवश्यक है कि समाचार-पत्र पूँजीपतियों के नियन्त्रण में न चले जायें, क्योंकि उस स्थिति में वे समाचार-पत्रों का उपयोग अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये करते हैं। इससे जनमत गुमराह हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि समाचार-पत्र सत्य, न्याय और निर्भीकता के साथ जनमत का निर्माण करें।

(2) भाषण– भाषण जनमत के निर्माण का प्रमुख साधन है। राजनीतिक नेता तथा शासक सार्वजनिक सभाओं में भाषण देकर जनता को अपने विचारों तथा कार्यक्रमों से अवगत कराते हैं और अपने पक्ष में जनमत का निर्माण करते हैं।

(3) राजनीतिक दल– प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का बड़ा महत्व होता है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने संगठन एवं कार्यों से जनमत को प्रभावित करते हैं। भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के लोग अपनी इच्छानुसार राजनीतिक दलों में सम्मिलित होकर संगठित रूप से अपने मत को प्रकट करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल भी जनमत को जागृत करने तथा उसका निर्माण करने में बड़े सहायक होते हैं।

जनमत के निर्माण में राजनीतिक दलों की महत्ता बताते हुये लावेल ने लिखा है कि, **"राजनीतिक दल विचारों की दलाली का काम करते हैं। उनकी अनेक समस्याओं में से, जिनके समाधान की आवश्यकता है, वे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण मामलों को चुन लेते हैं और उन्हें जनसाधारण के सामने रखते हैं। इस प्रकार वे जनमत के निर्माण में महत्वपूर्ण योग देते हैं।**

ब्राइस ने कहा है कि, "लोकमत को प्रशिक्षित करने तथा उसके निर्माण व प्रकटीकरण में राजनीतिक दलों द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया जाता है।"

जनमत के निर्माण या प्रकटीकरण के मुख्य साधन

1. प्रेस तथा समाचार-पत्र
2. भाषण
3. राजनीतिक दल
4. व्यवस्थापिका सभा
5. चुनाव
6. शिक्षा-संस्थायें
7. धार्मिक संस्थायें
8. रेडियो, सिनेमा व दूरदर्शन
9. साहित्य।

(4) व्यवस्थापिका सभा– व्यवस्थापिका सभा में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं जो सभा की बैठकों में सरकार के कार्यों की आलोचना करके जनता की इच्छा को प्रकट करते हैं। फिर सभा की कार्यवाही का विवरण पढ़कर जनता उनके सम्बन्ध में अपने मत का निर्धारण करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका भी जनमत के निर्माण का एक साधन है।

(5) चुनाव– चुनाव में विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और अपनी नीतियों व कार्यक्रमों की घोषणा करते हैं। जनता अपना वोट देकर अपनी इच्छानुसार उनको स्वीकार या अस्वीकार करती है। इस प्रकार चुनाव भी जनमत के प्रत्यक्षीकरण एवं निर्माण का महत्वपूर्ण साधन है। यदि सत्तारूढ़ राजनीतिक दल जनता की इच्छा के विपरीत आचरण करता है तो अगले चुनावों में जनमत उसको ठुकरा देता है।

(6) शिक्षा संस्थायें– शिक्षा संस्थायें ही देश के सभी नागरिकों का निर्माण करती हैं। वचपन में बालकों पर जैसे संस्कार पड़ जाते हैं, फिर उन्हीं के अनुसार उनका भावी जीवन नियमित होता है और उन्हीं के अनुसार उनकी भावी विचारधारा का निर्माण होता है। इस प्रकार शिक्षा संस्थायें भावी जनमत के निर्माण के कारखाने हैं। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि शिक्षा संस्थायें किसी जाति, सम्प्रदाय या धर्म आदि से प्रभावित न हों और वे बच्चों में देश-भक्ति एवं राष्ट्रीयता के संस्कार उत्पन्न करें।

(7) धार्मिक संस्थायें– धर्म ने प्राचीन काल से ही मानव-जीवन पर बहुत प्रभाव डाला है। पिछड़े तथा अविकसित देशों में आज भी धर्म तथा धार्मिक संस्थाओं का जनता पर प्रभुत्व है। इस स्थिति में जनता में विचारों एवं दृष्टिकोणों को बदलने में ये संस्थायें महत्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। किन्तु यह आवश्यक है कि ये संस्थायें उदारता एवं सहिष्णुता से काम लें। केवल ऐसा करके ही वे सही जनमत का निर्माण कर सकती हैं।

(8) दूरदर्शन, रेडियो व सिनेमा– वर्तमान युग में दूरदर्शन, रेडियो तथा सिनेमा भी जनमत के निर्माण में सहायक होते हैं। समाचार, नेताओं के भाषण तथा रूपक आदि प्रसारित करके रेडियो व दूरदर्शन जनमत का मार्ग-दर्शन करते हैं। इसी प्रकार अशिक्षित जनता में सिनेमा भी जनमत को प्रभावित करता है। किन्तु सिनेमाओं का उपयोग आदि अश्लील खेलों के प्रदर्शन में किया गया, तो उससे जनमत गुमराह होगा और राष्ट्र की भारी नैतिक क्षति होगी।

(9) साहित्य– छोटी पुस्तकों, पत्रिकाओं एवं इश्तहारों द्वारा भी जनमत के निर्माण में सहायता मिलती है।

स्वस्थ या आदर्श जनमत
(Healthy or Ideal Public Opinion)

ऊपर जनमत के निर्माण के जिन साधनों का उल्लेख किया गया है, यदि उन्हें सभी नागरिक तथा नेता अच्छे उद्देश्य से, सच्ची भावनाओं से एवं सही रूप में प्रयोग करें, तो ये सभी साधन

देश में आदर्श जनमत का निर्माण कर सकते हैं। ऐसा जनमत, जो नागरिक जीवन को सुखी बनायेगा और सरकार का सही दिशा में मार्ग-दर्शन करेगा। किन्तु इसके विपरीत, यदि जनमत निर्माण के उपयुक्त साधनों का दुरुपयोग किया गया, तो ये ही साधन जनमत को भ्रष्ट एवं गुमराह भी कर सकते हैं।

आदर्श एवं स्वस्थ जनमत के निर्माण की शर्तें या दशायें

(Necessary Conditions for the Formation of Healthy Public Opinion)

आदर्श व सही तथा प्रबुद्ध जनमत के निर्माण के लिये निम्नलिखित बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(1) शिक्षा का प्रचार– सही व उचित जनमत के निर्माण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता शिक्षित हो ताकि वह राजनीतिक व शासन की समस्याओं को अच्छी प्रकार समझ सके। अशिक्षित होने की स्थिति में जनता स्वार्थी नेताओं के द्वारा गुमराह कर ली जाती है और वह देश की समस्याओं के बारे में अपने स्वतन्त्र व सही विचार प्रकट नहीं कर सकती।

(2) राजनीतिक दलों का सही गठन– सही जनमत के लिये यह जरूरी है कि देशों में राजनीतिक दलों का निर्माण साम्प्रदायिकता व धर्म के आधार पर न होकर राजनीतिक व आर्थिक आधार पर किया जाये। ऐसा होने पर ही राजनीतिक दल जनता का सही मार्ग-दर्शन करके सही जनमत का निर्माण कर सकते हैं।

(3) आर्थिक समानता– सही जनमत के निर्माण के लिये देश में आर्थिक समानता का होना जरूरी होता है, अन्यथा लोग तथा स्वार्थी राजनीतिक दल पैसे के बल पर जनमत को भ्रष्ट तथा गुमराह कर लेते हैं। **निर्धन जनता पेट की परवाह करती है, जनमत की नहीं।**

(4) निष्पक्ष समाचार-पत्र– समाचार-पत्र सही जनमत के निर्माण के महत्वपूर्ण साधन हैं। अतः यह आवश्यक है कि समाचार-पत्र निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रता के साथ समाचारों का प्रकाशन करें और पूँजीपतियों या सरकार के दबाव में न आयें। विल्की ने कहा है कि, **"समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता जनमत का प्राण है।"**

आदर्श तथा सही जनमत के निर्माण की शर्तें

1. शिक्षा का प्रसार
2. राजनीतिक दलों का सही गठन
3. आर्थिक समानता
4. निष्पक्ष समाचार-पत्र
5. विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता
6. राष्ट्रीय आदर्शों में एकरूपता
7. सामाजिक सद्भाव
8. भाषा व संस्कृति की एकता।

(5) विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता– सही जनमत का निर्माण तभी हो सकता है, जबकि देश में नागरिकों को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता हो। यदि सरकार विचार-स्वातन्त्र्य पर रोक लगाती है, तो स्वस्थ जनमत का निर्माण नहीं हो सकता। उस स्थिति में स्वस्थ जनमत का दम घुट जायेगा और अफवाहें जनमत को गुमराह कर देंगी।

(6) राष्ट्रीय आदर्शों में एकरूपता– सही जनमत का निर्माण तभी हो सकता है, जबकि राजनीतिक दलों अथवा नागरिकों में राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में मत-वैभिन्यता न हो तथा जनता सभी समस्याओं पर राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से विचार करे।

(7) सामाजिक सद्भाव– स्वस्थ जनमत के निर्माण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज में शान्ति और सद्भाव का वातावरण हो तथा साम्प्रदायिकता, जातिवाद, छुआछूत जैसी बुराइयाँ समाज के वातावरण को दूषित न करें।

(8) भाषा व संस्कृति की एकता– स्वस्थ जनमत के निर्माण के लिये एक राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रीय संस्कृति का होना आवश्यक है, अन्यथा इन्हीं के कारण लोगों में मत-वैभिन्यता तथा पारस्परिक वैमनस्य बना रहेगा और उससे स्वस्थ जनमत का निर्माण होने में बाधा उत्पन्न होगी।

आदर्श अथवा प्रबुद्ध जनमत के निर्माण में बाधायें

(Obstructions in the Formation of Healthy Public Opinion)

आदर्श अथवा प्रबुद्ध जनमत के निर्माण की प्रमुख बाधायें ये हैं–

(1) अशिक्षा– अशिक्षा प्रबुद्ध जनमत के निर्माण की सबसे प्रमुख बाधा है। अशिक्षित जनता सरलता से गुमराह हो जाती है और अपने मत को सही रूप में प्रकट नहीं कर पाती।

(2) गरीबी– घोर गरीबी भी प्रबुद्ध जनमत के निर्माण की एक बड़ी बाधा है। गरीबी के कारण लोग अपने मत को बेचते भी देखे जाते हैं।

(3) साम्प्रदायिकता व जातीयता– साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद की भावनाओं के कारण भी लोग संकुचित दृष्टिकोण अपनाने लगते हैं और सम्पूर्ण जनता के हित में मत प्रकट नहीं करते। इस स्थिति में प्रबुद्ध जनमत के स्थान पर संकुचित जनमत का निर्माण होता है।

(4) प्रान्तीयता– प्रान्तीयता की भावना भी प्रबुद्ध जनमत का निर्माण नहीं होने देती।

(5) राजनीतिक दलों की अधिकता एवं स्वार्थपरता– अधिक संख्या में स्थापित छोटे-छोटे राजनीतिक दल भी जनता को नाना प्रकार से गुमराह करते रहते हैं और आदर्श तथा प्रबुद्ध जनमत का निर्माण नहीं होने देते।

(6) उदासीनता– यदि सार्वजनिक जीवन के प्रति लोगों में उदासीनता की भावना हो तथा वे देश की समस्याओं को समझने व उनके समाधान में कोई रुचि न लें, तब भी स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधा आती है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) लोकमत से आप क्या समझते हैं ? लोकमत प्रकट करने के क्या-क्या साधन हैं ? **(1969)**

(2) आधुनिक राज्यों में लोकमत का क्या महत्व है ? जागरूक लोकमत की उत्पत्ति में राजनीतिक दलों का क्या योगदान है ? **(1970, 81)**

(3) जनमत से आप क्या समझते हैं ? इसके निर्माण के प्रमुख साधनों का वर्णन कीजिये। **(1972)**

(4) टिप्पणी लिखिये–

(i) जनमत का महत्व **(1974, 76, 82)**

(ii) लोकमत या जनमत **(1994, 91, 90)**

(5) लोकमत क्या है ? लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) किस प्रकार होती है ?

(6) जनमत से आप क्या समझते हैं ? आधुनिक लोकतन्त्र में इसकी भूमिका की विवेचना कीजिए। **(1990)**

(7) जनमत से आप क्या समझते हैं ? स्वस्थ जनमत के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियों का विवेचन कीजिए। **(1991)**

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– नागरिकशास्त्र में जनमत का क्या अर्थ है ?

उत्तर– जनमत बहुसंख्यक जनता के उस विवेकपूर्ण मत को कहते हैं जो सार्वजनिक हित या सम्पूर्ण जनता के हित में प्रकट किया गया हो।

प्रश्न 2– जनमत के प्रमुख तत्व या अंग क्या हैं ?

उत्तर– जनमत के प्रमुख तत्व तीन हैं– (i) बहुसंख्यक मत, (ii) सम्पूर्ण समाज का हित, (iii) न्याय अथवा अल्पसंख्यकों के हित की भी रक्षा।

प्रश्न 3– प्रजातन्त्र में जनमत का क्या महत्व है ?

उत्तर– जागरूक जनमत स्वस्थ लोकतन्त्र की प्रथम आवश्यकता है जनमत शासन के दोषों को दूर करता है, सरकार का मार्गदर्शन करता है और उसे पथभ्रष्ट होने से रोकता है। प्रजातन्त्र शासन कार है तो जनमत हैण्डिल।

प्रश्न 4– जनमत के निर्माण के सबसे मुख्य 4 साधन कौन-से हैं ?

उत्तर– ये हैं– (i) समाचार-पत्र, (ii) रेडियो, (iii) राजनीतिक दल, (iv) चुनाव।

प्रश्न 5– आदर्श एवं स्वस्थ जनमत के निर्माण की प्रमुख दशायें कौन-सी हैं ?

उत्तर– ये हैं– शिक्षा का प्रचार, (ii) आर्थिक व सामाजिक समानता, (iii) विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, (iv) निष्पक्ष समाचार-पत्र और (v) राजनीतिक दलों द्वारा सही मार्गदर्शन।

प्रश्न 6– प्रजातन्त्र में जनमत के महत्व को प्रकट करने वाले तीन तथ्यों का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 7– समाचार-पत्र जनमत को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? संक्षेप में बताइये।

प्रश्न 8– राजनीतिक दल और जनमत में क्या सम्बन्ध है ?

प्रश्न 9– रेडियो व सिनेमा का जनमत पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

प्रश्न 10– प्रवुद्ध जनमत के निर्माण की चार वाधाओं का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 11– शिक्षा का जनमत पर क्या प्रभाव पड़ता है ? संक्षेप में बताइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– जनमत का निर्माण करने वाले दो कारक या साधन बताइये। (1994, 90, 88)

उत्तर– (i) राजनीतिक दल, (ii) प्रेस व समाचार-पत्र।

प्रश्न 2– प्रबुद्ध या आदर्श जनमत के निर्माण की दो शर्तें या दशायें बताइये।

उत्तर– (i) निष्पक्ष समाचार-पत्र, (ii) शिक्षित जनता।

प्रश्न 3– गरीबी प्रबुद्ध जनमत के निर्माण में बाधक क्यों है ?

उत्तर– क्योंकि भूख से पीड़ित एक गरीब आदमी जनमत को नहीं समझता। 'भूखे भजन न होय गोपाला।'

प्रश्न 4– स्वस्थ जनमत के निर्माण के लिये समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है ? कोई एक कारण बताइये।

उत्तर– क्योंकि स्वतन्त्र समाचार-पत्र ही शासन की समस्याओं के बारे में सही मत प्रकट करके जनमत का मार्गदर्शन कर सकते हैं।

प्रश्न 5– जनमत के मार्ग की दो बाधायें बताइये। (1990)

उत्तर– ये हैं– (i) साम्प्रदायिकता, (ii) अशिक्षा।

□□

जो जनता का मार्ग-दर्शन भी करते हैं और उसे गुमराह भी :

24

राजनीतिक दल
(Political Parties)

"राजनीतिक दल तानाशही से रक्षा का सबसे अच्छा साधन है।" —लास्की

"राजनीतिक दल प्रजातन्त्र की आधारशिला है।" —डॉ० अम्बेडकर

"राजनीतिक दल जनता के मस्तिष्क को उसी प्रकार क्रियाशील रखते हैं जैसे लहरें समुद्र के जल को।" —ब्राइस

इस अध्याय में क्या है ?

(1) राजनीतिक दल का अर्थ तथा परिभाषायें, (2) राजनीतिक दल के तत्व या लक्षण, (3) राजनीतिक दलों के निर्माण या दल-प्रणाली का आधार, (4) कुछ मुख्य देशों के राजनीतिक दल, (5) राजनीतिक दलों के कार्य, (6) प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों की आवश्यकता व महत्व, (7) राजनीतिक दलों के लाभ, या दल प्रणाली के गुण, (8) राजनीतिक दलों से हानियाँ या दल प्रणाली के दोष, (9) प्रजातन्त्र में विरोधी दल की उपयोगिता व भूमिका, (10) एक दलीय शासन या राज्य, (11) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (12) लघु तथा अति लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

राजनीतिक दल का अर्थ
(Meaning of Political Party)

प्रायः हर देश में विभिन्न विचारों के लोग निवास करते हैं। देश में उत्पन्न राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के पृथक्-पृथक् विचार होते हैं। **विचारों की यह विभिन्नता ही राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक दलों को जन्म देती है।**

लोग चाहते हैं कि देश में शासन का संचालन उनकी इच्छाओं तथा विचारधाराओं के अनुसार हो। इसलिये एक समान विचारधारा रखने वाले व्यक्ति एक समूह या संघ में संगठित हो जाते हैं। इस समूह या संगठन को ही राजनीतिक दल कहा जाता है।

इस प्रकार राजनीतिक दल उन व्यक्तियों के समूह या संगठन का नाम है जिनके राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्य एक समान होते हैं।

राजनीतिक दल की परिभाषायें
(Some Definition of Political Parties)

प्रमुख विद्वानों ने राजनीतिक दल की परिभाषायें भिन्न-भिन्न शब्दों में की हैं। इनमें से मुख्य निम्न प्रकार है—

(1) लीकॉक के शब्दों में, "राजनीतिक दल से हमारा आशय नागरिकों के छोटे या बड़े उस समूह से है जो राजनीतिक इकाई के रूप में एक साथ काम करते हैं।"

"By a Political party we mean more or less organised group of citizens who act together as a political unit." **—Leacock**

(2) मैकाइवर के अनुसर, "राजनीतिक दल कुछ नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों के समर्थन के लिये संगठित उस समुदाय को कहते हैं जो संवैधानिक उपायों से सरकार के निर्धारण का प्रयास करते हैं।"

"A political party is an association organised in support of some principles or policy which, by constitutional means, endeavours to make determination of Government."
—**MacIver**

(3) ब्राइस के मतानुसार, "राजनीतिक दल उन संगठित संस्थाओं को कहते हैं, जिनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है और जो राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिये अपने संगठित बल का उपयोग करते हैं।"

(4) एक अन्य विद्वान के शब्दों में, "राजनीतिक दल उन लोगों के दल या समूह को कहते हैं जो मुख्य राजनीतिक समस्याओं पर एक समान विचार रखते हैं और जो सरकारी शासन को अपने विचारों के अनुसार चलाने के लिये सामूहिक रूप से प्रयत्न करते हैं।"

(5) एडमण्ड बर्क के मत में, "राजनीतिक दल कुछ लोगों का ऐसा समूह होता है जो किसी सिद्धान्त पर एकमत होकर अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करते हैं।"

"A political party is a body of men united for the purpose of promoting, by their joint endeavours, the public interest upon some principles on which they are all agreed."
—**Edmund Bruke**

(6) गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दल नागरिकों के उस संगठित समुदाय को कहते हैं, जिसमें सदस्यों के समान राजनीतिक विचार हों और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए सरकार को अपने हाथ में लेने का प्रयास करते हों।"

"A political party may be defined an organised group of citizens who profess to share the same political views and who, by acting as a political unit, try to control the Government."
—**Gilchrist**

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीतिक दलों का निर्माण भिन्न-भिन्न राजनीतिक एवं आर्थिक विचारों के कारण किया जाता है। समान विचार रखने वाले लोग एक दल का निर्माण कर लेते हैं और उनसे भिन्न विचार रखने वाले लोग अन्य दल बना लेते हैं। ये लोग विभिन्न राजनीतिक दल बनाकर अपने-अपने विचारों या मतों का प्रचार करते हैं और शासन की सत्ता अपने हाथ में लेकर सरकार को अपने विचारों के अनुसार चलाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थापना से ही **राजनीतिक दल-प्रणाली की प्रथा** का जन्म होता है।

राजनीतिक दल के तत्व या लक्षण
(Elements of Political Parties)

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीतिक दल के निर्माण के लिये निम्न तत्वों की आवश्यकता होती है–

(1) संगठन– प्रमुख राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं पर एक समान विचार रखने वाले लोग जब तक संगठित नहीं होंगे, तब तक अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकते। अतः संगठन राजनीतिक दल के निर्माण का प्रमुख तत्व है।

(2) विचारों व सिद्धान्तों की समानता– यह अत्यन्त आवश्यक है कि राजनीतिक विचारों तथा मूल-भूत सिद्धान्तों में समानता हो, अन्यथा वे एक दल के रूप में एक साथ रह ही नहीं सकते।

(3) शासन में आने की इच्छा– राजनीतिक दल सदा यह चाहते हैं कि वे चुनाव में जीत-कर सत्ता के रूप में आ जायें, क्योंकि ऐसा करके वे अपने विचारों तथा सिद्धान्तों को सरलता से कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं।

(4) **संवैधानिक साधनों में विश्वास**– सत्ता में आने के लिये यह आवश्यक है कि राजनीतिक दल का संवैधानिक साधनों में विश्वास हो। जो दल असवैधानिक उपायों द्वारा अपने सिद्धान्तों को लागू करते हैं या सत्ता में आने का प्रयास करते हैं उन्हें राजनीतिक दल न कहकर स्वार्थी गुट कहना ज्यादा उपयुक्त होगा।

राजनीतिक दल के तत्व

1. संगठन
2. विचारों व सिद्धान्तों की समानता
3. शासन में आने की इच्छा
4. संवैधानिक साधनों में विश्वास
5. राष्ट्रीय हित।

(5) **राष्ट्रीय हित**– राजनीतिक दल के लिये यह भी आवश्यक है कि वे साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता की भावनाओं से अलग रहकर अपने आचरण में राष्ट्रीय हित को ही प्रमुखता दें। अपने दल के हित के मुकाबले में भी उन्हें राष्ट्रीय हित को ही उच्च स्थान देना चाहिये। यह राजनीतिक दल का एक प्रमुख लक्षण या तत्व है।

राजनीतिक दलों के निर्माण अथवा दल प्रणाली का आधार
या
राजनीतिक दलों की प्रकृति
(Basis of the Formation of Political Parties)

राजनीतिक दलों के निर्माण के अथवा दल प्रणाली प्रथा के कई आधार होते हैं, जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं–

(1) **राजनीतिक सिद्धान्त**– राजनीति के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विभिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार रखते हैं। कुछ लोग प्रजातन्त्र में विश्वास रखते हैं तो कुछ कुलीनतन्त्र में। कुछ तानाशाही शासन के समर्थक होते हैं तो कुछ धर्मतंत्र सरकार को ही उचित समझते हैं। अतः अपने इन राजनीतिक विचारों एवं सिद्धान्तों के अनुसार ही अनेक लोग संगठित होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनीतिक दल बना लेते हैं। अनेक परतन्त्र देशों में वहाँ की जनता स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये भी राजनीतिक दल का निर्माण कर लिया करती है। कांग्रेस (इ), भारतीय जनता पार्टी तथा कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण राजनीतिक सिद्धान्तों की भिन्नता के आधार पर ही हुआ है।

(2) **आर्थिक विचार**– राजनीतिक दलों का निर्माण सिद्धान्तों एवं विचारों के आधार पर भी किया जाता है। आर्थिक मामलों में कुछ लोग पूँजीवादी विचारधारा के होते हैं तो कुछ पूँजीवादी विचारधारा के विरोधी और समाजवाद के समर्थक होते हैं। अतः अपने इन विचारों के अनुसार वे भिन्न-भिन्न राजनीतिक दल वना लेते हैं। जैसे इंग्लैण्ड में अनुदार दल पूँजीवादी विचारधारा का समर्थक है और उदार दल समाजवादी विचारधारा का।

(3) **स्वाभाविक मतभेद**– समाज के सभी लोगों के विचार तथा उनका स्वभाव एक-सा नहीं होता। अतः राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये वे भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाते हैं। उन मार्गों की भिन्नता के कारण राजनीतिक दलों का निर्माण होता है। जो लोग पुराने विचारों व पुराने आदर्शों को ही श्रेष्ठ मानते हैं और नये विचारों से जरा भी सहानुभूति नहीं रखत्ते, वे प्रतिक्रियावादी विचारों का दल बना लेते हैं। जो समाज की वर्तमान व्यवस्था से ही सन्तष्ट रहते हैं और उसमें कोई विशेष बदल नहीं चाहते, वे अनुदार दलीय कहलाते हैं। जो लोग उदार स्वभाव वाले होते हैं तथा समय व दशाओं के अनुसार समाज में नये-नये परिवर्तन चाहते हैं वे उदार दलीय कहलाते हैं।

(4) **व्यवसाय के अनुसार**– कभी-कभी लोग समान व्यवसाय के आधार पर भी राजनीतिक दल बना लेते हैं। जैसे मजदूर दल, शिक्षक संघ, किसान यूनियन आदि।

राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार

1. राजनीतिक सिद्धान्त
2. आर्थिक विचार
3. स्वाभाविक मतभेद
4. व्यवसाय के अनुसार
5. निर्धनता या पिछड़ेपन का आधार
6. जाति का आधार
7. सत्ता के लोभ का आधार।

(5) निर्धनता या पिछड़ेपन का आधार– कभी-कभी समाज के कुछ पिछड़े या निर्धन वर्गों तथा पिछड़ी जातियों के सुधार के लिये भी राजनीतिक दलों का निर्माण किया जाता है, जैसे हरिजन लीग, परिगणित जाति संघ आदि।

(6) जाति का आधार– जातियों के आधार पर विभिन्न राजनीतिक दलों का निर्माण किया जाता है। जैसे भारत में हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद्, मुस्लिम लीग, अकाली दल आदि।

(7) सत्ता के लोभ का आधार– वर्तमान युग में राजनीतिक सत्ता के लोभी राजनीतिज्ञ राजनीतिक विचार समान होते हुए भी सत्ता के लोभ के कारण एक राजनीतिक दल को छोड़कर नया राजनीतिक दल बना लेते हैं। इससे अनावश्यक राजनीतिक दलों का बरसाती मेंढ़कों की तरह निर्माण हो जाता है और दल-बदल की निन्दनीय प्रथा उत्पन्न हो जाती है। पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में ऐसे अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ है।

कुछ मुख्य देशों के राजनीतिक दल
(Political Parties of some Countries)

राजनीतिक दलों की संख्या के बारे में कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। किन्तु **यदि किसी देश में बरसाती कीड़ों की तरह से लोभी राजनीतिज्ञों के दलों की भरमार हो जाती है, तो ये दल उस देश की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था को ही खोखली कर देते हैं।** अतः यह आवश्यक है कि विशुद्ध सिद्धान्तों के आधार पर कुछ राजनीतिक दलों का निर्माण किया जाये। **अब हम कुछ मुख्य देशों के राजनीतिक दलों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।**

(1) संयुक्त राज्य अमेरिका में मुख्यतः दो ही राजनीतिक दल हैं एक डेमोक्रेट्स, दूसरा रिपब्लिकन दल। वैसे ये दोनों दल पूँजीवादी विचारधारा के समर्थक हैं, किन्तु प्रथम के मुकाबले दूसरा दल कुछ अधिक प्रतिक्रियावादी विचार का है।

(2) इंग्लैण्ड में भी मुख्यतः दो ही राजनीतिक दल हैं– (1) कन्जरवेटिव पार्टी और (2) मजदूर दल। प्रथम दल प्रतिक्रियावादी और अनुदार विचारों का है, किन्तु दूसरा दल समाजवादी विचारधारा का समर्थक है।

(3) चीन में एक ही राजनीतिक दल है जिसका नाम है साम्यवादी दल।

(4) भारत में राजनीतिक दलों की भरमार है– किन्तु कुछ मुख्य दल जिनका संगठन अखिल भारतीय स्तर का है, इस प्रकार हैं– काँग्रेस (इ), भारतीय जनता पार्टी, समाजवादी जनता पार्टी, साम्यवादी दल, मार्क्सवादी दल और जनता दल। देश में इन दलों का प्रतिनिधित्व किसी न किसी राज्य सरकार में अवश्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, भारत में अनेक दल प्रान्तीय, जातीय तथा धार्मिक आधार पर बने हुए हैं। किसी भी देश में प्रजातन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक है कि राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक न हो, अन्यथा वहाँ की सरकार में अस्थिरता बनी रहती है।

राजनीतिक दलों के कार्य
(Functions of Political Parties)

राजनीतिक दलों को साधारणतया निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करने होते हैं–

(1) दृढ़ संगठन का निर्माण– अपनी विचारधारा का प्रचार करने के लिये राजनीतिक दल

को सर्वप्रथम देश-व्यापी संगठन का निर्माण करना होता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों, जिलों, नगरों तथा गाँवों में अपने दल की शाखाओं का विस्तार करना होता है। दृढ़ संगठन पर ही उनके अन्य कार्यों की सफलता निर्भर होती है।

(2) अपनी विचारधारा का प्रचार– लोकतन्त्रीय देशों में राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य भाषणों, समाचार-पत्रों, पुस्तकों तथा विचार-विनिमय के द्वारा अपने मत का प्रचार करना होता है।

(3) दल का विस्तार– राजनीतिक दल का एक कार्य यह भी होता है कि वह अपने अनुयायियों एवं सदस्यों की संख्या में अधिक से अधिक वृद्धि करे, ताकि दल की शक्ति बढ़े।

(4) चुनाव में भाग लेना– राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य होता है– सत्ता प्राप्त कर अपने विचारों के अनुसार सरकार चलाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे चुनाव में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और प्रत्येक दल यह प्रयास करता है कि व्यवस्थापिका सभा या संसद में उसके ही दल का बहुमत हो।

(5) नीति व कार्यक्रमों का निर्धारण– राजनीतिक दल देश की विभिन्न समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में अपनी निश्चित नीति का निर्धारण करते हैं और उसको लागू करने के लिये कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करके जनता के समर्थन के लिये उसके समक्ष रखते हैं।

(6) चन्दा व धन प्राप्त करना– चुनाव लड़ने व अपने विभिन्न कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये राजनीतिक दलों को धन की आवश्यकता होती है। अतः उनका एक कार्य सदस्यों एवं जनता से चन्दा तथा धन प्राप्त करना भी होता है।

राजनीतिक दलों के कार्य

1. दृढ़ संगठन का निर्माण
2. विचारधारा का प्रचार
3. दल का विस्तार
4. चुनावों में भाग लेना
5. नीति व कार्यक्रमों का निर्धारण
6. चन्दा व धन प्राप्त करना
7. सरकार बनाना या उसकी आलोचना करना
8. लोकमत का निर्माण
9. जनता व शासन के बीच सम्पर्क
10. सामाजिक विकास के कार्य।

(7) सरकार बनाना अथवा उसकी आलोचना करना– यदि किसी राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त हो जाता है, तब तो वह सरकार बनाकर देश पर शासन करता है। इसके विपरीत स्थिति में वह विरोधी दल का कार्य करता है और सरकार की आलोचना करके उसे जनता की इच्छानुसार चलने को बाध्य करता है।

(8) लोकमत का निर्माण– देश की राजनीतिक, आर्थिक व अन्य समस्याओं पर जनता के सामने अपने विचार रखकर राजनीतिक दल जनमत का निर्माण करते हैं और इस बात का प्रयास करते हैं कि जनता में जागरूकता उत्पन्न हो।

इसलिये ब्राइस ने कहा है कि, **"लोकमत को प्रशिक्षित करने तथा उसके निर्माण व प्रकटीकरण में राजनीतिक दल अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करते हैं।"**

(9) जनता व शासन के बीच सम्पर्क– राजनीतिक दलों का प्रमुख कार्य जनता व सरकार के बीच सम्पर्क बनाये रखना है। सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के सदस्य जनता में सरकार की नीतियों, कार्यों व सफलताओं का प्रचार करते हैं और विरोधी दल के सदस्य सरकार की कमियों तथा असफलताओं से जनता को अवगत कराते हैं। वे जनता की कठिनाइयों व शिकायतों को भी अधिकारियों तक पहुँचाते हैं।

इसलिये लॉवेल ने कहा है कि, **"राजनीतिक दल विचारों की दलाली का कार्य करते हैं।"**
"Political parties act as the brokers of ideas." **—Lawel**

(10) सामाजिक विकास के कार्य– राजनीतिक व आर्थिक कार्यों के अलावा राजनीतिक दल सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी प्रचार करते हैं। वे छुआछूत, दहेज, हरिजन अत्याचार, मद्यनिषेध जैसी सामाजिक समस्याओं के समाधन के लिए भी पुरजोर प्रयास करते हैं और इस प्रकार सामाजिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों की आवश्यकता, भूमिका व महत्व
(Necessity and Importance of Political Parties)

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य एवं आवश्यक नहीं है, **किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह कथन सत्य नहीं है।** वर्तमान युग में राजनीतिक दलों को प्रजातन्त्र का एक अविच्छिन्न अंग माना जाता है। एक सिद्वान् के अनुसार तो, **"राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के प्राण के समान हैं।"**

जिन देशों में राजनीतिक दलों का अभाव रहता है वहाँ सत्ता केवल एक ही राजनीतिक दल के पास सकत्र रहती है। परिणामस्वरूप उसका शासन निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी हो जाता है और वहाँ नागरिक अपनी स्वतन्त्रता एवं अधिकारों से वंचित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि **प्रजातन्त्र और राजनीतिक दलों का चोली-दामन का साथ है तथा उनमें शरीर और आत्मा जैसा सम्बन्ध है।** जिस देश में केवल एक ही राजनीतिक दल होता है वहाँ प्रजातन्त्र शासन भी कुछ समय बाद तानाशाही रूप धारण कर लेता है। अतः **प्रजातन्त्र में एक से अधिक राजनीतिक दलों का होना अत्यावश्यक एवं अनिवार्य है।**

यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में दो राजनीतिक दल अवश्य हों, जिनमें से एक दल संरकार का निर्माण करे और दूसरा दल विरोधी दल के रूप में कार्य करे। अतः किसी भी प्रजातन्त्र राज्य में दो या तीन दलों का होना अत्यन्त आवश्यक है। **प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों की आवश्यकता एवं महत्व निम्न कारणों से होता है–**

(1) चुनाव में भाग लेने के लिये आवश्यक– प्रजातन्त्रीय देशों में जनता चुनाव के द्वारा सरकार का निर्माण करती है। अतः चुनाव में देश के विभिन्न क्षेत्रों में अपने प्रतिनिधि खड़े करने के लिये राजनीतिक दलों की आवश्यकता होती है। यह देखा गया है कि जो उम्मीदवार व्यक्तिगत रूप से चुनाव में खड़े होते हैं वे कोई समान नीति या समान कार्यक्रम लागू नहीं कर पाते। अतः विशिष्ट सिद्धान्तों, विचारधाराओं एवं कार्यक्रमों के आधार पर प्रतिनिधि खड़े करने के लिये प्रजातन्त्र में कई राजनीतिक दलों की आवश्यकता होती है।

(2) विभिन्न वर्गों व विचारों का प्रतिनिधित्व– देश में कई राजनीतिक दल बनने से समाज के विभिन्न वर्गों एवं विभिन्न विचारों का प्रतिनिधित्व शासन में पहुँच जाता है जिससे समाज में किसी भी वर्ग में असन्तोष नहीं रहता। स्पष्ट है कि कोई भी एक राजनीतिक दल सभी वर्गों तथा सभी मतों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

(3) सरकारी कार्यों व नीतियों की आलोचना के लिये आवश्यक– प्रजातन्त्र शासन में जनता को विचार, लेखन व भाषण की स्वतन्त्रता होती है। जनता को सरकार की आलोचना करने का अधिकार होता है। जनता विभिन्न राजनीतिक दलों का निर्माण कर उसके द्वारा संगठित रूप से सरकार के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट कर सकती है और सरकार की आलोचना भी कर सकती है। राजनीकि दलों की आलोचना के भय से ही सरकार अपनी भूलों व त्रुटियों में सुधार करती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण स्थान एवं भारी महत्व है। अतः यह कथन ठीक ही है कि राजनीतिक दल प्रजातन्त्र को जीवन देते हैं और उसका पोषण करते हैं। इसीलिये एक लेखक ने 'राजनीतिक दलों को प्रजातन्त्र का प्राण' कहा है।

ब्राइस ने कहा है कि, **"राजनीतिक दल अनिवार्य है। कोई भी स्वतन्त्र देश उसके बिना नहीं रह सका है। किसी ने भी यह नहीं दिखाया है कि प्रजातन्त्र सरकार किस प्रकार उनके बिना चलाई जा सकती है।"**

"Parties are inevitable. No free large country has been without them. No one has shown how representative government could be worked without them."

—Lord Bryce

राजनीतिक दलों के लाभ या दल-प्रणाली के गुण
(Merits of Political Parties)

विचारकों ने राजनीतिक दलों के निम्नलिखित भागों का उल्लेख किया है–

(1) प्रजातन्त्र के लिये आवश्यक– जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि राजनीतिक दलों के बिना प्रजातन्त्र अपना अस्तित्व खोकर निरंकुश शासन में परिणत हो जाता है। राजनीतिक दल ही प्रजातन्त्र के वास्तविक रूप का निर्माण करते हैं।

लीकॉक ने कहा है कि, **"केवल दल-प्रणाली ही ऐसी वस्तु है जो प्रजातन्त्र शासन को सम्भव बनाती है।"**

"Party system is the only thing that made democracy feasible." —Leacock

(2) नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा– राजनीतिक दल जनता में राजनीतिक जागरण उत्पन्न करते हैं। वे जनता को शासन में भाग लेने की शिक्षा देते हैं।

(3) लोकमत का प्रकटीकरण– राजनीतिक दल जनमत को प्रकट करने का सर्वोत्तम साधन हैं। जनता राजनीतिक दलों के माध्यम से ही अपने विचार सरकार तक पहुँचाती है।

(4) सरकार की निरंकुशता पर नियन्त्रण– राजनीतिक दल सरकार के अनुचित कार्यों की आलोचना करके जनमत को उसके विरुद्ध तैयार करते हैं। इससे सरकार मनमाना आचरण नहीं करती।

इसलिये लॉस्की ने कहा है कि, **"राजनीतिक दल तानाशाही के रास्ते की सबसे बड़ा रुकावट है।"**

"Parties are the best defence against the growth of caesarism in the country."

—Laski

(5) जनता व सरकार में सम्पर्क– राजनीतिक दलों की विद्यमानता से जनता व सरकार के बीच सम्पर्क बना रहता है। जनता अपनी इच्छा सरकार तक पहुँचाती है और इनके द्वारा सरकार के उचित व अनुचित कार्यों की सूचना जनता को मिलती है।

(6) निर्धन व योग्य व्यक्तियों का चुनाव में खड़ा होना– राजनीतिक दल योग्य, अनुभवी एवं चरित्रवान व्यक्तियों को निर्धन होने के बावजूद अपने खर्च से चुनाव में खड़ा करते हैं। अन्य स्थिति में भारी चुनाव व्यय के कारण सम्भव है कि ऐसे व्यक्ति चुनाव में खड़े होने का विचार ही न करें।

(7) जनता में अनुशासन– राजनीतिक दल देश की समस्या व सरकार के कार्यों का सही रूप जनता के सामने रखकर तथा उनके सम्बन्ध में जनता का सही मार्ग-दर्शन करके उनमें राजनीतिक एवं सामाजिक अनुशासन उत्पन्न करते हैं।

(8) लोकमत के अनुसार कानूनों का निर्माण– विभिन्न राजनीतिक दलों की विद्यमानता से जनता के विभिन्न प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में चुनकर पहुँचते हैं। वहाँ सभी वर्गों के ये प्रतिनिधि लोकमत की इच्छा के अनुसार ही देश के लिये उपयोगी कानूनों का भी निर्माण करते हैं।

(9) जनता व सरकार को विभिन्न समस्याओं से परिचित कराना– यदि देश में एक ही राजनीतिक दल होता है, तो वह देश की कई समस्याओं के प्रति उपेक्षा भाव रखता है। किन्तु कई राजनीतिक दलों की विद्यमानता से यह लाभ होता है कि विभिन्न राजनीतिक दल देश की छोटी से छोटी समस्या के प्रति भी सरकार तथा जनता का तुरन्त ध्यान आकर्षित करते हैं और जनता की इच्छा के अनुसार उसका समाधान करने के लिये सरकार को बाध्य करते हैं।

राजनीतिक दलों के लाभ या राजनीतिक दल प्रणाली के गुण

1. प्रजातन्त्र के लिये आवश्यक
2. नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा
3. लोकमत का प्रकटीकरण
4. सरकार की निरंकुशता पर नियन्त्रण
5. जनता व सरकार में सम्पर्क
6. निर्धन व योग्य व्यक्तियों का चुनाव में खड़ा होना
7. जनता में अनुशासन
8. लोकमत के अनुसार कानूनों का निर्माण
9. जनता व सरकार को विभिन्न समस्याओं से परिचित कराना
10. समाज-सुधार
11. व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में मेल
12. सरकार में परिवर्तन।

(10) समाज सुधार– राजनीतिक दल देश में विद्यमान अनेक सामाजिक कुरीतियों, छुआ-छूत, जाति-प्रथा आदि को दूर करने के लिये भी कार्य करते हैं जिससे समाज को लाभ पहुँचता है।

(11) व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में मेल– अध्यक्षात्मक सरकार की पद्धति में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका स्वतन्त्र होती है। किन्तु उन दोनों में ही चूँकि अनेक राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि होते हैं। अतः दोनों में परस्पर सम्पर्क, सहयोग व मेल बना रहता है।

(12) सरकार में परिवर्तन– जनता जब एक सरकार से असन्तुष्ट हो जाती है तो चुनाव में अन्य राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को चुनकर सरकार में इच्छानुसार परिवर्तन कर लेती है।

राजनीतिक दलों से हानियाँ या दल-प्रणाली के दोष
(Demerits of Political Parties)

उपर्युक्त लाभों के साथ राजनीतिक दलों से निम्नलिखित हानियाँ भी होती हैं–

(1) राजनीतिक दलों का गुटों में विभाजन– अधिक राजनीतिक दल होने से वे छोटे-छोटे गुटों में बँट जाते हैं। यहाँ तक कि एक राजनीतिक दल के अन्दर भी कई-कई गुट पैदा हो जाते हैं जो पदों के लिये एक-दूसरे की टाँग खींचते रहते हैं।

(2) जनता का गुटों में बँटना– अनेक राजनीतिक दलों की विद्यमानता से जनता अनेक छोटे-छोटे गुटों में बँट जाती है जिससे समाज में संघर्ष तथा विवाद उत्पन्न होते रहते हैं।

गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि, **"दल प्रणाली का सबसे प्रमुख दोष यह है कि इससे पारस्परिक दुर्भावना, द्वेष, घृणा तथा झगड़े बढ़ते हैं।"**

(3) निरर्थक आलोचना व असत्य प्रचार– यह देखा जाता है कि विरोधी दल सरकार की निरर्थक व अस्वस्थ आलोचना करते रहते हैं। वे सरकार को जनता की दृष्टि में गिराने के लिये झूठा प्रचार भी करते हैं। इससे देश का वातावरण दूषित होता है।

(4) सरकार को गिराने के लिये अनुचित तरीके– अनेक विरोधी सेवा-पथ से हटकर सत्ता

पथ की ओर अग्रसर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वे जनसेवा को भूलकर हर समय सरकार को गिराने के उचित व अनुचित तरीकों की खोज में लगे रहते हैं। वे सरकारी दल के विधायकों को तोड़कर दल-बदल की बीमारी फैलाते हैं।

राजनीतिक दलों से हानियाँ या दोष

1. राजनीतिक दलों का गुटों में विभाजन
2. जनता का गुटों में बँटना
3. निरर्थक आलोचना व असत्य प्रचार
4. सरकार को गिराने के लिये अनुचित तरीके
5. स्थायी शासन का अभाव
6. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की हानि
7. पक्षपात
8. खुशामदी व्यक्तियों का बोलबाला
9. दलीय हितों को प्रमुखता
10. चुनाव जीतने के लिये अनुचित तरीके
11. विरोधी दल के योग्य व्यक्ति शासन से वंचित।

(5) स्थायी शासन का अभाव– अनेक राजनीतिक दलों के अस्तित्व से देश में एक दल की सरकार नहीं बन पाती और कई दलों की संयुक्त सरकार मत विभिन्नताओं के कारण स्थायी नहीं रह पाती।

(6) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को हानि– राजनीतिक दलों की बहुलता से बहुमत वाला दल ही शासन करता है। प्रत्येक निर्णय भी बहुमत के आधार पर किया जाता है। इससे अन्य लोगों की स्वतन्त्रता का हनन होता है।

(7) पक्षपात– सत्तारूढ़ राजनीतिक दल प्रायः प्रशासनिक मामलों में अन्य दलों के अनुयायियों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते हैं जिससे जनता में असन्तोष उत्पन्न होता है।

(8) खुशामदी व्यक्तियों का बोलबाला– राजनीतिक दलों में वे ही व्यक्ति ऊपर पहुँचते हैं जो खुशामदी, वाक्पटु, चमचे तथा चालाक होते हैं। योग्य एवं ईमानदार व्यक्ति राजनीतिक दलों की गुटबाजी व खींचतान से दूर ही रहना चाहते हैं।

(9) दलीय हितों को प्रमुखता– सत्तारूढ़ तथा गैर-सत्तारूढ़ दल देश-हित एवं लोक-हित की अपेक्षा प्रायः दलीय हितों को ही प्रमुखता देते हैं और ऐसे कार्यों में संलग्न रहते हैं जिससे अन्य दलों की बदनामी हो या उन्हें हानि पहुँचे।

(10) चुनाव जीतने के लिये अनुचित तरीके– विभिन्न राजनीतिक दल चुनाव में अपने उम्मीदवारों को जिताने के लिये ओछे हथकण्डों पर उतर आते हैं। वे झूठे मतदाता बनवा लेते हैं। किसी का मत किसी से डलवा देते हैं। वोट शराब तथा पैसों में खरीद लेते हैं तथा हिंसात्मक कार्यों पर भी उतर आते हैं।

(11) विरोधी दल के योग्य व्यक्ति शासन से वंचित– सत्तारूढ़ बहुसंख्यक दल केवल अपने ही दल के व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में स्थान देता है। परिणामस्वरूप, विरोधी दलों के योग्य व्यक्तियों का शासन-कार्य के लिये उपयोग नहीं किया जाता।

किन्तु उपर्युक्त दोषों के बावजूद यह सम्भव नहीं है कि राजनीतिक दलों के बिना प्रजातन्त्र शासन का स्थायी रूप से संचालन किया जा सके। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक दलों के दोषों को दूर करके उनका उपयोग जनता एवं जनतन्त्र शासन के लाभ के लिये किया जाये।

प्रजातन्त्र में विरोधी दल की उपयोगिता व भूमिका

(Utility of Opposite Party in Democracy)

प्रजातन्त्र में विरोधी दल संसद का एक महत्वपूर्ण अंश होता है। विरोधी दल का मुख्य कार्य यह होता है कि वह सरकार की नीतियों व कार्यों की आलोचना करे। यदि संसद में मजबूत

विरोधी दल नहीं होगा, तो सरकार अपने बहुमत के बल पर मनमानी करेगी। विरोधी दल प्रश्नों, काम रोको प्रस्तावों तथा वाद-विवाद के द्वारा सरकार की भूलों को प्रकाश में लाता है और आवश्यकता पड़े तो स्वयं सरकार बनाने को भी तैयार रहता है।

इस प्रकार, विरोधी दल संसदीय लोकतन्त्र को मजबूत बनाता है। इसी सम्बन्ध में जैनिंग्स ने कहा है कि, **"यदि यह जानना हो कि किसी देश की जनता स्वतन्त्र है या नहीं, तो यह जानना आवश्यक है कि वहाँ पर विरोधी दल है या नहीं और है तो कैसा ?"**

हॉग के शब्दों में, **"विरोधी दल न होने की अवस्था में तानाशाही जन्म ले सकती है।"**

विरोधी दल के अभाव में सरकार के गलत कार्यों पर कोई रोक नहीं लगती, क्योंकि सत्तारूढ़ दल के सदस्य तो दलीय अनुशासन के कारण सरकार की हर बात का समर्थन करते हैं। डॉ० एम० सी० सिंह के शब्दों में, **"सत्ताधारी दल के सदस्य शायद ही कभी भी अपनी सरकार के कार्यों की आलोचना करते हों। यह कार्य विरोधी दल का है।"**

स्पष्ट है कि मज़बूत विरोधी दल के बिना संसदीय प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता।

दल प्रणाली के रूप
(Forms of Party System)

दल प्रणाली के वर्तमान मुख्यतः तीन प प्रचलित हैं–

(1) एकदलीय शासन प्रणाली, (2) द्विदलीय शासन प्रणाली, (3) बहुदलीय शासन प्रणाली। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

(1) एक-दलीय शासन– एकदलीय शासन का अर्थ है कि देश का शासन सदा एक ही दल के हाथ में रहे। ऐसे देश में एक ही राजनीतिक दल होता है जो सत्ता सम्भालता है। ऐसे राज्य में विरोधी दलों का कोई स्थान नहीं होता। वहाँ सत्तारूढ़ दल के अलावा अन्य राजनीतिक दलों को पनपने ही नहीं दिया जाता। चीन में एकदलीय शासन पाया जाता है।

वास्तव में एकदलीय शासन प्रजातन्त्रीय शासन न होकर तानाशाही शासन होता है। ऐसे देशों में सरकार की आलोचना का कोई स्थान नहीं होता। अतः सत्तारूढ़ दल को अपनी मनमानी करने की छूट होती है। एकदलीय शासन में नागरिकों की स्वतन्त्रता भी सीमित रहती है।

(2) द्विदलीय शासन प्रणाली– जब किसी देश की राजनीति में केवल दो दल कार्यरत होते हैं तो उसे द्विदलीय प्रणाली कहा जाता है। **उदाहरण के लिये,** इंग्लैण्ड में अनुदार दल तथा मजदूर दल। संयुक्त राज्य अमेरिका में डैमोक्रेट्स तथा रिपब्लिकन दल।

(3) बहुदलीय शासन प्रणाली– जब किसी देश की राजनीति में अनेक छोटे-बड़े राजनीतिक दल सक्रिय हों तो उसे बहुदलीय शासन प्रणाली कहा जाता है। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इनमें द्विदलीय प्रणाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

दल-बदल का रोग और उसका इलाज
दल-बदल रोक विधेयक

दल-बदल क्या है ?

संसद या विधानमण्डल के लिये चुना गया कोई संसद-सदस्य या विधायक जब उस राजनीतिक दल को छोड़कर, जिसके टिकट पर वह चुना गया था, अन्य राजनीतिक दल में शामिल हो जाता है तो इसे दल-बदल कहा जाता है।

दल-बदल के परिणाम तथा हानियाँ

दल-बदल को स्वस्थ राजनीति के लिये अच्छा नहीं माना जाता। लेकिन जब स्वार्थ या

पद-लोलुपता या धन-लोलुपता से प्रेरित होकर संसद सदस्य या विधायक दल को बदल लेते हैं तो स्वस्थ राजनीति पर उसका प्रतिकूल प्रभाव होता है तथा उससे निम्न हानियाँ होती हैं—

(1) दल-बदल से सरकारें गिर जाती हैं और देश में राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है।

(2) राजनीति में स्वार्थ तथा पद-लिप्सा बढ़ जाती है। फलतः जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि जन-सेवा की बजाय निजी स्वार्थ में लिप्त हो जाते हैं।

(3) सत्तारूढ़ दल तथा विपक्षी दलों के सम्बन्ध सदा तनावपूर्ण बने रहते हैं।

(4) सभी राजनीतिक दल जन-सेवा को भूल जाते हैं। सत्तारूढ़ दल सरकार बचाने के और विपक्षी दल सरकार गिराने के चक्कर में पड़े रहते हैं।

(5) दल-बदल के लिये सांसदों और विधायकों की बिक्री होने लगती है जिससे सार्वजनिक जीवन में नैतिक स्तर गिरता है।

(6) दल-बदल के आधार पर दुर्वल सरकारों का निर्माण होता है।

दल-बदल की स्थिति

हमारे देश की राजनीति में दल-बदल 1950 में ही शुरू हो गया था। उसके बाद तो दल-बदल का यह रोग बढ़ता ही गया तथा अब यह एक असाध्य रोग का रूप धारण करता जा रहा था। उदाहरण के लिये, 1967 से 1973 की अवधि के बीच विधान सभाओं और लोक सभा में 1,823 दल-बदलियाँ हुयीं। इन दल-बदलुओं में 191 लोगों को मन्त्रि पद दिये गये।

यही नहीं, दल-वदल अब तो 'थोक' रूप में भी होने लगा था। उदाहरण के लिये, 1980 में हरियाणा जनता पार्टी के 37 विधायक रातों-रात काँग्रस (इ) में चले गये और सरकार बना ली। 1990 में केन्द्र में दल-बदल का बड़ा थोक नाटक खेला गया। दल-बदल की इस स्थिति से राजनीति तथा नैतिकता का स्तर बराबर गिर रहा था।

दल-बदल रोक विधेयक, 1985

दल-बदल की इस बीमारी को रोकने के लिये काँग्रेस शासन द्वारा 1963, 1967, 1971 और 1973 में तथा जनता पार्टी शासन द्वारा 1977 में प्रयास किये गये, मगर सफलता न मिली।

तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी ने राजनीति के इस असाध्य रोग को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और संसद में 'दल-बदल रोक विधेयक' प्रस्तुत किया जिसे 30 जनवरी, 85 को लोक सभा ने और 31 जनवरी, 85 को राज्य सभा ने सर्व-सम्मति से पास कर दिया। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के वाद 2 मार्च 1985 से यह विधेयक लागू हो गया। इस विधेयक को पास करने के लिये संविधान में भी संशोधन करना पड़ा। **'दल-बदल रोक विधेयक' की मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं–**

(1) संसद या विधान मण्डल के किसी सदस्य द्वारा स्वेच्छा से अपना दल छोड़े जाने पर वह सदन का सदस्य नहीं रह सकेगा।

(2) सदन में पार्टी के निर्देश का उल्लंघन करने पर वह सदन की सदस्यता के अयोग्य माना जायेगा।

(3) सदन के बाहर पार्टी विरोधी गतिविधियों के कारण पार्टी से निष्कासित करने पर वह व्यक्ति सदन की सदस्यता से वंचित हो जायेगा।

(4) सदस्य द्वारा पार्टी के निर्देश का उल्लंघन करने पर पार्टी 15 दिन के अन्दर उसे क्षमा कर सकती है।

(5) निर्दलीय सदस्य को किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करने का अधिकार नहीं होगा।

(6) मनोनीत सदस्य सीट ग्रहण करने के 6 महीने के अन्दर किसी भी दल की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(7) सदन में किसी पार्टी के कुल सदस्यों में से एक तिहाई सदस्यों के अलग होने को दल-बदल नहीं माना जायेगा।

(8) सदस्यता से अयोग्य घोषित करने का अधिकार अध्यक्ष या सभापति को होगा जिसे अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

इस प्रकार **'दल-बदल रोक विधेयक'** भारतीय राजनीति की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, वशर्ते कि स्वार्थी राजनीतिज्ञ इस विधेयक को मन से स्वीकार करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लगभग 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– राजनीतिक दल की परिभाषा दीजिए।

उत्तर– राजनीतिक दल उन व्यक्तियों के समूह या संगठन का नाम है जिनके राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्य एक समान होते हैं और जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये मिलकर काम करते हैं।

प्रश्न 2– राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार क्या है ?

उत्तर– राजनीतिक व आर्थिक विचारों में भिन्नता के कारण राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, जैसे काँग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी। व्यवसाय के आधार पर भी राजनीतिक दल वन जाते हैं जैसे मजदूर दल, किसान पार्टी। निर्धनता के आधार पर भी राजनीतिक दल बनते हैं जैसे परिगणित जाति संघ। जाति या धर्म के आधार पर भी राजनीतिक दल बनते हैं जैसे हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अकाली दल।

प्रश्न 3– किसी देश में राजनीतिक दलों की संख्या सामान्यतः कितनी होनी चाहिये ?

उत्तर– किसी भी देश में आमतौर पर दो या तीन राजनीतिक दलों का होना ठीक माना जाता है ताकि एक सत्ता में रहे और अन्य एक या दोनों विरोधी दल का काम करें। राजनीतिक दलों की भरमार देश के राजनीतिक जीवन को अस्थिर बना देती है तथा उससे राजनीति में गन्दगी आ जाती है।

प्रश्न 4– भारत के प्रमुख राजनीतिक दल कौन-से हैं ?

उत्तर– ये हैं– काँग्रस (इ0), भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, समाजवादी जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, जनता दल।

प्रश्न 5– राजनीतिक दलों के मुख्य कार्य क्या हैं ? (1985)

उत्तर– संगठन बनाकर अपनी विचारधारा का प्रचार करना, चुनावों में भाग लेना, सरकार बनाना या विरोधी दल के रूप में सरकार की आलोचना करना, चन्दा एकत्रित करना आदि राजनीतिक दलों के मुख्य कार्य हैं। (प्रत्येक का एक-एक वाक्य वना दीजिये।)

प्रश्न 6– प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का होना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के अविच्छिन्न अंग हैं। कई राजनीतिक दलों की विद्यमानता से प्रजातन्त्र सजीव वनता है। केवल एक राजनीतिक दल से प्रजातन्त्र तानाशाही का रूप ले लेता

है। प्रजातन्त्र और राजनीतिक दलों में शरीर और आत्मा जैसा सम्बन्ध है। राजनीतिक दल सरकार बनाते हैं तथा उस पर नियन्त्रण रखते हैं।

प्रश्न 7– राजनीतिक दलों के प्रमुख लाभ या गुण बताइये।

उत्तर– (i) वे जनता में राजनीतिक व सामाजिक जागरण उत्पन्न करते हैं। (ii) लोकमत का प्रकटीकरण करते हैं। (iii) सरकार को निरंकुश होने से रोकते हैं। (iv) सरकार को जनता के दुःखों से परिचित कराते हैं। (v) जनता की आकांक्षाओं को मूर्त रूप देते हैं। (vi) समाज में सहायक होते हैं। (vii) निर्धन व योग्य व्यक्तियों को चुनाव में खड़ा होने का अवसर देते हैं।

प्रश्न 8– दल व्यवस्था या राजनीतिक दलों के चार प्रमुख दोष बताइये।

उत्तर– (i) वे प्रायः देश-हित के वजाय दल-हित को प्रमुखता देने लगते हैं। (ii) जनता के मार्गदर्शन के स्थान पर उसको गुमराह करने लगते हैं। (iii) गुटबाजी फैलाते हैं। (iv) सरकार को गिराने के लिये ओछे हथकण्डे अपनाने लगते हैं।

प्रश्न 9– भारत के विरोधी राजनीतिक दलों की दो प्रमुख कमियाँ बताइये।

उत्तर– (1) वे सेवा पथ से हटकर सत्ता-पथ की ओर वढ़े चले हैं।

(2) राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा दलीय हितों को प्रमुखता देते हैं।

प्रश्न 10– प्रजातन्त्र में विरोधी दल क्यों आवश्यक हैं ? संक्षेप में बताइये।

प्रश्न 11– राजनीतिक दल और जनमत का क्या सम्वन्ध है ?

प्रश्न 12– दल-वदल से क्या हानियाँ हैं ?

प्रश्न 13– दल-बदल रोक विधेयक की मुख्य वातें वताइये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

1. प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का स्थान तथा महत्व क्या है ? (1966, 69)

2. प्रजातन्त्र शासन से आप क्या समझते हैं ? क्या इसके कार्य संचालन के लिये राजनीतिक दल आवश्यक है ? कारण सहित लिखिये। (1971)

3. राजनीतिक दल किसे कहते हैं ? उसके कार्य क्या हैं ? (1974)

4. टिप्पणी लिखिये– (i) एकदलीय राज्य, (ii) राजनीतिक दल। (1976, 80, 90, 91)

5. लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का क्या महत्व है ? इनके संगठन का क्या आधार होना चाहिये ? (1978)

6. दल-प्रणाली के गुणों व दोषों की दिवेचना कीजिये। (1968, 79, 83)

7. राजनीतिक दलों की प्रकृति का वर्णन कीजिये तथा आधुनिक लोकतन्त्र में उनकी भूमिका का विवेचम कीजिये। (1986)

8. राजनीतिक दल का क्या अर्थ है ? आधुनिक राज्यों में उसके कार्यों का वर्णन कीज़िये। (1990, 92)

9. राजनीति में दल-वदल के रोग का विवरण दीजिए। भारतीय दल-बदल रोक विधेयक क्या है ?

10. राजनीतिक दलों से आप क्या समझते हैं ? लोकतन्त्र में इनका क्या महत्व है ? (1993)

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– किसी देश में राजनीतिक दलों की संख्या सामान्यतः कितनी होनी चाहिये ?

उत्तर– दो।

प्रश्न 2– भारत के चार अ० भा० राजनीतिक दलों के नाम बताइये। **(1991)**

उत्तर– (i) काँग्रेस (इ०), (ii) भारतीय जनता पार्टी, (iii) जनता दल, (iv) भारतीय साम्यवादी दल।

प्रश्न 3– भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये किस राजनीतिक दल का निर्माण हुआ था ?

उत्तर– भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस।

प्रश्न 4– आर्थिक आधार पर बनने वाले एक राजनीतिक दल का नाम बताइये।

उत्तर– भारतीय साम्यवादी दल।

प्रश्न 5– साम्प्रदायिक राजनीतिक दल देश के लिये हानिकारक क्यों होते हैं ? कोई एक कारण बताइये।

उत्तर– क्योंकि वे देश-हित के मुकाबले अपने सम्प्रदाय के हित को प्रमुखता देते हैं।

प्रश्न 6– राजनीतिक दलों के दो प्रमुख कार्य बताइये। **(1987, 89, 91)**

उत्तर– (i) चुनावों में भाग लेना, (ii) जनमत का निर्माण करना।

प्रश्न 7– प्रजातन्त्र में विरोधी राजनीतिक दल का होना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– क्योंकि विरोधी दल की अनुपस्थिति में सत्तारूढ़ दल तानाशाह बन जाता है।

प्रश्न 8– राजनीतिक दलों के लाभ व दो दोष बताइये। **(1988, 90)**

उत्तर– लाभ– (i) लोकमत का प्रकटीकरण, (ii) सरकार पर नियन्त्रण।

दोष– (i) गुटबन्दी को प्रोत्साहन, (ii) दलीय हितों को प्रमुखता।

□□

25

मताधिकार तथा निर्वाचन-प्रणालियाँ
(Franchise and Methods of Election)

"मताधिकार एक अधिकार है जो राज्य द्वारा उन व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है जिनके विषय में यह समझा जाता है कि वे इसका प्रयोग राष्ट्र हित में करने की योग्यता रखते हैं।" —गार्नर

"वयस्क मताधिकार से पहले सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। अशिक्षित व्यक्ति अपने मत का ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं कर सकते।" —जे० एस० मिल

इस अध्याय में क्या है ?

(1) मताधिकार का शाब्दिक तथा वास्तविक अर्थ, (2) मताधिकार प्राप्ति की योग्यतायें, (3) मताधिकार के भेद तथा आधार, (4) सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार, (5) शिक्षा के आधार पर मताधिकार, (6) स्त्रियों को मताधिकार, (7) वयस्क मताधिकार, (8) वयस्क मताधिकार के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क, (9) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष निर्वाचन व उनके गुण-दोष, (10) अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व, (11) निर्वाचन-प्रणालियाँ, (12) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली, (13) एकल संक्रमणीय मत पद्धति, (14) उदाहरण, (15) पृथक् निर्वाचन प्रणाली, (16) आदर्श निर्वाचन-प्रणाली के गुण, (17) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (18) अति लघु उत्तरीय व लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

मताधिकार का शाब्दिक अर्थ

मताधिकार दो शब्दों से मिलकर वना है। मत + अधिकार, जिसका शाब्दिक अर्थ— मत देने या राय प्रकट करने का अधिकार। प्रजातन्त्र राज्यों में साधारणतः नागरिक को विचार, लेखन या भाषण की स्वतन्त्रता प्रदान करके यह छूट दी जाती है कि वह किसी भी समस्या के सम्वन्ध में अपना मत प्रकट कर सकता है। इसे भी मत प्रकट करने का अधिकार कहा जाता है। समस्याओं के सम्वन्ध में नागरिकों द्वारा प्रकट किया जाने वाला मत राज्य द्वारा स्वीकार कर भी लिया जाता है और नहीं भी किया जाता है।

नागरिकशास्त्र में मताधिकार का अर्थ

किन्तु नागरिकशास्त्र में 'मताधिकार' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। प्रजातन्त्रीय देशों में नागरिकों को परोक्ष रूप से शासन में भाग लेने का अधिकार प्रदान किया जाता है। इसके लिये वे चुनाव में खड़े उम्मीदवारों में से किसी भी उम्मीदवार को अपना मत या वोट देकर चुनते हैं। ये उम्मीदवार व्यवस्थापिका के सदस्य वनकर सरकार का निर्माण करते हैं। उम्मीदवारों को चुनने के लिये नागरिकों को अपना मत या वोट देने का जो अधिकार प्राप्त होता है, उसे ही मताधिकार कहा जाता है। मत या वोट देने का यह अधिकार, पागल, कोढ़ी, दिवालिया, नावालिग तथा अपराधियों को छोड़कर सामान्यतः सभी नागरिकों को प्राप्त होता है।

जिस नागरिक को मताधिकार प्राप्त होता है उसे मतदाता (Voter) या निर्वाचक (Elector) कहा जाता है और मत देने की क्रिया को मतदान (Voting) कहा जाता है।

गार्नर ने मताधिकार की परिभाषा इस प्रकार की है कि, "मताधिकार एक अधिकार है जो राज्य द्वारा उन व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है जिनके विषय में यह समझा जाता है कि वे इसका प्रयोग राष्ट्रहित में करने की योग्यता रखते हैं।"

मताधिकार प्राप्ति की योग्यतायें

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि राज्य के किन लोगों को मताधिकार प्रदान किया जाये ? राज्य के सभी व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान नहीं किया जाता। विभिन्न राज्य कुछ योग्यताओं के आधार पर मताधिकार प्रदान करते हैं। ये योग्यतायें निम्न प्रकार हैं–

(1) आयु– बच्चों को मताधिकार नहीं दिया जाता। विभिन्न राज्यों में एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने के बाद ही मताधिकार दिया जाता है आयु की यह सीमा रूस में 18 वर्ष, भारत, इंग्लैंड और अमेरिका में 21 वर्ष तथा हालैण्ड में 25 वर्ष है।

भारत में भी मताधिकार की आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष करने की माँग काफी समय से की जा रही थी। अतः दिसम्बर 88 से संविधान में 62वाँ संशोधन करके मतदान की आयु 18 वर्ष कर दी गई है।

मताधिकार प्राप्ति की योग्यतायें

1. आयु
2. नागरिक
3. लिंग
4. निवास काल
5. कर
6. शिक्षा।

(2) नागरिक– मताधिकार प्राप्त करने के लिये राज्य का नागरिक होना आवश्यक है। इसीलिये विदेशियों को मताधिकार प्रदान नहीं किया जाता।

(3) लिंग– संसार के लगभग सभी देशों में पुरुषों और स्त्रियों को बिना किसी भेद-भाव के मताधिकार प्रदान किया जाता है, किन्तु स्विट्जरलैण्ड में लिंग (Sex) को भी मताधिकार देने का आधार बनाया गया है। वहाँ स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया जाता।

(4) निवास-काल– कुछ राज्यों में मताधिकार तभी प्रदान किया जाता है, जबकि नागरिक निर्वाचन-क्षेत्र में एक निश्चित समय से रह रहा हो। अमेरिका में यह नियम लागू है।

(5) कर– मिल का कहना है कि, **"कर देना, मताधिकार के लिये एक आवश्यक योग्यता होनी चाहिये। जो लोग कर न दें उन्हें मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिये।"** परन्तु यह विचार उचित नहीं है, क्योंकि इससे गरीब लोग मताधिकार से वंचित रह जायेंगे तथा ऐसा करना प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।

(6) शिक्षा– मिल के मत में शैक्षिक योग्यता को मताधिकार का आधार बनाया जाना चाहिये, क्योंकि अशिक्षित लोगों को मताधिकार देने से शासन की बागडोर अयोग्य और मूर्खों के हाथ में चली जायेगी। अशिक्षित लोग अपने मत का सदुपयोग भी नहीं कर सकेंगे।

किन्तु दल प्रणाली के प्रचलन से शैक्षिक योग्यता की विशेष आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि लोग राजनीतिक दल के निर्देशों के अनुसार मत देते हैं। फिर मताधिकार के उपयोग में शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी विवेक की होती है।

मताधिकार के भेद तथा आधार

(Basis and Kinds of Franchise)

मताधिकार के भेद तथा उसको प्रदान करने के आधार के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचार निम्न प्रकार हैं–

(1) सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार

मिल जैसे कुछ विद्वानों का यह कहना था कि मताधिकार केवल धनी लोगों को ही प्राप्त होना चाहिये। मिल के अनुसार जो लोग कर नहीं देते उन्हें मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिये। इनके विचार से धनी लोग सदा ही शान्ति व सुव्यवस्था के समर्थक होते हैं, अन्य लोगों को इससे कोई नुकसान नहीं होता। अतः मताधिकार प्रदान कर उन्हें सरकार का निर्माण करने की सुविधा मिलनी चाहिये।

सिद्धान्त रूप में उक्त आधार सही प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। गरीब होना कोई पाप नहीं है। सच्चाई यह है कि अधिकांश निर्धन व्यक्तियों का चरित्र तथा आचरण धनी लोगों से ऊँचा होता है। फिर निर्धन लोगों को ही मताधिकार से क्यों वंचित किया जाये ? दूसरे, धनी लोग निर्धनों का शेषण करके ही धनवान वनते हैं, अतः केवल धनी होने के कारण उन्हें मताधिकार देना न्यायोचित नहीं है। तीसरे, केवल धनी लोगों को ही मताधिकार देने से सरकार में उनका ही प्रतिनिधित्व रहेगा और निर्धनों के हितों का कोई प्रभाव नहीं होगा। अतः केवल धन के आधार पर मताधिकार देने की बात किसी भी प्रकार न्यायोचित नहीं है।

मताधिकार देने का आधार
1. सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार
2. शिक्षा के आधार पर मताधिकार
3. स्त्रियों को मताधिकार
4. सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार।

(2) शिक्षा के आधार पर मताधिकार

कई विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि मताधिकार केवल शिक्षित लोगों को ही प्रदान किया जाना चाहिये। अशिक्षित लोग चूँकि अयोग्य होते हैं तथा अपने मत का सदुपयोग नहीं कर सकते, उन्हें मताधिकार नहीं प्रदान किया जाना चाहिये। इन विद्वानों की धारणा है कि, **"यदि अनपढ़ों को मताधिकार दिया गया, तो मूर्खों की सरकार का ही निर्माण होगा, क्योंकि अशिक्षित लोग विवेक से काम नहीं लेते।"**

किन्तु उक्त आधार भी कई कारणों से न्यायोचित प्रतीन नहीं होता। प्रथम, तो यह मान्यता ही सही नहीं है कि अशिक्षित लोग मूर्ख होते हैं। वास्तविकता यह है कि अनेक तथाकथित शिक्षित व्यक्ति भी मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं और अनेक अशिक्षित लोग बड़े विवेक एवं समझदारी से काम लेते हैं। **टैगोर तथा शेक्सपियर जैसे लोगों ने कभी किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा नहीं पाई, किन्तु विश्वविख्यात कवि बन गये।**

दूसरे, मताधिकार के प्रयोग से स्वयं नागरिकों को एक प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है। यदि नागरिक अशिक्षित हैं, तो इसके लिये राज्य दोषी है। उसे ही दण्डित किया जाना चाहिये, नागरिकों को मताधिकार से वंचित करके क्यों दण्डित किया जाये ? **फिर मताधिकार का सम्बन्ध शिक्षा से उतना नहीं होता जितना विवेक से होता है।**

अतः कहा जा सकता है कि राज्य के शिक्षित तथा अशिक्षित सभी नागरिकों को मताधिकार प्रदान करना ही न्यायसंगत है।

(3) स्त्रियों को मताधिकार

कुछ लोगों का कहना है कि केवल वयस्क पुरुषों को ही मताधिकार मिलना चाहिये, नारियों को नहीं। उनका कहना है कि स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र घर ही होता है, अतः उन्हें शासन के बाह्य कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिये। फिर नारियाँ स्वभाव से कोमल होती है किन्तु राजनीति में दृढ़ता, कठोरता की आवश्यकता होती है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि स्त्रियाँ मन्द बुद्धि वाली होती हैं। अतः उन्हें मताधिकार देना उचित नहीं है।

किन्तु मताधिकार का यह आधार भी न्यायोचित नहीं है। प्राचीनकाल में अवश्य स्त्रियों को मताधिकार नहीं प्रदान किया जाता था, किन्तु वर्तमान युग में इने-गिने देशों को छोड़कर संसार के लगभग सभी देशों में नारियों को मताधिकार प्राप्त है। वास्तविकता यह है कि नारियाँ किसी भी दृष्टि से पुरुषों से कम नहीं हैं। उनको केवल घर की चारदीवारी के अन्दर सीमित रखना उनके साथ अन्याय करना है। स्त्रियाँ यदि राजनीति में भाग लेंगी, तो उससे राजनीति में मधुरता ही आयेगी।

इसलिये मिल ने कहा है कि, **"स्त्रियों को तो पुरुषों से भी अधिक इस अधिकार की आवश्यकता है, क्योंकि वे शारीरिक दृष्टि से निर्बल होने के कारण अपनी रक्षा के लिये कानून व समाज पर निर्भर हैं।"**

वर्तमान युग में नारियों को मताधिकार न देने की बात कहना पिछड़ेपन का द्योतक है। आज संसार के अनेक देशों में नारियाँ हर क्षेत्र में पुरुषों के समान कार्य कर रही हैं। **हमारे अपने ही देश में श्रीमती इन्दिरा गाँधी 1966 से 1984 तक प्रधानमन्त्री रहीं।** इसके अतिरिक्त, विमान चालक कार्य नारियाँ करती हैं। पुलिस विभाग में **किरण बेदी जैसी महान् नारियाँ हैं,** उच्च प्रशासन सेवाओं में नारियाँ किसी से पीछे नहीं हैं। अतः नारियों को मताधिकार से वंचित कर केवल पुरुषों को ही मताधिकार देने का विचार मूर्खतापूर्ण ही कहा जायेगा।

(4) सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार
(Universal Adult Franchise)

समस्त वयस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार अर्थात् सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार का अर्थ है कि राज्य में रहने वाले उन समस्त स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्रदान किया जाये जो देश के नागरिक हैं। वयस्कता के लिये 18 या 21 वर्ष की आयु निर्धारित की जाती है। भारत में 18 वर्ष या उससे ऊपर की आयु के सभी स्त्री या पुरुष नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया गया। वर्तमान युग में **वयस्क मताधिकार** को सर्वमान्य आधार के रूप में अधिकांश देशों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। **सन् 1991 के चुनाव में भारत में 52 करोड़ मतदाताओं को मताधिकार प्राप्त था।**

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क
(Argument in Favour of Adult Franchise)

संसार के अधिकांश देशों ने वयस्क मताधिकार के निम्नलिखित गुणों के कारण इसको मान्यता प्रदान की है–

(1) सभी के हितों की रक्षा– वयस्क मताधिकार द्वारा समाज के सभी वयस्क पुरुषों तथा स्त्रियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। अतः इस सिद्धान्त द्वारा सभी वर्गों के हितों की रक्षा होती है।

(2) विकास के समान अवसर– वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त सभी नागरिकों को अधिकार प्रदान कर विकास के समान अवसर उपलब्ध कराता है।

जैसा कि मिल ने कहा है कि, **"प्रजातन्त्र मनुष्य की समानता को स्वीकार करता है और राजनीतिक समानता तभी हो सकती है, जब सभी नागरिकों को मताधिकार दे दिया जाये।"**

(3) राजनीतिक शिक्षा– वयस्क मताधिकार समस्त नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के राजनीति तथा शासन की शिक्षा प्रदान करता है।

(4) सभी के अधिकार तथा सम्मान सुरक्षित– मताधिकार के बिना न तो नागरिकों को अन्य अधिकार प्राप्त होंगे और न उनका सम्मान ही सुरक्षित रहेगा। मताधिकार मिलने से नागरिकों को अन्य नागरिक अधिकार भी स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं और वोट लेने के लिये बड़े लोग छोटों के पास और छोटे लोग बड़ों के पास जाते हैं जिससे सभी का सम्मान बना रहता है।

(5) शासन कार्यों में रुचि– मताधिकार प्राप्त होने से नागरिक शासन-कार्यों में रुचि तथा भाग लेते हैं जिससे राष्ट्र शक्तिशाली बनता है और नागरिकों में स्वदेश प्रेम की भावना उत्पन्न होती है।

(6) अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व– सभी नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होने से समाज के बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक सभी वर्गों को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। अतः समाज के सभी वर्ग सन्तुष्ट रहते हैं।

(7) जागरूक प्रतिनिध– चूँकि देश की समस्त वयस्क जनता शासन के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव करती है अतः ये जन-प्रतिनिधि वड़े जागरूक एवं सतर्क रहते हैं और सम्पूर्ण जनता की रुचि व इच्छा के अनुसार ही कानूनों आदि का निर्माण करते हैं।

(8) जनता व सरकार के बीच सम्पर्क– चूँकि वयस्क मताधिकार द्वारा सम्पूर्ण जनता ही सरकार के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव करती है, अतः सरकार सदा जनमत का ध्यान रखते हुए कार्य करती है। जनता अपने इस अधिकार का प्रयोग कर कभी भी सरकार को बदल सकती है। इस प्रकार वयस्क मताधिकार द्वारा सरकार तथा जनता के वीच वरावर सम्पर्क वना रहता है और दोनों को एक दूसरे की इच्छाओं का ज्ञान रहता है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क

1. सभी के हितों की रक्षा
2. विकास के समान अवसर
3. राजनीतिक शिक्षा
4. सभी के अधिकार सुरक्षित
5. शासन कार्यों में रुचि
6. अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व
7. जागरूक प्रतिनिधित्व
8. जनता व सरकार के वीच सम्पर्क
9. लोकतन्त्र का आधार
10. निरंकुशता पर रोक।

(9) लोकतन्त्र का आधार– वयस्क मताधिकार को लोकतन्त्र की नींव तथा आधार कहा जाता है, क्योंकि प्रजातन्त्र शासन में राज्य की वास्तविक प्रभुसत्ता मतदाताओं के हाथ में ही होती है।

(10) निरंकुशता पर रोक– वयस्क मताधिकार शासन की निरंकुशता को रोकने के लिए ब्रेक का काम करता है। मतदाता निरंकुश शासन को चुनाव में आसानी से वदल देते हैं। अतः सरकार मनमानी करने से डरती है।

वयस्क मताधिकार के दोष (विपक्ष में तर्क)

(Arguments Against Adult Franchise)

लेकी, आदि कुछ विद्वानों ने सम्पूर्ण वयस्क जनता को मताधिकार प्रदान करने की निम्नांकित दोषों के आधार पर आलोचना की है–

(1) मताधिकार का दुरुपयोग सम्भव– कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि वयस्क मताधिकार उचित नहीं है। मताधिकार बहुत महत्वपूर्ण अधिकार है। यह उन्हीं लोगों को प्राप्त होना चाहिये जिनमें इसका सदुपयोग करने की सामर्थ्य हो। वयस्कता के आधार पर सभी लोगों को मताधिकार देने से परिणाम यह होगा कि सरकार की बागडोर अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में आ जायेगी।

(2) अयोग्य व्यक्तियों का चुनाव सम्भव– मतदाताओं में अधिकांश संख्या अशिक्षितों की होती है। अतः वयस्कता के आधार पर सभी को मताधिकार देने से वे अयोग्य उम्मीदवारों की चिकनी-चुपड़ी वातों में आकर उन्हें ही वोट दे देते हैं जिससे शासन के लिये अयोग्य व्यक्ति चुन लिये जाते हैं।

लावेल ने ठीक ही कहा है कि **अज्ञानियों को मताधिकार दो, आज ही उनमें अराजकता फैल जायेगी और कल ही उन पर निरंकुश शासन होने लगेगा।**

(3) वोटों की खरीद– अधिकांश जनता चूँकि निर्धन तथा अनपढ़ होती है, अतः वयस्क मताधिकार की स्थिति में उनकी निर्धनता तथा अज्ञानता का लाभ उठाकर अनेक उम्मीदवार उनके वोटों को पैसे के द्वारा खरीद लेते हैं। वयस्क मताधिकार का यह वड़ा ही अनुपेक्षणीय दोष है।

वयस्क मताधिकार के दोष

1. मताधिकार का दुरुपयोग
2. अयोग्य व्यक्तियों का चुनाव सम्भव
3. वोटों की खरीद
4. धनी वर्ग के हित असुरक्षित
5. चुनाव में भ्रष्टाचार
6. रूढ़िवादिता
7. पारिवारिक अशान्ति
8. अधिकार ही नहीं, पवित्र कर्त्तव्य भी।

(4) धनी वर्ग के हित असुरक्षित– वयस्क मताधिकार की दशा में बहुसंख्यक निर्धन तथा मजदूर जनता प्रतिशोध की भावना से प्रतिनिधियों का चुनाव करती है जिससे धनिकों व पूँजीपतियों के हितों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। पिछले वर्षों में भारत में पश्चिमी बंगाल राज्य इसका उदाहरण रहा है।

(5) चुनाव में भ्रष्टाचार– वयस्क मताधिकार की स्थिति में मतदाताओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि चुनाव में लोग अनेक भ्रष्ट साधन अपनाने लगते हैं, जैसे– कुछ कमजोर वर्ग के लोगों को वोट डालने से जबरदस्ती रोकना, झूठे मतदाताओं का नाम दर्ज कराना, किसी के नाम का वोट किसी के द्वारा डलवा देना आदि।

(6) रूढ़िवादिता– जनता में रूढ़िवादी लोगों की संख्या अधिक होती है। ये लोग सुधारों तथां प्रगतिशील विचारों का विरोध करते हैं। अतः यदि वयस्क मताधिकार दिया गया तो शासन में रूढ़िवादी तथा प्रगतिशील विचारों के विरोधी लोगों का जमघट हो जायेगा। इसीलिये हेनरी मेन ने कहा है कि "वयस्क मताधिकार सम्पूर्ण प्रगति को समाप्त कर देगा।"

(7) पारिवारिक अशान्ति– यदि सभी वयस्क स्त्री पुरुषों को मताधिकार दिया गया तो परिवार में वोट देने के सम्बन्ध में अनेक मतभेद उत्पन्न हो जायेंगे और उससे पारिवारिक शान्ति भंग हो जायेगी।

(8) अधिकार ही नहीं, पवित्र कर्त्तव्य भी– मतदान अधिकार ही नहीं है, वरन् पवित्र कर्त्तव्य भी है। इस कर्त्तव्य के पालन पर ही देश के शासन की रूपरेखा बनती है और देश का भविष्य निर्भर होता है। अतः यह अधिकार उन्हीं को दिया जाना चाहिये जो इसको कर्त्तव्य समझकर इसका सदुपयोग करे।

किन्तु ये सभी दोष अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। अतः इनके बावजूद, आज संसार के अनेक प्रजातन्त्र देशों में जनता को वयस्कता के आधार पर मताधिकार प्रदान किया जाता है।

जैसा कि **लास्की** ने कहा है कि, **"वयस्क मताधिकार का कोई विकल्प नहीं है।"** *(There is no alternative to universal suffrage.)*

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली
(Direct & Indirect Electorate System)

सरकार बनाने के लिये प्रतिनिधियों का निर्वाचन जनता दो प्रकार से करती है– (1) प्रत्यक्ष रूप से, (2) परोक्ष रूप से।

प्रत्यक्ष निर्वाचन की परिभाषा

प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं जिसमें जनता सरकार बनाने के लिये सीधे अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। चुनाव के समय वह अपनी इच्छानुसार किसी भी उम्मीदवार को अपना वोट दे सकती है। चुनाव की समाप्ति पर विभिन्न उम्मीदवारों को प्राप्त वोटों की गणना कर ली जाती है और जिस उम्मीदवार को अधिक वोट मिलते हैं वह विधान सभा या संसद का सदस्य बन जाता है। फिर इन विधान सभा या संसद के सदस्यों में से ही बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल अपनी सरकार बनाता है और देश पर शासन करता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण व दोष (Merits & Demerits)

प्रत्यक्ष निर्वाचन का गुण यह है कि जनता तथा उसके प्रतिनिधियों में सीधा सम्पर्क रहता है और चुने हुए उम्मीदवार भी स्वयं को जनता के प्रति उत्तरदायी समझते हैं। इसका दोष यह है कि समपूर्ण जनता इस योग्य नहीं होती कि वह अच्छे उम्मीदवारों का चयन कर सके। अतः उम्मीदवारों के असत्य प्रचार के कारण लोग गलत उम्मीदवारों को मत देकर अपने इस अधिकार का दुरुपयोग कर सकते हैं। भारत के अनेक राज्यों में यही हुआ है।

परोक्ष निर्वाचन क्या है ?

परोक्ष या अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता सरकार के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव सीधे नहीं करती। पहले वह कुछ निर्वाचकों (Electors) को चुन लेती है। फिर ये निर्वाचक ही सरकार के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का चुनाव इसी परोक्ष रीति द्वारा सम्भव होता है।

परोक्ष निर्वाचन के गुण व दोष

इस रीति का गुण यह है कि शासन के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव निर्वाचकों द्वारा किया जाता है जो आमतौर पर शिक्षित, योग्य तथा अनुभवी होते हैं। फिर, इसमें आम चुनाव के अवसर पर प्रत्यक्ष निर्वाचन जैसा शोर-शराबा एवं तनाव उत्पन्न नहीं होता।

इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि जनता तथा शासन के लिये निर्वाचित प्रतिनिधियों के वीच सीधा सम्पर्क नहीं होता। परिणामस्वरूप, न तो ये प्रतिनिधिं ही जनता की चिन्ता करते हैं और न उनमें जनता का पर्याप्त विश्वास ही होता है। इस पद्धति को अलोकतन्त्रीय भी कहा जाता है। इसमें सामान्य जनता चुनाव के प्रति उदासीन बन जाती है।

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व (Representation of Minorities)

प्रत्येक देश में कुछ व्यक्ति या वर्ग ऐसे होते हैं जिनकी संख्या अपेक्षाकृत थोड़ी होती है और जिनका धर्म, संस्कृति तथा सामाजिक व राजनीतिक आचार-विचार वहुसंख्यकों से भिन्न होते हैं। ऐसे जनसमूह को अल्पसंख्यक कहा जाता है। निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर चुनाव कराने की प्रथा से आमतौर पर बहुसंख्यक दल के प्रतिनिधि ही सरकार के लियें चुने जाते हैं। इस प्रकार शासन में अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। अतः कुछ विद्वानों का यह विचार है कि अल्पसंख्यकों को कुछ विशेष अधिकार तथा संरक्षण प्रदान किये जाने चाहियें जिससे कि शासन में उनका भी प्रतिनिधित्व पहुँच सके।

इसके लिये दो रीतियाँ अपनायी जाती हैं। एक तो यह कि अल्पसंख्यकों के लिये विधानसभा में स्थान निश्चित कर दिये जाते हैं और अल्पसंख्यक अपने प्रतिनिधि चुनकर शासन में भेज देते हैं। भारत में हरिजनों के लिये सीटें सुरक्षित रखने की यही प्रणाली प्रचलित है। दूसरी रीति आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की है। इस रीति में समाज के प्रत्येक वर्ग को अपनी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है।

जे० एस० मिल अल्पसंख्यकों को व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व देने के समर्थक थे। उनका कहना था कि शासन पर सम्पूर्ण जनता का अधिकार होता है। अतः सम्पूर्ण जनता के शासन में केवल बहुसंख्यकों का प्रतिनिधित्व होना अलोकतन्त्रीय है। इसमें अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व भी होना चाहिये, ताकि समाज के सभी वर्ग सन्तुष्ट रहें।

इसके विपरीत, कुछ लोग अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के विरोधी हैं। उनके अनुसार इस रीति से व्यवस्थापिका सभा में अनेक छोटे-छोटे दल बन जाते हैं जो सम्पूर्ण देश के हित के स्थान पर वर्गीय हितों के लिये ही खींचतान करते रहते हैं। इस रीति से अल्पसंख्यकों में हीनता व संकीर्णता की भावना बनी रहती है और वे सदा ही अल्पसंख्यक बने रहना चाहते हैं।

निर्वाचन प्रणालियाँ (Electorate System)

वर्तमान युग में इस विचार को मान्यता प्राप्त है कि शासन में समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व हो। इसी दृष्टि से बहुसंख्यकों के साथ अल्पसंख्यकों को भी व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिये चुनाव की निम्नलिखित प्रणालियाँ अपनाई जाती हैं–

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation System)– इस प्रणाली का आविष्कार हेयर नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने किया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश को बहु सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से कम से कम तीन सदस्य चुने जाते हैं। मतदाता को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है।

इस प्रणाली में उम्मीदवार को विजयी बनने के लिये बहुमत प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु एक नियत न्यूनतम संख्या में मत प्राप्त करना आवश्यक होता है।

इस प्रणाली में आमतौर पर एकल संक्रमणीय मत पद्धति को अपनाया जाता है।

एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System)

इस पद्धति में मतदाता को एक ही मत प्राप्त होता है, किन्तु मतदाता अपनी पसन्द के अनुसार प्रत्येक उम्मीदवार को 'वरीयता मत' देता है। प्रत्येक उम्मीदवार के सामने 1, 2, 3, 4, 5 आदि संख्या लिखकर उनके लिये अपनी क्रमिक पसन्द प्रकट करता है।

एक उदाहरण द्वारा हम इस पद्धति को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

उदाहरण

राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल संक्रमणीय मत पद्धति के द्वारा होता है। वैसे तो आमतौर पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली तब अपनाई जाती है जबकि एक नहीं, बल्कि अनेक प्रतिनिधियों का चुनाव करना होता है। किन्तु राष्ट्रपति के निर्वाचन में यद्यपि एक ही व्यक्ति चुनना होता है, फिर भी इस प्रणाली को इसलिये अपनाया गया है, ताकि राष्ट्रपति वह व्यक्ति चुना जाये जिसे 50% से अधिक मत प्राप्त हों।

इस प्रणाली की एक विशेषता यह है कि प्रत्याशी की सफलता का आधार साधारण बहुमत नहीं, अपितु 'निर्वाचन कोटा' होता है। 'निर्वाचन कोटा' प्राप्त मतों की वह निश्चित संख्या है जिसे प्राप्त करना सफल कहे जाने वाले उम्मीदवार के लिये आवश्यक होता है। 'निर्वाचन कोटा' निकालने का सूत्र निम्नलिखित है–

$$\text{निर्वाचन कोटा (Election Quota)} = \frac{\text{दिये गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

उदाहरण के लिये; जुलाई 1992 में नवें राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा के चुनाव में पड़े कुल मतों का मूल्य 10,43,387 था। निर्वाचन केवल 1 पद का ही होना था। अतः सूत्र के अनुसार कोटा निम्न प्रकार हुआ–

$$\text{निर्वाचन कोटा} = \frac{10,43,387}{1+1} + 1$$

$$= 5,21,693 + 1 = 5,21,694$$

इस प्रकार राष्ट्रपति को सफल होने के लिये 5,21,694 मत प्राप्त करने आवश्यक थे, जबकि उन्हें 6,75,864 मत मिले थे।

एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System)– राष्ट्रपति के चुनाव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अन्तर्गत एकल संक्रमणीय मत पद्धति को अपनाया गया है। इस पद्धति में मतदाता प्रत्येक उम्मीदवार को अपनी पसन्द के अनुसार 'वरीयता मत'

देता है। इसका अर्थ यह है कि यदि 6 उम्मीदवार हैं, तो मतदाता मत-पत्र में प्रत्येक उम्मीदवार के सामने वरीयता (Preference) के आधार पर 1, 2, 3, 4, 5, 6 अंक लिखकर अपनी पसन्द या वरीयता प्रकट करता है।

इस पद्धति का लाभ तब पता चलता है जबकि राष्ट्रपति पद के लिये एक से अधिक उम्मीदवार हों और उनमें से किसी को भी **'निर्वाचन कोटा'** प्राप्त न हो। **तब फैसला कैसे हो? इस समस्या को यह पद्धति हल करती है।**

इस पद्धति में सबसे पहले प्रत्येक उम्मीदवार के प्रथम वरीयता मतों (First Preference Votes) की गणना होती है। **यदि प्रथम वरीयता मतों की गणना में कोई भी उम्मीदवार 'निर्वाचन कोटा' नहीं प्राप्त कर पाता, तो सबसे कम प्रथम वरीयता मत पाने वाले उम्मीदवार का नाम काट कर उसके प्रथम वरीयता मतों को शेष उम्मीदवारों में उनके द्वितीय वरीयता नियमों की संख्या के अनुपात में संक्रमण या हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसे द्वितीय मतपत्र प्रणाली भी कहा जाता है।**

यदि दूसरी वरीयता के मतों से भी 'निर्वाचन कोटा' प्राप्त नहीं होता, तो तीसरी, चौथी, पाँचवीं व छठी वरीयता के मतों के अनुपात में तब तक संक्रमण या हस्तान्तरण जारी रहता है, जब तक कि 'निर्वाचन कोटा' पूरा नहीं हो पाता। अन्त में 'निर्वाचन कोटा' पाने वाला उम्मीदवार विजयी घोषित कर दिया जाता है।

अगस्त 1969 में श्री वी० वी० गिरि द्वितीय वरीयता मतों की गणना के आधार पर ही राष्ट्रपति का चुनाव जीते थे।

गुण-दोष– इस प्रणाली का गुण यह है कि इसके अन्तर्गत सभी राजनीतिक दलों तथा वर्गों को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। मतदाता का मत व्यर्थ नहीं जाता। यह पद्धति पूर्णतः लोकतन्त्रीय है। साथ ही, इस प्रणाली में राजनीतिक दलों का प्रभाव तो कम हो जाता है और मतदाताओं का प्रभाव बढ़ जाता है।

इस प्रणाली का दोष यह है कि यह प्रणाली अत्यन्त जटिल है। इससे व्यवस्थापिका में अनेक दल हो जाते हैं और दलबन्दी के कारण सरकार का कार्य चलना कठिन हो जाता है। अतः यह प्रणाली राष्ट्र की प्रगति में बाधा उत्पन्न करती है।

(2) पृथक् निर्वाचन प्रणाली (Separate Electorate System)– अंग्रेजों ने अल्पसंख्यकों तथा समाज के विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिये इस प्रणाली को लागू किया था। इस प्रणाली के अनुसार समस्त देश को अनेक क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक जाति के लोग अपने-अपने उम्मीदवारों को मत देकर चुनते हैं, उदाहरण के लिये हिन्दू हिन्दुओं को, मुसलमान मुसलमानों को, सिक्ख सिक्खों को मत देकर अपने प्रतिनिधि चुनते हैं।

किन्तु यह पद्धति बड़ी दोषपूर्ण है। इसके अन्तर्गत देश विभिन्न जातियों व सम्प्रदायों में बँट जाता है। उनका दृष्टकोण राष्ट्रीय न रहकर संकुचित हो जाता है। वास्तविकता यह है कि अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में भेदभाव को बराबर बनाये रखने के लिये ही इस प्रणाली को जन्म दिया था। इसीलिये इसे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली भी कहा जाता था। यह प्रणाली पूर्णतः अलोकंतन्त्रीय तथा राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है। अतः भारत में इसका उपयोग नहीं किया जाता।

(3) द्वितीय मत प्रणाली (Second Ballot System)– इस प्रणाली के अन्तर्गत जब एक ही स्थान के लिए दो से अधिक उम्मीदवार खड़े होते हैं और सबसे अधिक मत पाने वाले उम्मीदवार को कुल मतों का बहुमत प्राप्त न हो, तो पहले चुनाव के प्रथम दो प्रतिनिधियों के बीच पुनः मतदान होता है। शेष उम्मीदवार मतदान से बाहर कर दिये जाते हैं। द्वितीय मतदान में पूर्ण बहुमत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को विजयी घोषित कर दिया जाता है।

यह प्रणाली प्रतिनिधित्व को व्यापक तथा न्यायोचित तो बनाती है किन्तु व्यवहार में कठिन है। यह प्रणाली फ्रांस में प्रचलित है।

(4) सीमित मत प्रणाली (Limited Vote System)– यह प्रणाली अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से बड़ी उपयुक्त मानी जाती है। इसमें बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं और प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक मत देने का अधिकार होता है किन्तु उसके मतों की संख्या उस निर्वाचन-क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से एक या दो कम होती है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक क्षेत्र से बहुसंख्यकों के प्रतिनिधि चुने जाने के साथ ही एक या दो प्रतिनिधि अल्पसंख्यकों के भी चुन लिये जाते हैं। इसमें मतदाता एक उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता।

(5) एकत्रित मत प्रणाली (Cumulative Vote System)– इस प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं किन्तु मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि उस क्षेत्र से चुने जाने होते हैं। साथ ही, मतदाता को यह अधिकार होता है कि वह अपने सभी मत एक ही उम्मीदवार को दे अथवा कई उम्मीदवारों को दे। इस प्रणाली में अल्पसंख्यक मतदाता अपने मत किसी एक ही उम्मीदवार को देकर उसे सफल बना सकते हैं।

आदर्श निर्वाचन प्रणाली के गुण
(Qualities of an Ideal Electorate System)

यह जानना भी आवश्यक है कि एक अच्छी व आदर्श चुनाव-प्रणाली किसे कह सकते हैं ? विद्वानों के अनुसार एक आदर्श एवं श्रेष्ठ चुनाव-प्रणाली में निम्नलिखित गुण होने चाहियें–

(1) वयस्क मताधिकार– आदर्श चुनाव-प्रणाली उसे ही कहा जाता है जिसमें स्त्री, पुरुष, जाति, धर्म या वर्ण के किसी भेद के विना सभी वयस्क व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त हो।

(2) गुप्त मतदान– आदर्श चुनाव-प्रणाली में मतदान गुप्त रीति से होना चाहिये जिससे मतदाता बिना किसी भय के अपना मत दे सकें।

(3) दबाव न हो– यह भी आवश्यक है कि चुनाव में अनुचित तरीके न अपनाये जा सकें और चुनाव के सम्बन्ध में मतदाताओं पर कोई दबाव न डाला जा सके।

(4) भ्रष्ट उपायों का अभाव– चुनाव-प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसमें चुनाव के समय वोटों की खरीद, झूठे वोट डालने आदि के भ्रष्ट उपाय न अपनाये जा सकें।

(5) प्रत्यक्ष चुनाव– आदर्श चुनाव प्रणाली उसे ही कहा जा सकता है जिसमें प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था हो।

(6) अल्पसंख्यकों का ध्यान– उसी चुनाव-प्रणाली को आदर्श कहा जा सकता है जिसमें अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

(7) जनता से सम्पर्क– अच्छी चुनाव-प्रणाली वही कही जायेगी जिसके अन्तर्गत चुने हुए प्रतिनिधियों तथा जनता में सदा निकट का सम्पर्क बना रहे।

(8) दलबन्दी पर रोक– आदर्श चुनाव-प्रणाली उसे कहा जा सकता है जो देश में राजनीतिक दलबन्दी को कम से कम प्रोत्साहन दे।

आदर्श-निर्वाचन प्रणाली के गुण

1. वयस्क मताधिकार
2. गुप्त मतदान
3. दबाव न हो
4. भ्रष्ट उपायों का अभाव
5. प्रत्यक्ष चुनाव
6. अल्पसंख्यकों का ध्यान
7. जनता से सम्पर्क
8. दलबन्दी पर रोक
9. निष्पक्ष निर्वाचन
10. एक मत।

(9) निष्पक्ष निर्वाचन– उसी निर्वाचन प्रणाली को आदर्श कहा जा सकता है जो भ्रष्टाचार, सरकारी अधिकारियों व प्रभावशाली व्यक्तियों के हस्तक्षेप से मुक्त हो।

(10) एक मत– आदर्श निर्वाचन प्रणाली में प्रत्येक मतदाता को एक ही मत देने-की व्यवस्था होनी चाहिये ताकि मतदाताओं में समानता बनी रहे।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) टिप्पणी लिखिये–

(i) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली या द्वितीय मत प्रणाली, **(1975, 78, 87)**

(ii) वयस्क मताधिकार, **(1991, 77, 81, 84)**

(iii) स्त्री मताधिकार, (iv) आनुपातिक प्रतिनिधित्व, **(1990)**

(v) द्वितीय मत प्रणाली। **(1991)**

(2) अच्छे नागरिकों को मताधिकार का प्रयोग क्यों करना चाहिये ? टिप्पणी लिखिये।

(3) आदर्श निर्वाचन प्रणाली की विशेषतायें बताइये।

(4) वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण व दोषों की विवेचना कीजिये। **(1979, 82)**

(5) वयस्क मताधिकार क्या है ? इसके पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिये। **(1985)**

(6) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली क्या है ? उदाहरण देकर समझाइये। **(1986)**

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– वयस्क मताधिकार क्या है ?

उत्तर– वयस्क मताधिकार का अर्थ है कि राज्य में रहने वाले उन समस्त वयस्क (बालिग) स्त्री-पुरुषों को मत (वोट) देने का अधिकार प्रदान किया जाये, जो देश के नागरिक हैं। वयस्कता के लिये 18 या 21 वर्ष की आयु निर्धारित की जाती है। भारत में अब 18 वर्ष या इससे ऊपर की आयु के सभी स्त्री-पुरुष नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया गया है।

वयस्क मताधिकार से सभी वयस्कों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। लोग शासन-कार्यों में रुचि लेते हैं तथा सभी को विकास के समान अवसर मिलते हैं। वयस्क मताधिकार लोकतन्त्र का प्रमुख आधार है।

प्रश्न 2– मताधिकार का क्या अर्थ है ?

उत्तर– लोकतन्त्र में चुनाव में उम्मीदवारों को चुनने के लिए नागरिकों को अपना मत या वोट देने का जो अधिकार प्राप्त होता है, उसे मताधिकार (right of voting) कहा जाता है। जिस नागरिक को मताधिकार प्राप्त होता है, उसे मतदाता (voter) कहा जाता है और मत देने की क्रिया को मतदान (voting) कहा जाता है।

प्रश्न 3– वयस्क मताधिकार के पक्ष में चार तर्क या गुण दीजिए।

उत्तर– वयस्क मताधिकार के पक्ष के प्रमुख तर्क हैं–

(i) वयस्क मताधिकार से सभी के हितों की रक्षा होती है।

(ii) सभी को विकास के समान अवसर मिलते हैं।

(iii) नागरिक शासन कार्यों में रुचि लेते हैं।

(iv) वयस्क मताधिकार से समाज के सभी वर्ग सन्तुष्ट रहते हैं।

(v) वयस्क मताधिकार शासन की निरंकुशता को रोकने के लिए ब्रेक का काम करता है।

प्रश्न 4– वयस्क मताधिकार के चार दोष बताइये।

उत्तर– वयस्क मताधिकार के चार दोष हैं– (i) मताधिकार का दुरुपयोग सम्भव, (ii) अयोग्य व्यक्तियों का चुनाव सम्भव, (iii) अशिक्षित मतदाताओं के वोटों की खरीद सम्भव, (iv) चुनाव में भ्रष्टाचार सम्भव।

प्रश्न 5– प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का एक गुण तथा एक दोष बताइये।

उत्तर– प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का गुण यह है कि जनता तथा उसके प्रतिनिधियों में सीधा सम्पर्क रहता है और दोष यह है कि उम्मीदवारों के गलत प्रचार अथवा दबावों के कारण मतदाता गलत उम्मीदवारों को मत दे देते हैं।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– मताधिकार प्राप्ति के लिये आवश्यक दो प्रमुख योग्यतायें बताइये।

उत्तर– (i) नागरिक होना, (ii) निर्धारित न्यूनतम आयु होना।

प्रश्न 2– स्त्रियों को मताधिकार देना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर– क्योंकि वे किसी भी दृष्टि से योग्यता व क्षमता में पुरुषों से कम नहीं हैं।

प्रश्न 3– वयस्क मताधिकार के पक्ष में दो तर्क दीजिये।

उत्तर– (i) सभी के हितों की रक्षा, (ii) अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित होना।

प्रश्न 4– प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का एक गुण तथा एक दोष लिखिये। (1985, 87)

उत्तर– गुण– (i) जनता व प्रतिनिधियों में सीधा सम्पर्क।

दोष– (i) योग्य व्यक्तियों का चुनाव से दूर रहना।

प्रश्न 5– अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक गुण तथा एक दोष बताइये।

उत्तर– गुण– (i) योग्य व अनुभवी व्यक्तियों का चुनाव।

दोष– (i) सामान्य जनता चुनाव के प्रति उदासीन।

प्रश्न 6– आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक गुण तथा एक दोष लिखिये। (1990)

उत्तर– गुण– (i) अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व।

दोष– (i) अत्यधिक जटिल पद्धति।

प्रश्न 7– वयस्क मताधिकार के दो दोष बताइये। (1990)

उत्तर– ये हैं– (i) अयोग्य व्यक्तियों का चुनाव सम्भव, (ii) चुनाव में भ्रष्टाचार।

प्रश्न 8– अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने वाली दो चुनाव पद्धतियों के नाम लिखिए। (1992)

उत्तर– (i) सीमित मत प्रणाली, (ii) एकत्रित मत प्रणाली।

प्रश्न 9– निर्वाचन की किसी एक प्रणाली का नाम बताइये। (1994)

उत्तर– आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली।

□□

26

राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता
(Nationalism and Internationalism)

"राष्ट्रीयता बुरी वस्तु नहीं है। बुरी वस्तु है मन की संकीर्णता और राष्ट्रीयता के नाम पर अन्य राष्ट्रों को हानि पहुँचाने की भावना।"
—महात्मा गाँधी

"राष्ट्रीयता की भावना रखने वाले को अपने देश की भूमि, वन, पर्वत, नदियाँ, मनुष्य, पशु-पक्षी, फूल और काँटे प्यारे लगते हैं।"
—जैन तथा सेठी

"अन्तर्राष्ट्रीयता विश्वबन्धुत्व की आध्यात्मिक भावना का राजनीतिक रूपान्तर है।" —जैन तथा सेठी

इस अध्याय में क्या है ?

(1) राष्ट्रीयता का अर्थ, (2) राष्ट्रीयता की प्रमुख परिभाषायें, (3) राष्ट्रीयता के पोषक तत्व, (4) राष्ट्रीयता के विकास की बाधायें, (5) राष्ट्रीयता से लाभ तथा हानियाँ, (6) देशभक्ति, (7) अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ, आवश्यकता तथा महत्व, (8) अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व, (9) अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क, (10) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न, (11) अति लघु उत्तरीय व लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

राष्ट्रीयता का अर्थ (Meaning of Nationalism)

'राष्ट्रीयता' राष्ट-प्रेम का ही दूसरा नाम है। राष्ट्रीयता नागरिक का एक आवश्यक गुण है। उसकी इस भावना पर ही राष्ट्र की उन्नति निर्भर होती है।

राष्ट्रीयता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे देखकर पहचाना जा सके। **राष्ट्रीयता किसी राष्ट्र के निवासियों की उस भावना को कहते हैं जिसके द्वारा वे राष्ट्र के प्रति अपना प्रेम या भक्ति प्रकट करते हैं, जो राष्ट्र के सभी निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधती है तथा अन्य राष्ट्रों के लोगों से उनकी भिन्नता को प्रकट करती है।**

राष्ट्रीयता या राष्ट्र-प्रेम की भावना से किसी देश के नागरिकों में राष्ट्रीय चरित्र का विकास होता है और नागरिक किसी भी अपने राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाला कार्य नहीं करते। राष्ट्रीयता या राष्ट्र-प्रेम की भावना के बिना कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।

राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद की भावना लोगों में प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में पाई जाती रही है। पुराने जमाने में छोटे-छोटे राज्य होते थे और राज्य के प्रति भक्ति की भावना होने के कारण ही लोग राज्य के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने को तत्पर रहते थे, किन्तु राष्ट्रीयता का आधुनिक विचार 19वीं शताब्दी की देन है।

राष्ट्रीयता की प्रमुख परिभाषायें (Main Definitions of Nationalism)

'राष्ट्रीयता' एक बड़ा व्यापक शब्द है। इसकी परिभाषा इने-गिने शब्दों में करना एक बड़ा ही कठिन कार्य है। फिर भी कुछ विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से इसकी परिभाषा करने का प्रयत्न किया है—

(1) क्राइस्ट के अनुसार, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है।"

(2) टेनवर के शब्दों में, "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो लोगों को किसी एक निश्चित राजनीतिक क्षेत्र या संगठन में रहने के लिये बाध्य करती है।"

(3) लायली के अनुसार, "राष्ट्रीयता उन मनुष्यों का समूह है जो जन्म, जाति, भाषा अथवा परम्पराओं, इतिहास तथा हितों की समानता के कारण एकता के सूत्र में बँध गया है।"

(4) डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, "राष्ट्रीयता पृथक् अस्तित्व की उस जागरूकता का प्रतीक है जो सामान्य आदतों, परम्पराओं, स्मृतियों, आकांक्षाओं तथा हितों पर आधारित हो।"

राष्ट्रीयता के पोषक तत्व

(Elements of Nationality)

राष्ट्रीयता का विकास किसी एक कारण या तत्व से नहीं हुआ करता। ऐसे अनेक तत्व हैं जिनके द्वारा लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जन्म लेती है तथा जो राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होते हैं। इनमें से कुछ तत्व निम्नलिखित हैं–

(1) धर्म की समानता– धर्म राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होता है। एक ही धर्म के मानने वाले लोग एक से ही देवताओं, रीति-रिवाजों तथा मान्यताओं में विश्वास करते हैं जिससे उनमें परस्पर एकता तथा बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होती है।

(2) संस्कृति, रहन-सहन तथा आवश्यकतायें– मनुष्य जन्म से ही एक सामाजिक प्राणी है। एक समान संस्कृति तथा समान रहन-सहन व वेश-भूषा वाले लोग जब एक साथ रहते हैं, तो उनमें राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य जिन मनुष्यों पर निर्भर रहता है, उनके साथ रहने की भावना उसमें उत्पन्न हो जाती है, जिससे राष्ट्रीय भावना विकसित होती है।

(3) जाति की समानता– एक जाति के लोगों का समान सामाजिक संगठन होता है, एक से रीति-रिवाज व त्यौहार होते हैं जिसके कारण उनमें राष्ट्रीय एकता के संस्कार पनपते हैं। किन्तु **वर्तमान युग में यह देखा जाता है कि** अनेक जाति के लोगों में भी राष्ट्रीयता की भावना पाई जाती है। **उदाहरण के लिये** भारत में ऐसा ही है।

राष्ट्रीयता के पोषक तत्व

1. धर्म की समानता
2. संस्कृति, रहन-सहन व आवश्यकतायें
3. जाति की समानता
4. भाषा की समानता
5. राजनीतिक एकता
6. भौगोलिक एकता
7. ऐतिहासिक स्मृतियाँ
8. विदेशी आक्रमण का भय।

(4) भाषा की समानता– राष्ट्रीयता के विकास में भाषा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। समान भाषा में राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण होता है और लोगों के आचार-विचार में भी एकता रहती है जिससे राष्ट्र के निवासी राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बंधते हैं।

रेमजे म्योर ने कहा है कि, **"राष्ट्रीयता के विकास में जाति की अपेक्षा भाषा अधिक महत्वपूर्ण होती है।"**

(5) राजनीतिक एकता– जिस देश के निवासी समान राजनीतिक विचार रखते हैं, उनमें राष्ट्रीयता की भावना शीघ्र ही पनपने लगती है। राजनीतिक गुटवन्दी राष्ट्रीयता के लिये घातक सिद्ध होती है।

(6) भौगोलिक एकता– जो लोग किसी एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं उनमें अपनी भूमि की रक्षा के लिये समान भाव उत्पन्न हो जाते हैं। यही भाव आगे चलकर राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लेते हैं।

गिलक्राइस्ट ने कहा है कि, **"एक निश्चित भू-भाग पर लगातार एक साथ रहना राष्ट्रीयता के विकास के लिये आवश्यक है।"**

(7) ऐतिहासिक स्मृतियाँ– इतिहास से मनुष्य को अपने पूर्वजों का, उनके कार्यों का, उनकी जय-पराजय का तथा प्राचीन कथाओं व गाथाओं का ज्ञान होता है। एक से ही पूर्वजों की सन्तान इनका स्मरण कर स्वयं को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है। भारत में रामायण व महाभारत आदि से पूर्वजों का जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह यहाँ के निवासियों में एकता व राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करता है।

इसलिये रेम्जे म्योर ने कहा है कि, **"वीरता के कार्य तथा धर्म के लिये झेले गये कष्ट वे सुन्दर तत्व हैं जिनसे राष्ट्रीयता की भावना का पोषण होता है।"**

(8) विदेशी आक्रमण का भय– विदेशी आक्रमण का सामना करने के लिये अनेक लोग विभिन्नतायें होते हुए भी एकता के सूत्र में बँध जाते हैं जिससे उनमें राष्ट्रीयता का विकास होता है।

राष्ट्रीयता के विकास की बाधायें
(Obstructions in the Development of Nationality)

अनेक बातें ऐसी हैं जो राष्ट्रीयता के विकास में बाधक बनती हैं। राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में आने वाली बाधायें निम्न हैं–

(1) अशिक्षा– अशिक्षा राष्ट्रीयता के विकास की सबसे बड़ी बाधा है। अशिक्षित लोगों का दृष्टिकोण संकुचित होता है और उनमें राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय जागरण का अभाव रहता है।

(2) परिवहन व संचार के साधनों का अभाव– परिवहन व संचार के साधनों अर्थात् रेल, मोटर, वायुयान, डाक-तार व टेलीफोन आदि का विकास न होने से मानव-मानव के बीच सम्पर्क नहीं हो पाता, जिसके कारण उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न नहीं हो पाती।

(3) साम्प्रदायिकता– अनेक लोगों का दृष्टिकोण इतना कट्टर तथा साम्प्रदायिक होता है कि वे समस्याओं पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार ही नहीं करते। अपने सम्प्रदाय या अपनी ही जाति के हितों के लिये परस्पर लड़ते रहते हैं। फलतः उनमें राष्ट्रीय एकता उत्पन्न नहीं हो पाती।

(4) प्रान्तीयता की भावना– जब लोग राष्ट्र-हित को भूलकर केवल अपने प्रान्त के हित को सोचते हैं, तो उनका दृष्टिकोण संकुचित व स्थायी हो जाता है। प्रान्तीयता की भावना राष्ट्रीयता की कट्टर शत्रु है।

(5) भाषा की भिन्नता– जिस देश में अनेक भाषायें होती हैं वहाँ भी लोग अपनी-अपनी भाषा के लिये झगड़ते रहते हैं। जिससे राष्ट्रीयता की भावना को क्षति पहुँचती है।

(6) व्यक्तिगत स्वार्थ– अनेक लोग राष्ट्र-हित की बातों को भुलाकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति की दृष्टि से ही सभी कार्य करते हैं। ऐसे लोगों की यह स्वार्थ भावना राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचाती है।

राष्ट्रीयता के विकास में बाधायें

1. अशिक्षा
2. परिवहन व संचार साधनों का अभाव
3. साम्प्रदायिकता
4. प्रान्तीयता की भावना
5. भाषा की भिन्नता
6. व्यक्तिगत स्वार्थ
7. जातिवाद।

(7) जातिवाद– जातिवाद भी राष्ट्रीय भावना के विकास का एक बाधक तत्व है। जातिवाद की भावना के कारण व्यक्ति केवल अपनी जाति के लोगों से ही प्रेम करते हैं, अन्य जाति के लोगों से घृणा करते हैं। इससे उनमें राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो पाता। कभी-कभी एक जाति के लोग अन्य जाति के लोगों से झगड़े भी कर बैठते हैं।

भारत में उपर्युक्त में से द्वितीय कारण को छोड़कर अन्य सभी कारण न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं और भारतीय राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचाकर उसके विकास में बाधक बनते हैं।

राष्ट्रीयता के लाभ या गुण
(Merits of Nationalism)

राष्ट्रीयता की भावना से अनेक लाभ होते हैं, जिनमें से कुछ अग्रलिखित हैं–

(1) **देश-प्रेम**– राष्ट्रीयता से लोगों में देश-प्रेम की भावना उत्पन्न होती है। राष्ट्रीयता देश-भक्ति का ही दूसरा नाम है। राष्ट्रीयता के कारण ही लोग देश के लिये सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहते हैं।

हेज ने लिखा है कि **"जब राष्ट्रीयता देश-प्रेम की पर्याय बन जाती है तो वह मानवता व संसार के लिये वरदान हो जाती है।"**

(2) **एकता**– राष्ट्रीयता की भावना के कारण विभिन्न विचारों वाले लोग भी अपने मतभेद भुलाकर एकता के सूत्र में बँधे रहते हैं।

(3) **राष्ट्रीय चरित्र**– राष्ट्रीयता से नागरिकों का राष्ट्रीय चरित्र उन्नत होता है। वे राष्ट्र के लिये व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने का पाठ पढ़ाते हैं।

राष्ट्रीयता के लाभ या गुण

1. देश-प्रेम
2. एकता
3. राष्ट्रीय चरित्र
4. व्यापक दृष्टिकोण
5. त्याग की भावना
6. विकास
7. अनुशासन।

(4) **व्यापक दृष्टिकोण**– राष्ट्रीयता की भावना लोगों को संकुचित विचारों के दायरे से बाहर निकालती है और उनके दृष्टिकोण को व्यापक बनाती है।

(5) **त्याग की भावना**– राष्ट्रीयता से लोगों में त्याग व बलिदान की भावनायें उत्पन्न होती हैं। इसी भावना के कारण ही भारतीय वीरों ने देश की रक्षा के लिये सदा खुशी से अपने प्राणों तक का बलिदान दिया है।

(6) **विकास**– राष्ट्रीयता की भावना मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में भी सहायक होती है।

(7) **अनुशासन**– राष्ट्रीयता के कारण लोगों में अनुशासन, राज्य के कानूनों का पालन तथा करों को चुकाने की भावना उत्पन्न होती है।

राष्ट्रीयता की हानियाँ व दोष
(Demerits of Nationalism)

अनेक विद्वानों ने राष्ट्रीयता की भावना की आलोचना की है। उनका कहना है कि राष्ट्रीयता की भावना ही अधिक विकसित होकर उग्र राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेती है। राष्ट्रीयता की भावना के कारण लोग अपने ही राष्ट्र को ऊँचा समझते हैं और अन्य राष्ट्रों से घृणा करने लगते हैं। उग्र राष्ट्रवाद ही विश्व युद्धों का कारण बनता है तथा साम्राज्यवाद अन्य देशों को गुलाम बनाने की प्रेरणा देता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय विचारों, कार्यों तथा सम्बन्धों को क्षति पहुँचाती है। इसी कारण उन्होंने राष्ट्रीयता को मानव-समाज का शत्रु कहा है। इस प्रकार उग्र राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति को क्षति पहुँचाती है।

संक्षेप में राष्ट्रीयता से निम्नलिखित हानियाँ हैं–

(1) **संकुचित दृष्टिकोण**– राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित होकर लोगों के दृष्टिकोण संकुचित हो जाते हैं और वे विश्व के हितों की उपेक्षा करने लगते हैं। इससे विश्व-बन्धुत्व की भावना पर कुठाराघात होता है।

(2) **युद्ध**– राष्ट्रीयता की तीव्र भावना विश्व-युद्ध तथा विश्व-संघर्ष की जननी है। उग्र राष्ट्रीयता के कारण ही प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध हुए।

(3) **साम्राज्यवाद**– राष्ट्रीयता की तीव्रता ही साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेती है। यूरोप के देशों की दूषित राष्ट्रीयता ने ही एशिया व अफ्रीका के देशों को सदियों तक गुलाम बनाये रखा।

हैज ने ठीक ही लिखा है कि, **"राष्ट्रीयता एक न एक दिन साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेती है।"** जर्मनी व जापान में, साम्राज्यवाद के उदय का कारण उग्र राष्ट्रवाद ही था।

राष्ट्रीयता की हानियाँ व दोष

1. संकुचित दृष्टिकोण
2. युद्ध
3. साम्राज्यवाद
4. मिथ्या अभिमान
5. घृणा
6. न्याय का अनादर।

(4) मिथ्या अभिमान– राष्ट्रीयता की भावना इस मिथ्या अभिमान को जन्म देती है कि **"मेरा राष्ट्र ही सर्वश्रेष्ठ है, अन्य राष्ट्रहीन हैं।"** इससे राष्ट्रों में परस्पर विरोध व कटुता पैदा हो जाती है।

(5) घृणा– उग्र राष्ट्रीयता के कारण ही लोगों के मन में विदेशियों के प्रति शत्रु भाव तथा अन्य संस्कृति वाले लोगों के प्रति घृणा के भाव पैदा हो जाते हैं।

(6) न्याय का अनादर– राष्ट्रीयता की तीव्रता ने लोगों में न्याय के प्रति आदर की भावना कम की है। व्यक्ति अपने राष्ट्र के अन्यायपूर्ण कार्य को भी उचित मानता है और अन्य देशों के न्यायोचित कार्यों को भी अनुचित मानने लगता है।

निष्कर्ष– राष्ट्रीयता के उपर्युक्त गुण-दोषों के विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता स्वयं में कोई बुरी चीज नहीं है। किन्तु यदि राष्ट्रीयता का दुरुपयोग कर उसके नाम पर कोई अन्य राष्ट्रों से घृणा व दोष का प्रचार करता है, तो राष्ट्रीयता का समर्थन नहीं किया जा सकता। जैसा कि महात्मा गाँधी ने भी कहा है कि, **"राष्ट्रीयता बुरी वस्तु नहीं है, बुरी वस्तु है मन की संकीर्णता, स्वार्थ और अन्य राष्ट्रों को हानि पहुँचाने की भावना, जो आधुनिक राष्ट्रों का अभिशाप है।"**

तथापि, वर्तमान युग विश्व-प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का युग है। अतः इस दृष्टि से **यह आवश्यक है कि विश्व-शान्ति की स्थापना के लिये,** यदि हमें किसी समय आवश्यकता हो तो, राष्ट्रीयता की भावना को एक ओर रखकर **पहले विश्व-शान्ति के महान् कार्य में अपना योग देना चाहिये।**

क्या राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति के लिये हानिकारक है ?
या
क्या राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी हैं ?

राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में परस्पर विरोधी धारणायें प्रचलित हैं।

इनके सम्बन्धों के बारे में प्रचलित **प्रथम धारणा** के अनुसार राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी हैं। इस मत के समर्थकों का कहना है कि राष्ट्रीयता की भावना व्यक्ति को अपने देश के प्रति अनन्य प्रेम करना सिखाती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीयता सम्पूर्ण मानव-जगत के प्रति प्रेम रखना सिखाती है। अतः राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी हैं। परन्तु यह धारणा सही नहीं है।

इस सम्बन्ध में **दूसरी धारणा** यह है कि राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में परस्पर कोई विरोध नहीं है। इसकी पुष्टि निम्न तथ्यों से होती है–

(1) जिस प्रकार एक बालक परिवार में रहकर प्रेम, सद्व्यवहार, दया आदि जिन गुणों को सीखता है और बड़ा होकर उन्हें समाज में लागू करता है उसी प्रकार राष्ट्रीयता से राष्ट्र-प्रेम सीखकर व्यक्ति मानव-मात्र से प्रेम करना ही सीखता है, घृणा करना नहीं।

(2) उदार राष्ट्रीयता की भावना 'जियो और जीने दो' (Live and let live) की भावना पर आधारित है। अतः वह विश्व-शान्ति के लिये हानिकारक नहीं हो सकती।

(3) इसीलिए गैरीसन ने कहा है, **"हमारा देश संसार है, हमारे देशवासी सारी मानवता है। जैसे हम अपने देश को प्यार करते हैं, वैसे ही अन्य देशों को भी प्यार करते हैं।"**

"Our country is the world, our countrymen are all mankind. We love the land of our nationality as we love all other lands." **—Garrison**

(4) इसी प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीयता यह कदापि नहीं कहती कि हम अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा न रखें, बल्कि वह तो यह कहती है कि राष्ट्रीय हितों और मानवता के हितों के बीच ऐसा समन्वय रखो कि सभी राष्ट्र समानता के आधार पर सुख वं समृद्धि का जीवन जीयें।

इसीलिये हेज ने कहा है कि, **"आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व से तात्पर्य सर्वोच्च जीवन-स्तर वाले राष्ट्रों के एक विश्व से ही है।"**

(5) अतः स्वस्थ राष्ट्रीयता के आधार पर ही कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन खड़ा हो सकता है। कहा जा सकता है कि **राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता की भूमिका या प्रथम चरण है।**

इसी उद्देश्य से जोसफ ने कहा है कि, **"राष्ट्रीयता व्यक्ति को मानवता से जोड़ने वाली महत्वपूर्ण कड़ी है।"**

इसीलिये महात्मा गाँधी ने कहा था कि, **"मेरे विचार से राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रवादी तभी सम्भव हो सकता है जबकि राष्ट्रवाद एक यथार्थ बन जाये।"**

किन्तु राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रथम चरण के रूप में तभी कार्य कर सकती है जबकि उसे संकुचित या उग्र रूप में न अपनाकर देश-प्रेम तथा सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के रूप में अपनाया जाये। उग्र या संकुचित राष्ट्रीयता युद्ध का कारण बनती है तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी होती है। जर्मनी के तानाशाह हिटलर द्वारा अपनाये गये उग्र व संकुचित राष्ट्रवाद के कारण ही विश्व को सन् 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध की अग्नि में जलना पड़ा था।

अतः राष्ट्रीयता को देशभक्ति व मानव-कल्याण को आधार बनाकर अंगीकार किया जाना चाहिये। **अतः उदार व मानवतावादी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रथम चरण है, किन्तु उग्र व संकुचित राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी है।"**

अतः इस दृष्टि से देखें तो राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे की पूरक हैं और विकसित, उदार व मानवतावादी राष्ट्रीयता विश्वशान्ति के लिये कतई हानिप्रद नहीं है।

देश-भक्ति या देश-प्रेम (Patriotism)

यह कथन पूर्णतः सत्य है कि **"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"** जननी ने जब हमें जन्म दिया, तो इस जन्मभूमि ने ही हमें अपनी गोद में लिया। इस प्रकार अपने प्यारे देश की भूमि के माध्यम से ही हमने जन्म लिया, यहाँ की मिट्टी पर ही हम पले, घुटनों चले, इसी भूमि पर पैदा होने वाला अन्न खाकर हम जीवन भर वढ़े और इस भूमि पर बहने वाला तथा इसकी छाती में छेद करके निकलने वाला जल पीकर हम स्वस्थ हुए। देश की इस प्यारी भूमि पर हम जीवन भर निवास करते हैं और अन्त में जव हम मरते हैं तो इस देश की प्यारी भूमि में ही हमारा यह पार्थिव शरीर विलीन हो जाता है।

जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जिस देश का इतना ऋण हम पर हो, उसके प्रति ऋणी और कृतज्ञ होना ही देश-प्रेम तथा देशभक्ति है। मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है–

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नरपशु निरा है, और मृतक समान है।।

देशभक्ति की माँग है कि हम कोई ऐसा कार्य न करें जिससे हमारे देश को हानि पहुँचे। अपने देश की रक्षा के लिए हम सदा तत्पर रहें और प्राणों की आहुति देने को भी तैयार रहें।

भारत का इतिहास हजारों देशभक्तों के त्याग व बलिदानों से भरा पड़ा है। अतः स्वतन्त्र नागरिक के रूप में हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम देशभक्ति या देश-प्रेम की भावना सदा मन में रखें और सदा देशहित के कार्य करें।

अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ
(Meaning of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रीयता उस भावना को कहते हैं जो संसार के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक प्रेम तथा एकता उत्पन्न करती है। अन्य शब्दों में, **अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व की भावना का राजनीतिक रूप है।**

गोल्डस्मिथ के शब्दों में,"अन्तर्राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जिसके अनुसार व्यक्ति स्वयं को केवल अपने राज्य का ही सदस्य नहीं, अपितु विश्व का भी नागरिक समझता है।"

"Internationalism is the feeling that the individual is not only a member of his state, but a citizen of the world." **—Goldsmith**

वास्तव में, **"मानवीय स्तर पर पारस्परिक सहयोग की राष्ट्रीय नीति का नाम ही अन्तर्राष्ट्रीयता है।"**

अन्तर्राष्ट्रीयता की आवश्यकता व महत्व
(Necessity & Importance of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना मनुष्यों में विश्व बन्धुत्व के उच्च संस्कार उत्पन्न करती है। आज अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं जिसके कारण उनमें परस्पर प्रेम तथा सहयोग की भावना उत्पन्न हुई है। गमनागमन के शीघ्रगामी साधनों ने इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम व सहयोग में और भी अधिक वृद्धि की है जिसने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया है। अन्तर्राष्ट्रीयता की यह भावना विश्व शान्ति तथा विश्व-कल्याण के लिये बड़ी उपयोगी है। इसी भावना के कारण आज अनेक विश्व-संगठनों का निर्माण हुआ है जो विश्व के पिछड़े राष्ट्रों की सहायता करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय की इस भावना के कारण ही, आज संसार के किसी भी भाग में भूकम्प, बाढ़, अकाल आदि संकटों के समय विश्व के सभी राष्ट्र उसकी सहायता को दौड़ पड़ते हैं। इसी भावना के कारण यूरोप के राष्ट्रों ने एशिया व अफ्रीका के पिछड़े देशों की आर्थिक व औद्योगिक क्षेत्रों में सहायता की है। अन्तर्राष्ट्रीयता की इस भावना के कारण ही आज रूस तथा अमेरिका जैसे विरोधी विचारधारा के राष्ट्र विश्व-शान्ति के लिये सहयोग से कार्य कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की यह भावना ही आज संसार को विश्व-युद्ध से बचाये हुये है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना वर्तमान समय में विश्व-शान्ति का आधार है। अतः प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि वह इसे अपनाकर विश्व-शान्ति में अपना योगदान दे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस दिन संसार से अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उठ जायेगी, उसी दिन मानव अणु-युद्ध और विनाश के कगार पर जा खड़ा होगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास या विस्तार में सहायक तत्व
(Helpful Factors in the Growth of Internationalism)

वर्तमान समय में विश्व में जो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना दिखाई देती है; उसके विकास में अग्रलिखित तत्व बड़े सहायक हुए हैं–

(1) वैज्ञानिक आविष्कार– वर्तमान युग विज्ञान का युग है। जहाज, वायुयान, रेल, टेलीफोन, मोटर, रेडियो जैसे वैज्ञानिक आविष्कारों ने सम्पूर्ण विश्व को एक नगर सा बना दिया है और राष्ट्रों की दूरियाँ कम कर दी हैं। इसी कारण आज एक देशवासी अन्य देशवासियों को अपना पड़ौसी समझता है।

(2) समाचार-पत्र व साहित्य– समाचार-पत्रों व साहित्य ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में भारी योगदान दिया है। समाचार-पत्रों व साहित्य के द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, भाषा व आचार-विचार को अच्छी प्रकार समझने लगा है। इसी प्रकार कालिदास, शेक्सपीयर, बनार्ड शॉ, प्रेमचन्द, टैगोर, मार्क्स जैसे विद्वानों के ग्रन्थों को सभी देशों में आदर की भावना से देखा जाता है। इससे राष्ट्रों में परस्पर प्रेम जगा है।

(3) आर्थिक निर्भरता– आज कोई भी राष्ट्र आर्थिक व औद्योगिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं है। प्रत्येक देश अन्य देश से कोई न कोई वस्तु अवश्य मंगाता है। इसी आर्थिक निर्भरता ने विभिन्न राष्ट्रों के बीच बन्धुत्व की भावना उत्पन्न की है।

(4) भयंकर युद्ध– वर्तमान परमाणु युग में युद्ध के ऐसे-ऐसे भयंकर अस्त्रों का निर्माण हो चुका है जिससे न मानव रहेगा न मानवीय सभ्यता। इसी भय से प्रत्येक देश युद्ध से बचकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग और प्रेम का मार्ग अपनाने का प्रयास करता है।

(5) विश्व-संगठन– संसार के विभिन्न राष्ट्रों के बीच स्नेह, सहयोग व सद्भावना का विकास करने में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संगठनों का भी महान् योगदान रहा है। सभी राष्ट्र इन संगठनों के कानूनों का आदर करते हैं जिससे परस्पर सहयोग बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व
1. वैज्ञानिक आविष्कार
2. समाचार-पत्र व साहित्य
3. आर्थिक निर्भरता
4. भयंकर युद्ध
5. विश्व-संगठन।

अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में तर्क या गुण
(Arguments in Favour of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क निम्न प्रकार हैं–

(1) विश्व-शांति की स्थापना– अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से विश्व के राष्ट्रों में परस्पर सद्भाव उत्पन्न होगा जिससे विश्व-शान्ति की स्थापना में सहायता मिलेगी।

(2) विश्व-सरकार की कल्पना साकार– अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना आगे चलकर विश्व सरकार की स्थापना में योग दे सकती है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना इसी दिशा में एक कदम है।

(3) साम्राज्यवाद का अन्त– राष्ट्रवाद ही साम्राज्यवाद को जन्म देता है जिससे शोषण और गुलामी का जन्म होता है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना साम्राज्यवाद की भावना पर प्रहार करती है।

(4) विश्व-बन्धुत्व– अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व की आध्यात्मिक भावना का ही राजनीतिक रूपान्तरण है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना संसार के लोगों में 'जिओ और जीने दो' के भाव उत्पन्न करती है।

(5) मानव-मात्र का विकास– अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना मानव को संकुचित दायरे से बाहर निकालकर सम्पूर्ण मानव-जाति के विकास के लिये मार्ग प्रशस्त करती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विपक्ष में तर्क या दोष
(Arguments against Internationalism)

राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं–

(1) राष्ट्रों के पृथक् अस्तित्व की समाप्ति– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास से लोगों में राष्ट्रीयता या राष्ट्र-प्रेम का अभाव हो जायेगा। अतः अपने देश से कोई लगाव नहीं रहेगा। फलतः राष्ट्रों का पृथक् अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा।

(2) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का अन्त– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता सीमित हो जायेगी जिससे राज्य का एक प्रमुख तत्व समाप्त हो जायेगा।

(3) विश्व-सरकार का स्वप्न– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास से विश्व सरकार की स्थापना की बात एक स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

(4) संघर्ष– अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास आगे चलकर विभिन्न राष्ट्रों के बीच संघर्ष तथा आपसी खींचतान को जन्म देगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधायें

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधायें निम्नलिखित हैं–

(1) संकुचित राष्ट्रीयता– संकीर्ण राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। यह इस मिथ्या अभियान को जन्म देती है कि **"मेरा राष्ट्र ही सर्वश्रेष्ठ है अन्य राष्ट्र हीन हैं।"** इससे राष्ट्रों में परस्पर विरोध व कटुता पैदा होती है।

(2) साम्राज्यवाद– साम्राज्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता व विश्व-शान्ति का सबसे बड़ा शत्रु है दोनों विश्व-युद्ध साम्राज्यवाद के कारण ही हुए थे।

(3) नस्लवाद– नस्लवाद भी अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग का रोड़ा है। यूरोप के निवासी अपनी कुछ नस्लों को सर्वश्रेष्ठ मानकर निम्न कोटि की नस्लों पर शासन करना अपना अधिकार मानते रहे हैं। द० अफ्रीका का रंगभेद उसी का एक रूप है।

(4) आदर्शों का टकराव– पूँजीवादी, साम्यवादी और गुट निरपेक्ष आदर्शों का टकराव भी तनाव उत्पन्न करके अन्तर्राष्ट्रीयता को क्षति पहुँचाता है। धर्म निरपेक्ष व धर्म सापेक्ष राज्यों का टकराव भी अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को क्षति पहुँचाता है। भारत और पाकिस्तान इसके उदाहरण हैं।

(5) शस्त्रीकरण– हथियारों की होड़ से भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को हानि पहुँचती है। हथियारों का निर्माण करने वाले देश सदा यह चाहते हैं कि विश्व में तनाव बना रहे। आज का बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद इसका उदाहरण है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष तथा विपक्ष में युक्तियाँ दीजिये। **(1969)**

(2) "विकसित राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना हो सकती है।" समझाइये। **(1970, 77)**

[संकेत– देखिए पीछे शीर्षक "क्या राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी हैं।"]

(3) राष्ट्रीयता की परिभाषा दीजिये तथा इसके विभिन्न तत्वों की विवेचना कीजिये।

(4) टिप्पणी लिखिये–

(i) राष्ट्रीयता (1994, 67), (ii) देशभक्ति (1971, 72, 73, 80), (iii) अन्तर्राष्ट्रीयता

(1974, 79), (iv) राष्ट्रवाद (1975, 90), (v) राष्ट्रीयता के मुख्य तत्व (1978)।

(5) "एक सफल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीयता की स्वस्थ धारणा पर निर्भर करता है।" विवेचना कीजिये। (1980)

[संकेत– देखिए पीछे शीर्षक "क्या राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी हैं।"]

(6) राष्ट्रीयता के तत्वों का वर्णन कीजिये। क्या राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति के लिये हानिप्रद है ?

(7) अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में कौन-सी बाधायें हैं ? (1987)

(8) राष्ट्रीयता पर एक निबन्ध लिखिए। (1991)

[संकेत– इस प्रश्न के उत्तर में राष्ट्रीयता का परिभाषा, उसके तत्व, गुण-दोष तथा उसके विकास की बाधाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए।]

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1– राष्ट्रीयता की परिभाषा कीजिये।

उत्तर– राष्ट्रीयता वह भावना है जिसके द्वारा लोग अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम प्रकट करते हैं, जो राष्ट्र के सभी निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधती है तथा अन्य राष्ट्रों के लोगों से उनकी भिन्नता को प्रकट करती है।

प्रश्न 2– राष्ट्रीयता के विकास के प्रमुख तत्व क्या हैं ? किन्हीं चार का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– ये हैं भाषा, धर्म व संस्कृति की समानता, विदेशी आक्रमण का भय, ऐतिहासिक स्मृतियाँ व भौगोलिक एकता। (प्रत्येक पर एक या दो-दो वाक्य बना दीजिये।)

प्रश्न 3– राष्ट्रीयता के विकास की चार प्रमुख बाधायें बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) अशिक्षा, (ii) साम्प्रदायिकता, (iii) प्रान्तीयता और (iv) व्यक्तिगत या दलीय स्वार्थ। (प्रत्येक पर दो-दो वाक्य वना दीजिये।)

प्रश्न 4– अन्तर्राष्ट्रींयता क्या है ?

उत्तर– अन्तर्राष्ट्रीयता उस भावना को कहते हैं जो संसार के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक प्रेम तथा एकता उत्पन्न करती है और विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व-राज्य की धारणा को बल देती है। अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-राज्य की धारणा का दूसरा नाम है।

प्रश्न 5– राष्ट्रीयता की भावना के विकास में जातिवाद कैसे बाधक होता है ? (1985)

उत्तर– जातिवाद की भावना के कारण व्यक्ति केवल अपनी जाति के लोगों से ही प्रेम करते हैं, अन्य जाति के लोगों से घृणा करने लगते हैं। कभी-कभी एक जाति के लोग अन्य जाति के लोगों से झगड़े भी कर बैठते हैं। इससे राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो पाता।

प्रश्न 6– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक चार तत्व बताइये।

उत्तर– ये हैं– (i) वैज्ञानिक आविष्कार, (ii) समाचार-पत्र व साहित्य, (iii) आर्थिक निर्भरता, (iv) विश्व संगठन।

प्रश्न 7– भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता के विकास में कैसे सहायक होती है ? उदाहरण देकर बताइये।

प्रश्न 8– राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग और सद्भावना क्यों आवश्यक है ? प्रमुख कारण बताइये।

प्रश्न 9– विदेशी आक्रमण की सम्भावना से भी राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है ? उदाहरण देकर समझाइये।

प्रश्न 10– ऐतिहासिक स्मृतियाँ किस प्रकार राष्ट्रीयता का पोषण करती हैं ?

प्रश्न 11– राष्ट्रवाद के चार लाभों या गुणों का उल्लेख कीजिये। (1986)

प्रश्न 12– राष्ट्रीयता की चार हानियाँ बताइये।

प्रश्न 13– राष्ट्रीयता विश्व-युद्ध तथा साम्राज्यवाद को जन्म देती है। उदाहरण देकर समझाइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– राष्ट्रीयता क्या है ?

उत्तर– राष्ट्रीयता किसी राष्ट्र के निवासियों की वह भावना है, जिसके द्वारा वे राष्ट्र के प्रति अपना प्रेम या भक्ति प्रकट करते हैं।

प्रश्न 2– राष्ट्रीयता के विकास के दो तत्व बताइये। (1994, 92)

उत्तर– (i) भाषा की एकता, (ii) सांस्कृतिक एकता।

प्रश्न 3– राष्ट्रीयता के मार्ग में उत्पन्न होने वाली दो बाधायें लिखिये। (1984)

उत्तर– (i) साम्प्रदायिकता, (ii) प्रान्तीयता।

प्रश्न 4– राष्ट्रीयता की दो हानियाँ या दोष बताइये। (1990)

उत्तर– (i) संकुचित दृष्टिकोण, (ii) साम्राज्यवाद।

प्रश्न 5– अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के दो सहायक तत्व लिखिये।

उत्तर– (i) वैज्ञानिक आविष्कार, (ii) आर्थिक निर्भरता।

प्रश्न 6– अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की दो बाधायें बताइये। (1989, 90, 92)

उत्तर– ये हैं– (i) संकुचित राष्ट्रीयता, (ii) आदर्शों का टकराव।

प्रश्न 7– अन्तर्राष्ट्रीयता के दो गुण बताइये। (1991)

उत्तर– ये हैं– (i) विश्व-शान्ति की स्थापना, (ii) साम्राज्यवाद का अन्त।

□□

27 गुट-निरपेक्षता तथा संयुक्त राष्ट्र संघ
(Non-Alignment and U.N.O.)

"गुट-निरपेक्षता का अर्थ है, प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर स्वतन्त्र, स्पष्ट तथा ऐसा रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना, जो किसी भी गुट से प्रेरित न हो तथा जिससे विश्व-शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को बढ़ावा मिले।"
—पं० नेहरू

"गुट-निरपेक्षता नीति ही नहीं, वल्कि हमारा धर्म और आस्था भी है।" —मोरारजी देसाई

"हम संयुक्त राष्ट्र संघ के विना आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।" —पं० नेहरू

इस अध्याय में क्या है ?

(1) गुट-निरपेक्ष नीति का जन्म, (2) गुट-निरपेक्षता का अर्थ, (3) तटस्थता व गुट-निरपेक्षता में अन्तर, (4) गुट-निरपेक्षता अपनाने की शर्तें, (5) गुट-निपरेक्षता के उद्देश्य, (6) गुट-निरपेक्षता आन्दोलन की समस्यायें, (7) गुट-निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन, (8) गुट-निरपेक्षता का मूल्यांकन तथा महत्व, (9) संयुक्त राष्ट्र संघ क्या है ?, (10) संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य, (11) संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्थायें, (12) संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में भारत का योगदान, (13) विस्तृत उत्तरीय व लघु उत्तरीय प्रश्न, (14) अति लघु उत्तरीय व लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर सहित)।

गुट-निरपेक्षता या असंलग्नता
(Non-Alignment)

गुट-निरपेक्ष नीति का जन्म
(Origin of Non-Alignment)

सन् 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद विश्व के देश दो गुटों में वँट गये। एक गुट का नेतृत्व समाजवादी देश रूस ने किया और दूसरे गुट का नेतृत्व पूँजीवादी देश अमेरिका ने किया। दोनों गुटों के इन नेता-देशों के बीच आपसी मतभेद काफी गहरे थे। उस समय दोनों ही इस प्रयास में लगे थे कि संसार के अधिक से अधिक देश उनके साथ रहें। इसीलिये रूस और अमेरिका में अधिक से अधिक देशों को अपने-अपने गुट में लाने की होड़ सी मच गई। उनके इन प्रयासों को 'शीतयुद्ध' का नाम दिया गया। दोनों गुटों के नेता रूस और अमेरिका इस हेतु सैनिक तैयारियाँ भी करने लगे।

इस स्थिति में एशिया व अफ्रीका के नये स्वतन्त्र देशों ने स्वयं को किसी भी गुट से बाँधने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि हमें तो अपना आर्थिक व सामाजिक विकास करना है। हम गुटवाजी में पड़कर सैनिकवाद की होड़ में शामिल नहीं होंगे।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन (Movement)

नये स्वतन्त्र देशों की इस भावना से गुटनिरपेक्षता या असंलग्नता की नीति का जन्म हुआ। भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर तथा युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो ने इस भावना को गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का रूप दिया।

इन नेताओं ने सन् 1961 में ऐस विचार वाले 25 गुट-निरपेक्ष देशों की एक बैठक वेलग्रेड (यूगोस्लाविया) में आयोजित की। इस प्रकार, विश्व में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का एक नई शक्ति के

रूप में जन्म हुआ। गुट-निरपेक्षता को अपनाने वाले इन स्वतन्त्र एवं विकासशील राष्ट्रों की संख्या बढ़कर अब 108 तक जा पहुँची है। इन राष्ट्रों में भारत, यूगोस्लाविया, इण्डोनेशिया, मिस्र, बर्मा, श्रीलंका, क्यूबा, जिम्बाब्वे के नाम विशेष उल्लेखनीय रहे हैं।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ
(Meaning of Non-Alignment)

गुट-निरपेक्षता का अर्थ, **"किसी भी सैनिक गुट में सम्मिलित न होना तथा प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर ऐसा स्वतन्त्र, स्पष्ट तथा रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना जो किसी भी शक्ति गुट से प्रेरित न हो तथा जिससे विश्व-शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को बढ़ावा मिले।"**

रूसी या अमरीकी गुटों में सम्मिलित होने वाले राष्ट्र तो प्रत्येक विश्व समस्या पर गुटों की दृष्टि से ही विचार करेंगे, भले ही उससे विश्व-शान्ति को खतरा हो जाये या विश्व-युद्ध सर पर मडराने लगे।

किन्तु गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने वाले राष्ट्र प्रत्येक विश्व समस्या पर अच्छाई-बुराई को ध्यान में रखकर विचार करते हैं और उसका समाधान इस प्रकार ढूँढते हैं कि विश्व में शान्ति व व्यवस्था बनी रहे।

तटस्थता व गुट-निरपेक्षता में अन्तर
(Difference between Neutrality and Non-Alignment)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में तटस्थता का अर्थ यह लगाया जाता है कि कोई भी देश अन्य देशों के पारस्परिक विवादों में किसी का भी पक्ष ने ले और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रति उदासीन (Neutral) रहे।

परन्तु गुट-निरपेक्षता का अर्थ तटस्थता कदापि नहीं है। तटस्थता व गुट-निरपेक्षता में अन्तर करते हुए जार्ज लिस्का ने कहा है कि—

"किसी विवाद के बारे में यह जानते हुये भी, कि कौन सही है कौन गलत, किसी का पक्ष नहीं लेना तटस्थता है, किन्तु गुट-निरपेक्षता का आशय सही और गलत में भेद करते हुए सदैव सही का समर्थन करना है।"

गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रेणता व कर्णधार पं० नेहरू ने कहा था कि हमारी गुट-निरपेक्षता का अर्थ तटस्थता कदापि नहीं है। सन् 1949 में पं० नेहरू ने अमरीकी जनता के समक्ष भाषण देते हुए कहा था कि, **"जब स्वतन्त्रता के लिये संकट उत्पन्न हो, न्याय पर आघात पहुँचे या आक्रमण की घटना घटित हो, तब हम तटस्थ नहीं रह सकते और न ही हम तटस्थ रहेंगे।"**

"Where freedom is menaced, justice threatened and aggression takes place, we can not be and shall not be neutral." **—Pt. Nehru**

गुट-निरपेक्षता की नीति को स्पष्ट करते हुए एक बार पं० नेहरू ने कहा था कि, **"गुट-निरपेक्षता के अनुसार हम उन शक्तियों व कार्यों का समर्थन करते हैं जिन्हें हम उचित समझते हैं और उनकी निन्दा करते हैं, जिन्हें हम अनुचित समझते हैं चाहे वे किसी भी विचारधारा की पोषक हों।"**

गुट-निरपेक्षता अपनाने की शर्तें
(Conditions to be a Non-aligned Country)

गुट-निरपेक्षता के जनक नेहरू, नासिर व टीटो ने 1966 में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित होने वाले राष्ट्रों के लिये कुछ आधारभूत शर्तें निर्धारित कीं, जो कि अग्रलिखित हैं—

(1) सम्बद्ध देश स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता हो।

(2) वह उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का विरोध करता हो।

(3) वह किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न हो।

(4) उसने किसी भी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता न किया हो।

(5) उसने किसी भी महाशक्ति या बड़े देश को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न दी हो।

गुट-निरपेक्षता की नीति के उद्देश्य
(Aims of Non-Alignment Policy)

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये–

(1) विश्व में शान्ति बनाये रखना।

(2) उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का विरोध करना।

(3) अन्य देशों से शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व व सहयोग के आधार पर सम्बन्ध रखना।

(4) सैनिक गुटों में शामिल न होना तथा उनका विरोध करना।

(5) हथियारों की होड़ समाप्त करना।

(6) रंग-भेद की नीति का विरोध तथा मानवाधिकारों का समर्थन करना।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन या निर्गुट आन्दोलन की संस्थायें
(Institution of Non-Aligned Movements)

गुट-निरपेक्ष देशों में परस्पर सहयोग, सम्पर्क व तालमेल स्थापित करने के लिये, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा विश्व के अन्य मंचों पर आन्दोलन की ओर से कार्यवाही करने के लिये, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की प्रगति के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिये निर्गुट आन्दोलन की निम्नलिखित दो संस्थायें कार्यरत् हैं–

(1) समन्वय ब्यूरो (Co-ordination Bureau)– समन्वय ब्यूरो गुट-निरपेक्ष देशों में सतत् विचार-विमर्श करने तथा कार्यों में समन्वय उत्पन्न करने का कार्य करता है। इसके सदस्य राष्ट्रों का निर्वाचन होता है। वर्तमान में 68 राष्ट्र इसके सदस्य हैं।

(2) सम्मेलन (Conferences)– गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं–

(क) विदेश मंत्रियों का सम्मेलन– इसमें गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्री भाग लेते हैं। गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन अक्टूबर 1984 में न्यूयार्क में तथा अन्य सम्मेलन 1985 में नई दिल्ली में और तत्पश्चात् 15 मई 1992 को बाली (इण्डोनेशिया में हुआ था।

(ख) शिखर सम्मेलन– इसमें गुट-निरपेक्ष देशों के प्रमुख, अर्थात् शासनाध्यक्ष (Heads) भाग लेते हैं।

ये सम्मेलन विश्व की समस्याओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करते हैं तथा विश्व-शान्ति के हित में उनका उचित समाधान सुझाते हैं। इन सम्मेलनों से गुट-निरपेक्ष देशों के बीच आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि होती है।

गुट-निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशों में अभी तक आठ शिखर सम्मेलन हो चुके हैं और इसके सदस्य-राष्ट्रों की संख्या भी 25 से बढ़कर 108 तक जा पहुँची है। विभिन्न शिखर सम्मेलनों तथा उनके कार्यों

का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है।

(1) प्रथम शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड, 1961)– यह शिखर सम्मेलन सितम्बर, 1961 में यूगोस्लाविया के नगर बेलग्रेड में हुआ। इसमें 25 गुट-निरपेक्ष देश सम्मिलित हुए। इसमें कांगों समस्या, बर्लिन समस्या तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन के प्रवेश आदि की समस्याओं के शीघ्र समाधान पर जोर दिया गया तथा निःशस्त्रीकरण का समर्थन एवं द० अफ्रीका की रंग-भेद नीति का विरोध किया गया।

(2) दूसरा शिखर सम्मेलन (काहिरा, 1964)– अक्टूबर, 1964 में मिस्र की राजधानी काहिरा में आयोजित इस शिखर सम्मेलन में 41 गुट-निरपेक्ष देशों ने तथा 11 पर्यवेक्षक देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के पंचशील सिद्धान्त की घोषण की गई तथा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का विस्तार करके अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने पर जोर दिया गया।

(3) तीसरा शिखर सम्मेलन (लुसाका, 1970)– सितम्बर, 1970 में लुसाका में आयोजित तीसरे शिखर सम्मेलन में 63 देशों ने भाग लिया। इमसें निर्धन देशों के आर्थिक विकास के सुझावों पर तथा अन्य अनेक राजनीतिक विषयों पर विचार किया गया।

(4) चौथा शिखर सम्मेलन (अल्जीयर्स, 1973)– सितम्बर 1973 में अल्जीरिया देश की राजधानी अल्जीयर्स में आयोजित चौथे शिखर सम्मेलन में 78 गुट-निरपेक्ष राष्ट्र सम्मिलित हुए। इसमें साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का विरोध किया गया। अफ्रीकी देशों के स्वतन्त्रता आन्दोलन को समर्थन देने की घोषण की गई तथा गुट-निरपेक्ष देशों के बीच आर्थिक व तकनीकी सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया गया।

(5) पाँचवाँ शिखर सम्मेलन (कोलम्बो, 1976)– अगस्त, 1976 में पाँचवाँ निर्गुट शिखर सम्मेलन श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में हुआ जिसमें 86 गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने भाग लिया। यह सम्मेलन बहुत प्रभावी सिद्ध हुआ। श्रीलंका की प्रधानमन्त्री भण्डारनायके अगले 3 वर्षों के लिये इस सम्मेलन की अध्यक्षा चुनी गयीं। इस सम्मेलन में आर्थिक, न्याय व समानता के आधार पर एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया गया।

(6) छठा शिखर सम्मेलन (हवाना, 1979)– सितम्बर, 1979 में हवाना (क्यूबा) में आयोजित छठे निर्गुट-शिखर-सम्मेलन में भाग लेने वाले गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या बढ़कर 94 तक जा पहुँची। क्यूबा के राष्ट्रपति फिडल कास्त्रो अगले शिखर सम्मेलन तक के लिये इसके अध्यक्ष चुने गये। इस सम्मेलन में द० अफ्रीका सरकार की रंगभेद नीति के विरुद्ध संघर्ष का समर्थन किया गया और हिन्द महासागर में महाशक्तियों की बढ़ती प्रतिस्पर्धा पर चिन्ता व्यक्त की गई। सम्मेलन में आणविक निःशस्त्रीकरण का भी समर्थन किया गया।

(7) सातवाँ शिखर सम्मेलन (नई दिल्ली, 1983)– मार्च, 1983 में नई दिल्ली में आयोजित सातवें शिखर सम्मेलन में 101 गुट-निरपेक्ष देशों ने भाग लिया जिसमें 52 देश अफ्रीका महाद्वीप के, 29 देश एशिया के, 17 देश उत्तरी, मध्य व दक्षिणी अमेरिका के और 3 देश यूरोप महाद्वीप के थे। इस सम्मेलन में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी आगामी सम्मेलन तक के लिये इसकी अध्यक्षा चुनी गयीं। श्रीमती गाँधी के प्रयत्नों से इस आन्दोलन को भारी बल मिला तथा इस आन्दोलन ने विश्व की राजनीति को प्रभावित किया।

इस सम्मेलन में ईरान-इराक युद्ध की समाप्ति का आग्रह किया गया, फिलस्तीन समस्या के सम्बन्ध में इजराइल के रवैय्ये की निन्दा की गई, हिन्द महासागर क्षेत्र में बड़ी शक्तियों की प्रतियोगिता की निन्दा की गई तथा दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की भर्त्सना की गई।

1984 में श्रीमती गाँधी की मृत्यु के बाद श्री राजीव गाँधी इसके अध्यक्ष बने।

(8) आठवाँ शिखर सम्मेलन (हरारे, 1986)– सितम्बर, 1986 में निर्गुट राष्ट्रों का आठवाँ

शिखर सम्मेलन अफ्रीकी देश जिम्बाब्वे की राजधानी हरारे में हुआ। प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी ने 101 गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के संगठन की अध्यक्षता सम्मेलन के नये अध्यक्ष जिम्बाब्वे के प्रधानमन्त्री श्री राबर्ट मुगाबे को सौंपी। इस सम्मेलन में 3 और नये राष्ट्र सम्मेलन के सदस्य बने। फलतः निर्गुट राष्ट्रों की संख्या बढ़कर 104 हो गई।

इस सम्मेलन में अफगानिस्तान, निकारागुआ, नामीबिया, पश्चिमी एशिया, आतंकवाद, परमाणु-निरस्त्रीकरण, ईरान-इराक युद्ध, दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति आदि समस्याओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किये गये।

(9) नवाँ शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड 1989)– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का नवाँ शिखर सम्मेलन सितम्बर 1989 में यूगोस्लाविया की राजनधानी बेलग्रेड में हुआ। जिसकी अध्यक्षता यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति ने की। इस सम्मेलन में 105 गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने भाग लिया। यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति जोनेज द्रोनोवसेक आगामी तीन वर्ष के लिये गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष चुने गये।

इस सम्मेलन में अफगानिस्तान समस्या के राजनीतिक समाधान, लेटिन अमेरिका में लोकतन्त्र, फिलस्तीन समस्या के समाधान तथा दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी सरकार के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की माँग की गई। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के नेतृत्व में 18 अरव डालर का एक पर्यावरण कोष भी स्थापित किया गया।

(10) दसवाँ शिखर सम्मेलन (जकार्ता 1992)– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का दसवाँ शिखर सम्मेलन 1 सितम्वर से 6 सितम्बर, 1992 तक इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में हुआ जिसमें 108 सदस्य राष्ट्रों ने भाग लिया। इसकी अध्यक्षता इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति ने की।

इस सम्मेलन में विश्व राजनीति के बदलते परिवेश में राजनीतिक मसलों की अपेक्षा आर्थिक मसलों को प्रमुखता देने का निर्णय किया गया। आतंकवाद की निन्दा की गई तथा न्याय, समानता व लोकतन्त्र पर आधारित विश्व-व्यवस्था की स्थापना पर बल दिया गया।

गुट-निरपेक्षता का मूल्यांकन (उपलब्धियाँ तथा कमजोरियाँ)

(Valuation and Importance of Non-Alignment)

ऊपर दिये विवरण से स्पष्ट है कि विगत् 25 वर्षों की अवधि में जहाँ गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या बढ़कर 108 हो गई है, वहाँ इस आन्दोलन में विश्व के दो-तिहाई राष्ट्र सम्मिलित हो गये हैं।

आन्दोलन की उपलब्धियाँ– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्न प्रकार हैं–

(1) तृतीय विश्व– 108 गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों को **'तृतीय विश्व'** की संज्ञा दी जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ में तथा विश्व की समस्याओं के समाधान में निर्गुट राष्ट्रों की बात वड़े ध्यान से सुनी जाती है।

(2) सन्तुलन– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने अपने प्रयासों से रूस व अमेरिका के दो विरोधी गुटों के बीच सन्तुलन वनाये रखा हैं। इस आन्दोलन के प्रयासों के कारण ही रूस व अमेरिका निकट आये हैं और निरस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़े हैं।

(3) विवादों का हल– गुट-निरपेक्ष सम्मेलन ने सदस्य राष्ट्रों के वीच उत्पन्न विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के प्रयास किये हैं जैसे इराक-ईरान युद्ध तथा अफगानिस्तान में विदेशी हस्तक्षेप का विवाद।

(4) समझौते– गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने पारस्परिक विकास के लिये आर्थिक, औद्योगिक व तकनीकी समझौते किये हैं।

(5) रंगभेद नीति का विरोध– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के हरारे सम्मेलन में द० अफ्रीका

की रंगभेद नीति का सक्रिय रूप से विरोध करने का निश्चय किया गया। इसके लिये निम्न पग उठाये गये — दक्षिण अफ्रीका को प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण पर रोक, तेल के निर्यात, बिक्री या परिवहन की मनाही, वायु मार्गों को बन्द करना आदि।

(6) अफ्रीका निधि की स्थापना– हमारे सम्मेलन में अफ्रीका निधि के नाम से एक कोष की स्थापना की गई। इस निधि के संचालन के लिये भारत की अध्यक्षता में नौ सदस्यों की एक समिति बनाई गई। इस निधि का उद्देश्य दक्षिणी अफ्रीका द्वारा डाले जाने वाले दबावों व प्रतिबन्धों से अफ्रीका के राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था को संरक्षण प्रदान करना है।

(7) सदस्य संख्या– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के राष्ट्रों की संख्या 25 से बढ़कर 108 हो गई है।

आन्दोलन की कमजोरियाँ– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की अनेक कमजोरियाँ तथा बाधायें रही हैं जिनके कारण आन्दोलन की पूर्ण सफलता व्यावहारिक न बन सकी। ये कमजोरियाँ व बाधायें निम्नलिखित हैं–

(1) गुट-निरपेक्ष राष्ट्र मंच पर जो कहते हैं, उसका पालन स्वयं ही नहीं करते थे। उदाहरणतः इराक व ईरान इस सम्मेलन के सदस्य हैं मगर सम्मेलन की अपीलों के बावजूद 8 वर्ष तक परस्पर युद्धरत रहे।

(2) कई गुट-निपरेक्ष राष्ट्र सम्मेलन में शामिल तो हैं, मगर वे इस सम्मेलन के मंच का दुरुपयोग करते हैं तथा शीत युद्ध को बढ़ावा देते हैं, जैसे लीबिया।

(3) अमेरिका तथा कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्र इस आन्दोलन पर रूस समर्थक होने का आरोप लगाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्यूबा व उत्तरी कोरिया का व्यवहार भी रूस समर्थक रहा है। किन्तु अव सम्मेलन सही दिशा की ओर अग्रसर है।

(4) यह भी कहा जाता है कि सम्मेलन की आवाज के पीछे आर्थिक व सैनिक शक्ति नहीं है। इसी कारण सम्मेलन अनेक समस्याओं को नहीं सुलझा सका; जैसे कि कम्बोडिया, ईरान-इराक युद्ध, परमाणु निरस्त्रीकरण, आदि।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में भारत का योगदान

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की स्थापना तथा उसके विकास में भारत का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा जिसका विवरण निम्न प्रकार है –

(1) गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का संगठन बनाने की दिशा में भारत ने पहल की।

(2) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एशियाई देशों का एक सम्मेलन नई दिल्ली में बुलाया गया जिसमें 18 देशों ने भाग लिया।

(3) 1949 में दूसरा एशियाई सम्मेलन पुनः नई दिल्ली में बुलाया गया।

(4) 1955 में भारत, चीन व इण्डोनेशिया की पहल पर इण्डोनेशिया के बाण्डुँग नगर में 29 एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ जिसमें भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू की विशेष भूमिका रही। इसी सम्मेलन में पंचशील के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

(5) 1961 में बेलग्रेड सम्मेलन में पं० नेहरू के विशेष प्रयासों से तटस्थता व गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास किया गया। उस समय 25 राष्ट्रों ने इस नीति में दृढ़ विश्वास प्रकट किया।

(6) गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का सातवाँ सम्मेलन 1983 में नई दिल्ली में स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अध्यक्षता में हुआ जिसमें 101 सदस्य सम्मिलित थे।

(7) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन द्वारा स्थापित 'अफ्रीका निधि' की स्थापना व संचालन के लिये बनी 9 सदस्यों की समिति का भारत अध्यक्ष है।

कुछ सदस्य राष्ट्र

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के कुछ प्रमुख सदस्य राष्ट्र हैं– भारत, मिस्र, यूगोस्लाविया, श्रीलंका, जाम्बिया, अल्जीरिया, क्यूबा, जिम्बाब्वे, नाइजीरिया, कांगो, इण्डोनेशिया, अर्जेन्टाइना, पीरू, ईरान, इराक, अफगानिस्तान, तन्जानिया, आदि।

आन्दोलन का महत्व– परन्तु इन कमजोरियों के वावजदू, **गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का महत्व निरन्तर बढ़ रहा है, जैसा कि निम्न तथ्यों से स्पष्ट है–**

(1) विश्व के दो-तिहाई राष्ट्र आज इस आन्दोलन के सदस्य हैं।

(2) संयुक्त राष्ट्र संघ में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की आवाज सुनी जाती है। द0 अफ्रीका की रंगभेद नीति का विरोध इसका प्रमुख उदाहरण है।

(3) विश्व के दो प्रतिस्पर्धी गुटों में सन्तुलन पैदा करने में, विश्व-शान्ति बनाये रखने में तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(4) निर्गुट आन्दोलन परतन्त्र देशों की स्वतन्त्रता के लिये आवाज उठाता है तथा उन्हें समर्थन देता है।

(5) यह आन्दोलन निर्धन तथा पिछड़े देशों के आर्थिक विकास पर जोर देता है तथा उनकी मदद करता है।

(6) यह आन्दोलन शस्त्रीकरण को हतोत्साहित करता है तथा पूर्ण परमाणु निरस्त्रीकरण पर जोर देता है।

(7) यह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास करता रहा है।

(8) यह विश्व के प्रत्येक भाग में उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का विरोध करता है।

इस प्रकार, विकासशील व पिछड़े देशों की दुनिया के लिये यह आन्दोलन आशा की किरण है। जैसा कि स्व0 श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने सातवें निर्गुट सम्मेलन में कहा था, **"गुट-निरपेक्षता मानव व्यवहार का दर्शन है। इसमें समस्याओं के समाधान के लिये बल प्रयोग का कोई स्थान नहीं है। गुट-निरपेक्षता का औचित्य कल भी उतना ही रहेगा जितना आज है।"**

हरारे में आठवें शिखर सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी ने भी कहा था कि, **"गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की एक युगान्तकारी ताकत के रूप में एक अलग पहचान बन गई है। इस आन्दोलन में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, विश्व-शान्ति तथा समस्याओं के प्रति विश्व-दृष्टिकोण को एक नई दिशा मिलती है।"**

विश्व की बदली हुई परिस्थितियों में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का स्वरूप या भूमिका

पूर्वी यूरोप के देशों में आये भारी बदलाव, सोवियत्त संघ के राजनीतिक व आर्थिक पतन तथा रूस व अमेरिका द्वारा शीतयुद्ध व बरावरी की होड़ की समाप्ति की घोषणा को देखते हुए अव एक प्रश्न यह उभर रहा है कि शक्ति गुटों की समाप्ति की स्थिति में क्या अब गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को जारी रखने की आवश्यकता है ? क्या अब गुट-निरपेक्षता के अन्त का समय आ गया है ? यदि नहीं, तो फिर गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की भावी भूमिका तथा स्वरूप क्या हो ? इसकी कार्यशैली में कौन से परिवर्तन लाए जायें जिससे इस आन्दोलन की सार्थकता और साख बनी रहे ?

विश्व की वर्तमान स्थिति को देखें तो लगता है कि दुनिया से राजनीतिक साम्राज्यवाद तो समाप्त सा हो गया है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि से अब आर्थिक साम्राज्यवाद का नया चेहरा सामने

आ रहा है। मुक्त व्यापार के नाम पर अमीर देश गरीब व विकासशील देशों पर हर प्रकार के प्रतिबन्ध लगाना चाहते हैं। विदेश व्यापार के सम्बन्ध में भारत के विरुद्ध सुपर 301 जैसी विवादास्पद धारा के अन्तर्गत कड़ी कार्यवाही की अमरीकी धमकी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नवें बेलग्रेड सम्मेलन (सितम्बर 1989) में तथा दसवें शिखर सम्मेलन (जकार्ता 1992) में स्पष्ट रूप से इस खतरे को महसूस किया गया और कहा गया कि वर्तमान में जिस नये आर्थिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है, वह नये स्वतन्त्र व विकासशील देशों को आर्थिक गुलामी में जकड़ने का षड्यन्त्र है। अतः गुट-निरपेक्ष आन्दोलन भी अपना स्वरूप बदलकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने के लिये संघर्ष करेगा।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को राजनीतिक मोर्चे की ओर से आर्थिक मोर्चे की ओर को मोड़कर ही इसका अस्तित्व बचाया जा सकता है। यदि ऐसा हुआ तो निश्चित ही यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की नई भूमिका की सुखद शुरूआत होगी।

संयुक्त राष्ट्र-संघ
(United Nations Organisation)

संयुक्त राष्ट्र संघ क्या है ?
(What is U.N.O. ?)

संयुक्त राष्ट्र संघ उस विश्व संस्था का नाम है जो विश्व के विभिन्न राष्ट्रों ने विश्व प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्व-शान्ति क़ी स्थापना के लिये बनाई है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के भीषण परिणामों एवं विनाश को देखकर दुनिया काँप उठी और सभी के मन में शान्ति की प्यास जाग उठी। इसी भावना से प्रेरित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्व-शान्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ नामक विश्व-संस्था का निर्माण किया। इस संस्था की स्थापना 24 अक्तूबर, 1945 को विश्व के 51 राष्ट्रों ने मिलकर की थी। धीरे-धीरे इसके सदस्य राष्ट्रों में वृद्धि हुई और अब विश्व के 188 राष्ट्र इसके सदस्य हैं। इसका प्रधान कार्यालय न्यूयार्क (संयुक्त राज्य अमेरिका) में है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य
(Aims of U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना निम्न उद्देश्यों को सामने रखकर की गई थी–

(1) सभी राष्ट्र पूर्ण प्रभुत्ता-सम्पन्न एवं समान हैं।

(2) सभी राष्ट्रों द्वारा अपने पारस्परिक विवादों को इस प्रकार हल करना कि उससे विश्व-शान्ति एवं न्याय की भावना को क्षति न पहुँचे।

(3) अपने नियमों के अनुसार यदि संघ विश्व-शान्ति के लिये कोई कार्यवाही करेगा तो सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा उसे आर्थिक, सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देना।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर आचरण करते समय किसी भी सदस्य राष्ट्र द्वारा अन्य किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता या उसके अधिकारों का हनन न करना।

(5) जो राष्ट्र इस संस्था के सदस्य नहीं हैं, विश्व-शान्ति के कार्यों में उनका भी सहयोग प्राप्त करना।

(6) राष्ट्रों के आवेदन करने पर संघ विभिन्न राष्ट्रों के विवादों को न्यायपूर्ण रीति से सुलझाना, किन्तु संघ द्वारा किसी भी राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन
(Organisation of U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित प्रमुख अंग हैं। निम्नलिखित संस्थायें संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसके अधीन रहते हुए उसके अंग के रूप में कार्य करती हैं–

(1) साधारण सभा या महासभा (General Assembly)
(2) सुरक्षा परिषद् (Security Council)
(3) आर्थिक व सामाजिक परिषद्
(4) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
(5) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (I. B. R. D.)
(6) अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य व कृषि संगठन (F. A. O.)
(7) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.)
(8) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.)
(9) विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.)
(10) यूनेस्को (UNESCO)
(11) सचिवालय (Secretariat)

[1] साधारण सभा या महासभा

संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन में महासभा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। साधारण सभा या महासभा में सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक सदस्य देश महासभा में 5 से अधिक प्रतिनिधि नहीं भेज सकता, किन्तु प्रत्येक देश का मत केवल एक ही होता है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र संघ को निर्धारित चन्दा देता है।

कार्य– महासभा का कार्य विश्व में शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर विचार करना तथा सिफारिश करना है।

सुरक्षा परिषद् सहित संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सभी अंग अपने वार्षिक व विशेष प्रतिवेदन विचारार्थ महासभा के पास भेजते हैं। महासभा संघ के अन्य सभी अंगों के अधिकारों व कार्यों पर विचार करती है। यह सारे संगठन के बजट पर विचार करती है तथा उसे स्वीकार करती है। यह सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों का भी निर्वाचन करती है। महासभा अपने समस्त कार्य सात प्रमुख समितियों द्वारा सम्पन्न करती है।

[2] सुरक्षा परिषद्

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी के रूप में कार्य करने वाली संस्था है। इसके 15 सदस्य होते हैं जिसमें 5 सदस्य स्थायी और 10 अस्थायी होते हैं। स्थायी सदस्य देशों के नाम हैं – ब्रिटेन, रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और चीन। चीन की सदस्यता के पद पर 1972 तक फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी चीनी सरकार का ही प्रतिनिधि काम करता था किन्तु अब उसका स्थान कम्युनिस्ट चीन के प्रतिनिधि को मिल गया।

अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा दो वर्ष के लिये करती है। यह परिषद् संसार में शान्ति व सुरक्षा की स्थापना का कार्य करती है। सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों को **'वीटो'** का अधिकार प्राप्त है जिसके अनुसार कोई भी स्थायी सदस्य सुरक्षा परिषद् के किसी भी निर्णय को 'वीटो' अधिकार से रद्द कर सकता है। भारत भी 1 जनवरी, 1991 से 1 जनवरी, 1993 तक के लिए सुरक्षा परिषद् का अस्थायी सदस्य चुना गया था।

[3] अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

इस न्यायालय में 15 जज होते हैं। किसी भी एक राष्ट्र के दो जज नहीं हो सकते। यह न्यायालय विश्व के राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों को निपटाता है। इसका मुख्य कार्यालय हेग (यूरोप) में है।

[4] सचिवालय (Secretariat)

संयुक्त राष्ट्र संघ का सचिवालय न्यूयार्क में है जिसका अध्यक्ष सेकेट्री जनरल होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ अन्य शाखायें (Other Branches of U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ प्रमुख समाजसेवी शाखाओं तथा उनके कार्यों का विवरण निम्न प्रकार है–

(1) यूनेस्को (UNESCO)– इस संगठन का पूरा नाम संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन है। इसकी स्थापना 1946 में हुई थी। यह संगठन शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा विभिन्न कार्य करता है। यह साक्षरता अभियानों से लेकर इन्जीनियरों, वैज्ञानिकों, अध्यापकों, तकनीशियनों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है ताकि विभिन्न-संस्कृतियों के अनुयायी एक-दूसरे की प्रगति से लाभ उठा सकें। इसका मुख्य कार्यालय पेरिस (फ्रांस) में है। 1970 के वर्ष को **'शिक्षा वर्ष'** के रूप में मनाकर इसने शिक्षा की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित किया था।

(2) खाद्य एवं कृषि संगठन (F.A.O.)– यह संगठन संसार के विभिन्न देशों के खेतों, वनों, पशुपालन तथा मछली उत्पादन की क्षमता को विकसित करने तथा पोषण स्तरों को ऊँचा उठाने में मदद करता है।

(3) विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.)– इस संगठन की स्थापना 1948 में हुई थी। यह संगठन मानव-मात्र के शारीरिक एवं मानसिक विकास में सहयोग देता है। यह मलेरिया तथा टी० बी० जैसे रोगों के खिलाफ अभियान चलाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सा अनुसंधानों में सहायता करता है तथा चिकित्सकों को सभी स्तरों का प्रशिक्षण देता है। इसका कार्यालय जेनेवा में है।

(4) यूनीसेफ (UNICEF)– इस संस्था का पूरा नाम संयुक्त राष्ट्रीय बाल आपात् कोष' है। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 1946 में हुई थी। इसका उद्देश्य विकासशील देशों को अपने बच्चों की दशा सुधारने में सहायता देना है। यह विभिन्न देशों की सरकार के अनुरोध पर ही सहायता करता है। इस संस्था को अच्छा कार्य करने के उपलक्ष में 1965 में नोबेल पुरस्कार मिला था। इसका मुख्य कार्यालय न्यूयार्क में है। 1979 के वर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय **'शिशु वर्ष'** के रूप में मनाकर इसने विश्व का ध्यान बच्चों की ओर आकर्षित किया था।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.)– यह जन-सेवा का सबसे पुराना संगठन है। इसकी स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् 1919 में हुई थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन आयोजित करके विश्व के श्रमिकों की दशा में सुधार के लिए प्रयास करता है और इस कार्य में यह सरकारों, प्रबन्धकों तथा श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करता है। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में है।

(6) मानवाधिकार आयोग– संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवाधिकार आयोग की स्थापना की है। यह संगठन विश्व में कहीं भी मानवों के अधिकारों का हनन होने पर उन अधिकारों को बहाल करने का प्रयास करता है। विश्व का ध्यान मानव अधिकारों की रक्षा की ओर आकर्षित करने के लिए इसने 1968 का वर्ष **'मानवाधिकार वर्ष'** के रूप में मनाया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में भारत का योगदान
(Role of India for U.N.O.)

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के जन्म से ही इसका सदस्य है। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में पूर्ण विश्वास रखता है। विश्व-शान्ति के प्रयत्नों में हमारे देश का योगदान किसी भी देश से कम नहीं हैं। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसके बाहर भी विश्व के दो गुटों में सन्तुलन बनाये रखने का प्रभावशाली प्रयत्न किया है और सदा शान्ति व न्याय का पक्ष लिया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उनकी अंगभूत संस्थाओं के कार्यों में भारत ने सदा महत्वपूर्ण योगदान दिया है जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है–

(1) महासभा– हमारे देश के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र महासभा की बैठकों में सदा भाग लिया है और उपनिवेशवाद, रंगभेद व जातिभेद को खत्म करने के प्रस्तावों का पूर्ण समर्थन किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास कार्यक्रम के लिए भारत प्रतिवर्ष लाखों डालर की सहायता देता है।

(2) निरस्त्रीकरण कार्य– महासभा के 25वें अधिवेशन में भारत ने अमरीका-रूस परमाणु सन्धि के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया। भारत के वैज्ञानिक **डॉ0 विक्रम साराभाई** अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु एजेन्सी के अध्यक्ष चुने गये। जून, 1978 में संयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण सम्मेलन में प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने भाग लिया।

(3) खाद्य और कृषि संगठन– इस संगठन के सभी महत्वपूर्ण अंगों में भारत के प्रतिनिधि रहे। 1970 में भारत में इस संगठन की 25वीं वर्षगाँठ मनाई गई।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन– अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा स्वीकृत 134 कन्वेंशनों में से 29 की भारत ने पुष्टि कर दी है। इस संगठन के विभिन्न सम्मेलनों व बैठकों में भारत ने सदा भाग लिया है।

(5) यूनेस्को– भारत यूनेस्को के संस्थापक सदस्यों में से है। यह एक शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक-संगठन है। इसके अन्तर्गत भारत ने 1970–71 में एक प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया जिसमें 12 एशियाई देशों के 21 प्रशिक्षार्थियों ने भाग लिया।

(6) विश्व स्वास्थ्य संगठन– इस संगठन ने भारत में विभिन्न स्वास्थ्य कार्यक्रम लागू किये। 1971 में भारत ने इस संगठन को 88 लाख रु0 दिये। भारत को इस संगठन से मलेरिया व टी0 बी0 उन्मूलन के लिए यथेष्ठ सहायता प्राप्त हुई।

(7) संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात् कोष– भारत में स्वास्थ्य, गाँवों में जल पूर्ति, बाल कल्याण तथा व्यावहारिक पोषण आदि के कार्यक्रमों के लिए इस संगठन ने 1971 में 75 लाख डालर की राशि स्वीकृत की।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष– भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का संस्थापक सदस्य है। भारत ने इससे अब तक लगभग 817 करोड़ रु0 की विदेशी मुद्रा खरीदी है।

(9) अन्य कार्यों में सहयोग– भारत अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक का तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का संस्थापक सदस्य है। एशियाई विकास बैंक में जापान के बाद भारत ने सर्वाधिक पूँजी लगाई है।

भारत ने कोरियाई युद्ध, हिन्द-चीन विवाद, स्वेज संकट जैसे अवसरों पर संयुक्त राष्ट्र के कार्यों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार भारत ने इस विश्व संस्था को अपना सहयोग प्रदान कर विश्वशान्ति में योगदान किया और विश्व के राष्ट्रों में आपसी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि की।

संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के योगदान के सम्बन्ध में एक अमेरिकी प्रतिनिधि ने कहा था कि–

"संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत एक सैनिक योद्धा के समान खड़ा है जो उपनिवेशवाद का न झुकने वाला शत्रु है। यह अभी तक पराधीन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। मेरे विचार से यह हमारे लाभ की वस्तु है कि एक दूसरा प्रजातन्त्र राष्ट्र भी है जो स्वतन्त्रता का पक्ष लेता है।"

इस प्रकार भारत ने सदा ही अविश्वास, घृणा तथा सन्देह के वातावरण को दूर करके विश्वशान्ति की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

विस्तृत अथवा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न 10 अंक का है।)

(1) गुट-निरपेक्षता से आप क्या समझते हैं ? इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालिये।

(2) गुट-निरपेक्षता का जन्म कैसे हुआ ? इस संगठन की संस्थाओं का विवरण दीजिये।

(3) गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के शिखर सम्मेलनों का विवरण दीजिये।

(4) गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के आन्दोलनों की कमजोरियों का उल्लेख करते हुए वर्तमान समय में इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

(5) संयुक्त राष्ट्र संघ क्या है ? इसकी प्रमुख संस्थाओं का विवरण दीजिये।

(6) संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में भारत के योगदान की चर्चा कीजिये।

(7) संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिए तथा विश्वशान्ति में इसके योगदान की विवेचना कीजिए। (1990)

(8) टिप्पणी लिखिए—

(i) संयुक्त राष्ट्र (1990)

(ii) पंचशील (1990)

(iii) गुटनिरपेक्षता (1992)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अधिकतम 5 वाक्यों में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 2 अंक का है।)

प्रश्न 1— गुट-निरपेक्षता का क्या अर्थ है ?

उत्तर— गुट-निरपेक्षता का अर्थ है,"किसी भी सैनिक गुट में सम्मिलित न होना तथा प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर ऐसा स्वतन्त्र, स्पष्ट तथा रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना जो किसी भी शक्तिगुट से प्रेरित न हो तथा जिससे विश्वशान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को बढ़ावा मिले।

प्रश्न 2— गुट-निरपेक्षता व तटस्थता में क्या अन्तर है ?

उत्तर— अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में तटस्थता का अर्थ यह लगाया जाता है कि तटस्थ देश विश्व की समस्याओं तथा देशों के पारिवारिक विवादों में किसी का भी पक्ष न लें और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रति उदासीन (Neutral) बना रहे। परन्तु गुट-निरपेक्षता से आशय "उचित का समर्थन तथा अनुचित की निन्दा करना है चाहे वह पक्ष किसी भी विश्वगुट से सम्बन्धित हो।"

जैसा कि जार्ज लिस्का ने कहा है कि, "किसी विवाद के बारे में यह जानते हुए भी कि कौन सही है कौन गलत, किसी का पक्ष नहीं लेना तटस्थता है किन्तु गुट-निरपेक्षता का आशय सही और गलत में भेद करते हुए सदैव सही का समर्थन करना है।"

प्रश्न 3— गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित होने की शर्तें बताइये।

उत्तर— गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित होने की शर्तें हैं—

(i) सम्बद्ध देश स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता हो।

(ii) वह उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का विरोध करता हो।
(iii) वह किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न हो।
(iv) उसने किसी भी महाशक्ति के साथ सैनिक समझौता न किया हो।

प्रश्न 4– गुट-निरपेक्षता के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ?

उत्तर– गुट-निरपेक्षता के प्रमुख उद्देश्य हैं–
(i) विश्व में शान्ति बनाये रखना।
(ii) उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का विरोध करना।
(iii) अन्य देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व व सहयोग के आधार पर सम्बन्ध रखना।
(iv) सैनिक गुटों का विरोध करना।
(v) हथियारों की होड़ समाप्त करना।
(vi) रंगभेद नीति का विरोध व मानवाधिकारों का समर्थन करना।

प्रश्न 5– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की कुछ उपलब्धियाँ बताइये।

उत्तर– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्न प्रकार हैं–

(i) इस आन्दोलन के प्रयासों के कारण रूस व अमेरिका निकट आये हैं और निरस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़े हैं।

(ii) गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने पारस्परिक विकास के लिए आर्थिक, औद्योगिक व तकनीकी समझौते किये हैं।

(iii) रंगभेद नीति का विरोध कर दक्षिणी अफ्रीका को झुकाया है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के ठोस प्रयास किये हैं।

प्रश्न 6– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की कमियाँ या कमजोरियाँ बताइये।

उत्तर– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख कमियाँ निम्न प्रकार हैं–

(i) गुट-निरपेक्ष राष्ट्र मंच पर जो कहते हैं, उसका पालन स्वयं ही नहीं करते। उदाहरण के लिए, सम्मेलन की अपीलों के बावजूद इसके दो सदस्य राष्ट्र ईरान व इराक 8 वर्ष तक युद्ध करते रहे।

(ii) सम्मेलन की आवाज़ के पीछे आर्थिक व सैनिक शक्ति न होने के कारण यह सम्मेलन अनेक समस्याओं को न सुलझा सका।

(iii) इसके कुछ सदस्य राष्ट्र स्वयं शीतयुद्ध को बढ़ावा देते हैं, जैसे लीबिया।

प्रश्न 7– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख संस्थायें कौन-सी हैं ?

उत्तर– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लिए कार्यरत संस्थायें दो हैं–

(i) समन्वय ब्यूरो– समन्वय ब्यूरो गुट-निरपेक्ष देशों में सतत् विचार-विमर्श करने तथा कार्यों में समन्वय उत्पन्न करने का कार्य करता है। इसके सदस्य-राष्ट्रों का निर्वाचन होता है। वर्तमान में 68 राष्ट्र ब्यूरों के सदस्य हैं।

(ii) सम्मेलन– गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन दो प्रकार के होते हैं–

(क) शिखर सम्मेलन जिसमें राष्ट्राध्यक्ष भाग लेते हैं और (ख) विदेश मन्त्री सम्मेलन।

प्रश्न 8– संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब और क्यों हुई ?

उत्तर– द्वितीय विश्व युद्ध के भीषण परिणामों एवं विनाश को देखकर सभी के मन में शान्ति की प्यास जगी। इस भावना से प्रेरित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्वशान्ति के लिए विश्व के 51 राष्ट्रों ने मिलकर 24 अक्तूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ नामक विश्व-संस्था की स्थापना की थी। वर्तमान में इसके 188 राष्ट्र सदस्य हैं।

प्रश्न 9– संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्न उद्देश्य बताइये।

उत्तर– संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य हैं–

(i) सभी राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक विवादों को इस प्रकार हल करना कि उससे विश्व-शान्ति व न्याय की भावना को वल मिले।

(ii) किसी भी राष्ट्र द्वारा अन्य राष्ट्र की स्वतन्त्रता व उसके अधिकारों का हनन न करना।

(iii) सभी राष्ट्रों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा विश्व-शान्ति को सुदृढ़ बनाना।

प्रश्न 10– सुरक्षा परिषद् क्या है ?

उत्तर– सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी है। इसके 10 अस्थायी और 5 स्थायी कुल 15 सदस्य होते हैं। यह परिषद् विश्व में शान्ति व सुरक्षा की स्थापना के लिए तत्काल कार्यवाही करती है। 1 जनवरी 93 तक के लिए भारत भी इसका अस्थायी सदस्य था।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(प्रत्येक प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर अधिकतम एक वाक्य में दीजिये। प्रत्येक प्रश्न 1 अंक का है।)

प्रश्न 1– गुट-निरपेक्षता से क्या आशय है ?

उत्तर– गुट-निरपेक्षता से आशय है, सैनिक गुटों से अलग रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विश्व-शान्ति के हित में स्वतन्त्र नीति अपनाना।

प्रश्न 2– गुट-निरपेक्षता के जनक व प्रणेता कौन थे ?

उत्तर– भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू।

प्रश्न 3– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार कौन-कौन थे ?

उत्तर– पं० नेहरू, कर्नल नासिर तथा मार्शल टीटो।

प्रश्न 4– गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के कितने शिखर सम्मेलन अव तक हो चुके हैं ?

उत्तर– आठ।

प्रश्न 5– गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का प्रथम शिखर सम्मेलन कहाँ और कव हुआ था ?

उत्तर– सितम्वर, 1961 में यूगोस्लाविया के नगर वेलग्रेड में।

प्रश्न 6– गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का सातवाँ शिखर सम्मेलन कव और कहाँ हुआ था ?

उत्तर– मार्च, 1983 में नई दिल्ली में।

प्रश्न 7– गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का आठवाँ शिखर सम्मेलन कव और कहाँ हुआ था ?

उत्तर– सितम्वर, 1986 में जिम्वाव्वे की राजधानी हरारे में।

प्रश्न 8– निर्गुट राष्ट्रों के कौन-से शिखर सम्मेलन में श्रीमती इन्दिरा गाँधी अध्यक्ष वनी थीं ?

उत्तर– सातवें शिखर सम्मेलन में।

प्रश्न 9– वर्तमान में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या कितनी है ?

उत्तर– 108

प्रश्न 10– संयुक्त राष्ट्र संघ क्या है ?

उत्तर– विश्व के राष्ट्रों द्वारा विश्व-प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिये वनाई गई संस्था।

प्रश्न 11– संयुक्त राष्ट्र संघ का एक उद्देश्य बताइये।

उत्तर– युद्ध रोकना तथा विश्व में शान्ति स्थापित करना।

प्रश्न 12– संयुक्त राष्ट्र संघ के दो महत्वपूर्ण अंगों व अभिकरणों के नाम लिखिये। (1985, 91)

उत्तर– (i) साधारण सभा, (ii) सुरक्षा परिषद्।

प्रश्न 13– सुरक्षा परिषद् का सबसे महत्वपूर्ण कार्य क्या है ? (1976)

उत्तर– विश्व में कहीं भी आक्रमण या विश्व-शांति को खतरा होने पर तुरन्त कार्यशील होना।

प्रश्न 14– संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई थी ? (1994, 90)

उत्तर– 24 अक्तूबर, 1945 को।

प्रश्न 15– सुरक्षा परिषद् के स्थायी व अस्थायी सदस्य कितने हैं ? (1991)

उत्तर– 5 स्थायी व 10 अस्थायी।

प्रश्न 16– सुरक्षा परिषद् के दो स्थायी सदस्यों के नाम बताओ। (1990)

उत्तर– (i) रूस, (ii) संयुक्त राज्य अमेरिका।

प्रश्न 17– गुट-निरपेक्षता की नीति की दो विशेषतायें या लक्षण बताइये। (1994, 90, 89)

उत्तर– ये हैं– (i) शक्ति गुटों से पृथक् रहना, (ii) स्वतन्त्र एवं शांति की विदेश नीति अपनाना।

प्रश्न 18– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का वर्तमान अध्यक्ष कौन है ? (1990)

उत्तर– यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति जोनेज द्रोनोवसेक।

प्रश्न 19– दो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के नाम बताइये। (1993)

उत्तर– (i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।
(ii) विश्व स्वास्थ्य संगठन।

प्रश्न 20– गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का प्रथम व दसवाँ शिखर सम्मेलन कहाँ हुआ ? (1993)

उत्तर– (i) प्रथम शिखर सम्मेलन–1961 में वेलग्रेड में।
(ii) दसवाँ शिखर सम्मेलन–1992 में जकार्ता में।

□□

1992

नागरिकशास्त्र (प्रथम प्रश्न-पत्र)

नोट– पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिये। प्रश्न संख्या 10 अनिवार्य है।

1. नागरिकशास्त्र का अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के साथ सम्बन्धों का विवेचन कीजिये। 5 + 5

2. 'समुदाय आधुनिक समाज में व्यक्ति की ढाल तथा तलवार दोनों ही हो गये हैं।' इस कथन के सन्दर्भ में समुदायों के महत्व तथा कार्यों का परीक्षण कीजिये। 10

3. नागरिकता का अर्थ स्पष्ट कीजिये। एक नागरिक के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का विवेचन कीजिये। 4 + 6

4. राज्य की उत्पत्ति के मातृक तथा पैतृक सिद्धान्त का परीक्षण कीजिये। 5 + 5

5. कल्याणकारी राज्य पर एक संक्षिप्त निवन्ध लिखिये। 10

6. अधिकारों से आप क्या समझते हैं ? समानता तथा स्वतन्त्रता के सम्बन्धों का विवेचन कीजिये। 4 + 6

7. आधुनिक राज्यों में पाई जाने वाली कार्यपालिका के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिये। 4 + 6

8. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिये तथा इसके कार्यों का विवेचन कीजिये। 4 + 6

9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये– 5 + 5

(अ) गुट-निरपेक्षता, (ब) नागरिकता प्राप्ति के तरीके,
(स) विधानमण्डल के कार्य, (द) अरस्तू का सरकारों का वर्गीकरण।

10. निम्नलिखित का अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर दीजिये–

(1) सम्प्रभुता की एक परिभाषा लिखिये। 1

(2) अलिखित संविधान के दो दोष लिखिये। 1

(3) विधि की एक परिभाशा लिखिये। 1

(4) उस देश का नाम लिखिये जहाँ सरकार लोकतांत्रिक है किन्तु वह गणतन्त्रात्मक नहीं है। 1

(5) रूसो द्वारा लिखित एक पुस्तक का नाम लिखिये। 1

(6) संविधान की एक परिभाषा लिखिये। 1

(7) अन्तर्राष्ट्रवाद के मार्ग में आने वाली दो बाधाओं को लिखिये। 1

(8) अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने वाली दो चुनाव पद्धतियों के नाम लिखिये। 1

(9) राष्ट्रीयता के दो तत्व लिखिये। 1

(10) राज्य के कार्य से सम्बन्धित प्रत्ययवादी विचारधारा की दो विशेषतायें लिखिये। 1

□□

1993

नागरिकशास्त्र (प्रथम प्रश्नपत्र)

नोट– केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिये। प्रश्न संख्या 10 अनिवार्य है।

1. नागरिकशास्त्र किसे कहते हैं और इसका विषय-क्षेत्र क्या है ? 5 + 5

2. समुदाय की परिभाषा लिखिये। इसकी आवश्यकता व उपयोगिता पर प्रकाश डालिये। 3 + 4 + 3

3. राज्य की परिभाषा कीजिये। उसके आवश्यक एवं ऐच्छिक कार्य क्या हैं ? 4 + 3 + 3

4. राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये। 10

5. समाजवाद के मूल तत्वों की व्याख्या कीजिये। 10

6. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। 10

7. संघात्मक शासन की क्या विशेषतायें हैं ? इसकी एकात्मक शासन से तुलना कीजिये। 5 + 5

8. राजनैतिक दलों से आप क्या समझते हैं ? लोकतन्त्र में इनका क्या महत्त्व है ? 4 + 6

9. निम्न में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिये–
(क) राजनीतिक अधिकार (ख) लोक-कल्याणकारी राज्य
(ग) स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध (घ) कौटिल्य के मतानुसार राज्य के कार्य। 5 + 5

10. निम्नलिखित का अति लघु उत्तर लिखिये–
(i) नागरिकशास्त्र की कोई एक परिभाषा लिखिये। 1
(ii) नागरिकता खोने के दो तरीके लिखिये। 1
(iii) नागरिकशास्त्र के अध्ययन की दो पद्धतियों के नाम। 1
(iv) लिखित संविधान के दो गुण। 1
(v) दो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के नाम। 1
(vi) ऑस्टिन द्वारा दी गई संप्रभुता की परिभाषा। 1
(vii) सामान्य इच्छा सिद्धान्त के प्रतिपादक का नाम। 1
(viii) वर्तमान युग में कानून का सर्वप्रमुख स्रोत क्या है ? 1
(ix) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रथम व दसवाँ शिखर सम्मेलन कहाँ हुए ? 1
(x) तानाशाही के दो दोष। 1

□□

1994

नागरिकशास्त्र (प्रथम प्रश्नपत्र)

नोट– केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। प्रश्न संख्या 10 अनिवार्य है।

1. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों का निरूपण कीजिये। 10
2. समुदाय है क्या ? इसके विभिन्न रूपों का विवेचन कीजिये। 4 + 6
3. राज्य के विभिन्न तत्वों का उल्लेख कीजिये। 10
4. प्रत्ययवाद की विशेषताओं का परीक्षण कीजिये। 10
5. विधि की परिभाषा कीजिये। इसके कितने स्वरूप हैं ? 4 + 6
6. लचीले संविधान के गुण एवं दोष की व्याख्या कीजिये। 5 + 5
7. सरकार के वर्गीकरण से संबंधित अरस्तू के विचारों का परीक्षण कीजिये। 10
8. संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के संबंध का निरूपण कीजिये। 10
9. किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये– 5 + 5
(अ) अध्यक्षात्मक शासन (ब) न्यायपालिका का महत्व
(स) जनमत (द) राष्ट्रीयता

10. निम्नलिखित का अति लघु उत्तर लिखिये–
(i) राज्य की कोई एक परिभाषा 1
(ii) लोक कल्याणकारी राज्य का कोई एक कार्य 1
(iii) संप्रभुता का कोई एक लक्षण 1
(iv) लिखित संविधान की कोई एक विशेषता 1
(v) संघात्मक शासन की कोई एक विशेषता 1
(vi) निर्वाचन की कोई एक प्रणाली 1
(vii) लोकमत निर्णय का कोई एक साधन 1
(viii) राष्ट्रीयता का कोई एक तत्व 1
(ix) संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई 1
(x) गुट-निरपेक्षता का कोई एक लक्षण 1

□□

1995

इण्टरमीडियेट

नागरिकशास्त्र

प्रथम प्रश्न-पत्र

नोट—केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

प्रश्न संख्या 10 अनिवार्य है।

1. नागरिकशास्त्र का विस्तार क्या है ? विवेचना कीजिये। 10
2. राज्य विकास का परिणाम है। समझाइये। 10
3. स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट कीजिये। स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध बताइये। 3+5
4. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के क्या प्रमुख लक्षण हैं ? संसदीय शासन प्रणाली से इसकी तुलना कीजिये। 5+5
5. राज्य के कार्यों से सम्बन्धित कौटिल्य के विचारों का उल्लेख कीजिये। 10
6. लिखित संविधान का क्या अर्थ है ? इसके गुण एवं दोषों का विवेचन कीजिये। 4+6
7. लोकमत का महत्व स्पष्ट कीजिये। इसके निर्माण के प्रमुख साधन क्या हैं ? 6+4
8. राष्ट्रवाद की परिभाषा कीजिये। किन अर्थों में यह खतरनाक है ? 6+4
9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये— 5+5
   (क) समुदाय का महत्व।
   (ख) नागरिकता-प्राप्ति की विधियाँ।
   (ग) न्यायपालिका के कार्य।
   (द) अरस्तू के अनुसार संविधानों का वर्गीकरण।
10. निम्नलिखित के अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर दीजिये—
   (i) अच्छे नागरिक के दो गुण। 1
   (ii) राज्य और समाज के दो अन्तर। 1
   (iii) कौन सा सिद्धान्त राज्य को नैतिक संस्था मानता है ? 1
   (iv) नागरिक के दो राजनीतिक अधिकार। 1
   (v) पंचायती राज के कोई दो स्तर। 1
   (vi) समानता के दो भेद। 1
   (vii) 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' पुस्तक के लेखक का नाम। 1
   (viii) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या। 1
   (ix) आनुपातिक प्रतिनिधित्व का एक गुण। 1
   (x) समाजवाद के एक समर्थक का नाम। 1

माध्यमिक
नागरिक शास्त्र
परिचय
बसन्त लाल जैन